जिस समय स्त्री रजस्वला होती है वह पांसुला होती है। वह वही दशा है जो मिट्टी द्वारा उत्तर-वेदि की की गयी थी। फिर जो वह तीन रात्रियों के बाद जल से स्नान करती है वह वही दशा है जब उत्तर वेदी पर जल छिड़का गया था। फिर वह स्नानादि के बाद अलङ्कार पहन कर सूर्य का दर्शन कर के पति की कामना करती है। वह वह अवस्था है जब सुन्दर चमकते हुए वालुका-कणों से वेदी को सजाया गया था।

अब तीसरी सिंही देखिये—वाणी। शतपथकार कथा कहते हैं—नासिका यज्ञ की उत्तर वेदि है। यतः मुख्य वेदि के उत्तर भाग में इस को खोदा जाता है इस कारण इस को उत्तर-वेदि कहा जाता है। पहले दो तरह की प्रजा थी, आदित्य और आङ्गिरस। पहले आंगिरसों ने यज्ञ की सामग्री इकट्ठी की और अग्नि से कहा कि जाओ अदिति के पुत्र आदित्य! (देव) लोगों को कहो कि कल सुत्या (यज्ञ) होगा। हमें इस यज्ञ द्वारा यज्ञ करा देना।

आदित्य लोगों ने जवाब दिया 'क्या तुम ने हमें आङ्गिरस समझ रखा है? हम आङ्गिरस नहीं है। उन्होंने सोचा कि दूसरा आदमी यज्ञ कर लेगा। हम अग्नि को यज्ञ के बीच में ही पकड़ कर धर लेते हैं। उन्होंने भी यज्ञ की सब तय्यारी कर ली और कहा, तूने यज्ञ की खबर हमें दी थी। हम तुझे आङ्गिरस लोगों के पास भेजते हैं। जा उन को हमारे यज्ञ की सूचना दे आ। तू हमारा और उन का दोनों का होता है। अग्नि के लौट आने पर आङ्गिरसों को बहुत क्रोध हुआ कि यह हमारा दूत था, इस का इतना निरादर क्यों हुआ? अग्नि ने कहा आप लोग भले हैं, आप क्या बुरा मानते हैं? मुझे भले लोगों ने घेर लिया था इसलिए मैं आ नहीं सका था। पहले आङ्गिरसों ने आदित्य लोगों को सद्यः-क्री याग से यज्ञ कराया था। उसके उपलक्ष्य में उनको वाणी दक्षिणा में दी गयी थी। आङ्गिरस लोगों ने उसे स्वीकार न किया था। इसलिए कि कहीं जब आदित्य लोग हमारा यज्ञ करावें गे तो फिर हमें दक्षिणा में वाणी को लौटा देना पड़ेगा। इस लिये उन्होंने आङ्गिरसों को सूर्य दक्षिणा में दिया। उसे उन्होंने स्वीकार किया। तब आङ्गिरस लोग बोले—'हम ने यज्ञ किया था, हम ने दक्षिण भी प्राप्त की। हम ने दक्षिणा में यह पाया जो यह सब को तपाता है। इसी कारण सद्यः क्री-याग में श्वेत घोड़ा दक्षिणा दी जाती है। उस के आगे २ सोना होता है। यह उसी तपाने वाले सूर्य्य का प्रतिरूप है। यदि श्वेत घोड़ा न मिले तो श्वेत बैल दे दिया जाता है और सुवर्ण मुद्रा उस के भी आगे रखी जाती है।

(क्योंकि वाणी को दक्षिणा रूप से स्वीकार न किया गया था इस लिए) वाणी को आङ्गिरसों पर बड़ा क्रोध हुआ। यह सूर्य मेरे किस सम्बन्धी से अच्छा है कि इसे दक्षिणा में स्वीकार कर लिया गया, और मुझे स्वीकार नहीं किया गया? वह दोनों को छोड़ भाग निकली। वह दोनों के बीच में शेरनी बनकर घूमने लगी और दोनों को हड़पने लगी। तब देव लोगों ने अपना गुप्त सन्देश उसको भेजा। इधर असुर आङ्गिरस लोगों ने भी अपना गुप्त सन्देश भेजा। अग्नि देवताओं का दूत था। वह इधर राक्षसों से भी मिला था। वह वाणी देवों के पास आकर बोली यदि मैं तुम्हारे पास आजाऊं तो मुझे क्या लाभ होगा? तब देव बोले "अच्छा, तुम को हम अग्नि से भी पहली आहुति देंगे।" वह बोली "अच्छा मुझ से जो वर या आशीर्वाद प्राप्त करोगे वह सब तुम्हारे लिए बढ़ोतरी देगा।" खैर, वाणी देवताओं के पास आगयी।

इसी कारण अग्नि को हाथ में लेकर उत्तर वेदि में थोड़ा घी सेचन करते हैं। यह अग्नि के पूर्व ही आहुति दी जाती है। यह उत्तर-वेदि वास्तव में वाणी है।

वही जो पहले शेर बन बड़ी उद्विग्न होकर विचर रही थी उसी को यज्ञ में लगा लिया जाता है। इसलिए दक्षिणा का कभी निरादर न करे, नहीं तो वही शेरनी होकर नाश कर देती है।

अस्तु, शतपथकार ने यह सिंहो का वाणी-पक्ष में व्याख्यान किया है। (शत० ३।५।१)

इस कथांश में वाणी का शेरनी बनकर विचरण करना, देवों और असुरों या आङ्गिरसों का यज्ञ करना, दक्षिणा का लेना और न लेना आदि सब आलङ्कारिक रहस्य है जो शरीर, यज्ञ, गृहस्थ, समाज, राष्ट्र और ब्रह्माण्ड की रचना में समान भाव से लगता है।

वह वाणी गौ रूप है जो दक्षिणा में यज्ञ में दी जाती है। गृहस्थ में वह स्त्री या कुमारी है जो प्रथम आतिथ्य सहित दी जाती है। वह भी सुवर्णाभरणालंकृत करके दी जाती है। उस का निरादर भी नहीं करना चाहिये। महाभारत का घोर युद्ध उसी के निरादर का एक घोर निदर्शन है। वही सिंही होकर सब को खा गयी। रामायण काल में वही सीता थी। रावण द्वारा उस का अपमान ही उस को सिंही बना देने का कारण था।

समाज में परस्पर के वार्तालाप—अर्थात् मधुर वाणी ही निरादृत होकर विशाल वैमनस्यों में बदल जाती है । फिर यही लाठी बन कर सिर तोड़ा करती है।

कोहाट-काण्ड इसी का निदर्शन है। राष्ट्रों में वही तलवार बन कर नाचती है। इस अंश में वह सिंही पृथ्वी है। उसी का अपमान राष्ट्र-विप्लवों का कारण होता है। उस का सम्यक् रूप से पालन न करना ही उसका निरादर है।

विशाल भौतिक संसार में विद्युत् ही मध्यम वाणी है। वही निरादृत होने पर कितना वज्ररूप हो शेरनी के समान दहाड़ती है और पहाड़ों को तोड़ डालती है।

पहले आंधियां चलना, फिर वर्षा आना और फिर बिजलियों का चमकना और पृथ्वी का हराभरा होजाना यह वही उत्तर वेदी के तीन रूपों का प्रकाश है।

वाणी का प्रथम सङ्कल्प-रूपों में धुन्धले रूप में उदित होना, फिर देवताओं और विद्वानों के लिये शुद्ध व्यक्त रूप प्रकट होना, फिर उसका स्वर व्यञ्जनों द्वारा गीत छन्दों और भाषा के नाना अलङ्कारों सहित लच्छों द्वारा प्रकट होना अवश्यंभावी है।

देवों, विद्वानों, और क्रियावान्, सामर्थ्यवान् पुरुषों के लिये यज्ञ की वेदी, वाणी, स्त्री और दमनकारिणी शक्ति को प्रथम सपत्नसाही होना चाहिये। अर्थात् वह अपने स्वयंवृत पति के अतिरिक्त दूसरे स्पर्धालु, अपमान करने वाले प्रतिपक्षी का मान मर्दन करने में समर्थ होना चाहिये। तभी वह सामर्थ्यवती यज्ञ सम्पादन एवं कार्य सम्पादन में समर्थ होती है। फिर उसे शान्तभाव से रहना चाहिये। तीसरे, उसे सुन्दर अलंकृत रूप में रहना चाहिये। उक्त वेद मन्त्र का अर्थ—ब्राह्मण-ग्रन्थकार वेद मन्त्रों की किस प्रकार सूक्ष्मता से चतुर्मुखी व्याख्या करते हैं—यही दर्शाने के लिये हम ने पाठकों के समक्ष पेश किया है। अभी इस में और भी कितने वैज्ञानिक तत्व भरे पड़े हैं जिनकी व्याख्या समस्त वैद्यक तथा राजनैतिक और समाज शास्त्र हैं। यह तो केवल वेद मन्त्र की दिशा का अनुदर्शन कराया गया है।

क्यों पाठक ! सुना शेरनी का किस्सा ? ओं नमः पूर्व ऋषिभ्यः ॥

——:०:——

ऋषि दयानन्द की वेद भाष्य शैली।

[ले०—श्री० विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार, अजमेर]

ऋषि ने यज्ञ परक व्याख्या क्यों नहीं की ?—यहां एक प्रश्न पैदा होता है कि ऋषि दयानन्द ने मनुष्य, मनुष्य के व्यवहार तथा तत्सम्बन्धी अन्य विषयों का प्रतिपादन तो वेदों में किया और वैसे अर्थों के करने में मनु, निरुक्त, शङ्कराचार्य्य आदि की सम्मति भी अवश्य अनुकूल है। परन्तु निरुक्तकारादि की सम्मति के अनुसार वेदों में याज्ञिक अर्थों का भी तो प्रतिपादन है। ऋषि ने उन अर्थों का प्रतिपादन क्यों नहीं किया ?। तथा ब्राह्मण ग्रन्थ, (जिन को कि ऋषि भी प्रमाण मानते हैं) जब वेदों के याज्ञिक अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, तब तो ऋषि दयानन्द के लिये यह और भी आवश्यक था कि वह वेदों के याज्ञिक अर्थों की भी व्याख्या करते। यजुर्वेद यज्ञों का मूलाधार है। इस वेद का सम्पूर्ण ऋषिकृत भाष्य भी मिलता है। इस में कहीं भी यज्ञपरक अर्थ नहीं, जैसे कि यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में मिलते हैं। अतः इस अंश में ऋषि का वेद-भाष्य यजुर्वेद की प्राचीन व्याख्या शतपथ ब्राह्मण के भी प्रतिकूल सिद्ध होता है। क्योंकि शतपथ ब्राह्मण ही एक ऐसा ब्राह्मण है जिस ने कि अपने वेद यजुर्वेद के प्रत्येक मन्त्र की प्रतीकें देकर मन्त्रों को पूर्ण व्याख्या की है। यजुर्वेद पर महीधर, उव्वट आदि के भाष्य तो प्रायः शतपथ ब्राह्मण के अक्षरों के अनुकूल प्रतीत होते हैं। परन्तु ऋषि दयानन्द का यजुर्वेद भाष्य इस दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण के अनुकूल बिलकुल भी नहीं।

उत्तर—इस प्रश्न के उत्तर में ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका का "प्रतिज्ञा विषय प्रकरण" अवश्य देखना चाहिये। वहां ऋषि निम्न रूप से लिखते हैं—"इस वेद भाष्य में शब्द और उन के अर्थ द्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे। परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में लगाए हुए वेद मन्त्रों में से जहां २ जो २ कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्त पर्यन्त करने चाहियें उन का वर्णन यहां नहीं किया जायगा। क्योंकि उन के अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरय, शतपथ आदि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है। उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों

के लेख के समान दोष इस वेद भाष्य में भी आ जा सकता है । इसलिये जो २ कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्ति प्रमाण सिद्ध है उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं ।"

इस उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषि दयानन्द ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड को भी अवश्य मानते थे । उन्होंने वेदों की याज्ञिक व्याख्या इसीलिये नहीं की, यतः वह व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रथम से ही विद्यमान थी । अतः विद्यमान का पुनरुल्लेख ऋषि ने व्यर्थ जाना ।

प्रश्न—ऋषि का यह उत्तर सुनकर एक प्रश्न और जागृत हो जाता है । वह यह कि जब ऋषि दयानन्द ब्राह्मणों की यज्ञीय व्याख्या को मानते हैं और उसे सत्य भी मानते हैं, तब अच्छा तो यह था कि वह यजुर्वेद की व्याख्या करते ही न । क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में तो यजुर्वेद की पूर्ण व्याख्या विद्यमान ही थी । ऐसा न कर के ऋषि ने यजुर्वेद की ऐसी व्याख्या कैसे कर दी जो कि शतपथ ब्राह्मण के शब्दों के विरुद्ध प्रतीत होती है ? ।

उत्तर—इस उपरोक्त प्रश्न के समाधान के लिये हमें ब्राह्मण ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ विचार करना पड़ेगा । मेरे विचार में, यद्यपि ऋषि का यजुर्वेद-भाष्य शतपथ के स्थूल शब्दों के अनुकूल प्रतीत नहीं होता तो भी वह शतपथ के अन्तर्गुप्त गूढ़ाशय के अनुकूल अवश्य है । इस विचार को पूरे रूप में समझने के लिये मेरी निम्नलिखित स्थापना को अवश्य हृदयगत कर लेना चाहिये । वह यह कि ,,ब्राह्मण ग्रन्थ जिस कर्मकाण्ड का स्वयं प्रतिपादन कर रहे हैं उस में उन का मुख्य तात्पर्य नहीं" । इस स्थापना को मैं इस प्रकार भी कह सकता हूं कि ब्राह्मण ग्रन्थों की यज्ञीय व्याख्या, संसार के वैज्ञानिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक गूढ़ सिद्धान्तों का केवल मात्र Demonstration है । ब्राह्मण ग्रन्थों की यज्ञीय व्याख्या प्रतिबिम्ब रूप है और संसार के वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनैतिक, तथा आध्यात्मिक आदि सिद्धान्त बिम्बरूप हैं । या दूसरे शब्दों में मैं यूं भी कह सकता हूं कि असली भारत देश का भारत देश के नक्शे के साथ जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध संसार की मुख्य २ घटनाओं का यज्ञीय व्याख्या के साथ है । जिस प्रकार हम प्रतिबिम्ब को देखकर बिम्ब के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करते हैं, या जिस प्रकार हम दीवार

पर टंगे भारत के नक्शे को देख कर वास्तविक भारत की नदियों, पहाड़ों, शहरों तथा उन के पारस्परिक सम्बन्धों का परिज्ञान करते हैं इसी प्रकार यज्ञीय क्रियाएं तथा यज्ञीय साधन भी संसार के रहस्यों का परिचय देते हैं। जिस प्रकार प्राकृतिक भूगोल का अध्यापक, कृत्रिम सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी आदि के गोले बना कर, और उन्हें आपेक्षिक दूरता पर किसी यन्त्र में अवस्थित कर, विद्यार्थियों को उन की गति तथा आपेक्षिक दूरता का परिज्ञान कराता है, इसी प्रकार ब्राह्मणकार भी, अपने कृत्रिम यज्ञीय साधनों तथा विधियों द्वारा संसार की मुख्य २ घटनाओं का परिचय पाठकों को देना चाहते हैं। संक्षेप में मैं यूं भी कह सकता हूं कि ब्राह्मणकारों ने महान् संसार को अपनी यज्ञीय स्थली में परिणत कर दिखाया है। ताकि संसार की मुख्य २ घटनाओं को हम सुगमता से समझ सकें। अभिप्राय यह कि यज्ञीय क्रियायें, विधियें तथा साधन, संसार के रहस्यों को समझाने में संकेत मात्र हैं। सम्भव है कि श्रोताओं को मेरी यह स्थापना कुछ अनोखी प्रतीत हो। परन्तु इतना मैं अवश्य कह देना चाहता हूं कि यह स्थापना चाहे कैसी अनोखी हो, परन्तु है सत्य। इसी स्थापना को न समझ कर ही पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मणकाल और उपनिषत्काल को भिन्न २ मान लिया है। मेरी इस स्थापना को दृष्टि में रखते हुए यदि पाठक ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों को पढ़ेंगे तो उन्हें ज्ञात हो जायगा कि ब्राह्मण-कार जिन सिद्धान्तों को यज्ञीय विधियों और साधनों द्वारा Demonstrate करते हैं, उन्हीं सिद्धान्तों को हस्तामलकवत्प्रत्यक्ष कराने के लिये उपनिषत्कार जिज्ञासु के अन्तर्बोध को जगाने की कोशिश करते हैं। ज्ञान के मुख्य साधन दो हैं। एक बाह्य इन्द्रियां, और दूसरा Intention अर्थात् अन्तर्बोध या प्रतिबोध। ज्ञान की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थ प्रथम सीढ़ी हैं और उपनिषदें द्वितीय। यह प्रथम और द्वितीय पन, विकाशवाद की दृष्टि से कालकृत नहीं, अपितु जिज्ञासु या अध्येता की बुद्धि-शक्ति की दृष्टि से है। ज्ञान की प्रथमावस्था में, ज्ञान के समझाने के लिये स्थूल साधनों की आवश्यकता होती है, और जैसे २ जिज्ञासु, शनैः २, ज्ञान के मार्ग पर अपने कदम आगे २ बढ़ाता जाता है, उसके साथ ही साथ, अगली २ ज्ञान कोटि के सीखने में, उस के लिये साधन भी बदलते जाते हैं। यही क्रम ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषद् ग्रन्थों में है।

इस स्थापना में कतिपय प्रमाण—मैं इस उपरोक्त स्थापना में कतिपय ब्राह्मण ग्रन्थ के प्रमाण भी उपस्थित करना चाहता हूं।

(१) शतपथ ब्राह्मण पृष्ठ ५ में (वैदिक प्रेस में छपे हुए) दो पवित्रों का विधान है। कुशा के दो पत्रों से जलादि को साफ़ करते हैं। ये ही दो पवित्र हैं। यज्ञ में दो ही पवित्र क्यों होने चाहियें, इसके उत्तर में ब्राह्मणकार कहते हैं, चूंकि शरीर में भी दो ही पवित्र हैं। एक प्राण और दूसरा उदान। ये प्राण और उदान शरीर की पवित्रता करते हैं। ये चूंकि कार्य-भेद से दो हैं, अतः यज्ञविधि में भी दो ही पवित्र चाहियें। १।१।३।१—३।

इसी प्रकार १।३।५।१—५ में यज्ञ और व्यष्टि पुरुष तथा समष्टि-जगत् में सादृश्य दर्शाया है।

व्यष्टि पुरुष का सादृश्य—यज्ञ में तीन स्रुच् (चमस्) होते हैं—जुहू, उपभृत् और ध्रुवा। यज्ञ को व्यष्टि-पुरुष का रूप दिखाते हुए शतपथ में लिखा है, कि पुरुष की दक्षिण भुजा जुहू, वाम भुजा उपभृत्, तथा आत्मा ध्रुवा है। चूंकि आत्मा से शरीर के सब अङ्ग पैदा होते हैं, इसीलिये ध्रुवा पात्र से सब यज्ञ सम्पादित होता है।

यज्ञ में स्रुव नामक भी चमस होता है। इस स्रुव द्वारा आज्य-स्थाली से घी निकाल कर ध्रुवा, उपभृत् और जुहू नामक स्रुवों में डाला जाता है। इस विधि की उपपत्ति ब्राह्मण यूं देते हैं:—स्रुव वास्तव में प्राणरूप है। प्राण चूंकि शरीर के सब अङ्गों में सञ्चार करता है, इसीलिये स्रुव भी यज्ञ के अङ्ग जो स्रुच् हैं, उनमें सञ्चार करता है। अतः यज्ञ में का स्रुव प्राणस्थानापन्न है। यहां तक ब्राह्मणकार ने यज्ञीय स्रुचों और स्रुव द्वारा व्यष्टि-पुरुष के सम्बन्ध का ज्ञान दिया। अर्थात् ध्रुवा से आत्मा का, जुहू से दाहिनी भुजा का, उपभृत् से वाम भुजा का, तथा स्रुव से पुरुष में रहने वाले प्राण का, एवं स्रुव स्रुच् के पारस्परिक सम्बन्धों से आत्मा, दाहिनी भुजा, वाम भुजा तथा प्राण के परस्पर सम्बन्धों का ज्ञान दिया है। इससे पाठकों को स्पष्ट होगया होगा कि यज्ञीय स्रुव-स्रुच्, व्यष्टि-पुरुष की कतिपय घटनाओं की नकलमात्र ही हैं।

इस वर्णन से पाठकों को यह भी ज्ञात होसकता है कि वे मन्त्र जो कर्म-काण्ड या यज्ञीय व्याख्या की दृष्टि से ध्रुवा, उपभृत्, जुहू तथा स्रुवों का

वर्णन करते हैं। वास्तव में गुप्तरूप से वे आत्मा, दाहिनी भुजा, वाम भुजा, प्राण तथा इनके परस्पर सम्बन्धों का ही वर्णन करते हैं।

समष्टि जगत् का सादृश्य—इसी स्थान में ब्राह्मणकार ने स्रुव् स्रुच् का समष्टि अर्थात् आधिदैविक रूप भी दिखाया है। यथाः—वह द्युलोक जुहू, अन्तरिक्ष लोक उपभृत् तथा पृथिवी लोक ध्रुवा है। ध्रुवा में से उपभृत् में और उपभृत् में से जुहू में घी लिया जाता है। कारण यह कि पृथिवी-रूपी ध्रुवा से ही जल-रूपी घृत प्रथम तो उपभृत्-रूपी अन्तरिक्ष में जाता है और वहां से होकर वह फिर द्युलोक की ओर गति करता है। और स्रुव, जो घी को, ध्रुवा, उपभृत् और जुहू नामक स्रुचों में डालता है, वह तीनों लोकों में बहने वाला वायु ही है। चूंकि वायु-रूपी स्रुव, जल-रूपी घृत को, पृथिवी से अन्तरिक्ष में और अन्तरिक्ष से द्युलोक की ओर लेजाता है, अतः स्रुव स्रुच् के इस आधिदैविक-रूप को दृष्टि में रखते हुए हम उन मन्त्रों से—जिनमें कि याज्ञिक व्याख्या की दृष्टि से स्रुव स्रुच् का वर्णन है—आधिदैविक दृष्टि में, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, इनमें बहनेवाला वायु तथा इनके परस्पर सम्बन्ध—ये अर्थ भी ले सकते हैं। अतः स्रुव स्रुच् के उदाहरण से पाठकों को यह भाव अवश्य स्पष्ट होगया होगा, कि उन मन्त्रों से—जिनमें कि याज्ञिक-दृष्टि से स्रुव स्रुच् का वर्णन है—आध्यात्मिक-दृष्टि में पुरुष का, तथा आधिदैविक-दृष्टि में जगत् का भी वर्णन हम कर सकते हैं। और वास्तव में उन मन्त्रों को आध्यात्मिक और आधिदैविक व्याख्या ही ब्राह्मणकार को गुप्तरूप से अभीष्ट है। यतः याज्ञिक-विधियां केवल इन तत्त्वों की नकल-मात्र हैं।

इसी प्रकार स्रुचों के परस्पर सम्बन्ध द्वारा, ब्राह्मणकार, एक आधिभौतिक अर्थ की ओर भी निर्देश करते हैं। वे कहते हैं कि यजमान अर्थात् राष्ट्रीय यज्ञ का करने वाला राजा जुहू है और प्रजा उपभृत्। यज्ञ में उपभृत् से जुहू में इसलिये ही घी डाला है, चूंकि जुहूरूपी राजा अर्थात् भक्षक होता है और उपभृत् रूपी प्रजा आद्य अर्थात् भोग्य होती है। जिस प्रकार प्रजा का कर राजा के कोष में जाता है इसी प्रकार उपभृत् का घी जुहू में जाता है।

ब्राह्मण का यह प्रकरण कुछ लम्बा है, अतः मैने केवल भाषानुवाद ही यहाँ दिया है।

अपनी उपरोक्त स्थापना के सम्बन्ध में ब्राह्मणों के सैंकड़ों प्रमाण मैं पेश कर सकता हूं परन्तु लेख कहीं लम्बा न हो जाय इस भय से दो तीन प्रमाण ही पेश किये गए हैं ।

यहां पर पाठक पुनः पूर्व प्रश्न का स्मरण करें कि ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद के याज्ञिक अर्थ क्यों नहीं दर्शाये ? संक्षेप में अब इस का उत्तर यूं हो सकता है कि ऋषि ने यह समझा कि यजुर्वेद के याज्ञिक अर्थ तो ब्राह्मण ग्रन्थों मे विस्तार से लिख ही रखे हैं । परन्तु ये याज्ञिक क्रियाएं और विधियें गुप्तरूप से जिन आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक अर्थों की ओर निर्देश कर रही हैं, और जिन की ओर निर्देश करना ब्राह्मणकारों को अवश्य अभीष्ट है—यतः इन अर्थों की ग्रन्थरूप में स्पष्ट व्याख्या कहीं भी प्राप्य नहीं अतः इन्हीं अर्थों का प्रकाशन करना ही उचित है । अतएव ऋषि ने अपने वेद भाष्य में इन्हीं अर्थों को प्रकाशित किया है, और याज्ञिक अर्थों को नहीं । इसलिए ऋषि की वेद भाष्य शैली के गूढ़ तत्त्व के जानने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों और आरण्यक ग्रन्थों का सतत अध्ययन अत्यावश्यक है ॥

(शेष फिर)

चिरकाल का ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य के लिये क्या हानिकारक है ?

[ले०—श्री० विश्वनाथ आर्योपदेशक]

आर्य के ऋष्यङ्क में ब्रह्मचर्य विषय पर एक लेख निकला था, जिसका सार यह है कि पाश्चात्य विद्वानों के अनुभव के अनुसार शरीर का स्वास्थ्य तथा दृढ़ता अण्डकोषों की स्वस्थता तथा शक्तिमत्ता पर अवलम्बित होती है । और अण्डकोशों की बलिष्ठता ब्रह्मचर्य पर निर्भर है । जब किसी बैल अथवा घोड़े को अण्डकोष से रहित (ख़स्सी) कर दिया जाता है तो वह पौरुषहीन और निस्तेज सा हो जाता है । इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य चिरकाल तक ब्रह्मचारी रहे तो उस के अण्डकोष में एक प्रकार का विष उत्पन्न हो जाता है, जो अण्डकोष तथा सारे शरीर के

लिये हानिकारक सिद्ध हुआ है। इस के अतिरिक्त प्राकृत नियमानुसार जब प्रजननेन्द्रिय से उसका स्वाभाविक कार्य नहीं लिया जाता तो वह उस कार्य के योग्य नहीं रहती। अर्थात् मनुष्य में नपुंसकता का प्रादुर्भाव हो जाता है। यही दोष स्त्रियों में भी उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु लेखक की सम्मति में योगाभ्यास द्वारा उपर्युक्त दोषों को रोका जा सकता है।

शरीर की स्वस्थता का अण्डकोषों से सम्बन्ध है—यह तो ऋषियों की अनुभव सिद्ध बात है। और इस में भी सन्देह नहीं कि यदि स्त्री पुरुष मर्यादा से प्रजनन कार्य करें तो किसी प्रकार की निर्बलता नहीं हो सकती। इसी बात को लक्ष्य में रख कर मनु जी ने कहा है कि—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदार निरतः सदा।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ मनु० ॥

अर्थ—पुरुष को उचित है, कि वह ऋतुगामी तथा केवल अपनी ही स्त्री में सन्तोष करे। इस अवस्था में वह ब्रह्मचारी के सदृश हो होगा। परन्तु चिरकाल के ब्रह्मचर्य से उपर्युक्त दोषों का उल्लेख किसी आर्ष-ग्रन्थ में नहीं देखा। इसके विरुद्ध सत्प्रतिज्ञ दृढ़व्रती, आजन्म ब्रह्मचारी भीष्म पितामह इस ब्रह्मचर्य्य के बल पर ही वृद्धावस्था में भी युद्ध में अर्जुन जैसे योधाओं और नवयुवक सैनिकों के छक्के छुड़ाते थे। वर्तमान समय में महर्षि दयानन्द जी ने अपने अखण्ड ब्रह्मचर्य्य का परिचय देकर प्राचीन ब्रह्मचारिगण आर्यों की कथाओं तथा ब्रह्मचर्य की महिमा विषयक सच्छास्त्रों के उल्लेखों को सत्य कर दिखाया है। प्राचीन साध्वी और पतिव्रता देवियों के जीवन को उद्बोधित करती हुई आर्य देवियों के पवित्र जीवन का चारों दिशाओं में परिचय देती हुई भारतीय सभ्यता का ज्वलन्त प्रमाण आजन्म ब्रह्मचारिणी भाग्यहीना बालविधवा आर्य्य-देवियां ६०, ७० वर्ष की आयु में अपने साहस, परिश्रम और मुखकान्ति से २०, २५ वर्ष की युवतियों को लजाती हुईं, इस पाश्चात्य सिद्धान्त की अवहेलना करती हुईं, इस पतित समय में भी दिखाई देता हैं। योगाभ्यास शरीर, बुद्धि और आत्मा की उन्नति के लिये अत्युत्तम आर्ष साधन है। परन्तु इस बात का प्रमाण कोई नहीं कि ब्रह्मचर्य्य से होने वाली हानि को यह रोकने वाला है। आर्य्य-धर्म-शास्त्र अथवा वैद्यक-शास्त्र तो ब्रह्मचर्य्य में ऐसा कोई दोष ही नहीं देखते। और पाश्चात्य डाक्टरों के पास इस प्रकार का कोई अनुभव

ही नहीं, कि योग इस हानि का प्रतिकार है। महर्षि चरक ब्रह्मचर्य्य का गुण-गान करते हुए लिखते हैं—

पुण्यतममायुप्रकर्षकरं जराव्याधिप्रशमनमूर्ज्जस्करममृतं शिवं शरण्यं श्रोतुमर्हमथोपधारयितुं प्रकाशयितुं प्रजानामनुग्रहार्थमार्षं ब्रह्मचर्य्यम् ।

अर्थ—अत्यन्त पुण्यरूप, आयु को बढ़ाने वाला, जरा-व्याधि को दूर करने वाला, बल का भण्डार, मौत को जीतने वाला, कल्याणरूप, शरण करने योग्य, सुनने, सुनाने और धारण करने योग्य, प्रजा के सुख के लिये यह आर्ष ब्रह्मचर्य्य है।

इतना लिखने पर भी मुझे आशा नहीं है कि सभ्य पाठकों ने पाश्चात्य ब्रह्म-चर्य के विरोधी भावों को हृदय से निकाल दिया होगा। क्योंकि वर्त्तमान युग पाश्चात्य विचारों से ऐसा प्रभावित है कि वैदिक-सिद्धान्तों की सत्यता के लिये पाश्चात्य साक्ष्य, प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अतिरिक्त नवम प्रमाण माना जाता है। और फिर जहां कहीं वैदिक-सिद्धान्तों और योरुपीयन विचारों की टक्कर लगे, वहां तो इसकी बहुत आवश्यकता पड़ जाती है। अतएव मेरे लिये आवश्यक होगया है कि आपके समक्ष इस विषय में कोई पाश्चात्य निश्चया-त्मक सिद्धान्त भी उपस्थित करूं।

नार्वे देश में एक सभा 'यूनियन फ़ार दी एडवानसमिंट आफ़ पब्लिक मुरैलिटी" के नाम से स्थापित है। उसने क्रश्चियन यूनिवर्सिटी की मैडिकल फ़ेकलटी से (जिसमें उत्तरीय योरूप के सर्वोत्तम डाक्टर सम्मिलित हैं,) एतद्विषयक प्रश्न पत्र द्वारा पूछ भेजा, तो उन्होंने निम्नलिखित उत्तर दिया :—

"कुछ लोगों ने वर्त्तमान समय में ही अपनी सम्मति प्रकट की है। बल्कि समाचार-पत्रों और बहुत सी सभाओं ने भी इसका अनुमोदन किया है, कि ब्रह्मचर्य्य का रखना और जीवन को उच्च धार्मिक रीति से व्यतीत करना स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। उनकी यह सम्मति हमारे अनुभव से सर्वथा अशुद्ध है। हम सर्व-सम्मति से प्रकट करते हैं, कि हमें न ऐसे रोग का ज्ञान है, और न ऐसी निर्बलता का, जो पूर्ण ब्रह्मचर्य्य और धार्मिक-जीवन व्यतीत करने से उत्पन्न हों। अपने सबके अनुभव (तजुरबा) से हम कह सकते हैं, कि ब्रह्मचर्य्य पुरुष और स्त्री के लिये कुछ भी हानि-कारक नहीं।"

(आर्य्य मुसाफिर मई सन् १९०६ ईस्वी)

———

समास या व्यास।

(लेखक—श्रीयुत आत्मानन्द जी विद्यालङ्कार)

न्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न शब्द अपने अर्थ की सीमा का सङ्कोच या विस्तार करते रहते हैं। इनमें 'आर्य्य' शब्द भी एक है। कैसी विचित्र स्थिति है, कि काशी के श्रीविश्वनाथ जी के मन्दिर के ऊपर लिखे 'आर्येतराणां प्रवेशो निषिद्धः' इस वाक्य में आर्य शब्द का कितना व्यापी अर्थ है ? सामान्य हिन्दु जाति आर्य्य शब्द का विस्तार आर्य्यसमाजियों तक रखना चाहती है और साम्प्रदायिक आर्य्यसमाजो भी इसकी सीमा साम्प्रदायिक (कट्टर) आर्यसमाजियों तक ही रखना चाहते हैं। दूसरी ओर श्री दयानन्द जी को लगभग वही अर्थ अभिप्रेत था जो वस्तुतः "आर्येतराणां प्रवेशो निषिद्धः" इस वाक्य में आर्य शब्द से द्योतित होता है। यहांतक कि परोपकार के कार्य्य में तो वे समूची आर्यजाति के व्यक्तियों को सम्मिलित करना चाहते थे जैसा कि 'परोपकारिणी सभा' की सभ्यसूची से प्रकट होता है। उसमें रायसहिब मूलराज और श्रीरानडे महोदय का सम्मिलित करना और श्री यावदार्यकुल कमलदिवाकर हिन्दुकुलपति महाराणा सज्जन सिंह जी का प्रधान बनाना स्वामीजी की इस प्रवृत्ति का स्पष्ट सूचक है।

प्रश्न होगा—क्या हमने यह प्रवृत्ति स्थिर रखी ? उत्तर—पर्याप्त समय तक तो नहीं। यद्यपि मथुरा में आर्य्य विद्वत्परिषद् में यह देखकर हर्ष होता था कि वहां 'आर्य्य' शब्द का व्यापी अर्थ ही प्रायः सभ्यों को अभीष्ट होता था। व्यावहारिक बुद्धि से भी देखें तो हम आटे में नमक के बराबर क्या कर सकते हैं यदि समूची आर्य्यजाति की धर्म-बुद्धि, धन, क्षात्रबल, संघशक्ति की सहायता न लें। डी० ए० वी० कालेज और गुरुकुलों की समूची धन सूची की सूक्ष्म दृष्ट्या पड़ताल की जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी।

क्या हम इस उदात्त प्रवृत्ति के प्रचार में स्वयं विघ्न नहीं ?

हैं। कैसे ? आप हमारे उपदेशक महानुभावों के भाषणों में अनेक गुणों को पाते हुए यह दोष भी पावेंगे कि वे दृष्टान्त के लिये श्री दयानन्द जी के चरित्र की चर्चा ही अधिक करते हैं। इतर ऋषिजन, सन्त, महात्मा, गुणिजनों के

चरित्रसागर में से रत्नों के जोड़ने का यत्न नहीं करते। यह सत्य है कि पिछली शताब्दी में हुए सत्पुरुषों में श्री दयानन्द जी शिरोमणि हैं, पर इतिहास तो समुद्र है, कूप या तालाब नहीं। इस प्रवृत्ति से व्यापी, महान् सत्य की रक्षा नहीं होती। हमारे उन भाइयों के भाषणों में यह दोष अधिक आता है जो पहिले स्कूल कालिजों में पढ़ते हैं और पीछे सामाजिक क्षेत्र में धर्म कार्य्य में सहसा बद्ध परिकर होजाते हैं।

दूसरा विघ्न हमारा खण्डन का प्रकार है। यह सत्य है कि स्वामी जी बड़ा कड़ा खण्डन करते थे। बड़े २ राजाओं को कुत्ता कहना और बाईबिल, कुरान, के खण्डन इसके दृष्टान्त हैं। और अब भी खण्डन की ज़रूरत है। खेत साफ़ किये बिना बीज ठीक उगता नहीं, फोड़े की पीप नश्तर से ही ठीक निकलती है। पर खण्डन के बाद स्वामी जी अपने आचार से जो सन्मार्ग दिखा सकते थे क्या वह हम लोग दिखा सकते हैं? श्रद्धावान्, सदाचारी प्रेम के भरे भाई खण्डन करें, तो यह सत्य की महिमा है कि वह स्वयं घर कर जायगा। तर्कशुष्कमति साम्प्रदायिकजन कीर्तिकामना से जब यह कार्य्य करते हैं तो लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। आर्यत्व का फैलाव नहीं, सङ्कोच होता है। लोग आर्यत्व की परिधि से परे ही रहना चाहते हैं आकर गले नहीं लिपटते। कुटिल पुरुषों को जाने दीजिये; किन्तु भोली हिन्दु जाति सत्य की ओर खिंचना जानती है, पर सुपात्रों के हाथ से। सब प्रकार के गुणों का विनियोग समाज करें इसी में नेताओं की और जनता की बुद्धिमत्ता है। पर उसका प्रतिद्वन्द्वी गुण भी साथ है। जिनको हम आस्तिक नहीं बना सकते उनको आंशिक सत्य से भी विमुख करना परिणाम में सुखकर नहीं। मूर्त्तिपूजकों के पुत्र लाखों नये पढ़े लिखे इसके दृष्टान्त हैं। गवर्नमैण्ट से सम्बद्ध ऐसी संस्थाएं खोलते जाना जो पहिली पीढ़ी में अंशतः उपकार जननी थीं पर दूसरे सम्प्रदायों ने भी नक़ल से उस दिशा में वही कार्य्य किया। परिणाम, जहां एक बड़े स्थान में आर्यस्कूल हैं वहां सनातन, इस्लामिया, खालसा, (कहीं कहीं ब्रह्म और देवसमाजी भी) खुल रहे हैं, या खुल जावेंगे। अब भाई! इस ढङ्ग की शालाओं से लाभ के बदले हानि अधिक है और यह प्रवृत्ति साम्प्रदायिक जंजीरों को मजबूत कर रही है। यह करोड़ों रुपया विदेशी भाषा, पुस्तकें सामग्री, रुचि, वेषभूषा में खर्च करवाती है, अफसरों की खुशामदें बढ़ाती है, सरकारी सहायता के लिये दूसरे पक्षों से

झकड़वाती है। बच्चों की चित्तवृत्ति को भी कूपमण्डूक की चित्तवृत्ति सी कर देती है। विचित्र बात है कि गुरुकुल के स्नातकों में बाह्य परिस्थिति के कारण जाति प्रेम और आर्यत्व के अर्थ की सीमा दोनों सङ्कुचित होने चाहियें थे पर प्रायः हमारे दिलों में आर्यजाति के सब अङ्ग समा जाते हैं इसीलिये हमें किसी भी वर्ण और इतरेतर प्रान्तों के लोग अपने से इतने भिन्न नहीं लगते जितने दूसरों को । इस भाव के प्रचार में यदि उनसे काम लिया जाय तो पर्याप्त सफलता हो सकती है।

आर्य्यत्व का फैलाव कैसे हो ? परोपकारिणी सभा को दृढ़ करने से जिसमें साम्प्रदायिक भाष्यों, और भावों को परे रख के मूल, वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद्, दर्शनादि का प्रचार हो। विधवाओं, अनाथों की रक्षा हो। द्वीप, द्वीपान्तर में वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार, हो । क्या हमारे आर्य्य नेताओं में यह भावना है कि स्वामी जी के स्वीकारपत्र के भाव और भाषा के अनुकूल, परोपकारिणी सभा में हिन्दुकुलपति राणा, गान्धी जी गायकवाड़ नरेश, माइसोर नरेश,काश्मीर नरेश,शादोलाल,मालवीय, भगवानदास शिवप्रसाद् गुप्त, श्री निवास शास्त्री, प्रभृति में से चुनकर सहायता लें? इतना ही नहीं, जिन २ धर्म के अङ्गों में हम दूसरों से सहमत है उसमें समान मति वालों से मिलकर प्रचार हो। जैसे शराब के विरोध में, मुसलमान, हिन्दू सिक्ख सब एक हैं। संस्कृत हिन्दी प्रचार में समूची हिन्दू जाति एक है। बालविवाह में २० वर्ष की वर की आयु तक सभी शनैः२ आवेंगे। प्रत्येक वर्ष एक वर्ष आगे बढ़ाके २४ तक ले आवें। स्वास्थ्यप्रचार, रोग-दूरीकरण में सब मिलकर काम कर सकते हैं। रुख बदलने की जरूरत है। शताब्दी रुख दे सकती थी पर उसने नहीं दिया, बड़ा शोक है। शायद दशाब्दी देवे ! नहीं तो पञ्चाब्दी विद्वानों को इसी उद्देश्य से ही करनी चाहिये।

ग्राहक महोदय पत्र-व्यवहार करते समय अपना अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें। अन्यथा, पत्र का उत्तर यदि न दिया जा सके तो इसके उत्तरदाता हम नहीं होंगे।

भारतीय राज्यव्यवस्थाओं का अनुशीलन।

(गताङ्क से आगे)

[ले०--पं० भीमसेन जी विद्यालङ्कार (प्रतिष्ठित) सम्पादक 'सत्यवादी' लाहौर]

राजा सब काम इनकी सलाह से ही करता था, सन्धि विग्रह उन्नति आदि बातों के विषय में राजा उनके साथ पृथक् पृथक् भी विचार करता था और इकट्ठे भी। मन्त्रि मण्डल की सत्ता इससे प्रतीत होती है।

इन सचिवों के अतिरिक्त एक राजदूत भी होता था जो कि पर राष्ट्रों से स्वराष्ट्र का सम्बन्ध ठीक रखता था। मनु के अनुसार राष्ट्र सम्बन्धी विशेष नियमों का निर्माण मन्त्रिगण ही करते थे। मनु के समय में ग्राम को राष्ट्र की इकाई मानकर शासन किया जाता था। ये ग्राम अपने२ कार्यों में स्वतन्त्र थे। दो, तीन, या पांच गांवों के बीच में एक गुल्म होता था। वर्तमान भाषा में हम इसे लोक सत्तात्मक, 'थाना' कह सकते हैं। फिर १० गांवों के, २० गांवों के, १०० गांवों के हजार गांवों के अधिकारी होते थे। जब ग्राम में कोई दोष उत्पन्न हो या कोई अनर्थ घटना हो, तो मनु के अनुसार ग्रामपति दश ग्राम पति को, दशग्राम पति विंशति ग्राम पति को और विंशतिग्राम पति सहस्रग्राम पति को उसकी सूचना देनी चाहिये। यद्यपि ग्राम अपने कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्र थे पर मन्त्रिपरिषद् का एक मन्त्री इन्हीं ग्रामों के कार्यों के आन्तरिक शासन के कार्यों का निरोक्षण करता था। वर्तमान भाषा में इस मन्त्री को हम स्वराष्ट्र सचिव या गृह सचिव कह सकते हैं।

शासन में स्थानोय स्वराज्य का पूरा ध्यान रखा जाता था। इसी स्थानीय स्वराज्य (Local self government) का यह परिणाम है कि भारत में मुसल्मानों के शासन काल तक भी ये ग्राम सदा स्वतन्त्र रहे हैं। इन ग्रामों ने ही भारतीय सभ्यता को विदेशी आक्रमणों से सदा बचाए रखा है। *इन ग्रामों

---

* मौलाञ्छास्त्र विदः शूरांल्लब्ध लक्षान् कुलोद्गतान्,
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥
तैःसार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्,
स्थान समुदयं गुप्तिः लब्ध प्रशमनानि च ॥

का प्रबन्ध पञ्चायतों द्वारा होता था।*

मनुस्मृति के अनुसार देशके आन्तरिक शासन का यह स्वरूप है कि राजनैतिक संस्थाओं में स्थानीय शासन की मुख्यता है।

मनु के समय न्याय विभाग का भी मुखिया राजा ही होता था। मनुस्मृति के अनुसार राजा को ब्राह्मणों के साथ मिलकर राष्ट्र में न्याय का संचालन करना चाहिये। न्याय के लिये केवल कानून ही काफ़ी नहीं थे। परन्तु रीति-रिवाज़, कुलक्रमागत नियमों पर भी ध्यान रखना पड़ता था। राजा को ग्राम, संघ आदि के विषय में निर्णय करते समय उनके नियमों पर भी ध्यान रखना आवश्यक था। मनुके अनुसार यदि कोई मनुष्य इन ग्रामों और संघों के साथ किये हुए ठेके, समझौते व प्रतिज्ञा को तोड़े तो राजा को उसे देश से निकाल देना चाहिये।

प्राचीन काल में व्यापारियों के आर्थिक संगठन थे जिन का नाम गण

तेषां स्वमभिप्रायं उपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानाञ्च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः॥
मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्य संयुतम्।
सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता॥
नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तस्तस्मिन्कर्माणि निक्षिपेत्।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समाचरेत्॥

* द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्,
तथा ग्राम शतानाञ्च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम्।
ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दश ग्रामपतिं तथा,
विंशतीशं शतेशञ्च सहस्रपतिमेव च॥
ग्राम दोषान्समुपपन्नान् ग्रामिकःशनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्राम दशेशाय दशेशो विंशतीशिने॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्,
शंसेद् ग्राम शतेशस्तु सहस्र पतये स्वयम्।
तेषां ग्राम्याणि कर्माणि पृथक् कार्याणि चैव हि,
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः॥

था। धार्मिक संगठनों की प्राचीन संज्ञा संघ है। उसकी ही ओर यहां निर्देश किया गया है।

ग्राम-पञ्चायती में परस्पर मिलकर स्वयं शासन करने की शिक्षा मिलती थी, अब वह कुछ नहीं रहा। भारतीय इतिहास का सबक है कि यदि देश में शान्ति स्थापित करनी है, धार्मिक, नैतिक तथा सामाजिक शान्ति स्थापित करनी है, तो ग्रामों में ग्राम-पञ्चायतें बनाओ। ग्राम-पञ्चायतों से ही सच्ची राष्ट्रीयता पैदा होसकेगी। लोकलबोर्ड, म्युनिसिपैलटियां तथा कौंसिलें, राष्ट्रीयता को नष्ट करने वाली साम्प्रदायिकता को पैदा करती हैं। स्वराज्य स्थापित करने का मुख्य रचनात्मक मार्ग यही है कि फिर से ग्रामों में ग्राम-पञ्चायतें कायम करो। जब देश में इन ग्राम-पञ्चायतों का जाल फैलेगा, तभी स्वाधीनता स्थापित होगी। रूस वालों ने अपनी ग्राम-पञ्चायतों को स्थापित करके, ज़ारशाही का अन्त किया था। भारत में भी नौकरशाही का अन्त इन ग्राम-पञ्चायतों द्वारा ही होगा। आशा है, देश-प्रेमी कर्म-वीर ग्राम-पञ्चायतों के महत्त्व को समझेंगे।

---

* सतामनु परिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयं,
तेषां वृत्तं परिणमेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥
नगरे नगरे चैकं कुर्यात् सर्वार्थ चिन्तकम्,
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामविग्रहम् ॥
राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः,
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः सदा ॥
राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्य जनस्य च,
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥

† महाशय ई० बी हैवल ने The History of Aryan Rule in India में भारतीय चित्रकला और भवनकला के आधार पर ग्रामों के संगठन का वर्णन किया है। वे लिखते हैं—

" The Aryan system was a scientific organisation based upon sanitary laws and inspired by high ethical and social ideals. It was a scheme of common village life, worked out by the Practical Philosophy of one of the most highly-gifted of the races of man kind in which each section of the com-

इस प्रकार हमने देख लिया कि मनु के समय की संस्थाओं की क्या विशेषताएं है।

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
मन्त्रज्ञैः मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥८।१॥
प्रत्यहं देश दृष्टैश्च शास्त्र दृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥८।३॥
यो ग्राम देश सघानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन्तरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥

इस प्रकार मनु के समय तीनों विभागों का मुखिया राजा था। परन्तु यह राजा स्वतन्त्र नहीं होता था। इसे देश के वृद्धों और ब्राह्मणों के सामने झुकना पड़ता था, उनके आदेशानुसार काम करना होता था और साथ ही नियमों को उल्लंघन करने पर दण्ड भी भोगना पड़ता था।

ब्राह्मणान् पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषाँस्तिष्ठेत्तेषान्तु शासने ॥

munity and each individual member of it took their allotted shares of work for the common welfare. Not under the compulsion of an autocrate or of a ruling caste, but by a clear perception of mutual advantage and a voluntary recognisation of superior intellectual leadership (P. 10)."

"The Aryan village was the basis of Indo-Aryan polity and its history is the real history of India.

आर्यों के ग्राम संगठन में स्वतन्त्रता का भाव समाया हुआ था। इन में Democrecy का पूरा प्रभाव था। ग्रामों के इस सुसंगठन के कारण ही ये ग्राम संस्थाएं कभी पराधीन नहीं हुई। चार्ल्स मेटकाफ १८३० की विवृति-पत्रिका में लिखते हैं:—

"The village communities little republics..............................
Hindu, Pathan, Mogal, Maharatta, Sikh, English, are masters in turn, but the village communities remain the same.

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥७।२८॥
कार्षापणं भवेद्दण्डयो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥८।३३६॥

प्रथम दो श्लोकों से सिद्ध होता है कि सब विभागों का मुखिया होते हुए भी राजा को ब्राह्मणों का शासन मानना पड़ता था । आर्य्य सभ्यता के अनुसार क्षात्र बल का प्रयोग सदैव विचार शक्ति या ब्राह्मणों के द्वारा ही होता था । हमारे देश वासियों ने जब तक इस नियम का ध्यान रखा तब तक देश में शान्ति और व्यवस्था बनी रही । यदि राजा धर्म का उल्लंघन करे तो उसे भी दण्ड दिया जा सकता था । प्रजा के प्रतिनिधि या रक्षक ब्राह्मण ही इसका दण्ड विधान करते थे ।

मनु के इस राजव्यवस्था के वर्णन को पढ़कर कई विचारकों के दिलों में यह प्रश्न उठता है कि क्या मनु के समय कोई भी ऐसी सभा न थी जहां कि प्रजा के प्रतिनिधियों को शासन प्रबन्ध में भाग लेने का मौका दिया जाता हो ? क्या उस समय ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं था जिससे प्रजा के प्रतिनिधि अपनी आवाज़ राजा तक पहुंचा सकें ? वैदिक समय की सभा समितियों और प्रजा-सम्बन्ध को देखकर इस प्रश्न का उठना आवश्यक ही है । राजा की मन्त्रिपरिषद् और न्याय के लिये निश्चित की गई ब्राह्मण सभाओं के वर्णनों को यदि ध्यान से पढ़ें तो मनु के समय में भी ऐसी सभा समितियों की स्थिति देखी जा सकती है । प्रजा के सम्बन्ध विषय में निम्न श्लोक को ध्यान से देखना चाहिये—

तत्र स्थिताः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥७।१४६॥

इस श्लोक से स्पष्ट है कि राजा प्रजा से सीधा सम्बन्ध रखता था । राजा अपने मन्त्रियों से गुप्त सलाह करने से पूर्व साधारण प्रजा से भी साक्षात्कार कर उनकी बात भी सुनता था ।

———

ऋणी कैलाश।

(लेखक—श्रीयुत बैसाखीराम, जम्मू)

[१]

कैलाश छोटी अवस्था में ही अनाथ होगया था। उसके माता पिता उसको तीन वर्ष का छोड़कर परलोक सिधार गये थे। उसके पिता ने शराब बेच बेच कर खासी धन-दौलत पैदा करली थी, परन्तु वह धन ही क्या जो बुरे पेशे से कमाया जावे? ऐसा धन अन्त में कष्ट तथा शोक का ही कारण होता है।

बिरादरी ने पिता की मृत्यु के पश्चात् पाए कैलाश के सारे धन को उसके चचा के सुपुर्द कर दिया। वह बड़ा लोभी और क्रोधी था। कैलाश ने बाल्यावस्था तो जैसे तैसे उसके पास व्यतीत की, परन्तु जब वह कुछ स्याना हुआ तो तङ्ग आकर उसने घर से निकल जाने का विचार किया, क्योंकि उसके चचा बात बात पर उसको डांटते और ज़रा ज़रा से अपराध पर मार मारकर उसका शरीर सुजा देते थे।

आखिर समय पाकर कैलाश घर से निकल भागा। उसके पास खर्च के लिये एक पैसा तक नहीं था, और शरीर पर केवल फटे पुराने वस्त्र ही थे। घर से निकल कैलाश जब स्टेशन पर आया, तो उसने वहांपर एक मुसाफिर-गाड़ी को खड़ी पाया। न जानते हुए, कि वह कहां जारही है, वह बगैर टिकट लिये ही उसमें जा बैठा। जिस डिब्बे में कैलाश ने यात्रा आरम्भ की, उसमें एक सन्यासी महात्मा भी विराजमान थे। महात्मा जी के मुख-मण्डल पर एक अपूर्व ज्योति छारही थी। वह प्रत्येक को अपनी करुणा-भरी दृष्टि से देख रहे थे। ज्यों ही कैलाश डिब्बे में घुसा, सन्यासी जी की दृष्टि उसपर जा पड़ी, और वह उसको बड़े गौर से देखने लगे।

बालक कैलाश इससे पहले घर से कभी अकेला नहीं निकला था। उस स्थान पर जब उसने अपने आपको अनजान पाया; तो उसको घर की याद आगई—यद्यपि उसको वहां बहुत कष्ट था—और उसकी आंखों से अश्रु-वर्षा आरम्भ होगई। सन्यासी जी उसे देखकर जान गये कि कोई दुखिया है।

उन्होंने उसके पास जाकर बड़े प्रेम से उसकी पीठ पर हाथ फेरा। कैलाश ने जब मुख ऊंचा किया, तो सामने एक महात्मा को देखकर उसकी आत्मा को कुछ साहस हुआ, और उसके मुखपर कुछ प्रसन्नता भी प्रकट हुई।

मालूम नहीं सन्यासी के हाथ में क्या जादू था, कि इतनी जल्दी कैलाश का मन पलट गया। महात्मा ने करुणा-भरी आवाज़ में कैलाश से पूछा—"ऐ बेटा! तू इतना उदास क्यों है? अपने दुःख की बात मुझसे कह।" कैलाश ने थोड़े ही समय में टूटे-फूटे अक्षरों में अपनी राम-कहानी कह सुनाई। उसे सुनकर महात्मा का दिल भर आया। माना, कि सन्यासी को दुःख और शोक नहीं होता, परन्तु ऐसा कोई विरला ही मानवीय-हृदय होता है, जो दुःखी को देखकर तड़प नहीं उठता। महात्मा के लाख सम्भालने पर भी आंसू टपक ही पड़े। कुछ काल के पश्चात् सन्यासीजी ने उससे फिर पूछा—"बेटा, अब तुम क्या करना चाहते हो?" कैलाश ने बड़े दीनभाव से कहा—"यदि मेरे लिये किसी प्रकर भोजन वस्त्र का प्रबन्ध होजावे तो मैं विद्या-ग्रहण में लगना चाहता हूं।" इसी प्रकार बातें करते करते एक स्टेशन आया, जहां महात्मा कैलाश को सङ्ग लेकर गाड़ी से उतर शहर की ओर चल पड़े। कुछ काल के बाद वह एक भवन में पहुंचे, जिसके आंगन में बहुत-से बालक आसनों पर बैठकर सन्ध्या कर रहे थे (क्योंकि यह सन्ध्या का समय था)। यह आर्य्य-समाज द्वारा स्थापित एक अनाथालय था। सन्यासी जी ने कैलाश को उसी अनाथालय में दाखिल कर दिया।

[२]

कैलाश बड़ा होनहार लड़का था। पाठ को आसानी से याद कर लेता था। समय पाकर उसी अनाथालय द्वारा उसने प्राईवेट तौर पर ऐन्ट्रैन्स परीक्षा पास की, और इसके पश्चात् अनाथालय द्वारा छात्रवृत्ति दिये जाने पर वह कालेज में प्रविष्ट होगया। चार साल में कैलाश ने बी. ए. पास कर लिया। वह अपनी श्रेणी में प्रथम और प्रान्त में उसका नम्बर बहुत ऊंचा रहा। कालेज के प्रबन्धकर्ताओं ने सन्तुष्ट होकर तथा दयाभाव से उसे दो वर्ष के लिये ५०) मासिक छात्रवृत्ति देना निश्चित किया, जिससे वह ऐम. ए. पास करले। परन्तु वह ऐम. ए. क्लास छोड़ 'ला'-कालेज में दाखिल होगया। जहांसे उसने दो वर्ष के बाद परीक्षा में उत्तीर्ण होकर ऐल. ऐल. बी. की उपाधि प्राप्त की

उसके वकील बनने पर उसके मित्रों ने उसे ज़ियाफतें दीं, कालेज व अनाथालय ने खुशियें मनाईं।

कुछ समय में कैलाश एक विख्यात वलील बन गया। उसके पास अब ठनाठन रुपये आने लगे। परन्तु शोक! धनोपार्जन के ध्यान में कैलाश आर्य्य-अनाथालय तथा आर्य्य-कालेज को जिनके द्वारा वह इस उच्च दशा को प्राप्त हुआ था, भूल गया। आर्य्य-समाज की सेवा का भाव जो पहले उसके मन में था, बिलकुल जाता रहा। अब उसको केवल ठनाठन का ही ध्यान था।

कैलाश की धर्मपत्नी एक तीन साल का शिशु छोड़कर परलोक सिधार गई। बड़ी कठिनाई से बालक अभी पांच वर्ष का ही हुआ था कि कैलाश बाबू भी बीमार पड़ गये। डाक्टरों ने लाख सर मारा, वैद्यों ने भी जी भर कर वैद्यक चमत्कार दिखाए, परन्तु कैलाश बाबू स्वस्थ न हुए। दिन प्रतिदिन रोग बढ़ता ही गया।

रोग से कैलाश बड़ा दुःखित था, वह बहुत जल्दी मृत्यु द्वारा उस रोग से छुटकारा पाना चाहता था। रोग के अतिरिक्त उसको एक मानसिक कष्ट भी था। उसको हर समय यही चिन्ता रहती थी, कि वह अपने एकमात्र पुत्र को किसके हवाले करे? शय्या पर पड़े पड़े जब पुत्र की याद आती थी, वह रोने लग जाता था।

एक दिन वह इसी अवस्था में था, कि वही महात्मा, जो उसे गाड़ी में मिले थे, अचानक उसके सामने आ विराजे। महात्माजी को जब कैलाश का हाल मालूम हुआ, तो वह धीरे से उससे बोले, "कैलाश! जिस प्रकार अब तुम्हारा पुत्र अनाथ होने वाला है, इसी तरह तुम भी एक दिन अनाथ थे। जिस प्रकार परमात्मा ने तुम्हारा पालन किया है, इसी प्रकार वह तुम्हारे पुत्र को भी गोद में लेंगे। इसकी चिन्ता मत करो। परन्तु (कुछ रुककर और धीरे से) तुम यह तो बताओ, कि जिसके द्वारा तुम इतने उच्च-पद को प्राप्त हुए हो उसके लिये तुमने अभी तक क्या किया है? तुम कृतघ्न निकले हो, इसलिए इस समय इतना कष्ट उठा रहे हो।" यह कह कर सन्यासीजी अदृश्य होगये।

अब अन्त समय में कैलाश को सब बातों का ख्याल आया। उसने कलम दवात मंगवाकर उसी समय अपनी सब सम्पत्ति आर्य्य समाज के नाम कर दी, और

अपने पुत्र को भी आर्य्य-समाज के सुपुर्द कर दिया । इसके साथ यह भी प्रार्थना लिख दी, कि उसके पुत्र को यथोचित पढ़ाकर, देश-देशान्तरों तथा द्वीप-द्वीपान्तरों में वैदिक-धर्म के प्रचार के लिये भेजा जावे। जब यह सब कुछ होगया तब कैलाश के मुख पर एक अद्भुत ज्योति प्रकट हुई, और उसने बड़ी प्रसन्नता से अपने प्राण त्याग दिये।

——:०:——

यम यमी सूक्त।

(प्रत्यालोचन)

चैत्र १९८२ के "आर्य्य" में मेरा "यम यमी सूक्त" शीर्षक लेख छपा था। लेख की अवतरणिका को समाप्त करते हुए मैंने निवेदन किया था कि:—

"हम अपनी व्याख्या को अन्तिम व्याख्या नहीं समझते। समालोचना आने पर हम इस में समुचित परिवर्तन करने को तैयार हैं।"

मुझे यह देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि इस लेख की चर्चा आर्य्य-जगत् में होरही है। कुछ समाचार पत्रों में मेरे लेख का सार छपा है। कतिपय विद्वानों से मौखिक वार्त्तालाप का अवसर हुआ है। विरोध भी सुनने में आया है, सहमति भी। किसी को मेरी व्याख्या सर्वांश में स्वीकार है, कोई २ मेरी की सूक्त को संगति को मानते हैं, परन्तु व्याख्या के कुछ भागों पर आपत्ति उठाते हैं। कोई सिरे से इस धारणा के ही विरुद्ध हैं कि यह संवाद पति पत्नी में हुआ है।

श्री पं० सातवलेकर इस अन्तिम पक्ष के हैं। उन का मैं इसलिये आभारी हूं कि उन्होंने अपनी सम्मति ज्येष्ठ के "वैदिक धर्म" में मुद्रित करा दी है। उनकी उठाई आपत्तियों का स्वीकार अथवा समाधान करना सरल है क्योंकि वह लेखबद्ध होने के कारण निश्चित होगई हैं। यदि अन्य समालोचक भाई भी इसी प्रकार अपनी समीक्षा को लेखबद्ध कर मेरे पास भेजने की कृपा करें तो विचार में सुगमता होगी। "आर्य्य" के पृष्ठ इस प्रकार की समालोचना के लिए सदा खुले हैं।

श्री पं० सातवलेकर जी अपनी समालोचना के प्रथम परिच्छेद में लिखते हैं—

"जितनी मानसिक समता से उस (मेरे मूल—) लेख की वाक्य रचना की है, वह निस्सन्देह प्रशंसा योग्य है।"

मुझे बड़ी प्रसन्नता होती, यदि पण्डित जी ने वही "मानसिक समता" अपनी समालोचना में दिखाई होती। अस्तु। श्री पण्डित जी ने मुझ पर परस्पर-विरोधी विशेषणों की झड़ी लगाई है। विचार का विषय मैं नहीं, मेरा लेख है। अतः मैं अपने आप को वादी प्रतिवादी के बीच से निकाल कर प्रकृत को ही वाद का विषय बनाता हूं।

ब्राह्मण ग्रन्थों की साक्षि।

पण्डित जी का पक्ष है कि यमयमी युगल भाई बहिन हैं। यह पक्ष पुराना है—अर्थात् बृहद्देवताकार के समय का। इस बात का पण्डित जी को गौरव है। पण्डित जी ने शतपथकार याज्ञवल्क्य को भी अपने साथ लेना चाहा है परन्तु इस पक्ष में कोई उद्धरण नहीं दिया। मेरे उद्धृत किये श० ब्रा० ७। २। १। १० पर, जहां यम को अग्नि और यमी को पृथिवी कहा गया है, अपना रङ्ग चढाने का प्रयत्न तो किया है परन्तु सफल नहीं हुए। पण्डित जी का कहना है कि अग्नि भी सूर्य्य से उत्पन्न होता है, और पृथिवी भी। इस लिये दोनों भाई बहिन हैं। पण्डितजी की प्रतिज्ञा यह है कि यम और यमी यमज हैं। देखो "वैदिक धर्म" पृष्ठ १७२ स्तभ २ :—

"यम का दूसरा अर्थ "युगल, जुड़े भाई, एक योनि से उत्पन्न सहजात भाई" यह है। यही यहां लेना चाहिये।"

क्या अग्नि और पृथिवी सहजात हैं ? किसी भी शास्त्र ने इन्हें सूर्य्य का यमज नहीं ठहराया।

पण्डित जी "सहजात भाई" और "केवल भाई बहिन" में विवेक करलें तो उन्हें प्रतीत होगा कि शतपथ के प्रमाण की उन की कल्पना-मूलक व्याख्या भी उनके पक्ष का पूरा पोषण नहीं करती। और फिर इसका क्या प्रमाण कि अग्नि और पृथिवी के भ्रातृभगिनी सम्बन्ध को भी शतपथ ने स्वीकार किया है ? गवेषणा के क्षेत्र में बिना प्रमाण की बात का आदर नहीं होता। शतपथकार का मत शतपथ से दर्शाइये, अपनी कल्पना से नहीं। लीजिये, अग्नि और पृथिवी का सम्बन्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में क्या माना गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।११।५।२७

में "अग्ने पृथिवीपते" यह पाठ मिलता है। सम्भव है आप को आपत्ति हो कि "पति" का अर्थ यहां स्वामी है। आगे चलकर कहा है "तस्मिन् योनौ प्रजनौ प्रजायेय" अर्थात् इस गर्भ में मैं गर्भाधान करूं। प्रकरण उस प्रकार के पतित्व का है जिस से प्रजनन होता है। गोपथकार इस से भी अधिक स्पष्ट हैं। लिखा है :—"पृथिव्यग्नेः पत्नी।" गो० उ०। २। ६। अर्थात् पृथिवी अग्नि की पत्नी है।

इन प्रमाणों से और भी स्पष्ट हो गया कि ब्राह्मण ग्रन्थों में यदि यमयमी में किसी सम्बन्ध की स्थापना की गई है तो वह सम्भवतः दाम्पत्य सम्बन्ध है, भाई बहिन का सम्बन्ध कदापि नहीं।

बृहद्देवता का प्रामाण्य !

ब्राह्मण ग्रन्थों के पीछे हम बृहद्देवताकार की ओर आते हैं। पण्डितजी लिखते हैं :—

"बृहद्देवता ग्रन्थ बड़ा प्राचीन और प्रामाणिक है।" वै० ध० पृ० १७०

कितना प्राचीन ? कितना प्रामाणिक ? मैंने तो अपने मूल लेख में ही इस ग्रन्थ का कुछ हुलिया दे दिया था। पौराणिक कथाओं का वैदिक आधार संभवतः इसी ग्रन्थ द्वारा संस्थापित हुआ है। यदि इस पुस्तक को प्रामाणिक मान लें तो वेद पौराणिक कथाओं का एक बेढब सा संग्रह मात्र ही रह जाता है। इसी यमयमी सूक्त पर इस ग्रन्थ के दो श्लोक मैं अपने पूर्व लेख में उद्धृत कर चुका हूं। अब सारा प्रकरण लिखे देता हूं :—

अभवन्मिथुनं त्वष्टुः सरण्यूस्त्रिशिराः सह।
स वै सरण्यूं प्रायच्छत् स्वयमेव विवस्वते॥
ततः सरण्य्वां जज्ञाते यमयम्यौ विवस्वतः।
तौ चाप्युभौ यमावेव ज्यायांस्ताभ्यां तु वै यमः॥ ६। १६२, १६३
सृष्ट्वा भर्तुः परोक्षं तु सरण्यूः सदृशीं स्त्रियम्।
निक्षिप्य मिथुनं तस्यामश्वा भूत्वापचक्रमे॥
अविज्ञानाद्विवस्वांस्तु तस्यामजनयन्मनुम्।
राजर्षिरभवत्सोऽपि विवस्वानिव तेजसा॥
स विज्ञाय त्वपक्रान्तां सरण्यूमश्व रूपिणीम्।

त्वाष्ट्रीं प्रतिजगामाशु बाजी भूत्वा सलक्षणः ॥
सरण्यूश्च विवस्वन्तं विदित्वा हयरूपिणम्।
मैथुनायोपचक्राम तांच तत्रारुरोह सः ॥
ततस्तयोस्तु वेगेन शुक्रं तदपतद्भुवि ।
उपाजिघ्रच्च सा त्वश्वा तच्छुक्रं गर्भकाम्यया ॥
आघ्रातमात्राच्छुक्रात्तु कुमारौ सम्बभूवतुः ।
नासत्यश्चैव दस्रश्च यौ स्तुतावश्विनाविति ॥ ७ । १ । ६

अर्थात्—त्वष्टा के जोड़ा हुआ, सरण्यू और त्रिशिरा। उसने स्वयं सरण्यू विवस्वान् को दी। विवस्वान् के सरण्यू से यम और यमी पैदा हुए। वह यमज थे। बड़ा यम था। पति की आंख बचा कर सरण्यू ने अपने सदृश स्त्री पैदा कर जोड़ा (यम और यमी) उस के अर्पण किया और घोड़ी बनकर भाग गई। विवस्वान ने अज्ञान में उस (स्त्री) से मनु पैदा किया। वह विवस्वान् की तरह तेजस्वी राजर्षि हुआ। वह घोड़े के रूप में सरण्यू को भागा हुआ जान कर उस के समान रूप वाले घोड़ा बना और शीघ्र त्वष्टृपुत्री (सरण्यू) के पास गया। सरण्यू विवस्वान् को घोड़े के रूप में जानकर मैथुन के लिये उस के पास आई और वह उस पर चढ़ गया। उस समय उन दोनों का वीर्य वेग से पृथिवी पर गिरा। उस वीर्य को उस घोड़ी ने गर्भ की कामना से सूंघा। उस सूंघने मात्र से दो कुमार पैदा हुए—नासत्य और दस्र। इन्हीं को अश्वी कहते हैं।"

पण्डित जी के शब्दों में वृहद्देवता "प्रामाणिक" पुस्तक है। और उस पुस्तक में हैं इसी प्रकार की कथाएं। मैं इस पुस्तक की अवहेलना में कोई दोष नहीं मानता। रही इस की प्राचीनता। उपर्युक्त कथा यहां यास्क के प्रमाण से लिखी गई है :—

इतिहासमिमं यास्कः सरण्यू देवतेद्वृचे।
विवस्वतश्च त्वष्टुश्च त्वष्टेति सह मन्यते ॥ वृ० ७ । ७

मैंने अपने पूर्व लेख में यास्क के शब्दों में इस कथा का वर्णन किया था। यास्काचार्य इस कथा का उल्लेख ऐतिहासिक पक्ष में करते हैं जो उन का अपना नहीं। वृहद्देवताकार का पक्ष है ही ऐतिहासिक। और पक्ष वह जानते ही नहीं। श्री पं० सातवलेकर जी ने दोनों को एक साथ "प्रामाणिक व्यक्ति" "जिन का निराकरण योंही" नहीं किया जा सकता, कैसे मान लिया? यास्क

पुराने हैं और उन का पक्ष नैरुक्त है। वृहद्देवताकार नवीन हैं और उन का पक्ष ऐतिहासिक अर्थात् पौराणिक है। यास्क कथाओं का उल्लेख करते हैं न मानने के लिये। वृहद्देवताकार वही कथाएं लिखते हैं और उन्हें सोलह आने सत्य मानते हैं। यही नहीं वृहद्देवताकार यास्क के कितने विरोधी हैं, इसका पता इसी वृहद्देवता के २०। १०९—११५ से लीजिये। विस्तार-भय से यहां उसका उद्धरण नहीं किया जाता। मुझे वृहद्देवताकार पुराण-लेखकों के आदिम गुरु प्रतीत होते हैं। उपरिलिखित यमयमी की कथा और कूर्म पुराण वर्णित कथानक में कुछ भेद नहीं।

यास्काचार्य्य का मत।

यास्काचार्य्य कृत ऋ० १०। १०। १० की व्याख्या से मुझे विचार हुआ था, कि निरुक्तकार सम्भवतः सायण का साथ देते हैं। पुनः विचार करने पर प्रतीत होता है, कि यह मेरी भूल थी। इस मन्त्र के नीचे 'जामि' शब्द के तीन अर्थ किये गए है—(१) अतिरेक—जिसको दुर्गाचार्य्य पुनरुक्त का पर्य्याय मानते हैं। (२) बालिश, जिसका अर्थ मूर्ख है। (३) असमानजातीय।

दुर्गाचार्य्य यम-यमी की पौराणिक कथा से प्रभावित हैं। वह ख़्वाहमख़्वाह 'जामि' का अर्थ 'बहिन' करते हैं, और मन्त्र को पौराणिक ढङ्ग से लगाते हैं। 'अतिरेक' और 'बालिश' में इसकी गन्ध न पाकर तीसरे अर्थ पर यों टीका करते हैं:—

"असमानजातीयो हि पुरुषस्य भगिन्याख्यो भ्राता, सा हि स्त्रीत्वादेवा-तुल्यजातीयैव पुरुषस्य भवति।"

अर्थात् पुरुष का बहिनरूप भाई असमानजातीय है। वह, स्त्री होने से पुरुष की अतुल्य-जातीय है।

जामि का अर्थ यास्क के शब्दों में अतुल्यजातीय है। दुर्गाचार्य्य ने ठीक व्याख्या की है, कि स्त्री पुरुष की अतुल्यजातीय होती है, इसलिए वह 'जामि' है। ऐसे ही पुरुष स्त्री का अतुल्यजातीय होता है। इसमें भगिनिभाव कैसे आ कूदा, यह हमारी समझ में नहीं आता। मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है:—ऐसे (विवाह—) उत्तर काल आने की सम्भावना है, जब (जामि) स्त्री पुरुष आपस में

(अजामि व्यवहार करें) स्त्रीपुरुष न रहें। अर्थात् प्रजननक्रिया छोड़ने से उनमें लिङ्गभेद की भावना न रहे। संन्यास और दूसरी नियोग योग्य अवस्थाओं में यही स्थिति होती है।

इसी सूक्त के १४ चौदहवें मन्त्र की व्याख्या यास्काचार्य ने निरुक्त ११। ३४। १ में की है। निरुक्तकार वैदिक-देवताओं को तीन स्थानों में बांटते हैं। यम मध्यम-स्थानीय है। इसकी निरुक्ति निरुक्त १०। १९। २ में की गई है। यमी का पाठ स्त्री-लिङ्गी देवताओं में आया है। उसपर 'अन्यमूषु त्वम्' आदि ऋ० १०। १०। १४ का उदाहरण दिया है। इसपर दुर्गाचार्य्य नैरुक्तपक्ष की टीका करते हुए लिखते हैं:—

"त्रित्वपक्षे तु माध्यमिको यमो माध्यमिकां वाचुषसमात्मनः प्रविभक्तां कृत्वोभयस्थानां तां ब्रवीति—'हे यमि! अतीतस्ते अस्मत्परिष्वङ्गसमयः, प्रभातमिदानीम्। लिबुजेव वृक्षं द्युःस्थानं परिष्वक्तुमिच्छ।"

अर्थात् देवतृत्वपक्ष में (और यही पक्ष निरुक्तकार का अपना है) मध्यम-स्थानी, यम मध्यमस्थानी वाक् अथवा उषा को कहता है:—"हे यमि! तेरा हमारे साथ आलिङ्गन का समय व्यतीत होगया, अब प्रभात है। अब तू द्युःस्थान को आलिङ्गन करने की इच्छा कर, जैसे वृक्ष को वेल।"

"आलिङ्गन का समय समाप्त हुआ"—इसमें न केवल पति-पत्नीभाव ही की ध्वनि है, किन्तु नियोग की भी।

यास्काचार्य्य के व्याख्यान से यदि कोई ध्वनि निकलती है, तो वह स्पष्ट नियोग ही की है। दुर्गाचार्य्य ने इस ध्वनि का अनुभव किया, जैसे उनके किये उपर्युक्त टिप्पण से प्रकट होता है। हां! पौराणिक देवतावाद से अभिभूत होकर वह निश्चयात्मक एक अर्थ न कर सके, और आने वाली सन्ततियों को भटकने का अवसर दे गए। तथापि जितना सत्यार्थ के अन्वेषण में उनका लेख सहायक है, हम उसके लिये उनके कृतज्ञ हैं। हां, पाठक को स्वयं विवेकी होने की आवश्यकता अवश्य है।

आर्ष-पक्ष ।

श्री पण्डित सातवलेकर जी ने मेरे किये अर्थ में प्रथम यह दोष निकाला है, कि 'वह इस समय तक किसीने भी माना नहीं है।' मैंने ऊपर सप्रमाण निवेदन किया है कि—

(१) ब्राह्मण ग्रन्थ यदि किसी पक्ष का पोषण करते हैं, तो वह मेरा ही पक्ष है। शतपथकार 'यम' को 'अग्नि' और 'यमी' को 'पृथिवी' बताते हैं। तैत्तिरीयकार 'अग्नि' को 'पृथिवीपति' कहते हैं, और 'अस्मिन् योनौ प्रजनौ प्रजायेय' लिखकर 'पति' शब्द का प्रयोजन स्पष्ट करते हैं, कि यह पति प्रजाजनक है। और गोपथकार तो स्पष्ट 'पृथिवी' को 'अग्नेः पत्नी' कहते हैं। अर्थापत्ति से यदि यम-यमी का कोई सम्बन्ध स्थिर होता है, तो वह दाम्पत्य सम्बन्ध है, भ्रातृ-भगिनी सम्बन्ध नहीं।

(२) यास्काचार्य्य के लेखों से केवल पति-पत्नी सम्बन्ध की ही नहीं, किन्तु नियोग की भी ध्वनि निकलती है।

(३) और यदि ऋषि दयानन्द को 'इस समय तक' के भाष्यकारों में सम्मिलित करलें, तो उन्हों ने भी 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' १०।१०।१० के इस अंश को नियोग प्रकरण में लगाकर इसका वक्ता पति को बनाया है। उनकी सम्मति स्पष्ट है।

(४) पण्डित गुरुदत्त ने टी. विलियम्स के पत्र का उत्तर देते हुए 'गर्भे नु नौ जनिता' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या की है। वह व्याख्या वही है, जो मैंने की है।

इन साक्षियों के विरुद्ध बृहद्देवताकार हैं, श्रीसायणाचार्य्य हैं, और उनके अनुगामी यूरोपीय तथा भारतवर्षीय भाष्यकार। वह सब पण्डित जी के पक्ष में हैं।

मैं इन साक्षियों को आदर देता हूं। पण्डित जी ने मेरी धारणा में 'इस समय तक किसीने भी माना नहीं है' यह दोष दिया जो यथार्थ नहीं। मेरा विश्वास है कि इस सूक्त के स्पष्टीकरण का आर्ष-पक्ष मेरे साथ है। इसी भरोसे मैंने प्रचलित व्याख्याओं के विरोध का साहस किया है।

यम यमी का संबन्ध ।

यम यमी सूक्त की मुख्य समस्या यम यमी का संबन्ध है। किसी भी भाष्यकार को पहले इस संबन्ध का निश्चय करना चाहिये, तत्पश्चात् सूक्त की व्याख्या में प्रवृत्त होना लाभकर हो सका है। महर्षि दयानन्द सूक्त के १० वें मन्त्र का वक्ता पति को बना कर स्पष्ट संकेत करते हैं कि यम-यमी पति पत्नी हैं। यही अभिप्राय ब्राह्मण कारों तथा यास्काचार्य का प्रतीत होता है। इनके विपरीत बृहद्देवताकार,श्रीयुत सायण तथा उनके अनुगामी यम-यमी को बहिन भाई मानते हैं। कारण स्पष्ट है। पूर्वोक्त पक्ष यौगिक अर्थों का सहारा लेता है, शेषोक्त पक्ष रूढ़ि का।

आओ! पहिले हम यम-यमी शब्दों के अर्थों की पड़ताल करें। यम की निरुक्ति यास्काचार्य के मत में यह है:—यमो यच्छतीति सतः। निरुक्त १०।१९।२। अर्थात् जो वशीकार करे। यही निर्वचन ब्राह्मणकारों ने किया है। यही धात्वर्थ ऋषि दयानन्द की दृष्टि में है जैसे मैं अपने पूर्व लेख में सिद्ध कर चुका हूं। अब यमी का क्या अर्थ होगा? श्री पं॰ सातवलेकर लिखते हैं कि यदि यम का अर्थ 'संयमी पुरुष' हो तो यमी का अर्थ होना चाहिये 'संयमी स्त्री'। (वैदिक धर्म पृष्ठ १७३ स्तंभ २)। यह व्याकरण के किस नियम से? पाणिनि मुनि तो लिखते हैं 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४।) अर्थात् यम गुण संपन्न स्त्री के लिये रूप होगा 'यमा'। 'यमी' रूप 'पुं योगादाख्यायाम्' (४।१।४८) से ही सिद्ध होगा। इससे अर्थ होगा यम की स्त्री यमी।

इसी प्रकार यदि श्री पं॰ सातवलेकर जी का किया अर्थ 'जुड़े भाई' स्वीकार करें तो 'जुड़ी बहिन' के लिये 'यमा' शब्द ही का प्रयोग हो सक्ता है, यमी का नहीं।

बृहद्देवताकार और उनके अनुयायी इस नियम को जानते प्रतीत होते हैं। उन्हों ने यम-यमी का शब्दार्थ 'जुड़े भाई बहिन' नहीं किया। कोई से जुड़े भाई बहिन का रूढ़ि नाम यम यमी मान लिया है। यूरोपियन भाष्यकार रौथ ही अकेले इन शब्दों का यौगिक अर्थ युगल भाई बहिन करते हैं और उसका कारण उनका व्याकरण से अज्ञान है।

मेरा अभिप्राय एक उदाहरण से स्पष्ट होजाएगा। कोई मनुष्य जिसका नाम

शंकर है, वह अपनी लड़की का नाम गौतमी रखता है । अब गौतमी का अर्थ है गोतम की लड़की । यह नाम सार्थक नहीं । सार्थक नाम शांकरी हो सक्ता था, जैसे जनक की लड़की जानकी । यह दोनों ताद्धित प्रयोग हैं । लोग अपनी लड़कियों का नाम गोपाली रख देते हैं । इस का अर्थ है 'गोपाल की स्त्री' । हो सक्ता है कि गोपाली का विवाह देवदत्त से हो परन्तु वह कहलाती गोपाली ही जाएगी । इन नामों में से 'जानकी' तथा 'शांकरी' यौगिक नाम हैं और यदि यह केवल विशेषण ही नहीं किन्तु नामधारी व्यक्तियों के निजू नाम भी यही हों तो इन्हें योगरूढ़ी कहा जायगा । इसके विपरीत गौतमी तथा गोपाली न यौगिक हैं न योगरूढ़ी हैं, किन्तु रूढ़ी हैं । बृहद्देवताकार तथा सायण आदि के मत में यमी शब्द ऐसे ही रूढ़ी है । उसका यह नाम इसलिये नहीं कि वह यम की यमजा है, क्योंकि ऐसा होता तो नाम यम और यमा होते । कोई से यमजों के नाम यम और यमी होगए । यही अवस्था महाभारत के प्रसिद्ध नामों कृप और कृपी की है । कृपी कृप की स्त्री का ही शुद्ध नाम हो सक्ता है । कृप की बहिन का यह नाम केवल रूढ़ी है ।

नैरुक्त पक्ष वाले वेदों में रूढ़ी स्वीकार नहीं करते—यही पक्ष आर्य्य समाज का है । यही पक्ष श्री पं० सातवलेकरजी का होना चाहिये । हमारी समझ में यम और यमी यौगिक शब्द हैं । यम का अर्थ है नियमन कर्ता और यमी उसकी स्त्री को कहते हैं । उसमें नियमन गुण हो या न, पाणिनि के मत में वह यमी कहलाएगी । यदि वह यम की स्त्री न हो तो उसका यौगिक नाम यमी नहीं हो सक्ता ।

सूक्त का अभिप्राय ।

पूर्व इसके कि मैं सूक्त की अन्तःसाक्षि की ओर आऊं, मैं भ्रातृ-भगिनि संबन्ध के पक्षपातियों से एक प्रश्न करना चाहता हूं । इस सूक्त से वेद को कौनसी शिक्षा देना अभिप्रेत है ? कहा जाएगा कि बहिन-भाई के विवाह का निषेध । संपूर्ण सगोत्र विवाह का तो नहीं? क्योंकि उसमें माता, दुहिता आदि संबन्धिनियों का भी नाम-निर्देश होना चाहिये । यहां केवल स्वसा के संयोग को ही पाप कर्म कहा है ।

फिर इसका ढंग क्या निकाला है? बहिन का भाई से मैथुन के लिये प्रस्ताव ! कोई स्वाभाविक विधि निकाली होती । बहिन की युक्ति क्या है ? 'गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कः, । पं० सातवलेकर जी इसका अर्थ करते हैं:—'परमेश्वर ने

हमें (गर्भे) गर्भ में ही दम्पती बनाया है…………एक गर्भ में सहजात भाई बहिन ये थे। इसलिये यमी का कहना यह है कि यदि हमारा विवाह परमेश्वर को मंजूर न होता तो हमें एक गर्भ में क्यों बनाता ?' (वैदिक धर्म पृष्ठ १७७ स्तंभ २) एक और मंत्र का अर्थ किया है:—'किं भ्राता सद्' इत्यादि। 'क्या भाई होते हुए बहिन अनाथ जैसी होगी ? क्या बहिन होती हुई भाई विनाश को चला जाय ?' (वेदामृत पृष्ठ २३५)। अर्थात् पं० सातवलेकर जी की सम्मति में यमी का पक्ष यह है कि चूंकि यम-यमी भाई बहिन हैं इस लिये उनका विवाह होना ही चाहिये। उसने उदाहरण भी दिये हैं :—'रात्रीभिरस्मा……'……

"इस मंत्र में—सहजात युगल भाई बहिन आपस में पतिपत्नीवत् रहते हैं इस लिये यम यमी सहजात भाई बहिन भी वैसे ही रहें—यह यमी का हेतु (Argument) है।" (वैदिक धर्म पृष्ठ १७६)। यह हेतु मंत्र में किन शब्दों पर समाप्त होता है ? 'यमीर्यमस्य बिभ्रियादजामि'—"यमी यम के साथ (अ-जामि) बन्धुत्व-रहित संबन्ध धारण करे।" (वैदिक धर्म पृष्ठ १७९ स्तंभ १)।

यमी जानती है कि विवाह संबन्ध (अजामि) बन्धुत्व-रहित है। उसी बन्धुत्व-रहित संबन्ध की उसे आकांक्षा है और फिर उसके लिये हेतु यह देती है कि हम बन्धु हैं।'गर्भेनु नौ…' ! इस तर्क की बलिहारी है।

ऊपर के मन्त्रों का अर्थ मैंने श्री पं० सातवलेकर जी के शब्दों में किया है। यदि पंडित जी विचार करें हो उन्हें स्पष्ट प्रतीत होगा कि यमी के 'हेतु (Argument)' में वदतो व्याघात दोष है। पूर्वापर वाक्यों में स्पष्ट परस्पर विरोध है। जो बन्धुत्वरहित संबन्ध चाहता है उसे अपने आपको बन्धुत्व-रहित सिद्ध करना चाहिये था न कि उलटा सहजात बन्धु।

वेद परमात्मा का ज्ञान है। उस में यह तर्क आना वेद की शोभा को बढ़ाता नहीं। कहा जा सक्ता है कि यह यमी का पूर्व पक्ष है, वेद का सिद्धान्त-पक्ष नहीं। उस तार्किक की कुशलता को कोई साधुवाद न कहेगा जो पूर्व पक्ष उठाए भी स्वयं और वह इतना निर्बल पूर्वपक्ष हो कि उसका खण्डन कोई गली जाता लड़का भी कर सके। यदि हम यम-यमी का भाई-बहिन संबन्ध मानलें तो यमी का हेतु लचर होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

फिर इसका समाधान वेद की ओर से किन शब्दों में किया गया है:—

'आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।' "हां ! वैसे आगे युग आएंगे जिस समय (जामयः) भाई बहिन (अजामि) बन्धुत्व रहित व्यवहार करेंगे । [इस समय वैसा पतित काल नहीं है] इस कारण तू मेरे से भिन्न किसी अन्य पति की इच्छा कर ।" (वैदिक धर्म पृष्ठ १७९, स्तंभ २) ।

चाहिये तो यह था कि इस व्यवहार की सब कालों के लिये निन्दा करते । केवल एक समय के लिये इसे गर्हणीय ठहराकर किसी पतित युग में इस संबन्ध का विधान सा कर दिया प्रतीत होता है । वादी कह सक्ता है—यह तो केवल भविष्यत् की संभावना है, विधान नहीं । प्रथम तो यह भी वादी की केवल कल्पना है । यह मान भी लें तो इस भविष्यत् वाणी की आवश्यकता क्या थी ? उपदेश तो इसके बिना भी होसका था । यदि आज की अवस्था की ओर संकेत करना था तो केवल बहिनों के लिये ही क्यों कहा? माताओं तथा बेटियों के लिये भी कह दिया होता कि इनका भी निषिद्ध संयोग होगा । बेटियों के साथ दुराचार की घटनाओं के समाचार आए दिन पत्रों के पृष्ठों को काला करते ही रहते हैं । वेद ने उन पर मौन साध लिया है । हमारा तो विश्वास है कि दुराचार का संबन्ध किसी काल-विशेष से नहीं ।

एक और अत्याचार भी बहिन भाई के संबन्ध के पक्षपातियों के मुख से वेद भगवान् के मत्थे मढ़ा जाता है । सारे सूक्त में दुराचार का प्रस्ताव बहिन कर रही है, जब कि आज कल के कलियुगी लोगों को भी ज्ञान है कि प्रकृत प्रकार का निषिद्ध संयोग भाइयों, पिताओं, पुत्रों आदि का बलात्कार होता है । या कम से कम उसका प्रस्ताव पुरुष ही करते हैं । वेद में इस प्रस्ताव की प्रस्तावकता भी भगिनी के हिस्से आई है । यम साधु है और यमी चुड़ैल । क्या इस प्रकार के चित्र-चित्रण के पीछे वेदका रचयिता सर्वज्ञ तो क्या, साधारण मनो-विज्ञान तथा प्रत्यक्ष वर्तमान इतिहास का ज्ञाता भी सिद्ध होता है ? पण्डितजी ने 'जामि' का अर्थ "भाई बहिन" कर दिया है, उनके पक्ष के अन्य भाष्यकार 'जामि' का अर्थ 'बहिन' करते हैं । उनके मतानुसार 'अजामि' व्यवहार का सारा दोष वेद की ही वाणी में बहिनों पर है जो लोक विरुद्ध होने के अतिरिक्त किसी ऐसी स्थिति का दृश्य सामने लाता है जिसके विचार मात्र से हृदय कांपता है । श्रीपंडितजी का अर्थ मानते हुए भी यह बात भुलाई नहीं जासक्ती कि यह लज्जा-जनक प्रस्ताव बहिन कर रही है । चित्र की अश्लीलता में भेद नहीं आता । हां ! वेदकी व्यवस्था के कुछ शब्द उतने क्रूर नहीं रहते ।

सार यह कि जिस दृष्टि से देखें, यम-यमी में बन्धुत्व-सम्बन्ध के लिए कोई आधार नहीं । (१) व्याकरण की दृष्टि से 'यमी' यम की स्त्री ही हो सकती है। (२) ब्राह्मण ग्रन्थों तथा यास्काचार्य्य का संकेत भी दाम्पत्य की ओर है। (३) संवाद भी कुछ ऐसा है जो भाई बहिन में नहीं, पति-पत्नी में ही हो सक्ता है ।

संभव है कोई महाशय प्रश्न करें कि स्त्रियां इतनी निर्लज्ज नहीं होतीं कि अपने पति से भी मैथुन का प्रस्ताव स्वयं करें। हां! जहां मैथुन व्यभिचार के लिये हों वहां प्रस्तोता पुरुष होता है। यमी गर्भाधान चाहती है और वह उस समय जब कि उसका पति संन्यासी होने को है और वह निस्सन्तान रहने लगी है। इसीलिये वह इतना आग्रह तथा विवाद उठाती है। गर्भाधान के लिये स्त्री का प्रस्ताव विज्ञान-सम्मत है ।

जिन मन्त्रों का अर्थ अपने से विरुद्ध पक्ष में मैंने ऊपर दिया है उनका मेरा किया अर्थ मेरे पूर्व लेख में आचुका है। सार यह है कि यमी यह देख कर कि यम संन्यास लेने लगा है उससे कहती है कि हम तो गर्भावस्था से ही पति पत्नी बने थे। अर्थात् जन्म से पूर्व मैं अपनी माता के गर्भ में और आप अपनी माताके गर्भ में परस्पर दाम्पत्य संबन्ध के लिये बनाए गए थे। हमारे स्वभाव ही ऐसे थे कि हम पति-पत्नी होते या हमारे पूर्व कर्म ही ऐसे थे कि हम एक दूसरे का पाणि-ग्रहण करते। इसमें युगल भाई-बहिन होने की कोई गन्ध नहीं।

मैं 'जामि:' का अर्थ 'स्त्री करता हूं। मंत्र ९ में यमी द्यौः और पृथिवी का उदाहरण देती है कि देखो यह जोड़ा है जिसका संबन्ध स्थिर है। क्या 'यमीर्यमस्य बिभ्रियादजामि ?' यमी यम को अजामि रह जाए अर्थात् उससे जनन-संबन्ध तोड़ दे ? श्री पं० सातवलेकर जी द्यौः और पृथिवी को 'युगल भाई-बहिन' ठहराते हैं। (वैदिक धर्म पृ० १७९ स्तंभ)। इसके लिये कोई प्रमाण भी है ? मैं अपने पूर्व लेख में लिख चुका हूं कि विवाह पद्धति में ही पति पत्नी से कहता है 'द्यौरहं पृथिवी त्वम्' मैं द्यौः हूं. तू पृथिवी है ।

उक्त प्रश्न (यमीर्यमस्य बिभ्रियादजामि?) का उत्तर १०वें मन्त्र में दिया है:—

आघा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।

विवाहोत्तर ऐसे समय आते हैं जब कि जायाओं का (अपने पतियों से) जनन संबन्ध नहीं रहता ।

ऐसे समय नियोग का विधान है जो वेद ने किया है 'अन्य मिच्छस्व सुभगे पति मत्' कितना स्वाभाविक और सरल अर्थ है !

भ्राता और स्वसा ।

श्री पंडित जी को सब से बडी आपत्ति 'भ्राता' और 'स्वसा' इन दो शब्दों के अर्थों पर हुई है। वह बहुत घबराए हैं, बहुत झुंझलाए हैं। झुंझलाहट का कारण श्री विश्वनाथ काशीनाथ रजवाड़े का एक अनुमान है जिसका पं० जी ने इस प्रकार वर्णन किया है :—

'वेद के पूर्व समय की जनता में भाई बहिन आपस में शादी करते थे, इसका सूचक भ्राता शब्द है क्योंकि भ्राता तथा भर्ता ये एक ही धातु से बनते हैं !!" यदि रजवाड़े महाशय का अनुमान 'भ्राता' तथा 'भर्ता' इन दोनों शब्दों के सधातुक होने से है, तो वह तो मेरे अर्थ के होते तथा न होते दोनों अवस्थाओं में सम बना रहेगा। क्योंकि यदि भ्राता का अर्थ भर्ता न भी हो तो भी धातु तो दोनों का भृ रहेगा ही। हां ! यदि रजवाड़े जी यह कहते कि भ्राता का अर्थ भर्ता होने के कारण वह अपना उक्त अनुमान स्थिर करते हैं तो उसका उत्तर मुझे देना होता। समानधातुक होने का निराकरण तो पण्डित जी भी न करेंगे।

मेरा मत है कि वेद में 'भ्राता' का अर्थ 'भर्ता' भी है। लोक में भ्राता केवल भाई को कहते हैं परन्तु वेद में भ्राता भाई के अतिरिक्त कुछ और अर्थों में भी प्रयुक्त हुआ है। सायणाचार्य अथर्व ८।१।१६ में इसी यम-यमी सूक्त का ही भाष्य करते हुए 'भ्राता' का अर्थ करते हैं 'भरण कर्ता वा'। ऋ० ३।५३।५ में:—

परायाहि मघवन्नाच याहीन्द्र भ्रातरुभयत्राते अर्थम् ।

'भ्रातः' शब्द इन्द्र का विशेषण है। इस का अर्थ सायणाचार्य 'पोषक' करते हैं। ऋ० १।१६४।१ में :—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।

यहां भ्राता शब्द का अर्थ यास्काचार्य 'भरतेर्हरतिकर्मणो हरते भागम्' (निरुक्त ४।२६।१) भाग लेने वाला करते हैं।

लौकिक भाषा में भ्राता शब्द का प्रयोग केवल 'भाई' अर्थ में होता है। पोषक तथा भागहर्ता—इन अर्थों में केवल वेद ही में इस शब्द का प्रयोग है। और हम वेद मंत्रों के ही अर्थ कर रहे हैं। यदि लौकिक भाषा में भ्राता शब्द का प्रयोग 'पोषक' अथवा 'भाग हर्ता' अर्थ में आता तो हम कहते, प्रयोग अशुद्ध हैं। ऐसे ही जब यह सिद्ध हो चुका कि यमी यम की स्त्री ही है तो उसके पीछे वह यम को 'भ्राता' कहे, लौकिक संस्कृत में यह अशुद्ध प्रयोग होगा। परन्तु वेद में 'पोषक' अर्थ में भी 'भ्राता' आता है और 'पोषक' और 'भर्ता' पर्याय हैं। फिर यमी का यह कहना कि वह 'भ्राता' क्या जिस के होते अनाथता आए। अनाथ वह होता है जिस का 'भर्ता' न हो। यमी को डर है कि उसका भर्ता न रहेगा। भाई के रहते (चाहे वह उसका पति न भी बने) यमी अनाथ नहीं हो सकती। यह सब बातें सिद्ध करती हैं कि 'भ्राता' शब्द यहां अपने धात्वर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अन्यत्र इस प्रयोग के उदाहरण भी हैं—यह हम ऊपर स्पष्ट करचुके हैं।

पण्डितजी का यह भय कि यदि भ्राता का अर्थ भर्ता हो गया तो भाई और पति में भेद न रहेगा निर्मूल है। अग्नि शब्द का अर्थ आग भी है, परमात्मा भी, सेनापति भी, दूत भी, राजा भी। तो क्या यह सब एक हो गए हैं? यही जामि शब्द लीजिये। इस का अर्थ बहिन और कुल स्त्री तो प्रसिद्ध ही है। ऋ० १।३१।१० में

त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत्तव जामयो वयम्।

हे परमात्मन् तू......हमारा पिता है......हम तेरे जामि (सन्तान) हैं।

"जामि" का अर्थ लड़के लड़कियां हैं। क्या कोई इस से यह अनुमान करेगा कि वैदिक काल में बहिन, लड़की, और स्त्री में भेद न था, क्योंकि इन सब के लिये एक शब्द "जामि" आया है? जिस सम्बन्ध से लड़की पैदा होती थी, उसी से बहिन और उसी से स्त्री पैदा होती थी?

रजवाड़े महाशय उतनी दूर नहीं गए जितनी दूर पण्डित जी गए हैं। और यदि वह अपनी कल्पना के तार्किक परिणाम पर दृष्टि डालें तो उन्हें उक्त कल्पना की कचाई का शीघ्र ज्ञान हो जाए।

यही बात 'स्वसा' शब्द के विषय में हैं। जब यमी यम की स्त्री सिद्ध हुई, व्याकरण से भी, वार्त्तालाप-शैली से भी, तो उस का अभिप्रेत अपने आप को

स्वसा कहने से बहिन कहना तो हो नहीं सक्ता। हम स्वसा शब्द का दूसरा अर्थ करेंगे। उस के लिये प्रमाण विद्यमान है। स्वसा "उङ्गली" को कहते हैं, स्वसा 'रात' को कहते हैं। इस की व्युत्पत्ति है स्वयं सरति इति। सायण ऋ० १।९२।११ में "स्वसारं" का अर्थ करते हैं " स्वयमेव सरन्तीं निशाम् "। इसी का अनुवाद मैंने किया ' अभिसारिका "। यमी अभिसारिका है—वह गर्भाधान का प्रस्ताव कर रही है। अभिसारिका को ऋतु दान न देना शास्त्रों में पाप कहा है। इसी लिये वह कहती है :—"किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्" क्या पत्नी के प्रस्ताव करने पर भी (गर्भाधान) पाप है ? यम कहता है :—हां! अभिसारिका का नियमपूर्वक गमन भी पाप है,"पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्" क्योंकि वह संन्यास-वृत्ति धारण किये हैं।

यह अर्थ कर देने से सारी विचार-परम्परा ऊंची उठ जाती है। बहिन के मैथुन-प्रस्ताव की अश्लीलता के स्थान में पत्नी का शास्त्र-सम्मत गर्भाधान का प्रस्ताव कितना उत्कृष्ट विषय है। पूर्व पक्ष और सिद्धान्त पक्ष दोनों विद्वानों के विचार के विषय हैं। किसी गिरे हुए काल की बाज़ारी बातें वेद के नाम से प्रतिपादन नहीं की जातीं, जैसा कि दूसरे पक्ष में की जाती प्रतीत होती हैं।

यम सन्यासी होना चाहता है।

श्री पण्डित जी का कहना है कि यम सन्यासी नही हैं। कारण कि यमी कहती है "अन्या किल त्वां कक्ष्येवयुक्तं परिष्वजाते "। "कोई अन्य स्त्री तेरा आलिंगन करेगी।" (वैदिक धर्म पृ० १७३ स्तम्भ २)। और वह उत्तर देता है "अन्यमूषु त्वं यम्यन्य उत्वां परिष्वजाते"। "कि (जैसा मैं किसी अन्य स्त्री को आलिंगन दूंगा,) उसी प्रकार तू भी किसी अन्य पुरुष को आलिंगन देगी "। (वै० ध० पृ० १७४ स्त० १)।

श्री पण्डित जी ने (जैसा मैं किसी अन्य स्त्री को आलिंगन दूंगा) यह शब्द अपनी ओर से अध्याहार किये हैं। जभी तो उन्हें कोष्ठों में रखा है। यमी ने यम को और प्रकार से बात मानता ने देख अपनी स्त्री-सुलभ तीक्ष्णता से कटाक्ष किया कि तेरी किसी और स्त्री पर दृष्टि होगी। पुरुषों के ऐसे व्यवहार होते हैं और स्त्रियां यह कटाक्ष करती हैं। यम यह कहां स्वीकार करता है कि मैं 'दूसरी स्त्री को आलिंगन दूंगा'? वह तो अपनी पत्नी को नियोग की अनुज्ञा

देता है जिस से वह चाहे तो लाभ उठा सकती है। इस मन्त्र का यही अभिप्राय है, निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य भी हमारे साथ सहमत हैं :—इसी मन्त्र का अर्थ करते हुए वह लिखते हैं—हे यमि ! व्यतीतस्ते अस्मत्परिष्वङ्ग समयः ।

हे यमि ! तेरा मेरे आलिंगन का समय समाप्त हुआ ।

यम संन्यास ले रहा है। इसमें पहिला प्रमाण तो ऋषि दयानन्द का "यम" शब्द का अर्थ है :—गृहाश्रमजन्यविषयसेवनादुपरताय यमनियमादि युक्ताय। यजुर्वेद ७। ४१। गृहस्थ आश्रम के विषय-सेवन से उपरत यम-नियम का अभ्यासी। यह संन्यासी नहीं तो और कौन है ?

स्वयं यम-यमी सूक्त में यम के संन्यासी होने की ध्वनि है, यथा, यमी की गर्भेच्छा का प्रत्याख्यान करते हुए मन्त्र २ में यम कहता है—

महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परिख्यन् ।
परमात्माके वीर सबसे बड़े पुत्र हैं। विद्वान् लोग उदार-दृष्टिसे देखते हैं।
संन्यासी के सिवा यह और कौन कहेगा ? फिर कहा है :—
न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति । ८ ।

(देवानां) विद्वानों में से (स्पशः) जागरूक जो यहां फिरते हैं, वे ठहरते नहीं, आंख बन्द नहीं करते ।

यह संन्यासी नहीं तो कौन हैं ? जिन्हें 'स्पशः' का अर्थ परमात्मा की शक्तियां करना हो, वे कृपया "देवानाम्" बहुवचनान्त है—यह देखलें ।

मन्त्र ४ का अन्वय ।

पण्डितजी ने मेरे किये मन्त्र ४ के अन्वय पर आक्षेप किया है । मन्त्र यह है :—

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनं ऋतं वदन्तो यदनृतं रपेम । ऋ० १० । १० । ४
मैंने इसका अन्वय यों किया है—

मत्पुरा चकृम न कृत ह नूनम्........... ।

पण्डित जी कहते हैं, 'न' पहिले से उठकर बीच में कैसे चला गया। उसका उत्तर वात्स्यायन का यह श्लोक है:—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्य्यमकारणम्॥

न्याय वात्स्यायन भाष्य १।२।९

अर्थात् जिस शब्दका जिस शब्दसे अर्थ सम्बन्ध हो, वह दूर पड़े भी उसी का है। निकट पड़े अर्थमें असमर्थोंकी निकटता (अन्वय में) कारण नहीं।

अन्वय कहते ही इसीको हैं कि, जहां जो शब्द लगता हो लगाना। संन्यासी होने वाला यम 'साईं लोकों' की तरह अपने लिये बहुवचन का प्रयोग करता है कि, जो हम पहिले करते थे, अब कदापि न करेंगे। क्यों? इसलिये कि "ऋतं वदन्तः" "नियम का व्याख्यान करने वाले ही क्या नियम तोड़ने वाला कर्म करें।" (वैदिकधर्म पृष्ठ १८१, स्तम्भ १) नियम का व्याख्यान संन्यासी का काम है।

पण्डितजी कहते हैं, 'कद्ध' का अर्थ कदापि कैसे हुआ? कत् का अर्थ कदा सब भाष्यकारों ने किया है। यहां आ का लोप छान्दस है। ह अपि अर्थ में आता ही है।

'कद्ध' को प्रश्नवाची रखना हो तो प्रथम आप 'न' को अलग कर लीजिये। यम यमी को उत्तर देता है—न, जो हमने पहिले किया, (अर्थात् गर्भाधान) वह हम अब कैसे करें? कहिये, इसमें क्या आपत्ति है?

सायण की तरह से 'कद्ध' 'अनृतं रपेम' के साथ लगालें, तो अर्थ होगा:—जो हमने पहिले (गृहस्थावस्था में) किया, वह अब न करेंगे। नियम का व्याख्यान करने वाले अनियम कैसे करें?। यहां न का अन्वय नूनं के साथ होगा और कत् का अर्थ कस्मात् कारणात्।

यह भी स्वीकार न हो तो आप ही का अर्थ स्वीकार किये लेते है। "नहीं जो पूर्व समय में हमने किया, कैसे भला अब करें।"

वैदिकधर्म ४। पृष्ठ १८१। स्तम्भ १

किसने पहिले नहीं किया? क्या यम और यमी ने? तब तो क्रिया द्विवचनान्त होनी चाहिये थी, चकृवा, वदतः, रुपेव। क्रिया बहुवचनान्त है, इसलिये यह दो तो कर्ता नहीं। फिर किसने नहीं किया? नियम का व्याख्यान

करने वाले संन्यासियों ने। यहां यम अपने आपको संन्यासी-समूह का प्रतिनिधि मानकर कहता है :—संन्यासियों ने पहिले कभी गर्भाधान नहीं किया।

जो भी अन्वय करें मेरे पक्ष में ठीक है, पण्डितजी के पक्ष में नहीं। वास्तव में मुख्य प्रश्न यह है कि यम-यमी का सम्बन्ध क्या है ? यह निश्चित होजाने पर शेष प्रश्नों का उत्तर मिल जाना सुगम है।

सख्य और सलक्ष्मा।

सखा और सलक्ष्मा शब्द पर पण्डितजी का सारा लेख अपना खण्डन आप करता है। यमी यम को सखा कहती और सख्य का बर्ताव चाहती है। दोनों शब्दों में सखित्व एक होनेमें कल्पना लाघव है। सख्य तो पहिले हो विद्यमान है, वह उसको बदलना नहीं चाहती, किन्तु 'ववृत्याम्' प्राप्त सख्य का बर्ताव चाहती है।

"एक माता पिता से उत्पन्न होनेके कारण भाई बहिन के लक्षण, अवयव, चिह्न आदि बहुत अंश में समान होते हैं। इस प्रकार के समान चिह्न वाले भाई बहिन का विवाह हुआ तो सन्तान में बड़ा बिगाड़ होता है। इसलिए सगोत्र-विवाह शास्त्र में निषिद्ध है।" वैदिकधर्म पृष्ठ १८३। स्तम्भ २

सगोत्र-विवाह निषिद्ध इसलिये है कि वीर्य्य और रज एक वंश के आपस में न मिलने चाहियें। रूप एकसा होना न होना सगोत्रता में कारण नहीं। यदि कोई भाई बहिन 'सलक्ष्म' न हों तो क्या वह भिन्न गोत्रोत्पन्न होजायेंगे, और क्या उनका विवाह होसकता है ? कदापि नहीं। यहां गोत्र का प्रकरण ही नहीं। 'सलक्ष्मा' का अर्थ है सवर्णा, अर्थात् एकसी प्रवृत्ति और एकसे लक्ष्य वाली। पत्नी को ऐसा कहना ठीक है, यदि विवाह वैदिक हो।

"अन्य गोत्र के उत्पन्न स्त्री पुरुष विषम-वृत्ति वाले होते हैं, उनमें गुण, कर्म, स्वभाव का साम्य देखकर विवाह होना लाभकारी होता है।"

वैदिकधर्म पृष्ठ १८३। स्तम्भ १

विषम-वृत्ति और समान गुण-कर्म-स्वभाव यह परस्पर विरुद्ध बातें हैं।

श्रीपं० जी ने जाते २ इन शब्दोंको छेड़ दिया है, अन्यथा पति-पत्नी पक्षमें यह विशेषण अधिक उपपन्न हैं। यह तो स्वतःसिद्ध है।

अन्तिम निवेदन।

श्रीपण्डितजी कीं समालोचना को मैंने ध्यान से पढ़ा है, परन्तु विचारमें परिवर्तन नहीं हुआ। मैं यम-यमी को पति-पत्नी मानता हूं। इसलिये कि—

(१) ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन्हें अग्नि और पृथिवी कहा है, और अग्नि और पृथिवी ब्राह्मण-ग्रन्थों के मत में पति-पत्नी हैं। अर्थापत्ति से यम-यमी में कोई सम्बन्ध है तो पति-पत्नी का ही है।

(२) यास्काचार्य्य ने इस सूक्त के जिन मन्त्रों की व्याख्या की है, उनसे उनके नैरुक्त अर्थानुसार नियोग की ध्वनि निकलती है और नियोग की बात-चीत भाई बहिन में नहीं हो सकती।

(३) ऋषि दयानन्द और पडित गुरुदत्त इन्हें पति-पत्नी मानते हैं।

(४) व्याकरण से यमी यम की स्त्री ही सिद्ध होती है, और चूंकि मैं वेद में अयौगिक रूढी नहीं मानता, इसलिये यमी को यमजा या यम की भगिनी स्वीकार नहीं कर सकता।

(५) सारी वार्त्तालाप की शैली ऐसी है, जो भाई बहिन के सम्वाद की नहीं होसकती।

(६) भाई बहिन के विवाह का निषेध इस सूक्त का प्रकृत नहीं है। यदि यह प्रकृत मानलें, तो उसका पूर्वपक्ष लचर और सिद्धान्तपक्ष अनिश्चित प्रतीत होता है। भगिनी का मैथुन-प्रस्ताव अस्वाभाविक, लोकस्थिति-विरुद्ध और अश्लील है। वेद की वर्णन-शैली में यह दोष आना नितान्त अयुक्त है।

श्री पण्डितजी मेरे पूर्व लेख को पढ़ कर उद्विग्न हुए हैं। मैं उनसे निवेदन करूंगा कि उद्वेग विचार में बाधक होता है। कृपया 'मानसिक समता' से मेरा लेख पढ़िये और उसपर टिप्पणि कीजिये। मैं अब तक अपने किये भाष्य को विद्वानों के विचार के लिये एक कल्पनामात्र समझता हूं। हां, वह कल्पना युक्ति-शास्त्र सम्मत है। अर्थ का अन्तिम निश्चय तो वाद और प्रतिवाद के पश्चात् ही होगा।

चमूपति

—:०:—

साहित्य-समीक्षा ।

(१) "आर्य्य-पर्व-पद्धति"—लेखक श्रीपण्डित भवानीप्रसादजी गुप्त, हल्दौर (बिजनौर) । पृष्ठ संख्या २६२ मूल्य ॥।)

कर्म-काण्ड के विषय में आर्य्य-समाज बहुत पीछे है, इसमें कोई सन्देह नहीं । श्रीस्वामी दयानन्दजी ने अपने जीवन के अल्पकाल में ही संस्कार-विधि आदि पुस्तकें लिखकर चाहा था, कि आर्य्य-सन्तान वेदोक्त संस्कारों पर आचरण करती हुई मन, वचन और कर्म से उन्नति को प्राप्त हो, किन्तु शोक, हमने उनपर ध्यान न दिया । शताब्दी के अवसर पर उसके प्रधान पूज्य नारायणस्वामीजी आदि कई महानुभावों का ध्यान फिर इस ओर आकर्षित हुआ, और यह प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं विचारों का परिणाम है । पण्डित हरिशङ्करजी दीक्षित आदि कई महानुभावों ने सनातन-पर्वों पर कुछेक विचार प्रकाशित किये थे, किन्तु वे सब प्रायः अपरिमार्जित अवस्था में ही थे । इसलिये एक विशुद्ध परिमार्जित ऐसी पर्व-पद्धति की अत्यन्त आवश्यकता थी, जो देश और जाति को अन्ध-विश्वास से ऊपर उठाकर उनके जीवनों को उच्च बनाने वाली हों । लेखक ने बड़ी लगन और परिश्रम से इस कमी को पूरा करने का यत्न किया है । इसमें भिन्न भिन्न पर्वों की क्रिया के साथ साथ उनकी उत्पत्ति का युक्ति-युक्त आदिम इतिहास लिखकर लेखक ने इसकी रोचकता तथा उपादेयता को और भी बढ़ा दिया है । सर्व-साधारण और विशेषतः विशुद्ध कर्म-काण्ड में रुचि रखने वाले हिन्दू-मात्र (आर्य्य) के लिये पुस्तक उपादेय है ।

(२) "ओ३म् प्रत्यक्ष"—अर्थात् साक्षात् स्वतः प्रत्यक्ष केवल ईश्वर है । लेखक—सत्यप्रकाश वैदिक-यति शयन-कुटि, चतुर्विंशत्पुर नवद्वार द्विकाम, कारावासी । प्रकाशक—सार्वदेशिक आर्य्य-प्रतिनिधि सभा, देहली । पृष्ठ संख्या २१४ । मूल्य ॥।)

संसार में नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित हैं और प्रायः सभी किसी न किसी रूप में ईश्वर को सर्वाधार सर्वव्यापक मानकर उसकी उपासना करते हैं किन्तु ध्यान के साधन अपूर्ण और उलटे होने के कारण सभी कष्टों में पड़े हुए दिन रात कराहते रहते हैं । ठीक मार्ग अरणियों के परस्पर मन्थन से उत्पन्न अग्नि की भान्ति आत्मज्ञान क्रिया रूपी दो अरणियों के सङ्घर्ष नाम योगाभ्यास द्वारा 'ओ३म्' का प्रत्यक्ष करना ही है । यही बात लेखक ने

अनेक वेद मन्त्रों तथा उपनिषद् वाक्यों के आधार पर बताने का यत्न किया है। भाषा संस्कृत प्राय होने से सर्वथा अस्पष्ट, और विषय सरल होने के स्थान पर गहन हो गया है। निदर्शन के लिये १, २ उदाहरण ही पर्याप्त हैं:—

"परन्तु अद्भुत यह है कि.........दर्शन स्पर्शनानृते प्रायः ईश्वरानभिज्ञ नास्तिक भाष्य कर्ताओं उतवा उनके अनुवादक अवैदिकों के ज्ञाता ज्ञात विप्रलम्भ वश प्रश्नगत परमात्मा शासन शास्त्रों की अपौरिषयता की अनूरी कर देते हैं।" भू० पृ० ११

"इह यह कहना......तो देह से छूटना तो तुच्छ वार्ता है।" भू० पृ० ३२

"यहां भ्रम निवारणार्थ एक ऋचा प्रविष्टा की जाती हैं।" पृ०

"यदि नीचे होना ऊरी न करें"—पृ० १६२, इत्यादि। ऊरी अनूरी का प्रयोग तो इतना अधिक है कि बस! अधिक क्या लिखें बुद्धिमानों के लिये इशारा ही पर्याप्त है। इसी प्रकार प्रूफ़ देखने में भी बड़ी असावधानता से काम लिया गया है। ओ३म् को ओइम् लिख देना तो साधारण सी बात है।

(३) आर्य समाज के दस नियम—यह भी उन्हीं महानुभाव श्रीस्वामी सत्यप्रकाश जी की रचना है। पुस्तक में (जैसा की नाम से ही स्पष्ट है) आर्य समाज के सुप्रसिद्ध १० नियमों को वैदिक मन्त्रों द्वारा सिद्ध करने का यत्न किया गया है। अस्वाभाविक रीति से संस्कृत शब्दों का बहुत प्रयोग करने के यत्न ने भाषा को क्लिष्ट और सर्व साधारण के लिये दुर्बोध बना दिया है। मूल्य।) सरस्वती प्रेस मुरादाबाद से प्राप्य।

(४) भारत जननी को हिमालय से संदेश—अनुवादक म० शिवदयालु, अध्यक्ष आर्य-संघ मेरठ। मूल्य।) मित्तिल ब्रदर्स ऐण्ड को, चौक बाज़ार मेरठ सदर से प्राप्य। इसके मूल लेखक योगिराज श्री अरविन्द घोष के शिष्य, प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक पाल रिचर्ड हैं। यह उन्हीं की To India: Message from the Himalaya का अविकल अनुवाद है। अनुवादक तथा उनके संघका उद्देश्य बहुत स्तुत्य है किन्तु ऐसी पुस्तकों के अनुवाद करने में हमारी सम्मति में यदि मक्खी पर मक्खी न मार कर मूल लेखक के भावों को सुरक्षित रखा जा सके तो अधिक उपयोगी तथा उत्तम हो। ऐसा करने से जहां भाषा में सरलता और माधुर्य आ सकेगा वहां अनुवादक के उद्देश्य की भी अधिक से अधिक पूर्त्ति हो सकेगी।

(५) भजन भास्कर—संग्रह कर्ता श्री० हरिशङ्कर शर्मा 'कविरत्न' सम्पादक आर्यमित्र आगरा । पृ० सं० २५६ मू० ॥), सजिल्द ॥≈), आर्य समाज में तुकबन्दों के हाथों से भजनों और आर्यभाषा की कविता की जो मिट्टी खराब हो रही है उसी को ध्यान में रख कर कविरत्न जी ने उत्तमोत्तम भजनों का संग्रह किया है। इसमें सूर, तुलसी आदि पुराने कवियों की कृतियों के अतिरिक्त फ़लक, प्रेम, चातक, चमूपति, मुसाफ़िर आदि आदि नये २ कवियों की रचनाओं का भी समावेश किया गया है। पुस्तक में ईश्वर स्तुति, धर्म, देशभक्ति, हिन्दू संगठन, गुरुकुल, ऋषि दयानन्द, शुद्धि आदि प्रायः सभी प्रकार के भजनों का उत्तमोत्तम संग्रह है। पढ़ते २ कई स्थानों पर तो सचमुच शिर घूम जाता है और हृदय फड़क उठता है। हमारी सम्मति में पुस्तक सभी प्रकार की रुचि रखने वाले व्यक्तियों के लिये उपादेय। है विशेषतः प्रचारकों और भजनीकों के तो बड़े काम की चीज़ है।

(६) दयानन्द-लहरी—गुरुकुल वृन्दावन के स्नातक मेधाव्रत जी का संस्कृत के कवियों में ऊंचा स्थान है। शताब्दी के पुनीत अवसर पर आचार्य ऋषि दयानन्द के प्रति भक्तिभाव की भेंट करने के लिये कवि ने इस पुस्तक की रचना की थी। पुस्तक के अन्त में आर्यसमाज के दश नियमों को भी पृथक् २ करके कवि ने छन्दोबद्ध कर दिया है। श्लोक गुरुकुलों, आर्य्य विद्यालयों तथा कन्या पाठशालाओं में कण्ठ कराने योग्य हैं । मूल्य -)॥ सरस्वती प्रेस मुरादाबाद से प्राप्य।

(७) वैदिक उपदेश माला—लेखक श्री० पं० 'अभय' देव शर्मा जी विद्यालङ्कार। मूल्य ॥) स्वाध्याय मंडल औंध (ज़िला सतारा) से प्राप्य। लेखक गुरुकुल कांगड़ी के योग्य स्नातक और गुरुकुल विश्वविद्यालय में वेद विद्यालय के आचार्य हैं। वेद के विषय में यूं तो अनेकों पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं किन्तु जो रस इस पुस्तक को पढ़ने से प्राप्त होता है वह शायद ही अन्य पुस्तकों से प्राप्त हो। कारण, लेखक स्वयं क्रियात्मक जीवन व्यतीत करने वाले और शान्त स्वभाव व्यक्ति हैं । लेखक का अब तक का सम्पूर्ण जीवन ही वैदिक सचाइयों को जीवन में हल करने में व्यतीत हुआ है। इस पुस्तक में बारह वेदोपदेशों का संग्रह किया गया है। ये उपदेश शताब्दी से ठीक १२ मास पूर्व "वैदिक धर्म' में प्रकाशित होने आरम्भ हुए थे। प्रतिमास

एक लेख लिखने का प्रयोजन क्या था यह बात लेखक के " पाठक एक एक वैदिक उपदेश को एक एक महीना भर अभ्यास करते हुए अपने जीवन में लाने का यत्न करें" इन शब्दों से स्पष्ट है। सारे ही उपदेश एक से एक बढ़ कर जीवन को उन्नत करने वाले और हृदय में गड़ जाने वाले हैं। आर्य्य समाज में इस समय उत्तम क्रियात्मक जीवन वाले व्यक्तियों की बहुत कमी है। हम समझते हैं कि यदि प्रति मास कोई पुरुष एक २ उपदेश का भी मनन करे (जिस उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई है) तो धीरे २ सारी जाति का सुधार हो सकता है। जीवन में उन्नति चाहने वाले प्रत्येक धर्म प्रेमी और अभ्यासी को यह पुस्तक अवश्य ही अपने पास रखनी चाहिये। भाषा सरल, सुन्दर और छपाई उत्तम है ॥

आर्य प्रति निधि सभा पञ्जाब-उपदेशक परीक्षा।

सिद्धान्त प्रवेशिका ।

व्याकरण—सन्धि विषय, शब्द रूपावलि, धातु रूपावलि, वर्णोच्चारण शिक्षा, अष्टाध्यायी १—५ अध्याय तक कण्ठस्थ करनी ।

साहित्य—नीतिशतक, विदुरनीति, संस्कृत प्रथम पाठ, संस्कृत द्वितीय पाठ, संस्कृत वाक्य प्रबोध ।

सिद्धान्त ग्रन्थ—सत्यार्थ प्रकाश २, १०, ११, १३, १४ समुल्लास । आर्य्योद्देश रत्नमाला, व्यवहारभानु, सन्ध्या (अर्थ सहित) अग्निहोत्र स्वस्तिवाचन तथा शान्ति प्रकरण (अर्थ सहित)।

सिद्धान्त भूषण ।

(१म वर्ष)

व्याकरण—अष्टाध्यायी १—५ अध्याय पर्यन्त (अर्थोदाहरण सिद्धि सहित)।
„ „ ६—८ अध्याय पर्यन्त (मूल मात्र)।

साहित्य—मुद्राराक्षस, मुनि चरितामृत ।

दर्शन—वैशेषिक (मूल) न्याय वात्स्यायन भाष्य सहित (१म अध्याय) ।

सिद्धान्त ग्रन्थ—(क) सत्यार्थ प्रकाश १, ३, ४—६, १२।
संस्कार विधि (विधि मात्र)।
(ख) ईश, केन, कठ उपनिषद् ।

वेद—निघण्टु, आर्याभिविनय (मूल-सम्पूर्ण)

विकल्प—भास्कर प्रकाश (प्रथम अध्याय को छोड़ कर पूर्वार्द्ध) अथवा जैन तत्वादर्श (पूर्वार्द्ध), अथवा भाई गुरुदास दीयां बारां, भक्तवाणी और रहतनामे, अथवा इसाईयत, अथवा इस्लाम । अनुवाद प्रस्ताव संस्कृत संभाषण तथा व्याख्यान ।

(२य वर्ष)

व्याकरण—अष्टाध्यायी ६ से ८ अध्याय तक (आर्थोदाहरण सिद्धि सहित) धातुपाठ ।

साहित्य—प्रबोध चन्द्रोदय, शिवराज विजय बालमीकीय रामायण (संगृहीत भाग-इन्डियन प्रैस) काव्यालङ्कार सूत्र (इसमें छन्द सम्बन्धी प्रश्न भी होंगे) ।

दर्शन—न्याय (वात्स्यायन भाष्य सहित । शेष) ।

सिद्धान्त ग्रन्थ—(क) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, मनुस्मृति ।

(ख) मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न उपनिषद् ।

वेद—निरुक्त के १म ३ अध्याय, यजु० ३१, ३२, ३५, ३६ अध्याय (भाष्य सहित)

विकल्प—भास्कर प्रकाश (शेष), पुराण मत पर्य्यालोचन, अथवा जैन तत्वादर्श (शेष), अथवा—गुरु तेगबहादर के शब्द, विचित्र नाटक, गुरु गोविन्दसिंह के सवैय्ये, सूर्य वंशीय क्षत्रिय (निहंग सम्पूर्ण सिंह कृत), अथवा इस्लाम, अथवा ईसाईमत, अनुवाद, प्रस्ताव, संस्कृत सम्भाषण तथा व्याख्यान ।

सिद्धान्त शिरोमणि ।

(१म वर्ष)

व्याकरण—महाभाष्य (नवाह्निक)

दर्शन—सांख्य मूल, योग (व्यासभाष्य समेत), अथवा पूर्व मीमांसा (निवीतान्त)

उपनिषद्—ऐतरेय, तैत्तरीय, छान्दोग्य०

वेद—यजु १ से १० तक । अथवा, अथर्व १ से ५ काण्ड तक ।

निरुक्त—शेष

व्याख्यान—संस्कृत प्रस्ताव

स्वतन्त्र पत्र—देवी भागवत्

* ओ३म् *

आर्य्य

भाग ६] लाहौर—ज्येष्ठ १९८२, जून १९२५ [अंक १

दयानन्दाब्द १०१

वेदामृत।

सूम की गति।

ओ३म् ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः। या तेषामवमा दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद्विश्वकर्मा। अ० २। ३५। १॥

जो धन होते निर्धन रहते।
सहित कुटुंब क्षुधा-दुख सहते॥
यज्ञ वृथा सूमों ने जाना।
इस गति से यज्ञेश! बचाना॥

शेरनी का क़िस्सा।

(वेद से)

(लेखक—श्री जयदेव शर्म्मा विद्यालङ्कार)

सिंही असि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः।
शुन्धस्व सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुंभस्व ॥ (यजुः ५।१०)

शत्रुओं को दमन करने वाली तू शेरनी है। देव लोगों के लिए तू भली प्रकार से बन कर रह। तू शेरनी है और शत्रुओं को दमन करती है। देव लोगों के लिए तू शुद्ध होकर रह। मैली मत रह। तू शेरनी है। शत्रुओं का दमन करती है। तू देव लोगों के लिए खूब सज कर रह।

इस मन्त्र में तीन यजुर्वाक्य हैं और तीनों का देवता उत्तर वेदि है। शतपथ के अनुसार—

(१) उत्तर वेदि यज्ञ की नाक है। (नासिका ह वा एष यज्ञस्य यदुत्तर वेदिः) (शत० का० ३।५।१।१२)

(२) गृहस्थ प्रकरण में उत्तर वेदि यजमान की पत्नी है। (योषा वा उत्तर वेदिः)। (३।५।१।३५)

(३) सिंही वाणी है (तेभ्यो ह वाक् चुक्रोध सा ह एभ्यो ऽपचक्राम तान् सिंही भूत्वाऽऽददाना चचार (३।५।१।२१)

एक ही प्रकरण की व्याख्या में शतपथकार ने उत्तर वेदि के तीन रूप बतलाये हैं। एक वाणी, दूसरा स्त्री, तीसरा यज्ञ की नाक, या शोभा। कर्म काण्ड के अनुसार भाष्यकारों ने शम्या मात्र उत्तर वेदि के वर्णन में उक्त मन्त्र को लगाया है। हे उत्तर वेदि! तू सिंह के समान शत्रु का दमन करती है इस कारण तू देवों के लिये उत्तर वेदि के रूप में बनी रह। यह कह कर वेदी को मिट्टी से बराबर कर देते हैं। फिर उस पर जल छिड़क कर कहते हैं— "शुन्धस्व" तू शुद्ध रह। उस पर रेत की बुकनी छिड़कते हैं और कहते हैं "शुम्भस्व" तू सज कर सुन्दर रूप धारण कर। यह तो उत्तर वेदि के साथ कर्म-काण्ड की प्रक्रिया की गई और उस का वर्णन हो गया। अब गृहपत्नी के पक्ष में लीजिये।

जिस समय स्त्री रजस्वला होती है वह पांसुला होती है। वह वही दशा है जो मिट्टी द्वारा उत्तर-वेदि की की गयी थी। फिर जो वह तीन रात्रियों के बाद जल से स्नान करती है वह वही दशा है जब उत्तर वेदी पर जल छिड़का गया था। फिर वह स्नानादि के बाद अलङ्कार पहन कर सूर्य का दर्शन कर के पति की कामना करती है। वह वह अवस्था है जब सुन्दर चमकते हुए वालुका-कणों से वेदी को सजाया गया था।

अब तीसरी सिंही देखिये—वाणी। शतपथकार कथा कहते हैं—नासिका यज्ञ की उत्तर वेदि है। यतः मुख्य वेदि के उत्तर भाग में इस को खोदा जाता है इस कारण इस को उत्तर-वेदि कहा जाता है। पहले दो तरह की प्रजा थी, आदित्य और आङ्गिरस। पहले आंगिरसों ने यज्ञ की सामग्री इकट्ठी की और अग्नि से कहा कि जाओ अदिति के पुत्र आदित्य ! (देव) लोगों को कहो कि कल सुत्या (यज्ञ) होगा। हमें इस यज्ञ द्वारा यज्ञ करा देना।

आदित्य लोगों ने जवाब दिया 'क्या तुम ने हमें आङ्गिरस समझ रखा है? हम आङ्गिरस नहीं है। उन्होंने सोचा कि दूसरा आदमी यज्ञ कर लेगा। हम अग्नि को यज्ञ के बीच में ही पकड़ कर धर लेते हैं। उन्होंने भी यज्ञ की सब तय्यारी कर ली और कहा, तूने यज्ञ की खबर हमें दी थी। हम तुझे आङ्गिरस लोगों के पास भेजते हैं। जा उन को हमारे यज्ञ की सूचना दे आ। तू हमारा और उन का दोनों का होता है। अग्नि के लौट आने पर आङ्गिरसों को बहुत क्रोध हुआ कि यह हमारा दूत था, इस का इतना निरादर क्यों हुआ? अग्नि ने कहा आप लोग भले हैं, आप क्या बुरा मानते हैं? मुझे भले लोगों ने घेर लिया था इसलिए मैं आ नहीं सका था। पहले आङ्गिरसों ने आदित्य लोगों को सद्यः-क्री याग से यज्ञ कराया था। उसके उपलक्ष्य में उनको वाणी दक्षिणा में दी गयी थी। आङ्गिरस लोगों ने उसे स्वीकार न किया था। इसलिए कि कहीं जब आदित्य लोग हमारा यज्ञ करावें गे तो फिर हमें दक्षिणा में वाणी को लौटा देना पड़ेगा। इस लिये उन्होंने आङ्गिरसों को सूर्य दक्षिणा में दिया। उसे उन्होंने स्वीकार किया। तब आङ्गिरस लोग बोले—'हम ने यज्ञ किया था, हम ने दक्षिण भी प्राप्त की। हम ने दक्षिणा में यह पाया जो यह सब को तपाता है। इसी कारण सद्यः क्री-याग में श्वेत घोड़ा दक्षिणा दी जाती है। उस के आगे २ सोना होता है। यह उसी तपाने वाले सूर्य्य का प्रतिरूप है। यदि श्वेत घोड़ा न मिले तो श्वेत बैल दे दिया जाता है और सुवर्ण मुद्रा उस के भी आगे रखी जाती है।

(क्योंकि वाणी को दक्षिणा रूप से स्वीकार न किया गया था इस लिए) वाणी को आङ्गिरसों पर बड़ा क्रोध हुआ। यह सूर्य मेरे किस सम्बन्धी से अच्छा है कि इसे दक्षिणा में स्वीकार कर लिया गया, और मुझे स्वीकार नहीं किया गया? वह दोनों को छोड़ भाग निकली। वह दोनों के बीच में शेरनी बनकर घूमने लगी और दोनों को हड़पने लगी। तब देव लोगों ने अपना गुप्त सन्देश उसको भेजा। इधर असुर आङ्गिरस लोगों ने भी अपना गुप्त सन्देश भेजा। अग्नि देवताओं का दूत था। वह इधर राक्षसों से भी मिला था। वह वाणी देवों के पास आकर बोली यदि मैं तुम्हारे पास आजाऊं तो मुझे क्या लाभ होगा? तब देव बोले "अच्छा, तुम को हम अग्नि से भी पहली आहुति देंगे।" वह बोली "अच्छा मुझ से जो वर या आशीर्वाद प्राप्त करोगे वह सब तुम्हारे लिए बढ़ोतरी देगा।" खैर, वाणी देवताओं के पास आगयी।

इसी कारण अग्नि को हाथ में लेकर उत्तर वेदि में थोड़ा घी सेचन करते हैं। यह अग्नि के पूर्व ही आहुति दी जाती है। यह उत्तर-वेदि वास्तव में वाणी है।

वही जो पहले शेर बन बड़ी उद्विग्न होकर विचर रही थी उसी को यज्ञ में लगा लिया जाता है। इसलिए दक्षिणा का कभी निरादर न करे, नहीं तो वही शेरनी होकर नाश कर देती है।

अस्तु, शतपथकार ने यह सिंही का वाणी-पक्ष में व्याख्यान किया है। (शत० ३।५।१)

इस कथांश में वाणी का शेरनी बनकर विचरण करना, देवों और असुरों या आङ्गिरसों का यज्ञ करना, दक्षिणा का लेना और न लेना आदि सब आलङ्कारिक रहस्य है जो शरीर, यज्ञ, गृहस्थ, समाज, राष्ट्र और ब्रह्माण्ड की रचना में समान भाव से लगता है।

वह वाणी गौ रूप है जो दक्षिणा में यज्ञ में दी जाती है। गृहस्थ में वह स्त्री या कुमारी है जो प्रथम आतिथ्य सहित दी जाती है। वह भी सुवर्णाभरणालंकृत करके दी जाती है। उस का निरादर भी नहीं करना चाहिये। महाभारत का घोर युद्ध उसी के निरादर का एक घोर निदर्शन है। वही सिंही होकर सब को खा गयी। रामायण काल में वही सीता थी। रावण द्वारा उस का अपमान ही उस को सिंही बना देने का कारण था।

समाज में परस्पर के वार्तालाप—अर्थात् मधुर वाणी ही निरादृत होकर विशाल वैमनस्यों में बदल जाती है। फिर यही लाठी बन कर सिर तोड़ा करती है।

कोहाट-काण्ड इसी का निदर्शन है। राष्ट्रों में वही तलवार बन कर नाचती है। इस अंश में वह सिंही पृथ्वी है। उसी का अपमान राष्ट्र-विप्लवों का कारण होता है। उस का सम्यक् रूप से पालन न करना ही उसका निरादर है।

विशाल भौतिक संसार में विद्युत् ही मध्यम वाणी है। वही निरादृत होने पर कितना वज्ररूप हो शेरनी के समान दहाड़ती है और पहाड़ों को तोड़ डालती है।

पहले आंधियां चलना, फिर वर्षा आना और फिर बिजलियों का चमकना और पृथ्वी का हराभरा होजाना यह वही उत्तर वेदी के तीन रूपों का प्रकाश है।

वाणी का प्रथम सङ्कल्प-रूपों में धुन्धले रूप में उदित होना, फिर देवताओं और विद्वानों के लिये शुद्ध व्यक्त रूप प्रकट होना, फिर उसका स्वर व्यञ्जनों द्वारा गीत छन्दों और भाषा के नाना अलङ्कारों सहित लच्छों द्वारा प्रकट होना अवश्यंभावी है।

देवों, विद्वानों, और क्रियावान्, सामर्थ्यवान् पुरुषों के लिये यज्ञ की वेदी, वाणी, स्त्री और दमनकारिणी शक्ति को प्रथम सपत्नसाही होना चाहिये। अर्थात् वह अपने स्वयंवृत पति के अतिरिक्त दूसरे स्पर्धालु, अपमान करने वाले प्रतिपक्षी का मान मर्दन करने में समर्थ होना चाहिये। तभी वह सामर्थ्यवती यज्ञ सम्पादन एवं कार्य सम्पादन में समर्थ होती है। फिर उसे शान्तभाव से रहना चाहिये। तीसरे, उसे सुन्दर अलंकृत रूप में रहना चाहिये। उक्त वेद मन्त्र का अर्थ—ब्राह्मण-ग्रन्थकार वेद मन्त्रों की किस प्रकार सूक्ष्मता से चतुर्मुखी व्याख्या करते हैं—यही दर्शाने के लिये हम ने पाठकों के समक्ष पेश किया है। अभी इस में और भी कितने वैज्ञानिक तत्व भरे पड़े हैं जिनकी व्याख्या समस्त वैद्यक तथा राजनैतिक और समाज शास्त्र हैं। यह तो केवल वेद मन्त्र की दिशा का अनुदर्शन कराया गया है।

क्यों पाठक! सुना शेरनी का किस्सा? ओं नमः पूर्व ऋषिभ्यः॥

——:०:——

ऋषि दयानन्द की वेद भाष्य शैली।

[ले०—श्री० विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार, अजमेर]

ऋषि ने यज्ञ परक व्याख्या क्यों नहीं की ?—यहां एक प्रश्न पैदा होता है कि ऋषि दयानन्द ने मनुष्य, मनुष्य के व्यवहार तथा तत्सम्बन्धी अन्य विषयों का प्रतिपादन तो वेदों में किया और वैसे अर्थों के करने में मनु, निरुक्त, शङ्कराचार्य्य आदि की सम्मति भी अवश्य अनुकूल है। परन्तु निरुक्तकारादि की सम्मति के अनुसार वेदों में याज्ञिक अर्थों का भी तो प्रतिपादन है। ऋषि ने उन अर्थों का प्रतिपादन क्यों नहीं किया ?। तथा ब्राह्मण ग्रन्थ, (जिन को कि ऋषि भी प्रमाण मानते हैं) जब वेदों के याज्ञिक अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, तब तो ऋषि दयानन्द के लिये यह और भी आवश्यक था कि वह वेदों के याज्ञिक अर्थों की भी व्याख्या करते। यजुर्वेद यज्ञों का मूलाधार है। इस वेद का सम्पूर्ण ऋषिकृत भाष्य भी मिलता है। इस में कहीं भी यज्ञपरक अर्थ नहीं, जैसे कि यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में मिलते हैं। अतः इस अंश में ऋषि का वेद-भाष्य यजुर्वेद की प्राचीन व्याख्या शतपथ ब्राह्मण के भी प्रतिकूल सिद्ध होता है। क्योंकि शतपथ ब्राह्मण ही एक ऐसा ब्राह्मण है जिस ने कि अपने वेद यजुर्वेद के प्रत्येक मन्त्र की प्रतीकें देकर मन्त्रों की पूर्ण व्याख्या की है। यजुर्वेद पर महीधर, उव्वट आदि के भाष्य तो प्रायः शतपथ ब्राह्मण के अक्षरों के अनुकूल प्रतीत होते हैं। परन्तु ऋषि दयानन्द का यजुर्वेद भाष्य इस दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण के अनुकूल बिल्कुल भी नहीं।

उत्तर—इस प्रश्न के उत्तर में ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका का "प्रतिज्ञा विषय प्रकरण" अवश्य देखना चाहिये। वहां ऋषि निम्न रूप से लिखते हैं—"**इस वेद भाष्य में शब्द और उन के अर्थ द्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे। परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में लगाए हुए वेद मन्त्रों में से जहां २ जो २ कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्त पर्यन्त करने चाहियें उन का वर्णन यहां नहीं किया जायगा। क्योंकि उन के अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरय, शतपथ आदि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है। उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों**

के लेख के समान दोष इस वेद भाष्य में भी आ जा सकता है। इसलिये जो २ कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्ति प्रमाण सिद्ध है उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं।"

इस उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषि दयानन्द ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड को भी अवश्य मानते थे। उन्होंने वेदों की याज्ञिक व्याख्या इसीलिये नहीं की, यतः वह व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रथम से ही विद्यमान थी। अतः विद्यमान का पुनरुल्लेख ऋषि ने व्यर्थ जाना।

प्रश्न—ऋषि का यह उत्तर सुनकर एक प्रश्न और जागृत हो जाता है। वह यह कि जब ऋषि दयानन्द ब्राह्मणों की यज्ञीय व्याख्या को मानते हैं और उसे सत्य भी मानते हैं, तब अच्छा तो यह था कि वह यजुर्वेद की व्याख्या करते ही न। क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में तो यजुर्वेद की पूर्ण व्याख्या विद्यमान ही थी। ऐसा न कर के ऋषि ने यजुर्वेद की ऐसी व्याख्या कैसे कर दी जो कि शतपथ ब्राह्मण के शब्दों के विरुद्ध प्रतीत होती है ?।

उत्तर—इस उपरोक्त प्रश्न के समाधान के लिये हमें ब्राह्मण ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ विचार करना पड़ेगा। मेरे विचार में, यद्यपि ऋषि का यजुर्वेद-भाष्य शतपथ के स्थूल शब्दों के अनुकूल प्रतीत नहीं होता तो भी वह शतपथ के अन्तर्गुप्त गूढ़ाशय के अनुकूल अवश्य है। इस विचार को पूरे रूप में समझने के लिये मेरी निम्नलिखित स्थापना को अवश्य हृदयगत कर लेना चाहिये। वह यह कि ,,**ब्राह्मण ग्रन्थ जिस कर्मकाण्ड का स्वयं प्रतिपादन कर रहे हैं उस में उन का मुख्य तात्पर्य्य नहीं**"। इस स्थापना को मैं इस प्रकार भी कह सकता हूं कि ब्राह्मण ग्रन्थों की यज्ञीय व्याख्या, संसार के वैज्ञानिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक गूढ़ सिद्धान्तों का केवल मात्र Demonstration है। ब्राह्मण ग्रन्थों की यज्ञीय व्याख्या प्रतिबिम्ब रूप है और संसार के वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनैतिक, तथा आध्यात्मिक आदि सिद्धान्त बिम्बरूप हैं। या दुसरे शब्दों में मैं यूं भी कह सकता हूं कि असली भारत देश का भारत देश के नक्शे के साथ जो सम्बन्ध हैं वही सम्बन्ध संसार की मुख्य २ घटनाओं का यज्ञीय व्याख्या के साथ है। जिस प्रकार हम प्रतिबिम्ब को देखकर बिम्ब के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करते हैं, या जिस प्रकार हम दीवार

पर टंगे भारत के नक्शे को देख कर वास्तविक भारत की नदियों, पहाड़ों, शहरों तथा उन के पारस्परिक सम्बन्धों का परिज्ञान करते हैं इसी प्रकार यज्ञीय क्रियाएं तथा यज्ञीय साधन भी संसार के रहस्यों का परिचय देते हैं। जिस प्रकार प्राकृतिक भूगोल का अध्यापक, कृत्रिम सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी आदि के गोले बना कर, और उन्हें आपेक्षिक दूरता पर किसी यन्त्र में अवस्थित कर, विद्यार्थियों को उन की गति तथा आपेक्षिक दूरता का परिज्ञान कराता है, इसी प्रकार ब्राह्मणकार भी, अपने कृत्रिम यज्ञीय साधनों तथा विधियों द्वारा संसार की मुख्य २ घटनाओं का परिचय पाठकों को देना चाहते हैं। संक्षेप में मैं यूं भी कह सकता हूं कि ब्राह्मणकारों ने महान् संसार को अपनी यज्ञीय स्थली में परिणत कर दिखाया है। ताकि संसार की मुख्य २ घटनाओं को हम सुगमता से समझ सकें। अभिप्राय यह कि यज्ञीय क्रियायें, विधियें तथा साधन, संसार के रहस्यों को समझाने में संकेत मात्र हैं। सम्भव है कि श्रोताओं को मेरी यह स्थापना कुछ अनोखी प्रतीत हो। परन्तु इतना मैं अवश्य कह देना चाहता हूं कि यह स्थापना चाहे कैसी अनोखी हो, परन्तु है सत्य। इसी स्थापना को न समझ कर ही पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मणकाल और उपनिषत्काल को भिन्न २ मान लिया है। मेरी इस स्थापना को दृष्टि में रखते हुए यदि पाठक ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों को पढ़ेंगे तो उन्हें ज्ञात हो जायगा कि ब्राह्मण-कार जिन सिद्धान्तों को यज्ञीय विधियों और साधनों द्वारा Demonstrate करते हैं, उन्हीं सिद्धान्तों को हस्तामलकवत्प्रत्यक्ष कराने के लिये उपनिषत्कार जिज्ञासु के अन्तर्बोध को जगाने की कोशिश करते हैं। ज्ञान के मुख्य साधन दो हैं। एक बाह्य इन्द्रियां, और दूसरा Intention अर्थात् अन्तर्बोध या प्रतिबोध। ज्ञान की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थ प्रथम सीढ़ी हैं और उपनिषदें द्वितीय। यह प्रथम और द्वितीय पन, विकाशवाद की दृष्टि से कालकृत नहीं, अपितु जिज्ञासु या अध्येता की बुद्धि-शक्ति की दृष्टि से है। ज्ञान की प्रथमावस्था में, ज्ञान के समझाने के लिये स्थूल साधनों की आवश्यकता होती है, और जैसे २ जिज्ञासु, शनैः २, ज्ञान के मार्ग पर अपने कदम आगे २ बढ़ाता जाता है, उसके साथ ही साथ, अगली २ ज्ञान कोटि के सीखने में, उस के लिये साधन भी बदलते जाते हैं। यही क्रम ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषद्ग्रन्थों में है।

इस स्थापना में कतिपय प्रमाण—मैं इस उपरोक्त स्थापना में कतिपय ब्राह्मण ग्रन्थ के प्रमाण भी उपस्थित करना चाहता हूं।

(१) शतपथ ब्राह्मण पृष्ठ ५ में (वैदिक प्रेस में छपे हुए) दो पवित्रों का विधान है। कुशा के दो पत्रों से जलादि को साफ़ करते हैं। ये ही दो पवित्र हैं। यज्ञ में दो ही पवित्र क्यों होने चाहियें, इसके उत्तर में ब्राह्मणकार कहते हैं, चूंकि शरीर में भी दो ही पवित्र हैं। एक प्राण और दूसरा उदान। ये प्राण और उदान शरीर की पवित्रता करते हैं। ये चूंकि कार्य-भेद से दो हैं, अतः यज्ञविधि में भी दो ही पवित्र चाहियें। १।१।३।१—३।

इसी प्रकार १।३।५।१—५ में यज्ञ और व्यष्टि पुरुष तथा समष्टि-जगत् में सादृश्य दर्शाया है।

व्यष्टि पुरुष का सादृश्य—यज्ञ में तीन स्रुच् (चमस्) होते हैं—जुहू, उपभृत् और ध्रुवा। यज्ञ को व्यष्टि-पुरुष का रूप दिखाते हुए शतपथ में लिखा है, कि पुरुष की दक्षिण भुजा जुहू, वाम भुजा उपभृत्, तथा आत्मा ध्रुवा है। चूंकि आत्मा से शरीर के सब अङ्ग पैदा होते हैं, इसीलिये ध्रुवा पात्र से सब यज्ञ सम्पादित होता है।

यज्ञ में स्रुव नामक भी चमस होता है। इस स्रुव द्वारा आज्य-स्थाली से घी निकाल कर ध्रुवा, उपभृत् और जुहू नामक स्रुवों में डाला जाता है। इस विधि की उपपत्ति ब्राह्मण यूं देते हैं:—स्रुव वास्तव में प्राणरूप है। प्राण चूंकि शरीर के सब अङ्गों में सञ्चार करता है, इसीलिये स्रुव भी यज्ञ के अङ्ग जो स्रुच् हैं, उनमें सञ्चार करता है। अतः यज्ञ में का स्रुव प्राणस्थानापन्न है। यहां तक ब्राह्मणकार ने यज्ञीय स्रुचों और स्रुव द्वारा व्यष्टि-पुरुष के सम्बन्ध का ज्ञान दिया। अर्थात् ध्रुवा से आत्मा का, जुहू से दाहिनी भुजा का, उपभृत् से वाम भुजा का, तथा स्रुव से पुरुष में रहने वाले प्राण का, एवं स्रुव स्रुच् के पारस्परिक सम्बन्धों से आत्मा, दाहिनी भुजा, वाम भुजा तथा प्राण के परस्पर सम्बन्धों का ज्ञान दिया है। इससे पाठकों को स्पष्ट होगया होगा कि यज्ञीय स्रुव-स्रुच्, व्यष्टि-पुरुष की कतिपय घटनाओं की नकलमात्र ही हैं।

इस वर्णन से पाठकों को यह भी ज्ञात होसकता है कि वे मन्त्र जो कर्म-काण्ड या यज्ञीय व्याख्या की दृष्टि से ध्रुवा, उपभृत्, जुहू तथा स्रुवों का

वर्णन करते हैं। वास्तव में गुप्तरूप से वे आत्मा, दाहिनी भुजा, वाम भुजा, प्राण तथा इनके परस्पर सम्बन्धों का ही वर्णन करते हैं।

समष्टि जगत् का सादृश्य—इसी स्थान में ब्रह्मणकार ने स्रुव् स्रुच् का समष्टि अर्थात् आधिदैविक रूप भी दिखाया है। यथाः—वह द्युलोक जुहू, अन्तरिक्ष लोक उपभृत् तथा पृथिवी लोक ध्रुवा है। ध्रुवा में से उपभृत् में और उपभृत् में से जुहू में घी लिया जाता है। कारण यह कि पृथिवी-रूपी ध्रुवा से ही जल-रूपी घृत प्रथम तो उपभृत्-रूपी अन्तरिक्ष में जाता है और वहां से होकर वह फिर द्युलोक की ओर गति करता है। और स्रुव, जो घी को, ध्रुवा, उपभृत् और जुहू नामक स्रुचों में डालता है, वह तीनों लोकों में बहने वाला वायु ही है। चूंकि वायु-रूपी स्रुव, जल-रूपो घृत को, पृथिवी से अन्तरिक्ष में और अन्तरिक्ष से द्युलोक की ओर लेजाता है, अतः स्रुव स्रुच् के इस आधिदैविक-रूप को दृष्टि में रखते हुए हम उन मन्त्रों से—जिनमें कि याज्ञिक व्याख्या की दृष्टि से स्रुव स्रुच् का वर्णन है—आधिदैविक दृष्टि में, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, इनमें बहनेवाला वायु तथा इनके परस्पर सम्बन्ध—ये अर्थ भी ले सकते हैं। अतः स्रुव स्रुच् के उदाहरण से पाठकों को यह भाव अवश्य स्पष्ट होगया होगा, कि उन मन्त्रों से—जिनमें कि याज्ञिक-दृष्टि से स्रुव स्रुच् का वर्णन है—आध्यात्मिक-दृष्टि में पुरुष का, तथा आधिदैविक-दृष्टि में जगत् का भी वर्णन हम कर सकते हैं। और वास्तव में उन मन्त्रों की आध्यात्मिक और आधिदैविक व्याख्या ही ब्राह्मणकार को गुप्तरूप से अभीष्ट है। यतः याज्ञिक-विधियां केवल इन तत्त्वों की नकल-मात्र हैं।

इसी प्रकार स्रुवों के परस्पर सम्बन्ध द्वारा, ब्राह्मणकार, एक आधिभौतिक अर्थ की ओर भी निर्देश करते हैं। वे कहते है कि यजमान अर्थात् राष्ट्रीय यज्ञ का करने वाला राजा जुहू है और प्रजा उपभृत्। यज्ञ में उपभृत् से जुहू में इसलिये ही घी डाला है, चूंकि जुहूरूपी राजा अर्थात् भक्षक होता है और उपभृत् रूपी प्रजा आद्य अर्थात् भोग्य होती है। जिस प्रकार प्रजा का कर राजा के कोष में जाता है इसी प्रकार उपभृत् का घी जुहू में जाता है।

ब्राह्मण का यह प्रकरण कुछ लम्बा है, अतः मैंने केवल भाषानुवाद ही यहाँ दिया है।

अपनी उपरोक्त स्थापना के सम्बन्ध में ब्राह्मणों के सैंकड़ों प्रमाण मैं पेश कर सकता हूं परन्तु लेख कहीं लम्बा न हो जाय इस भय से दो तीन प्रमाण ही पेश किये गए हैं।

यहां पर पाठक पुनः पूर्व प्रश्न का स्मरण करें कि ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद के याज्ञिक अर्थ क्यों नहीं दर्शाये ? संक्षेप में अब इस का उत्तर यूं हो सकता है कि ऋषि ने यह समझा कि यजुर्वेद के याज्ञिक अर्थ तो ब्राह्मण ग्रन्थों मे विस्तार से लिख ही रखे हैं। परन्तु ये याज्ञिक क्रियाएं और विधियें गुप्तरूप से जिन आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक अर्थों की ओर निर्देश कर रही हैं, और जिन की ओर निर्देश करना ब्राह्मणकारों को अवश्य अभीष्ट है—यतः इन अर्थों की ग्रन्थरूप में स्पष्ट व्याख्या कहीं भी प्राप्य नहीं अतः इन्हीं अर्थों का प्रकाशन करना ही उचित है। अतएव ऋषि ने अपने वेद भाष्य में इन्हीं अर्थों को प्रकाशित किया है, और याज्ञिक अर्थों को नहीं। इसलिए ऋषि की वेद भाष्य शैली के गूढ़ तत्त्व के जानने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों और आरण्यक ग्रन्थों का सतत अध्ययन अत्यावश्यक है॥

(शेष फिर)

चिरकाल का ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य के लिये क्या हानिकारक है ?

[ले०—श्री० विश्वनाथ आर्योपदेशक]

आर्य के ऋष्यङ्क में ब्रह्मचर्य विषय पर एक लेख निकला था, जिसका सार यह है कि पाश्चात्य विद्वानों के अनुभव के अनुसार शरीर का स्वास्थ्य तथा दृढ़ता अण्डकोषों की स्वस्थता तथा शक्तिमत्ता पर अवलम्बित होती है। और अण्डकोशों की बलिष्ठता ब्रह्मचर्य पर निर्भर है। जब किसी बैल अथवा घोड़े को अण्डकोष से रहित (ख़स्सी) कर दिया जाता है तो वह पौरुषहीन और निस्तेज सा हो जाता है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य चिरकाल तक ब्रह्मचारी रहे तो उस के अण्डकोष में एक प्रकार का विष उत्पन्न हो जाता है, जो अण्डकोष तथा सारे शरीर के

लिये हानिकारक सिद्ध हुआ है। इस के अतिरिक्त प्राकृत नियमानुसार जब प्रजननेन्द्रिय से उसका स्वाभाविक कार्य नहीं लिया जाता तो वह उस कार्य के योग्य नहीं रहती। अर्थात् मनुष्य में नपुंसकता का प्रादुर्भाव हो जाता है। यही दोष स्त्रियों में भी उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु लेखक की सम्मति में योगाभ्यास द्वारा उपर्युक्त दोषों को रोका जा सकता है।

शरीर की स्वस्थता का अण्डकोषों से सम्बन्ध है—यह तो ऋषियों की अनुभव सिद्ध बात है। और इस में भी सन्देह नहीं कि यदि स्त्री पुरुष मर्यादा से प्रजनन कार्य करें तो किसी प्रकार की निर्बलता नहीं हो सकती। इसी बात को लक्ष्य में रख कर मनु जी ने कहा है कि—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदार निरतः सदा।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥ मनु०॥

अर्थ—पुरुष को उचित है, कि वह ऋतुगामी तथा केवल अपनी ही स्त्री में सन्तोष करे। इस अवस्था में वह ब्रह्मचारी के सदृश ही होगा। परन्तु चिरकाल के ब्रह्मचर्य से उपर्युक्त दोषों का उल्लेख किसी आर्ष-ग्रन्थ में नहीं देखा। इसके विरुद्ध सत्प्रतिज्ञ दृढ़व्रती, आजन्म ब्रह्मचारी भीष्म पितामह इस ब्रह्मचर्य्य के बल पर ही वृद्धावस्था में भी युद्ध में अर्जुन जैसे योधाओं और नवयुवक सैनिकों के छक्के छुड़ाते थे। वर्तमान समय में महर्षि दयानन्द जी ने अपने अखण्ड ब्रह्मचर्य्य का परिचय देकर प्राचीन ब्रह्मचारिगण आर्यों की कथाओं तथा ब्रह्मचर्य की महिमा विषयक सच्छास्त्रों के उल्लेखों को सत्य कर दिखाया है। प्राचीन साध्वी और पतिव्रता देवियों के जीवन को उद्बोधित करती हुई आर्य देवियों के पवित्र जीवन का चारों दिशाओं में परिचय देती हुई भारतीय सभ्यता का ज्वलन्त प्रमाण आजन्म ब्रह्मचारिणी भाग्यहीना बालविधवा आर्य्य-देवियां ६०, ७० वर्ष की आयु में अपने साहस, परिश्रम और मुखकान्ति से २०, २५ वर्ष की युवतियों को लजाती हुई, इस पाश्चात्य सिद्धान्त की अवहेलना करती हुई, इस पतित समय में भी दिखाई देता हैं। योगाभ्यास शरीर, बुद्धि और आत्मा की उन्नति के लिये अत्युत्तम आर्ष साधन है। परन्तु इस बात का प्रमाण कोई नहीं कि ब्रह्मचर्य्य से होने वाली हानि को यह रोकने वाला है। आर्य्य-धर्म-शास्त्र अथवा वैद्यक-शास्त्र तो ब्रह्मचर्य्य में ऐसा कोई दोष ही नहीं देखते। और पाश्चात्य डाक्टरों के पास इस प्रकार का कोई अनुभव

ही नहीं, कि योग इस हानि का प्रतिकार है। महर्षि चरक ब्रह्मचर्य्य का गुणगान करते हुए लिखते हैं—

पुण्यतममायुप्रकर्षकरं जराव्याधिप्रशमनमूर्जस्करममृतं शिवं शरण्यं श्रोतुमर्हमथोपधारयितुं प्रकाशयितुं प्रजानामनुग्रहार्थमार्षं ब्रह्मचर्य्यम् ।

अर्थ—अत्यन्त पुण्यरूप, आयु को बढ़ाने वाला, जरा-व्याधि को दूर करने वाला, बल का भण्डार, मौत को जीतने वाला, कल्याणरूप, शरण करने योग्य, सुनने, सुनाने और धारण करने योग्य, प्रजा के सुख के लिये यह आर्ष ब्रह्मचर्य्य है।

इतना लिखने पर भी मुझे आशा नहीं है कि सभ्य पाठकों ने पाश्चात्य ब्रह्मचर्य के विरोधी भावों को हृदय से निकाल दिया होगा। क्योंकि वर्त्तमान युग पाश्चात्य विचारों से ऐसा प्रभावित है कि वैदिक-सिद्धान्तों की सत्यता के लिये पाश्चात्य साक्ष्य, प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अतिरिक्त नवम प्रमाण माना जाता है। और फिर जहां कहीं वैदिक-सिद्धान्तों और योरुपोयन विचारों की टक्कर लगे, वहां तो इसकी बहुत आवश्यकता पड़ जाती है। अतएव मेरे लिये आवश्यक होगया है कि आपके समक्ष इस विषय में कोई पाश्चात्य निश्चयात्मक सिद्धान्त भी उपस्थित करूं।

नारवे देश में एक सभा "यूनियन फ़ार दी एडवानसमिंट आफ़ पब्लिक मुरैलिटी" के नाम से स्थापित है। उसने क्रिश्चियन यूनिवर्सिटी की मैडिकल फ़ेकलटी से (जिसमें उत्तरोय योरूप के सर्वोत्तम डाक्टर सम्मिलित हैं,) एतद्विषयक प्रश्न पत्र द्वारा पूछ भेजा, तो उन्होंने निम्नलिखित उत्तर दिया :—

"कुछ लोगों ने वर्त्तमान समय में ही अपनी सम्मति प्रकट की है। बल्कि समाचार-पत्रों और बहुत सी सभाओं ने भी इसका अनुमोदन किया है, कि ब्रह्मचर्य्य का रखना और जीवन को उच्च धार्मिक रीति से व्यतीत करना स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। उनकी यह सम्मति हमारे अनुभव से सर्वथा अशुद्ध है। हम सर्व-सम्मति से प्रकट करते हैं, कि हमें न ऐसे रोग का ज्ञान है, और न ऐसी निर्बलता का, जो पूर्ण ब्रह्मचर्य्य और धार्मिक-जीवन व्यतीत करने से उत्पन्न हो। अपने सबके अनुभव (तजुरबा) से हम कह सकते हैं, कि ब्रह्मचर्य्य पुरुष और स्त्री के लिये कुछ भी हानि-कारक नहीं।"

(आर्य्य मुसाफिर मई सन् १९०६ ईस्वी)

———

समास या व्यास ।

(लेखक—श्रीयुत आत्मानन्द जी विद्यालङ्कार)

भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न शब्द अपने अर्थ की सीमा का सङ्कोच या विस्तार करते रहते हैं । इनमें 'आर्य्य' शब्द भी एक है । कैसी विचित्र स्थिति है, कि काशी के श्रीविश्वनाथ जी के मन्दिर के ऊपर लिखे 'आर्येतराणां प्रवेशो निषिद्धः' इस वाक्य में आर्य शब्द का कितना व्यापी अर्थ है ? सामान्य हिन्दु जाति आर्य्य शब्द का विस्तार आर्य्यसमाजियों तक रखना चाहती है और साम्प्रदायिक आर्य्यसमाजी भी इसकी सीमा साम्प्रदायिक (कट्टर) आर्यसमाजियों तक ही रखना चाहते हैं । दूसरी ओर श्री दयानन्द जी को लगभग वही अर्थ अभिप्रेत था जो वस्तुतः "आर्येतराणां प्रवेशो निषिद्धः" इस वाक्य में आर्य शब्द से द्योतित होता है । यहांतक कि परोपकार के कार्य्य में तो वे समूची आर्यजाति के व्यक्तियों को सम्मिलित करना चाहते थे जैसा कि 'परोपकारिणी सभा' की सभ्यसूची से प्रकट होता है । उसमें रायसहिब मूलराज और श्रीरानडे महोदय का सम्मिलित करना और श्री यावदार्यकुल कमलदिवाकर हिन्दुकुलपति महाराणा सज्जन सिंह जी का प्रधान बनाना स्वामीजी की इस प्रवृत्ति का स्पष्ट सूचक है ।

प्रश्न होगा—क्या हमने यह प्रवृत्ति स्थिर रखी ? उत्तर—पर्याप्त समय तक तो नहीं । यद्यपि मथुरा में आर्य्य विद्वत्परिषद् में यह देखकर हर्ष होता था कि वहां 'आर्य्य' शब्द का व्यापी अर्थ ही प्रायः सभ्यों को अभीष्ट होता था । व्यावहारिक बुद्धि से भी देखें तो हम आटे में नमक के बराबर क्या कर सकते हैं यदि समूची आर्य्यजाति की धर्म-बुद्धि, धन, क्षात्रबल, संघशक्ति की सहायता न लें । डी० ए० वी० कालेज और गुरुकुलों की समूची धन सूची की सूक्ष्म दृष्ट्या पड़ताल की जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी ।

क्या हम इस उदात्त प्रवृत्ति के प्रचार में स्वयं विघ्न नहीं ?

हैं । कैसे ? आप हमारे उपदेशक महानुभावों के भाषणों में अनेक गुणों को पाते हुए यह दोष भी पावेंगे कि वे दृष्टान्त के लिये श्री दयानन्द जी के चरित्र की चर्चा ही अधिक करते हैं । इतर ऋषिजन, सन्त, महात्मा, गुणिजनों के

चरित्रसागर में से रत्नों के जोड़ने का यत्न नहीं करते। यह सत्य है कि पिछली शताब्दी में हुए सत्पुरुषों में श्री दयानन्द जी शिरोमणि हैं, पर इतिहास तो समुद्र है, कूप या तालाब नहीं। इस प्रवृत्ति से व्यापी, महान् सत्य की रक्षा नहीं होती। हमारे उन भाइयों के भाषणों में यह दोष अधिक आता है जो पहिले स्कूल कालिजों में पढ़ते हैं और पीछे सामाजिक क्षेत्र में धर्म कार्य्य में सहसा बद्ध परिकर होजाते हैं।

दूसरा विघ्न हमारा खण्डन का प्रकार है। यह सत्य है कि स्वामी जी बड़ा कड़ा खण्डन करते थे। बड़े २ राजाओं को कुत्ता कहना और बाईबिल, कुरान, के खण्डन इसके दृष्टान्त हैं। और अब भी खण्डन की ज़रूरत है। खेत साफ़ किये बिना बीज ठीक उगता नहीं, फोड़े की पीप नश्तर से ही ठीक निकलती है। पर खण्डन के बाद स्वामी जी अपने आचार से जो सन्मार्ग दिखा सकते थे क्या वह हम लोग दिखा सकते हैं? श्रद्धावान्, सदाचारी प्रेम के भरे भाई खण्डन करें, तो यह सत्य की महिमा है कि वह स्वयं घर कर जायगा। तर्कशुष्कमति साम्प्रदायिकजन कीर्तिकामना से जब यह कार्य्य करते हैं तो लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। आर्यत्व का फैलाव नहीं, सङ्कोच होता है। लोग आर्यत्व की परिधि से परे ही रहना चाहते हैं आकर गले नहीं लिपटते। कुटिल पुरुषों को जाने दीजिये; किन्तु भोली हिन्दु जाति सत्य की ओर खिचना जानती है, पर सुपात्रों के हाथ से। सब प्रकार के गुणों का विनियोग समाज करें इसी में नेताओं की और जनता की बुद्धिमत्ता है। पर उसका प्रतिद्वन्द्वी गुण भी साथ है। जिनको हम आस्तिक नहीं बना सकते उनको आंशिक सत्य से भी विमुख करना परिणाम में सुखकर नहीं। मूर्त्तिपूजकों के पुत्र लाखों नये पढ़े लिखे इसके दृष्टान्त हैं। गवर्नमैण्ट से सम्बद्ध ऐसी संस्थाएं खोलते जाना जो पहिली पीढ़ी में अंशतः उपकार जननी थीं पर दूसरे सम्प्रदायों ने भी नकल से उस दिशा में वही कार्य्य किया। परिणाम, जहां एक बड़े स्थान में आर्यस्कूल हैं वहां सनातन, इस्लामिया, खालसा, (कहीं कहीं ब्रह्मू और देवसमाजी भी) खुल रहे हैं, या खुल जावेंगे। अब भाई! इस ढङ्ग की शालाओं से लाभ के बदले हानि अधिक है और यह प्रवृत्ति साम्प्रदायिक जंजीरों को मजबूत कर रही है। यह करोड़ों रुपया विदेशी भाषा, पुस्तकें सामग्री, रुचि, वेषभूषा में खर्च करवाती है, अफसरों की खुशामदें बढ़ाती है, सरकारी सहायता के लिये दूसरे पक्षों से

झड़वाती है। बच्चों की चित्तवृत्ति को भी कूपमण्डूक की चित्तवृत्ति सी कर देती है। विचित्र बात है कि गुरुकुल के स्नातकों में बाह्य परिस्थिति के कारण जाति प्रेम और आर्यत्व के अर्थ की सीमा दोनों सङ्कुचित होने चाहियें थे पर प्रायः हमारे दिलों में आर्यजाति के सब अङ्ग समा जाते हैं इसीलिये हमें किसी भी वर्ण और इतरेतर प्रान्तों के लोग अपने से इतने भिन्न नहीं लगते जितने दूसरों को । इस भाव के प्रचार में यदि उनसे काम लिया जाय तो पर्याप्त सफलता हो सकती है।

आर्य्यत्व का फैलाव कैसे हो ? परोपकारिणी सभा को दृढ़ करने से जिसमें साम्प्रदायिक भाष्यों, और भावों को परे रख के मूल, वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद्, दर्शनादि का प्रचार हो। विधवाओं, अनाथों की रक्षा हो। द्वीप, द्वीपान्तर में वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार, हो । क्या हमारे आर्य्य नेताओं में यह भावना है कि स्वामी जी के स्वीकारपत्र के भाव और भाषा के अनुकूल, परोपकारिणी सभा में हिन्दुकुलपति राणा, गान्धी जी गायकवाड़ नरेश, माइसोर नरेश, काश्मीर नरेश, शादीलाल, मालवीय, भगवानदास शिवप्रसाद गुप्त, श्री निवास शास्त्री, प्रभृति में से चुनकर सहायता लें ? इतना ही नहीं, जिन २ धर्म के अङ्गों में हम दूसरों से सहमत है उसमें समान मति वालों से मिलकर प्रचार हो। जैसे शराब के विरोध में, मुसल्मान, हिन्दू सिक्ख सब एक हैं। संस्कृत हिन्दी प्रचार में समूची हिन्दू जाति एक है। बालविवाह में २० वर्ष की वर की आयु तक सभी शनैः २ आवेंगे। प्रत्येक वर्ष एक वर्ष आगे बढ़ाके २४ तक ले आवें। स्वास्थ्यप्रचार, रोग-दूरीकरण में सब मिलकर काम कर सकते हैं। रुख बदलने की जरूरत है। शताब्दी रुख दे सकती थी पर उसने नहीं दिया, बड़ा शोक है। शायद दशाब्दी देवे ! नहीं तो पञ्चाब्दी विद्वानों को इसी उद्देश्य से ही करनी चाहिये।

———o———

भारतीय राज्यव्यवस्थाओं का अनुशीलन।

(गताङ्क से आगे)

[ले०--पं० भीमसेन जी विद्यालङ्कार (प्रतिष्ठित) सम्पादक 'सत्यवादी' लाहौर]

राजा सब काम इनकी सलाह से ही करता था, सन्धि विग्रह उन्नति आदि बातों के विषय में राजा उनके साथ पृथक् पृथक् भी विचार करता था और इकट्ठे भी। मन्त्रि मण्डल की सत्ता इससे प्रतीत होती है।

इन सचिवों के अतिरिक्त एक राजदूत भी होता था जो कि पर राष्ट्रों से स्वराष्ट्र का सम्बन्ध ठीक रखता था। मनु के अनुसार राष्ट्र सम्बन्धी विशेष नियमों का निर्माण मन्त्रिगण ही करते थे। मनु के समय में ग्राम को राष्ट्र की इकाई मानकर शासन किया जाता था। ये ग्राम अपने २ कार्यों में स्वतन्त्र थे। दो, तीन, या पांच गांवों के बीच में एक गुल्म होता था। वर्तमान भाषा में हम इसे लोक सत्तात्मक, 'थाना' कह सकते हैं। फिर १० गांवों के, २० गांवों के, १०० गावों के हज़ार गांवों के अधिकारी होते थे। जब ग्राम में कोई दोष उत्पन्न हो या कोई अनर्थ घटना हो, तो मनु के अनुसार ग्रामपति दश ग्राम पति को, दशग्राम पति विंशति ग्राम पति को और विंशतिग्राम पति सहस्रग्रामपति को उसकी सूचना देनी चाहिये। यद्यपि ग्राम अपने कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्र थे पर मन्त्रिपरिषद् का एक मन्त्री इन्हीं ग्रामों के कार्यों के आन्तरिक शासन के कार्यों का निरीक्षण करता था। वर्तमान भाषा में इस मन्त्री को हम स्वराष्ट्र सचिव या गृह सचिव कह सकते हैं।

शासन में स्थानीय स्वराज्य का पूरा ध्यान रखा जाता था। इसी स्थानीय स्वराज्य (Local self government) का यह परिणाम है कि भारत में मुसलमानों के शासन काल तक भी ये ग्राम सदा स्वतन्त्र रहे हैं। इन ग्रामों ने ही भारतीय सभ्यता को विदेशी आक्रमणों से सदा बचाए रखा है। *इन ग्रामों

* मौलाञ्छास्त्र विदः शूरांल्लब्ध लक्षान् कुलोद्गतान्,
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥
तैःसार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्,
स्थान समुदयं गुप्तिः लब्ध प्रशमनानि च ॥

का प्रबन्ध पञ्चायतों द्वारा होता था।*

मनुस्मृति के अनुसार देशके आन्तरिक शासन का यह स्वरूप है कि राजनैतिक संस्थाओं में स्थानीय शासन की मुख्यता है।

मनु के समय न्याय विभाग का भी मुखिया राजा ही होता था। मनुस्मृति के अनुसार राजा को ब्राह्मणों के साथ मिलकर राष्ट्र में न्याय का संचालन करना चाहिये। न्याय के लिये केवल कानून ही काफ़ी नहीं थे। परन्तु रीति-रिवाज़, कुलक्रमागत नियमों पर भी ध्यान रखना पड़ता था। राजा को ग्राम, संघ आदि के विषय में निर्णय करते समय उनके नियमों पर भी ध्यान रखना आवश्यक था। मनुके अनुसार यदि कोई मनुष्य इन ग्रामों और संघों के साथ किये हुए ठेके, समझौते व प्रतिज्ञा को तोड़े तो राजा को उसे देश से निकाल देना चाहिये।

प्राचीन काल में व्यापारियों के आर्थिक संगठन थे जिन का नाम गण

तेषां स्वमभिप्रायं उपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानाञ्च कोर्येषु विदध्याद्धितमात्मनः॥
मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्य संयुतम्।
सर्वेषां तु विशिष्ठेन ब्राह्मणेन विपश्चिता॥
नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तस्तस्मिन्कर्माणि निक्षिपेत्।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समाचरेत्॥

* द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्,
तथा ग्राम शतानाञ्च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम्।
ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दश ग्रामपतिं तथा,
विंशतीशं शतेशञ्च सहस्रपतिमेव च॥
ग्राम दोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकःशनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्राम दशेशाय दशेशो विंशतीशिने॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्,
शंसेद् ग्राम शतेशस्तु सहस्र पतये स्वयम्।
तेषां ग्राम्याणि कर्माणि पृथक् कार्याणि चैव हि,
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः॥

था । धार्मिक संगठनों की प्राचीन संज्ञा संघ है । उसकी ही ओर यहां निर्देश किया गया है ।

ग्राम-पञ्चायती में परस्पर मिलकर स्वयं शासन करने की शिक्षा मिलती थी, अब वह कुछ नहीं रहा । भारतीय इतिहास का सबक है कि यदि देश में शान्ति स्थापित करनी है, धार्मिक, नैतिक तथा सामाजिक शान्ति स्थापित करनी है, तो ग्रामों में ग्राम-पञ्चायतें बनाओ । ग्राम-पञ्चायतों से ही सच्ची राष्ट्रीयता पैदा हो सकेगी । लोकलबोर्ड, म्युनिसिपैलटियां तथा कौंसिलें, राष्ट्रीयता को नष्ट करने वाली साम्प्रदायिकता को पैदा करती हैं । स्वराज्य स्थापित करने का मुख्य रचनात्मक मार्ग यही है कि फिर से ग्रामों में ग्राम-पञ्चायतें कायम करो । जब देश में इन ग्राम-पञ्चायतों का जाल फैलेगा, तभी स्वाधीनता स्थापित होगी । रूस वालों ने अपनी ग्राम-पञ्चायतों को स्थापित करके, ज़ारशाही का अन्त किया था । भारत में भी नौकरशाही का अन्त इन ग्राम-पञ्चायतों द्वारा ही होगा । आशा है, देश-प्रेमी कर्म-वीर ग्राम-पञ्चायतों के महत्व को समझेंगे ।

---

* सतामनु परिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयं,
तेषां वृत्तं परिणमेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥
नगरे नगरे चैकं कुर्यात् सर्वार्थ चिन्तकम्,
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिवग्रहम् ॥
राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः,
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः सदा ॥
राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्य जनस्य च,
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥

† महाशय ई० वी हैवल ने The History of Aryan Rule in India में भारतीय चित्रकला और भवनकला के आधार पर ग्रामों के संगठन का वर्णन किया है । वे लिखते हैं—

" The Aryan system was a scientific organisation based upon sanitary laws and inspired by high ethical and social ideals. It was a scheme of common village life, worked out by the Practical Philosophy of one of the most highly gifted of the races of man kind in which each section of the com-

इस प्रकार हमने देख लिया कि मनु के समय की संस्थाओं की क्या विशेषताएं है।

व्यवहारान्दिद्दक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
मन्त्रज्ञैः मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥८।१॥
प्रत्यहं देश दृष्टैश्च शास्त्र दृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु भागेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥८।३॥
यो ग्राम देश सघानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन्तरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥

इस प्रकार मनु के समय तीनों विभागों का मुखिया राजा था। परन्तु यह राजा स्वतन्त्र नहीं होता था। इसे देशके वृद्धों और ब्राह्मणों के सामने झुकना पड़ता था, उनके आदेशानुसार काम करना होता था और साथ ही नियमों को उल्लंघन करने पर दण्ड भी भोगना पड़ता था।

ब्राह्मणान् पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषाँस्तिष्ठेत्तेषान्तु शासने ॥

---

munity and each individual member of it took their allotted shares of work for the common welfare. Not under the compulsion of an autocrate or of a ruling caste, but by a clear perception of mutual advantage and a voluntary recognisation of superior intellectual leadership (P. 10)."

"The Aryan village was the basis of Indo-Aryan polity and its history is the real history of India.

आर्यों के ग्राम संगठन में स्वतन्त्रता का भाव समाया हुआ था। इन में Democrecy का पूरा प्रभाव था। ग्रामों के इस सुसंगठन के कारण ही ये ग्राम संस्थाएं कभी पराधीन नहीं हुईं। चार्लस मेटकाफ १८३० की विवृति-पत्रिका में लिखते हैं:—

"The village communities little republics..............................
Hindu, Pathan, Mogal, Maharatta, Sikh, English, are masters n turn, but the village communities remain the same,

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन्।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धराश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥७।२८॥
कार्षापणं भवेद्दण्डयो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥८।३३६॥

प्रथम दो श्लोकों से सिद्ध होता है कि सब विभागों का मुखिया होते हुए भी राजा को ब्राह्मणों का शासन मानना पड़ता था। आर्य्य सभ्यता के अनुसार क्षात्र बल का प्रयोग सदैव विचार शक्ति या ब्राह्मणों के द्वारा ही होता था। हमारे देश वासियों ने जब तक इस नियम का ध्यान रखा तब तक देश में शान्ति और व्यवस्था बनी रही। यदि राजा धर्म का उल्लंघन करे तो उसे भी दण्ड दिया जा सकता था। प्रजा के प्रतिनिधि या रक्षक ब्राह्मण ही इसका दण्ड विधान करते थे।

मनु के इस राजव्यवस्था के वर्णन को पढ़कर कई विचारकों के दिलों में यह प्रश्न उठता है कि क्या मनु के समय कोई भी ऐसी सभा न थी जहां कि प्रजा के प्रतिनिधियों को शासन प्रबन्ध में भाग लेने का मौका दिया जाता हो? क्या उस समय ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं था जिससे प्रजा के प्रतिनिधि अपनी आवाज़ राजा तक पहुंचा सकें? वैदिक समय की सभा समितियों और प्रजा-सम्बन्ध को देखकर इस प्रश्न का उठना आवश्यक ही है। राजा की मन्त्रिपरिषद् और न्याय के लिये निश्चित की गई ब्राह्मण सभाओं के वर्णनों को यदि ध्यान से पढ़ें तो मनु के समय में भी ऐसी सभा समितियों की स्थिति देखी जा सकती है। प्रजा के सम्बन्ध विषय में निम्न श्लोक को ध्यान से देखना चाहिये—

तत्र स्थिताः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥७।१४६॥

इस श्लोक से स्पष्ट है कि राजा प्रजा से सीधा सम्बन्ध रखता था। राजा अपने मन्त्रियों से गुप्त सलाह करने से पूर्व साधारण प्रजा से भी साक्षात्कार कर उनकी बात भी सुनता था।

ऋणी कैलाश।

(लेखक—श्रीयुत बैसाखीराम, जम्मू)

[१]

कैलाश छोटी अवस्था में ही अनाथ होगया था। उसके माता पिता उसको तीन वर्ष का छोड़कर परलोक सिधार गये थे। उसके पिता ने शराब बेच बेच कर खासी धन-दौलत पैदा करली थी, परन्तु वह धन ही क्या जो बुरे पेशे से कमाया जावे? ऐसा धन अन्त में कष्ट तथा शोक का ही कारण होता है।

बिरादरी ने पिता की मृत्यु के पश्चात् पाप कैलाश के सारे धन को उसके चचा के सुपुर्द कर दिया। वह बड़ा लोभी और क्रोधी था। कैलाश ने बाल्यावस्था तो जैसे तैसे उसके पास व्यतीत की, परन्तु जब वह कुछ स्याना हुआ तो तङ्ग आकर उसने घर से निकल जाने का विचार किया, क्योंकि उसके चचा बात बात पर उसको डांटते और ज़रा ज़रा से अपराध पर मार मारकर उसका शरीर सुजा देते थे।

आखिर समय पाकर कैलाश घर से निकल भागा। उसके पास खर्च के लिये एक पैसा तक नहीं था, और शरीर पर केवल फटे पुराने वस्त्र ही थे। घर से निकल कैलाश जब स्टेशन पर आया, तो उसने वहांपर एक मुसाफिर-गाड़ी को खड़ी पाया। न जानते हुए, कि वह कहां जारही है, वह बगैर टिकट लिये ही उसमें जा बैठा। जिस डिब्बे में कैलाश ने यात्रा आरम्भ की, उसमें एक सन्यासी महात्मा भी विराजमान थे। महात्मा जी के मुख-मण्डल पर एक अपूर्व ज्योति छारही थी। वह प्रत्येक को अपनी करुणा-भरी दृष्टि से देख रहे थे। ज्यों ही कैलाश डिब्बे में घुसा, सन्यासी जी की दृष्टि उसपर जा पड़ी, और वह उसको बड़े गौर से देखने लगे।

बालक कैलाश इससे पहले घर से कभी अकेला नहीं निकला था। उस स्थान पर जब उसने अपने आपको अनजान पाया; तो उसको घर की याद आगई—यद्यपि उसको वहां बहुत कष्ट था—और उसकी आंखों से अश्रु-वर्षा आरम्भ होगई। सन्यासी जी उसे देखकर जान गये कि कोई दुखिया है।

उन्होंने उसके पास जाकर बड़े प्रेम से उसकी पीठ पर हाथ फेरा। कैलाश ने जब मुख ऊंचा किया, तो सामने एक महात्मा को देखकर उसकी आत्मा को कुछ साहस हुआ, और उसके मुखपर कुछ प्रसन्नता भी प्रकट हुई।

मालूम नहीं सन्यासी के हाथ में क्या जादू था, कि इतनी जल्दी कैलाश का मन पलट गया। महात्मा ने करुणा-भरी आवाज़ में कैलाश से पूछा—"ऐ बेटा! तू इतना उदास क्यों है? अपने दुःख की बात मुझसे कह।" कैलाश ने थोड़े ही समय में टूटे-फूटे अक्षरों में अपनी राम-कहानी कह सुनाई। उसे सुनकर महात्मा का दिल भर आया। माना, कि सन्यासी को दुःख और शोक नहीं होता, परन्तु ऐसा कोई विरला ही मानवीय-हृदय होता है, जो दुःखी को देखकर तड़प नहीं उठता। महात्मा के लाख सम्भालने पर भी आंसू टपक ही पड़े। कुछ काल के पश्चात् सन्यासीजी ने उससे फिर पूछा—"बेटा, अब तुम क्या करना चाहते हो?" कैलाश ने बड़े दीनभाव से कहा—"यदि मेरे लिये किसी प्रकार भोजन वस्त्र का प्रबन्ध होजावे तो मैं विद्या-ग्रहण में लगना चाहता हूं।" इसी प्रकार बातें करते करते एक स्टेशन आया, जहां महात्मा कैलाश को सङ्ग लेकर गाड़ी से उतर शहर की ओर चल पड़े। कुछ काल के बाद वह एक भवन में पहुंचे, जिसके आंगन में बहुत-से बालक आसनों पर बैठकर सन्ध्या कर रहे थे (क्योंकि यह सन्ध्या का समय था)। यह आर्य्य-समाज द्वारा स्थापित एक अनाथालय था। सन्यासी जी ने कैलाश को उसी अनाथालय में दाखिल कर दिया।

[२]

कैलाश बड़ा होनहार लड़का था। पाठ को आसानी से याद कर लेता था। समय पाकर उसी अनाथालय द्वारा उसने प्राईवेट तौर पर ऐन्ट्रैन्स परीक्षा पास की, और इसके पश्चात् अनाथालय द्वारा छात्रवृत्ति दिये जाने पर वह कालेज में प्रविष्ट होगया। चार साल में कैलाश ने बी. ए. पास कर लिया। वह अपनी श्रेणी में प्रथम और प्रान्त में उसका नम्बर बहुत ऊंचा रहा। कालेज के प्रबन्धकर्ताओं ने सन्तुष्ट होकर तथा दयाभाव से उसे दो वर्ष के लिये ५०) मासिक छात्रवृत्ति देना निश्चित किया, जिससे वह ऐम. ए. पास करले। परन्तु वह ऐम. ए. क्लास छोड़ 'ला'-कालेज में दाखिल होगया। जहांसे उसने दो वर्ष के बाद परीक्षा में उत्तीर्ण होकर ऐल. ऐल. बी. की उपाधि प्राप्त की

उसके वकील बनने पर उसके मित्रों ने उसे ज़ियाफतें दीं, कालेज व अनाथालय ने खुशियें मनाईं।

कुछ समय में कैलाश एक विख्यात वकील बन गया। उसके पास अब ठनाठन रुपये आने लगे। परन्तु शोक! धनोपार्जन के ध्यान में कैलाश आर्य्य-अनाथालय तथा आर्य्य-कालेज को जिनके द्वारा वह इस उच्च दशा को प्राप्त हुआ था, भूल गया। आर्य्य-समाज की सेवा का भाव जो पहले उसके मन में था, बिलकुल जाता रहा। अब उसको केवल ठनाठन का ही ध्यान था।

कैलाश की धर्मपत्नी एक तीन साल का शिशु छोड़कर परलोक सिधार गई। बड़ी कठिनाई से बालक अभी पांच वर्ष का ही हुआ था कि कैलाश बाबू भी बीमार पड़ गये। डाक्टरों ने लाख सर मारा, वैद्यों ने भी जी भर कर वैद्यक चमत्कार दिखाए, परन्तु कैलाश बाबू स्वस्थ न हुए। दिन प्रतिदिन रोग बढ़ता ही गया।

रोग से कैलाश बड़ा दुःखित था, वह बहुत जल्दी मृत्यु द्वारा उस रोग से छुटकारा पाना चाहता था। रोग के अतिरिक्त उसको एक मानसिक कष्ट भी था। उसको हर समय यही चिन्ता रहती थी, कि वह अपने एकमात्र पुत्र को किसके हवाले करे? शय्या पर पड़े पड़े जब पुत्र की याद आती थी, वह रोने लग जाता था।

एक दिन वह इसी अवस्था में था, कि वही महात्मा, जो उसे गाड़ी में मिले थे, अचानक उसके सामने आ विराजे। महात्माजी को जब कैलाश का हाल मालूम हुआ, तो वह धीरे से उससे बोले, "कैलाश! जिस प्रकार अब तुम्हारा पुत्र अनाथ होने वाला है, इसी तरह तुम भी एक दिन अनाथ थे। जिस प्रकार परमात्मा ने तुम्हारा पालन किया है, इसी प्रकार वह तुम्हारे पुत्र को भी गोद में लेंगे। इसकी चिन्ता मत करो। परन्तु (कुछ रुककर और धीरे से) तुम यह तो बताओ, कि जिसके द्वारा तुम इतने उच्च-पद को प्राप्त हुए हो उसके लिये तुमने अभी तक क्या किया है? तुम कृतघ्न निकले हो, इसलिए इस समय इतना कष्ट उठा रहे हो।" यह कह कर सन्यासीजी अदृश्य होगये।

अब अन्त समय में कैलाश को सब बातों का ख्याल आया। उसने कलम दवात मंगवाकर उसी समय अपनी सब सम्पत्ति आर्य्य समाज के नाम कर दी, और

अपने पुत्र को भी आर्य्य-समाज के सुपुर्द कर दिया। इसके साथ यह भी प्रार्थना लिख दी, कि उसके पुत्र को यथोचित पढ़ाकर, देश-देशान्तरों तथा द्वीप-द्वीपान्तरों में वैदिक-धर्म के प्रचार के लिये भेजा जावे। जब यह सब कुछ होगया तब कैलाश के मुख पर एक अद्भुत ज्योति प्रकट हुई, और उसने बड़ी प्रसन्नता से अपने प्राण त्याग दिये।

——:०:——

यम यमी सूक्त।

(प्रत्यालोचन)

वैशाख १९८२ के "आर्य्य" में मेरा "यम यमी सूक्त" शीर्षक लेख छपा था। लेख की अवतरणिका को समाप्त करते हुए मैंने निवेदन किया था कि:—

"हम अपनी व्याख्या को अन्तिम व्याख्या नहीं समझते। समालोचना आने पर हम इस में समुचित परिवर्तन करने को तैयार हैं।"

मुझे यह देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि इस लेख की चर्चा आर्य्य-जगत् में होरही है। कुछ समाचार पत्रों में मेरे लेख का सार छपा है। कतिपय विद्वानों से मौखिक वार्त्तालाप का अवसर हुआ है। विरोध भी सुनने में आया है, सहमति भी। किसी को मेरी व्याख्या सर्वांश में स्वीकार है, कोई २ मेरी की सूक्त की संगति को मानते हैं, परन्तु व्याख्या के कुछ भागों पर आपत्ति उठाते हैं। कोई सिरे से इस धारणा के ही विरुद्ध हैं कि यह संवाद पति पत्नी में हुआ है।

श्री पं० सातवलेकर इस अन्तिम पक्ष के हैं। उन का मैं इसलिये आभारी हूं कि उन्होंने अपनी सम्मति ज्येष्ठ के "वैदिक धर्म" में मुद्रित करा दी है। उनकी उठाई आपत्तियों का स्वीकार अथवा समाधान करना सरल है क्योंकि वह लेखबद्ध होने के कारण निश्चित होगई हैं। यदि अन्य समालोचक भाई भी इसी प्रकार अपनी समीक्षा को लेखबद्ध कर मेरे पास भेजने की कृपा करें तो विचार में सुगमता होगा। "आर्य्य" के पृष्ठ इस प्रकार की समालोचना के लिए सदा खुले हैं।

श्री पं० सातवलेकर जी अपनी समालोचना के प्रथम परिच्छेद में लिखते हैं—

"जितनी मानसिक समता से उस (मेरे मूल—) लेख की वाक्य रचना की है, वह निस्सन्देह प्रशंसा योग्य है।"

मुझे बड़ी प्रसन्नता होती, यदि पण्डित जी ने वही "मानसिक समता" अपनी समालोचना में दिखाई होती। अस्तु। श्री पण्डित जी ने मुझ पर परस्पर-विरोधी विशेषणों की झड़ी लगाई है। विचार का विषय मैं नहीं, मेरा लेख है। अतः मैं अपने आप को वादी प्रतिवादी के बीच से निकाल कर प्रकृत को ही वाद का विषय बनाता हूं।

ब्राह्मण ग्रन्थों की साक्षि।

पण्डित जी का पक्ष है कि यमयमी युगल भाई बहिन हैं। यह पक्ष पुराना है—अर्थात् वृहद्देवताकार के समय का। इस बात का पण्डित जी को गौरव है। पण्डित जी ने शतपथकार याज्ञवल्क्य को भी अपने साथ लेना चाहा है परन्तु इस पक्ष में कोई उद्धरण नहीं दिया। मेरे उद्धृत किये श० ब्रा० ७। २। १। १० पर, जहां यम को अग्नि और यमी को पृथिवी कहा गया है, अपना रङ्ग चढाने का प्रयत्न तो किया है परन्तु सफल नहीं हुए। पण्डित जी का कहना है कि अग्नि भी सूर्य्य से उत्पन्न होता है, और पृथिवी भी। इस लिये दोनों भाई बहिन हैं। पण्डितजी की प्रतिज्ञा यह है कि यम और यमी यमज हैं। देखो "वैदिक धर्म" पृष्ठ १७३ स्तंभ २ :—

"यम का दूसरा अर्थ "युगल, जुड़े भाई, एक योनि से उत्पन्न सहजात भाई" यह है। यही यहां लेना चाहिये।"

क्या अग्नि और पृथिवी सहजात हैं? किसी भी शास्त्र ने इन्हें सूर्य्य का यमज नहीं ठहराया।

पण्डित जी "सहजात भाई" और "केवल भाई बहिन" में विवेक करलें तो उन्हें प्रतीत होगा कि शतपथ के प्रमाण की उन की कल्पना-मूलक व्याख्या भी उनके पक्ष का पूरा पोषण नहीं करती। और फिर इसका क्या प्रमाण कि अग्नि और पृथिवी के भ्रातृभगिनी सम्बन्ध को भी शतपथ ने स्वीकार किया है? गवेषणा के क्षेत्र में बिना प्रमाण की बात का आदर नहीं होता। शतपथकार का मत शतपथ से दर्शाइये, अपनी कल्पना से नहीं। लीजिये, अग्नि और पृथिवी का सम्बन्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में क्या माना गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।११।५।२७

में "अग्ने पृथिवीपते" यह पाठ मिलता है। सम्भव है आप को आपत्ति हो कि "पति" का अर्थ यहां स्वामी है। आगे चलकर कहा है "तस्मिन् योनौ प्रजनौ प्रजायेय" अर्थात् इस गर्भ में मैं गर्भाधान करूं। प्रकरण उस प्रकार के पतित्व का है जिस से प्रजनन होता है। गोपथकार इस से भी अधिक स्पष्ट हैं। लिखा है :—"पृथिव्यग्नेः पत्नी ।" गो० उ० । २ । ९ । अर्थात् पृथिवी अग्नि की पत्नी है।

इन प्रमाणों से और भी स्पष्ट हो गया कि ब्राह्मण ग्रन्थों में यदि यमयमी में किसी सम्बन्ध की स्थापना की गई है तो वह सम्भवतः दाम्पत्य सम्बन्ध है, भाई बहिन का सम्बन्ध कदापि नहीं।

बृहद्देवता का प्रामाण्य ।

ब्राह्मण ग्रन्थों के पीछे हम बृहद्देवताकार की ओर आते हैं। पण्डितजी लिखते हैं :—

"बृहद्देवता ग्रन्थ बड़ा प्राचीन और प्रामाणिक है।" वै० ध० पृ० १७०

कितना प्राचीन ? कितना प्रामाणिक ? मैंने तो अपने मूल लेख में ही इस ग्रन्थ का कुछ हुलिया दे दिया था। पौराणिक कथाओं का वैदिक आधार संभवंतः इसी ग्रन्थ द्वारा संस्थापित हुआ है। यदि इस पुस्तक को प्रामाणिक मान लें तो वेद पौराणिक कथाओं का एक बेढब सा संग्रह मात्र ही रह जाता है। इसी यमयमी सूक्त पर इस ग्रन्थ के दो श्लोक मैं अपने पूर्व लेख में उद्धृत कर चुका हूं। अब सारा प्रकरण लिखे देता हूं :—

अभवन्मिथुनं त्वष्टुः सरण्यूस्त्रिशिराः सह ।
स वै सरण्यूं प्रायच्छत् स्वयमेव विवस्वते ॥
ततः सरण्य्वां जज्ञाते यमयम्यौ विवस्वतः ।
तौ चाप्युभौ यमावेव ज्यायांस्ताभ्यां तु वै यमः ॥ ६ । १६२, १६३
सृष्ट्वा भर्तुः परोक्षं तु सरण्यूः सदृशीं स्त्रियम् ।
निक्षिप्य मिथुनं तस्यामश्वा भूत्वापचक्रमे ॥
अविज्ञानाद्विवस्वांस्तु तस्यामजनयन्मनुम् ।
राजर्षिरभवत्सोऽपि विवस्वानिव तेजसा ॥
स विज्ञाय त्वपक्रान्तां सरण्यूमश्व रूपिणीम् ।

त्वाष्ट्रीं प्रतिजगामाशु वाजी भूत्वा सलक्षणः ॥
सरण्यूश्च विवस्वन्तं विदित्वा हयरूपिणम्।
मैथुनायोपचक्राम तांच तत्रारुरोह सः ॥
ततस्तयोस्तु वेगेन शुक्रं तदपतद्भुवि।
उपाजिघ्रच्च सा त्वश्वा तच्छुक्रं गर्भकाम्यया ॥
आघ्रातमात्राच्छुक्रात्तु कुमारौ सम्बभूवतुः।
नासत्यश्चैव दस्रश्च यौ स्तुतावश्विनाविति ॥ ७।१।६

अर्थात्—त्वष्टा के जोड़ा हुआ, सरण्यू और त्रिशिरा। उसने स्वयं सरण्यू विवस्वान् को दी। विवस्वान् के सरण्यू से यम और यमी पैदा हुए। वह यमज थे। बड़ा यम था। पति की आंख बचा कर सरण्यू ने अपने सदृश स्त्री पैदा कर जोड़ा (यम और यमी) उस के अर्पण किया और घोड़ी बनकर भाग गई। विवस्वान ने अज्ञान में उस (स्त्री) से मनु पैदा किया। वह विवस्वान् की तरह तेजस्वी राजर्षि हुआ। वह घोड़े के रूप में सरण्यू को भागा हुआ जान कर उस के समान रूप वाले घोड़ा बना और शीघ्र त्वष्टृपुत्री (सरण्यू) के पास गया। सरण्यू विवस्वान् को घोड़े के रूप में जानकर मैथुन के लिये उस के पास आई और वह उस पर चढ़ गया। उस समय उन दोनों का वीर्य वेग से पृथिवी पर गिरा। उस वीर्य को उस घोड़ी ने गर्भ की कामना से सूंघा। उस सूंघने मात्र से दो कुमार पैदा हुए—नासत्य और दस्र। इन्हीं को अश्वी कहते हैं।"

पण्डित जी के शब्दों में बृहद्देवता "प्रामाणिक" पुस्तक है। और उस पुस्तक में हैं इसी प्रकार की कथाएं। मैं इस पुस्तक की अवहेलना में कोई दोष नहीं मानता। रही इस की प्राचीनता। उपर्युक्त कथा यहां यास्क के प्रमाण से लिखी गई है :—

इतिहासमिमं यास्कः सरण्यू देवतेद्ववृचे।
विवस्वतश्च त्वष्टुश्च त्वष्टेति सह मन्यते ॥ बृ० ७।७

मैंने अपने पूर्व लेख में यास्क के शब्दों में इस कथा का वर्णन किया था। यास्काचार्य इस कथा का उल्लेख ऐतिहासिक पक्ष में करते हैं जो उन का अपना नहीं। बृहद्देवताकार का पक्ष है ही ऐतिहासिक। और पक्ष वह जानते ही नहीं। श्री पं० सातवलेकर जी ने दोनों को एक साथ "प्रामाणिक व्यक्ति" "जिन का निराकरण योद्दा" नहीं किया जा सकता, कैसे मान लिया ? यास्क

पुराने हैं और उन का पक्ष नैरुक्त है। बृहद्देवताकार नवीन हैं और उन का पक्ष ऐतिहासिक अर्थात् पौराणिक है। यास्क कथाओं का उल्लेख करते हैं न मानने के लिये। बृहद्देवताकार वही कथाएं लिखते हैं और उन्हें सोलह आने सत्य मानते हैं। यही नहीं बृहद्देवताकार यास्क के कितने विरोधी हैं, इसका पता इसी बृहद्देवता के २०। १०९—११५ से लीजिये। विस्तार-भय से यहां उसका उद्धरण नहीं किया जाता। मुझे बृहद्देवताकार पुराण-लेखकों के आदिम गुरु प्रतीत होते हैं। उपरिलिखित यमयमी की कथा और कूर्म पुराण वर्णित कथानक में कुछ भेद नहीं।

यास्काचार्य्य का मत।

यास्काचार्य्य कृत ऋ० १०। १०। १० की व्याख्या से मुझे विचार हुआ था, कि निरुक्तकार सम्भवतः सायण का साथ देते हैं। पुनः विचार करने पर प्रतीत होता है, कि यह मेरी भूल थी। इस मन्त्र के नीचे 'जामि' शब्द के तीन अर्थ किये गए है—(१) अतिरेक—जिसको दुर्गाचार्य्य पुनरुक्त का पर्याय मानते हैं। (२) बालिश, जिसका अर्थ मूर्ख है। (३) असमानजातीय।

दुर्गाचार्य्य यम-यमी की पौराणिक कथा से प्रभावित हैं। वह ख़ाहमख़ाह 'जामि' का अर्थ 'बहिन' करते हैं, और मन्त्र को पौराणिक ढङ्ग से लगाते हैं। 'अतिरेक' और 'बालिश' में इसकी गन्ध न पाकर तीसरे अर्थ पर यों टीका करते हैं:—

"असमानजातीयो हि पुरुषस्य भगिन्याख्यो भ्राता, सा हि स्त्रीत्वादेवातुल्यजातीयैव पुरुषस्य भवति।"

अर्थात् पुरुष का बहिनरूप भाई असमानजातीय है। वह स्त्री होने से पुरुष की अतुल्य-जातीय है।

जामि का अर्थ यास्क के शब्दों में अतुल्यजातीय है। दुर्गाचार्य्य ने ठीक व्याख्या की है, कि स्त्री पुरुष की अतुल्यजातीय होती है, इसलिए वह 'जामि' है। ऐसे ही पुरुष स्त्री का अतुल्यजातीय होता है। इसमें भगिनिभाव कैसे आ कूदा, यह हमारी समझ में नहीं आता। मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है:—ऐसे (विवाह—) उत्तर काल आने की सम्भावना है, जब (जामि) स्त्री पुरुष आपस में

(अजामि व्यवहार करें) स्त्रीपुरुष न रहें। अर्थात् प्रजननक्रिया छोड़ने से उनमें लिङ्गभेद की भावना न रहे। संन्यास और दूसरी नियोग योग्य अवस्थाओं में यही स्थिति होती है।

इसी सूक्त के १४ चौदहवें मन्त्र की व्याख्या यास्काचार्य ने निरुक्त११। ३४। १ में की है। निरुक्तकार वैदिक-देवताओं को तीन स्थानों में बांटते हैं। यम मध्यम-स्थानीय है। इसकी निरुक्ति निरुक्त १०।१९।२ में की गई है। यमी का पाठ स्त्री-लिङ्गी देवताओं में आया है। उसपर 'अन्यमूषु त्वम्' आदि ऋ० १०। १०। १४ का उदाहरण दिया है। इसपर दुर्गाचार्य्य नैरुक्तपक्ष की टीका करते हुए लिखते हैं:—

"त्रित्वपक्षे तु माध्यमिको यमो माध्यमिकां वाचुषसमात्मनः प्रविभक्तां कृत्वोभयस्थानां तां ब्रवीति—'हे यमि ! अतीतस्ते अस्मत्परिष्वङ्गसमयः, प्रभातमिदानीम्। लिबुजेव वृक्षं द्युःस्थानं परिष्वक्तुमिच्छ।"

अर्थात् देवतृत्वपक्ष में (और यही पक्ष निरुक्तकार का अपना है) मध्यम-स्थानी, यम मध्यमस्थानी वाक् अथवा उषा को कहता है:—"हे यमि ! तेरा हमारे साथ आलिङ्गन का समय व्यतीत होगया, अब प्रभात है। अब तू द्युःस्थान को आलिङ्गन करने की इच्छा कर, जैसे वृक्ष को बेल।"

"आलिङ्गन का समय समाप्त हुआ"—इसमें न केवल पति-पत्नीभाव ही की ध्वनि है, किन्तु नियोग की भी।

यास्काचार्य्य के व्याख्यान से यदि कोई ध्वनि निकलती है, तो वह स्पष्ट नियोग ही की है। दुर्गाचार्य्य ने इस ध्वनि का अनुभव किया, जैसे उनके किये उपर्युक्त टिप्पण से प्रकट होता है। हां ! पौराणिक देवतावाद से अभिभूत होकर वह निश्चयात्मक एक अर्थ न कर सके, और आने वाली सन्ततियों को भटकने का अवसर दे गए। तथापि जितना सत्यार्थ के अन्वेषण में उनका लेख सहायक है, हम उसके लिये उनके कृतज्ञ हैं। हां, पाठक को स्वयं विवेकी होने की आवश्यकता अवश्य है।

आर्ष-पक्ष।

श्री पण्डित सातवलेकर जी ने मेरे किये अर्थ में प्रथम यह दोष निकाला है, कि 'वह इस समय तक किसीने भी माना नहीं है।' मैंने ऊपर सप्रमाण निवेदन किया है कि—

(१) ब्राह्मण ग्रन्थ यदि किसी पक्ष का पोषण करते हैं, तो वह मेरा ही पक्ष है। शतपथकार 'यम' को 'अग्नि' और 'यमी' को 'पृथिवी' बताते हैं। तैत्तिरीयकार 'अग्नि' को 'पृथिवीपति' कहते हैं, और 'अस्मिन् योनौ प्रजनौ प्रजायेय' लिखकर 'पति' शब्द का प्रयोजन स्पष्ट करते हैं, कि यह पति प्रजाजनक है। और गोपथकार तो स्पष्ट 'पृथिवी' को 'अग्नेः पत्नी' कहते हैं। अर्थापत्ति से यदि यम-यमी का कोई सम्बन्ध स्थिर होता है, तो वह दाम्पत्य सम्बन्ध है, भ्रातृ-भगिनी सम्बन्ध नहीं।

(२) यास्काचार्य्य के लेखों से केवल पति-पत्नी सम्बन्ध को ही नहीं, किन्तु नियोग की भी ध्वनि निकलती है।

(३) और यदि ऋषि दयानन्द को 'इस समय तक' के भाष्यकारों में सम्मिलित करलें, तो उन्हों ने भी 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' १०।१०।१० के इस अंश को नियोग प्रकरण में लगाकर इसका वक्ता पति को बनाया है। उनकी सम्मति स्पष्ट है।

(४) पण्डित गुरुदत्त ने टी. विलियम्स के पत्र का उत्तर देते हुए 'गर्भे नु नौ जनिता' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या की है। वह व्याख्या वही है, जो मैंने की है।

इन साक्षियों के विरुद्ध बृहद्देवताकार हैं, श्रीसायणाचार्य्य हैं, और उनके अनुगामी यूरोपीय तथा भारतवर्षीय भाष्यकार। वह सब पण्डित जी के पक्ष में हैं।

मैं इन साक्षियों को आदर देता हूं। पण्डित जी ने मेरी धारणा में 'इस समय तक किसीने भी माना नहीं है' यह दोष दिया जो यथार्थ नहीं। मेरा विश्वास है कि इस सूक्त के स्पष्टीकरण का आर्ष-पक्ष मेरे साथ है। इसी भरोसे मैंने प्रचलित व्याख्याओं के विरोध का साहस किया है।

यम यमी का संबन्ध ।

यम यमी सूक्त की मुख्य समस्या यम यमी का संबन्ध है । किसी भी भाष्यकार को पहले इस संबन्ध का निश्चय करना चाहिये, तत्पश्चात् सूक्त की व्याख्या में प्रवृत्त होना लाभकर हो सक्ता है । महर्षि दयानन्द सूक्त के १० वें मन्त्र का वक्ता पति को बना कर स्पष्ट संकेत करते हैं कि यम-यमी पति पत्नी हैं । यही अभिप्राय ब्राह्मण कारों तथा यास्काचार्य का प्रतीत होता है । इनके विपरीत बृहद्देवताकार, श्रीयुत सायण तथा उनके अनुगामी यम-यमी को बहिन भाई मानते हैं । कारण स्पष्ट है । पूर्वोक्त पक्ष यौगिक अर्थों का सहारा लेता है, शेषोक्त पक्ष रूढ़ि का ।

आओ ! पहिले हम यम-यमी शब्दों के अर्थों की पड़ताल करें । यम की निरुक्ति यास्काचार्य के मत में यह है:—यमो यच्छतीति सतः । निरुक्त १०।१९।२। अर्थात् जो वशीकार करे । यही निर्वचन ब्राह्मणकारों ने किया है । यही धात्वर्थ ऋषि दयानन्द की दृष्टि में है जैसे मैं अपने पूर्व लेख में सिद्ध कर चुका हूं । अब यमी का क्या अर्थ होगा ? श्री पं॰ सातवलेकर लिखते हैं कि यदि यम का अर्थ 'संयमी पुरुष' हो तो यमी का अर्थ होना चाहिये 'संयमी स्त्री' । (वैदिक धर्म पृष्ठ ७३ स्तंभ २) । यह व्याकरण के किस नियम से ? पाणिनि मुनि तो लिखते हैं 'अजाद्यतष्टाप्' (४ । १ । ४ ।) अर्थात् यम गुण संपन्न स्त्री के लिये रूप होगा 'यमा' । 'यमी' रूप 'पुं योगादाख्यायाम्' (४ । १ । ४८) से ही सिद्ध होगा । इससे अर्थ होगा यम की स्त्री यमी ।

इसी प्रकार यदि श्री पं॰ सातवलेकर जी का किया अर्थ 'जुड़े भाई' स्वीकार करें तो 'जुड़ी बहिन' के लिये 'यमा' शब्द ही का प्रयोग हो सक्ता है, यमी का नहीं ।

बृहद्देवताकार और उनके अनुयायी इस नियम को जानते प्रतीत होते हैं । उन्हों ने यम-यमी का शब्दार्थ 'जुड़े भाई बहिन' नहीं किया । कोई से जुड़े भाई बहिन का रूढ़ि नाम यम यमी मान लिया है । यूरोपियन भाष्यकार रौथ ही अकेले इन शब्दों का यौगिक अर्थ युगल भाई बहिन करते हैं और उसका कारण उनका व्याकरण से अज्ञान है ।

मेरा अभिप्राय एक उदाहरण से स्पष्ट होजाएगा । कोई मनुष्य जिसका नाम

शंकर है, वह अपनी लड़की का नाम गौतमी रखता है । अब गौतमी का अर्थ है गोतम की लड़की । यह नाम सार्थक नहीं । सार्थक नाम शांकरी हो सकता था, जैसे जनक की लड़की जानकी । यह दोनों ताद्धित प्रयोग हैं । लोग अपनी लड़कियों का नाम गोपाली रख देते हैं । इस का अर्थ है "गोपाल की स्त्री' । हो सकता है कि गोपाली का विवाह देवदत्त से हो परन्तु वह कहलाती गोपाली ही जाएगी । इन नामों में से 'जानकी' तथा 'शांकरी' यौगिक नाम हैं और यदि यह केवल विशेषण ही नहीं किन्तु नामधारी व्यक्तियों के निजू नाम भी यही हों तो इन्हें योगरूढ़ी कहा जायगा । इसके विपरीत गौतमी तथा गोपाली न यौगिक हैं न योगरूढ़ो हैं, किन्तु रूढ़ी हैं । बृहद्देवताकार तथा सायण आदि के मत में यमी शब्द ऐसे ही रूढ़ो है । उसका यह नाम इसलिये नहीं कि वह यम की यमजा है, क्योंकि ऐसा होता तो नाम यम और यमा होते । कोई से यमजों के नाम यम और यमी होगए । यही अवस्था महाभारत के प्रसिद्ध नामों कृप और कृपी की है । कृपी कृप की स्त्री का ही शुद्ध नाम हो सकता है । कृप की बहिन का यह नाम केवल रूढ़ी है ।

नैरुक्त पक्ष वाले वेदों में रूढ़ी स्वीकार नहीं करते—यही पक्ष आर्य समाज का है । यही पक्ष श्री पं०सातवलेकरजी का होना चाहिये । हमारी समझ में यम और यमी यौगिक शब्द हैं । यम का अर्थ है नियमन कर्ता और यमी उसकी स्त्री को कहते हैं । उसमें नियमन गुण हो या न, पाणिनि के मत में वह यमी कहलाएगी । यदि वह यम की स्त्री न हो तो उसका यौगिक नाम यमी नहीं हो सकता ।

सूक्त का अभिप्राय ।

पूर्व इसके कि मैं सूक्त की अन्तःसाक्षि की ओर आऊं, मैं भ्रातृ-भगिनि संबन्ध के पक्षपातियों से एक प्रश्न करना चाहता हूं । इस सूक्त से वेद को कौनसी शिक्षा देना अभिप्रेत है ? कहा जाएगा कि बहिन-भाई के विवाह का निषेध । संपूर्ण सगोत्र विवाह का तो नहीं? क्योंकि उसमें माता, दुहिता आदि संबन्धिनियों का भी नाम-निर्देश होना चाहिये । यहां केवल स्वसा के संयोग को ही पाप कर्म कहा है ।

फिर इसका ढंग क्या निकाला है? बहिन का भाई से मैथुन के लिये प्रस्ताव ! कोई स्वाभाविक विधि निकाली होती । बहिन की युक्ति क्या है ? गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कः, । पं० सातवलेकर जी इसका अर्थ करते हैं:—'परमेश्वर ने

हमें (गर्भे) गर्भ में ही दम्पती बनाया है............एक गर्भ में सहजात भाई बहिन ये थे। इसलिये यमी का कहना यह है कि यदि हमारा विवाह परमेश्वर को मंजूर न होता तो हमें एक गर्भ में क्यों बनाता ?' (वैदिक धर्म पृष्ठ १७७ स्तंभ २) एक और मंत्र का अर्थ किया है:—'किं भ्राता सद्' इत्यादि। 'क्या भाई होते हुए बहिन अनाथ जैसी होगी ? क्या बहिन होती हुई भाई विनाश को चला जाय ?' (वेदामृत पृष्ठ २३५)। अर्थात् पं० सातवलेकर जी की सम्मति में यमी का पक्ष यह है कि चूंकि यम-यमी भाई बहिन हैं इस लिये उनका विवाह होना ही चाहिये। उसने उदाहरण भी दिये हैं :—'रात्रीभिरस्मा......'...... "इस मंत्र में—सहजात युगल भाई बहिन आपस में पतिपत्नीवत् रहते हैं इस लिये यम यमी सहजात भाई बहिन भी वैसे ही रहें—यह यमी का हेतु (Argument) है।" (वैदिक धर्म पृष्ठ १७६)। यह हेतु मंत्र में किन शब्दों पर समाप्त होता है ? 'यमीर्यमस्य बिभ्रियादजामि'—"यमी यम के साथ (अ-जामि) बन्धुत्व-रहित संबन्ध धारण करे।" (वैदिक धर्म पृष्ठ १६९ स्तंभ १)।

यमी जानती है कि विवाह संबन्ध (अजामि) बन्धुत्व-रहित है। उसी बन्धुत्व-रहित संबन्ध की उसे आकांक्षा है और फिर उसके लिये हेतु यह देती है कि हम बन्धु हैं,'गर्भेनु नौ...'! इस तर्क की बलिहारी है।

ऊपर के मन्त्रों का अर्थ मैंने श्री पं० सातवलेकर जी के शब्दों में किया है। यदि पंडित जी विचार करें हो उन्हें स्पष्ट प्रतीत होगा कि यमी के 'हेतु (Argument)' में वदतो व्याघात दोष है। पूर्वापर वाक्यों में स्पष्ट परस्पर विरोध है। जो बन्धुत्वरहित संबन्ध चाहता है उसे अपने आपको बन्धुत्व-रहित सिद्ध करना चाहिये था न कि उलटा सहजात बन्धु।

वेद परमात्मा का ज्ञान है। उस में यह तर्क आना वेद की शोभा को बढ़ाता नहीं। कहा जा सक्ता है कि यह यमी का पूर्व पक्ष है, वेद का सिद्धान्त-पक्ष नहीं। उस तार्किक की कुशलता को कोई साधुवाद न कहेगा जो पूर्व पक्ष उठाए भी स्वयं और वह इतना निर्बल पूर्वपक्ष हो कि उसका खण्डन कोई गली जाता लड़का भी कर सके। यदि हम यम-यमी का भाई-बहिन संबन्ध मानलें तो यमी का हेतु लचर होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

फिर इसका समाधान वेद की ओर से किन शब्दों में किया गया है:—

'आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।' "हां ! वैसे आगे युग आएंगे जिस समय (जामयः) भाई बहिन (अजामि) बन्धुत्व रहित व्यवहार करेंगे । [इस समय वैसा पतित काल नहीं है] इस कारण तू मेरे से भिन्न किसी अन्य पति की इच्छा कर ।" (वैदिक धर्म पृष्ठ १७९, स्तंभ २) ।

चाहिये तो यह था कि इस व्यवहार की सब कालों के लिये निन्दा करते । केवल एक समय के लिये इसे गर्हणीय ठहराकर किसी पतित युग में इस संबन्ध का विधान सा कर दिया प्रतीत होता है । वादी कह सका है—यह तो केवल भविष्यत् की संभावना है, विधान नहीं । प्रथम तो यह भी वादी की केवल कल्पना है । यह मान भी लें तो इस भविष्यत् वाणी की आवश्यकता क्या थी ? उपदेश तो इसके बिना भी होसका था । यदि आज की अवस्था की ओर संकेत करना था तो केवल बहिनों के लिये ही क्यों कहा? माताओं तथा बेटियों के लिये भी कह दिया होता कि इनका भी निषिद्ध संयोग होगा । बेटियों के साथ दुराचार की घटनाओं के समाचार आए दिन पत्रों के पृष्ठों को काला करते ही रहते हैं। वेद ने उन पर मौन साध लिया है। हमारा तो विश्वास है कि दुराचार का संबन्ध किसी काल-विशेष से नहीं ।

एक और अत्याचार भी बहिन भाई के संबन्ध के पक्षपातियों के मुख से वेद भगवान् के मत्थे मढ़ा जाता है । सारे सूक्त में दुराचार का प्रस्ताव बहिन कर रही है, जब कि आज कल के कलियुगी लोगों को भी ज्ञान है कि प्रकृत प्रकार का निषिद्ध संयोग भाइयों, पिताओं, पुत्रों आदि का बलात्कार होता है । या कम से कम उसका प्रस्ताव पुरुष ही करते हैं । वेद में इस प्रस्ताव की प्रस्तावकता भी भगिनी के हिस्से आई है । यम साधु है और यमी चुड़ैल । क्या इस प्रकार के चित्र-चित्रण के पीछे वेदका रचयिता सर्वज्ञ तो क्या, साधारण मनो-विज्ञान तथा प्रत्यक्ष वर्तमान इतिहास का ज्ञाता भी सिद्ध होता है ? पण्डितजी ने 'जामि' का अर्थ "भाई बहिन" कर दिया है, उनके पक्ष के अन्य भाष्यकार 'जामि' का अर्थ 'बहिन' करते हैं । उनके मतानुसार 'अजामि' व्यवहार का सारा दोष वेद की ही वाणी में बहिनों पर है जो लोक विरुद्ध होने के अतिरिक्त किसी ऐसी स्थिति का दृश्य सामने लाता है जिसके विचार मात्र से हृदय कांपता है । श्रीपंडितजी का अर्थ मानते हुए भी यह बात भुलाई नहीं जासकी कि यह लज्जा-जनक प्रस्ताव बहिन कर रही है । चित्र की अश्लीलता में भेद नहीं आता । हां ! वेदकी व्यवस्था के कुछ शब्द उतने क्रूर नहीं रहते ।

सार यह कि जिस दृष्टि से देखें, यम-यमी में बन्धुत्व-सम्बन्ध के लिए कोई आधार नहीं। (१) व्याकरण की दृष्टि से 'यमी' यम की स्त्री ही हो सकती है। (२) ब्राह्मण ग्रन्थों तथा यास्काचार्य्य का संकेत भी दाम्पत्य की ओर है। (३) संवाद भी कुछ ऐसा है जो भाई बहिन में नहीं, पति-पत्नी में ही हो सक्ता है।

संभव है कोई महाशय प्रश्न करें कि स्त्रियां इतनी निर्लज्ज नहीं होतीं कि अपने पति से भी मैथुन का प्रस्ताव स्वयं करें। हां! जहां मैथुन व्यभिचार के लिये हों वहां प्रस्तोता पुरुष होता है। यमी गर्भाधान चाहती है और वह उस समय जब कि उसका पति संन्यासी होने को है और वह निस्सन्तान रहने लगी है। इसीलिये वह इतना आग्रह तथा विवाद उठाती है। गर्भाधान के लिये स्त्री का प्रस्ताव विज्ञान-सम्मत है।

जिन मन्त्रों का अर्थ अपने से विरुद्ध पक्ष में मैंने ऊपर दिया है उनका मेरा किया अर्थ मेरे पूर्व लेख में आचुका है। सार यह है कि यमी यह देख कर कि यम संन्यास लेने लगा है उससे कहती है कि हम तो गर्भावस्था से ही पति पत्नी बने थे। अर्थात् जन्म से पूर्व मैं अपनी माता के गर्भ में और आप अपनी माताके गर्भ में परस्पर दाम्पत्य संबन्ध के लिये बनाए गए थे। हमारे स्वभाव ही ऐसे थे कि हम पति-पत्नी होते या हमारे पूर्व कर्म ही ऐसे थे कि हम एक दूसरे का पाणि-ग्रहण करते। इसमें युगल भाई-बहिन होने की कोई गन्ध नहीं।

मैं 'जामिः' का अर्थ 'स्त्री करता हूं। मंत्र ६ में यमी द्यौः और पृथिवी का उदाहरण देती है कि देखो यह जोड़ा है जिसका संबन्ध स्थिर है। क्या 'यमीर्यमस्य विभ्रियादजामि ?' यमी यम को अजामि रह जाए अर्थात् उससे जनन-संबन्ध तोड़ दे ? श्री पं० सातवलेकर जी द्यौः और पृथिवी को 'युगल भाई-बहिन' ठहराते हैं। (वैदिक धर्म पृ० १७९ स्तंभ)। इसके लिये कोई प्रमाण भी है ? मैं अपने पूर्व लेख में लिख चुका हूं कि विवाह पद्धति में ही पति पत्नी से कहता है 'द्यौरहं पृथिवी त्वम्' मैं द्यौः हूं, तू पृथिवी है।

उक्त प्रश्न (यमीर्यमस्य विभ्रियादजामि?) का उत्तर १०वें मन्त्र में दिया है:—

आघा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।

विवाहोत्तर ऐसे समय आते हैं जब कि जायाओं का (अपने पतियों से) जनन संबन्ध नहीं रहता।

ऐसे समय नियोग का विधान है जो वेद ने किया है 'अन्य मिच्छस्व सुभगे पति मत्' कितना स्वाभाविक और सरल अर्थ है !

भ्राता और स्वसा ।

श्री पंडित जी को सब से बडी आपत्ति 'भ्राता' और 'स्वसा' इन दो शब्दों के अर्थों पर हुई है। वह बहुत घबराए हैं, बहुत झुंझलाए हैं। झुंझलाहट का कारण श्री विश्वनाथ काशीनाथ रजवाड़े का एक अनुमान है जिसका पं० जी ने इस प्रकार वर्णन किया है :—

"वेद के पूर्व समय की जनता में भाई बहिन आपस में शादी करते थे, इसका सूचक भ्राता शब्द है क्योंकि भ्राता तथा भर्ता ये एक ही धातु से बनते हैं !!" यदि रजवाड़े महाशय का अनुमान 'भ्राता' तथा 'भर्ता' इन दोनों शब्दों के सधातुक होने से है, तो वह तो मेरे अर्थ के होते तथा न होते दोनों अवस्थाओं में सम बना रहेगा। क्योंकि यदि भ्राता का अर्थ भर्ता न भी हो तो भी धातु तो दोनों का भृ रहेगा ही। हां ! यदि रजवाड़े जी यह कहते कि भ्राता का अर्थ भर्ता होने के कारण वह अपना उक्त अनुमान स्थिर करते हैं तो उसका उत्तर मुझे देना होता। समानधातुक होने का निराकरण तो पण्डित जी भी न करेंगे।

मेरा मत है कि वेद में 'भ्राता' का अर्थ 'भर्ता' भी है। लोक में भ्राता केवल भाई को कहते हैं परन्तु वेद में भ्राता भाई के अतिरिक्त कुछ और अर्थों में भी प्रयुक्त हुआ है। सायणाचार्य अथर्व ८।१।१६ में इसी यम-यमी सूक्त का ही भाष्य करते हुए 'भ्राता' का अर्थ करते हैं 'भरण कर्ता वा'। ऋ० ३।५३।५ में:—

परायाहि मघवन्नाच याहीन्द्र भ्रातरुभयत्राते अर्थम् ।

'भ्रातः' शब्द इन्द्र का विशेषण है। इस का अर्थ सायणाचार्य 'पोषक' करते हैं। ऋ० १।१६४।१ में :—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।

यहां भ्राता शब्द का अर्थ यास्काचार्य 'भरतेर्हरतिकर्मणो हरते भागम्' (निरुक्त ४।२६।१) भाग लेने वाला करते हैं।

लौकिक भाषा में भ्राता शब्द का प्रयोग केवल 'भाई' अर्थ में होता है। पोषक तथा भागहर्ता—इन अर्थों में केवल वेद ही में इस शब्द का प्रयोग है। और हम वेद मंत्रों के ही अर्थ कर रहे हैं। यदि लौकिक भाषा में भ्राता शब्द का प्रयोग 'पोषक' अथवा 'भाग हर्ता' अर्थ में आता तो हम कहते, प्रयोग अशुद्ध हैं। ऐसे ही जब यह सिद्ध हो चुका कि यमी यम की स्त्री ही है तो उसके पीछे वह यम को 'भ्राता' कहे, लौकिक संस्कृत में यह अशुद्ध प्रयोग होगा। परन्तु वेद में 'पोषक' अर्थ में भी 'भ्राता' आता है और 'पोषक' और 'भर्ता' पर्याय हैं। फिर यमी का यह कहना कि वह 'भ्राता' क्या जिस के होते अनाथता आए। अनाथ वह होता है जिस का 'भर्ता' न हो। यमी को डर है कि उसका भर्ता न रहेगा। भाई के रहते (चाहे वह उसका पति न भी बने) यमी अनाथ नहीं हो सकती। यह सब बातें सिद्ध करती हैं कि 'भ्राता' शब्द यहां अपने धात्वर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अन्यत्र इस प्रयोग के उदाहरण भी हैं—यह हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं।

पण्डितजी का यह भय कि यदि भ्राता का अर्थ भर्ता हो गया तो भाई और पति में भेद न रहेगा निर्मूल है। अग्नि शब्द का अर्थ आग भी है, परमात्मा भी, सेनापति भी, दूत भी, राजा भी। तो क्या यह सब एक हो गए हैं ? यही जामि शब्द लीजिये। इस का अर्थ बहिन और कुल स्त्री तो प्रसिद्ध ही है। ऋ० १।३१।१० में

त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत्तव जामयो वयम्।

हे परमात्मन् तू......हमारा पिता है... ...हम तेरे जामि (सन्तान) हैं।

"जामि" का अर्थ लड़के लड़कियां हैं। क्या कोई इस से यह अनुमान करेगा कि वैदिक काल में बहिन, लड़की, और स्त्री में भेद न था, क्योंकि इन सब के लिये एक शब्द "जामि" आया है ? जिस सम्बन्ध से लड़की पैदा होती थी, उसी से बहिन और उसी से स्त्री पैदा होती थी ?

रजवाड़े महाशय उतनी दूर नहीं गए जितनी दूर पण्डित जी गए हैं। और यदि वह अपनी कल्पना के तार्किक परिणाम पर दृष्टि डालें तो उन्हें उक्त कल्पना की कचाई का शीघ्र ज्ञान हो जाए।

यही बात 'स्वसा' शब्द के विषय में है। जब यमी यम की स्त्री सिद्ध हुई, व्याकरण से भी, वार्त्तालाप-शैली से भी, तो उस का अभिप्रेत अपने आप को

स्वसा कहने से बहिन कहना तो हो नहीं सका। हम स्वसा शब्द का दूसरा अर्थ करेंगे। उस के लिये प्रमाण विद्यमान है। स्वसा "उङ्गली" को कहते हैं, स्वसा 'रात' को कहते हैं। इस की व्युत्पत्ति है स्वयं सरति इति। सायण ऋ० १।९२।११ में "स्वसारं" का अर्थ करते हैं " स्वयमेव सरन्तीं निशाम् "। इसी का अनुवाद मैंने किया ' अभिसारिका "। यमी अभिसारिका है—वह गर्भाधान का प्रस्ताव कर रही है। अभिसारिका को ऋतु दान न देना शास्त्रों में पाप कहा है। इसी लिये वह कहती है :—"किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्" क्या पत्नी के प्रस्ताव करने पर भी (गर्भाधान) पाप है ? यम कहता है :—हां! अभिसारिका का नियमपूर्वक गमन भी पाप है,"पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्" क्योंकि वह संन्यास-वृत्ति धारण किये हैं।

यह अर्थ कर देने से सारी विचार-परम्परा ऊंची उठ जाती है। बहिन के मैथुन-प्रस्ताव की अश्लीलता के स्थान में पत्नी का शास्त्र-सम्मत गर्भाधान का प्रस्ताव कितना उत्कृष्ट विषय है। पूर्व पक्ष और सिद्धान्त पक्ष दोनों विद्वानों के विचार के विषय हैं। किसी गिरे हुए काल की बाज़ारी बातें वेद के नाम से प्रतिपादन नहीं की जातीं, जैसा कि दूसरे पक्ष में की जाती प्रतीत होती हैं।

यम सन्यासी होना चाहता है।

श्री पण्डित जी का कहना है कि यम सन्यासी नहीं हैं। कारण कि यमी कहती है "अन्या किल त्वां कक्ष्येवयुक्तं परिष्वजाते"। "कोई अन्य स्त्री तेरा आलिंगन करेगी।" (वैदिक धर्म पृ० १७३ स्तम्भ २)। और वह उत्तर देता है "अन्यमूषु त्वं यम्यन्य उत्वां परिष्वजाते"। "कि (जैसा मैं किसी अन्य स्त्री को आलिंगन दूंगा,) उसी प्रकार तू भी किसी अन्य पुरुष को आलिंगन देगी"। (वै० ध० पृ० १७४ स्त० १)।

श्री पण्डित जी ने (जैसा मैं किसी अन्य स्त्री को आलिंगन दूंगा) यह शब्द अपनी ओर से अध्याहार किये हैं। जभी तो उन्हें कोष्ठों में रखा है। यमी ने यम को और प्रकार से बात मानता ने देख अपनी स्त्री-सुलभ तीक्ष्णता से कटाक्ष किया कि तेरी किसी और स्त्री पर दृष्टि होगी। पुरुषों के ऐसे व्यवहार होते हैं और स्त्रियां यह कटाक्ष करती हैं। यम यह कहां स्वीकार करता है कि मैं 'दूसरी स्त्री को आलिंगन दूंगा' ? वह तो अपनी पत्नी को नियोग की अनुज्ञा

देता है जिस से वह चाहे तो लाभ उठा सक्ती है। इस मन्त्र का यही अभिप्राय है, निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य भी हमारे साथ सहमत हैं :—इसी मन्त्र का अर्थ करते हुए वह लिखते हैं—हे यमि ! व्यतीतस्ते अस्मत्परिष्वङ्ग समयः।

हे यमि ! तेरा मेरे आलिंगन का समय समाप्त हुआ।

यम संन्यास ले रहा है। इसमें पहिला प्रमाण तो ऋषि दयानन्द का "यम" शब्द का अर्थ है :—गृहाश्रमजन्यविषयसेवनादुपरताय यमनियमादियुक्ताय। यजुर्वेद ७। ४१। गृहस्थ आश्रम के विषय-सेवन से उपरत यम-नियम का अभ्यासी। यह संन्यासी नहीं तो और कौन है ?

स्वयं यम-यमी सूक्त में यम के संन्यासी होने की ध्वनि है, यथा, यमी की गर्भेच्छा का प्रत्याख्यान करते हुए मन्त्र २ में यम कहता है—

महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परिख्यन्।
परमात्माके वीर सबसे बड़े पुत्र हैं। विद्वान् लोग उदार-दृष्टिसे देखते हैं।
संन्यासी के सिवा यह और कौन कहेगा ? फिर कहा है :—
न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति। ८।

(देवानां) विद्वानों में से (स्पशः) जागरूक जो यहां फिरते हैं, वे ठहरते नहीं, आंख बन्द नहीं करते।

यह संन्यासी नहीं तो कौन हैं ? जिन्हें 'स्पशः' का अर्थ परमात्मा की शक्तियां करना हो, वे कृपया "देवानाम्" बहुवचनान्त है—यह देखलें।

मन्त्र ४ का अन्वय।

पण्डितजी ने मेरे किये मन्त्र ४ के अन्वय पर आक्षेप किया है। मन्त्र यह है :—

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनं ऋतं वदन्तो यदनृतं रपेम। ऋ० १०। १०। ४
मैंने इसका अन्वय यों किया है—

यत्पुरा चकृम न कृत् ह नूनम्.........।

पण्डित जी कहते हैं, 'न' पहिले से उठकर बीच में कैसे चला गया। उसका उत्तर वात्स्यायन का यह श्लोक है :—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दुरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्य्यमकारणम् ॥

न्याय वात्स्यायन भाष्य १।२।९

अर्थात् जिस शब्दका जिस शब्दसे अर्थ सम्बन्ध हो, वह दुर पड़े भी उसी का है। निकट पड़े अर्थमें असमर्थोंकी निकटता (अन्वय में) कारण नहीं।

अन्वय कहते ही इसीको हैं कि, जहां जो शब्द लगता हो लगाना। संन्यासी होने वाला यम 'साईं लोकों' की तरह अपने लिये बहुवचन का प्रयोग करता है कि, जो हम पहिले करते थे, अब कदापि न करेंगे। क्यों? इसलिये कि "ऋतं वदन्तः" "नियम का व्याख्याम करने वाले ही क्या नियम तोड़ने [illegible]ला कर्म करें।" (वैदिकधर्म पृष्ठ १८१, स्तम्भ १) नियम का व्याख्यान संन्यासी का काम है।

पण्डितजी कहते हैं, 'कद्ध' का अर्थ कदापि कैसे हुआ? कत् का अर्थ कदा सब भाष्यकारों ने किया है। यहां आ का लोप छान्दस है। ह अपि अर्थ में आता ही है।

'कद्ध' को प्रश्नवाची रखना हो तो प्रथम आप 'न' को अलग कर लीजिये। यम यमी को उत्तर देता है—न, जो हमने पहिले किया, (अर्थात् गर्भाधान) वह हम अब कैसे करें? कहिये, इसमें क्या आपत्ति है?

सायण की तरह से 'कद्ध' 'अनृतं रपेम' के साथ लगालें, तो अर्थ होगा:—जो हमने पहिले (गृहस्थावस्था में) किया, वह अब न करेंगे। नियम का व्याख्यान करने वाले अनियम कैसे करें?। यहां न का अन्वय नूनं के साथ होगा और कत् का अर्थ कस्मात् कारणात्।

यह भी स्वीकार न हो तो आप ही का अर्थ स्वीकार किये लेते है। "नहीं जो पूर्व समय में हमने किया, कैसे भला अब करें।"

वैदिकधर्म ४। पृष्ठ १८१। स्तम्भ १

किसने पहिले नहीं किया? क्या यम और यमी ने? तब तो क्रिया द्विवचनान्त होनी चाहिये थी, चक्रवा, वदतः, रपेव। क्रिया बहुवचनान्त है, इसलिये यह दो तो कर्ता नहीं। फिर किसने नहीं किया? नियम का व्याख्यान

करने वाले संन्यासियों ने । यहां यम अपने आपको संन्यासी-समूह का प्रतिनिधि मानकर कहता है :—संन्यासियों ने पहिले कभी गर्भाधान नहीं किया ।

जो भी अन्वय करें मेरे पक्ष में ठीक है, पण्डितजी के पक्ष में नहीं । वास्तव में मुख्य प्रश्न यह है कि यम-यमी का सम्बन्ध क्या है ? यह निश्चित होजाने पर शेष प्रश्नों का उत्तर मिल जाना सुगम है ।

सख्य और सलक्ष्मा ।

सखा और सलक्ष्मा शब्द पर पण्डितजी का सारा लेख अपना खण्डन आप करता है । यमी यम को सखा कहती और सख्य का वर्तात्र चाहती है । दोनों शब्दों में सखित्व एक होनेमें कल्पता लाघव है । सख्य तो पहिले हो विद्यमान है, वह उसको बदलना नहीं चाहती, किन्तु 'ववृत्याम्' प्राप्त सख्य का बर्तात्र चाहती है ।

"एक माता पिता से उत्पन्न होनेके कारण भाई बहिन के लक्षण, अवयव, चिह्न आदि बहुत अंश में समान होते हैं । इस प्रकार के समान चिह्न वाले भाई बहिन का विवाह हुआ तो सन्तान में बड़ा बिगाड़ होता है । इसलिए सगोत्र-विवाह शास्त्र में निषिद्ध है । " वैदिकधर्म पृष्ठ १८३ । स्तम्भ २

सगोत्र-विवाह निषिद्ध इसलिये है कि वीर्य्य और रज एक वंश के आपस में न मिलने चाहियें । रूप एकसा होना न होना सगोत्रता में कारण नहीं । यदि कोई भाई बहिन 'सलक्ष्म' न हों तो क्या वह भिन्न गोत्रोत्पन्न होजायेंगे, और क्या उनका विवाह होसकता है ? कदापि नहीं । यहां गोत्र का प्रकरण ही नहीं । 'सलक्ष्मा' का अर्थ है सवर्णा, अर्थात् एकसी प्रवृत्ति और एकसे लक्ष्य वाली । पत्नी को ऐसा कहना ठीक है, यदि विवाह वैदिक हो ।

"अन्य गोत्र के उत्पन्न स्त्री पुरुष विषम-वृत्ति वाले होते हैं, उनमें गुण, कर्म, स्वभाव का साम्य देखकर विवाह होना लाभकारी होता है । "

वैदिकधर्म पृष्ठ १८३ । स्तम्भ १

विषम-वृत्ति और समान गुण-कर्म-स्वभाव यह परस्पर विरुद्ध बातें हैं ।

श्रीपं० जी ने जाते २ इन शब्दोंको छेड़ दिया है, अन्यथा पति-पत्नी पक्षमें यह विशेषण अधिक उपपन्न हैं । यह तो स्वतःसिद्ध है ।

अन्तिम निवेदन।

श्रीपण्डितजी की समालोचना को मैंने ध्यान से पढ़ा है, परन्तु विचारमें परिवर्तन नहीं हुआ। मैं यम-यमी को पति-पत्नी मानता हूं। इसलिये कि—

(१) ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन्हें अग्नि और पृथिवी कहा है, और अग्नि और पृथिवी ब्राह्मण-ग्रन्थों के मत में पति-पत्नी हैं। अर्थापत्ति से यम-यमी में कोई सम्बन्ध है तो पति-पत्नी का ही है।

(२) यास्काचार्य्य ने इस सूक्त के जिन मन्त्रों की व्याख्या की है, उनसे उनके नैरुक्त अर्थानुसार नियोग की ध्वनि निकलती है और नियोग की बात-चीत भाई बहिन में नहीं हो सकती।

(३) ऋषि दयानन्द और पडित गुरुदत्त इन्हें पति-पत्नी मानते हैं।

(४) व्याकरण से यमी यम की स्त्री ही सिद्ध होती है, और चूंकि मैं वेद में अयौगिक रूढी नहीं मानता, इसलिये यमी को यमजा या यम की भगिनी स्वीकार नहीं कर सकता।

(५) सारी वार्त्तालाप की शैली ऐसी है, जो भाई बहिन के सम्वाद की नहीं होसकती।

(६) भाई बहिन के विवाह का निषेध इस सूक्त का प्रकृत नहीं है। यदि यह प्रकृत मानलें, तो उसका पूर्वपक्ष लचर और सिद्धान्तपक्ष अनिश्चित प्रतीत होता है। भगिनी का मैथुन-प्रस्ताव अस्वाभाविक, लोकस्थिति-विरुद्ध और अश्लील है। वेद की वर्णन-शैली में यह दोष आना नितान्त अयुक्त है।

श्री पण्डितजी मेरे पूर्व लेख को पढ़ कर उद्विग्न हुए हैं। मैं उनसे निवेदन करूंगा कि उद्वेग विचार में बाधक होता है। कृपया 'मानसिक समता' से मेरा लेख पढिये और उसपर टिप्पणि कीजिये। मैं अब तक अपने किये भाष्य को विद्वानों के विचार के लिये एक कल्पनामात्र समझता हूं। हां, वह कल्पना युक्ति-शास्त्र सम्मत है। अर्थ का अन्तिम निश्चय तो वाद और प्रतिवाद के पश्चात् ही होगा।

चमूपति

—:०:—

साहित्य-समीक्षा।

(१) "आर्य्य-पर्व-पद्धति"—लेखक श्रीपण्डित भवानीप्रसादजी गुप्त, हल्दौर (बिजनौर)। पृष्ठ संख्या २६२ मूल्य ॥।)

कर्म-काण्ड के विषय में आर्य्य-समाज बहुत पीछे है, इसमें कोई सन्देह नहीं। श्रीस्वामी दयानन्दजी ने अपने जीवन के अल्पकाल में ही संस्कार-विधि आदि पुस्तकें लिखकर चाहा था, कि आर्य्य-सन्तान वेदोक्त संस्कारों पर आचरण करती हुई मन, वचन और कर्म से उन्नति को प्राप्त हो, किन्तु शोक, हमने उनपर ध्यान न दिया। शताब्दी के अवसर पर उसके प्रधान पूज्य नारायणस्वामीजी आदि कई महानुभावों का ध्यान फिर इस ओर आकर्षित हुआ, और यह प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं विचारों का परिणाम है। पण्डित हरिशङ्करजी दीक्षित आदि कई महानुभावों ने सनातन-पर्वों पर कुछेक विचार प्रकाशित किये थे, किन्तु वे सब प्रायः अपरिमार्जित अवस्था में हो थे। इसलिये एक विशुद्ध परिमार्जित ऐसी पर्व-पद्धति की अत्यन्त आवश्यकता थी, जो देश और जाति को अन्ध-विश्वास से ऊपर उठाकर उनके जीवनों को उच्च बनाने वाली हो। लेखक ने बड़ी लगन और परिश्रम से इस कमी को पूरा करने का यत्न किया है। इसमें भिन्न भिन्न पर्वों की क्रिया के साथ साथ उनकी उत्पत्ति का युक्ति-युक्त आदिम इतिहास लिखकर लेखक ने इसकी रोचकता तथा उपादेयता को और भी बढ़ा दिया है। सर्व-साधारण और विशेषतः विशुद्ध कर्म-काण्ड में रुचि रखने वाले हिन्दू-मात्र (आर्य्य) के लिये पुस्तक उपादेय है।

(२) "ओ३म् प्रत्यक्ष"—अर्थात् साक्षात् स्वतः प्रत्यक्ष केवल ईश्वर है। लेखक—सत्यप्रकाश वैदिक-यति शयन-कुटि, चतुर्विंशत्पुर नवद्वार द्विकाम, कारावासी। प्रकाशक—सार्वदेशिक आर्य्य-प्रतिनिधि सभा, देहली। पृष्ठसंख्या २१४। मूल्य ॥)

संसार में नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित हैं और प्रायः सभी किसी न किसी रूप में ईश्वर को सर्वाधार सर्वव्यापक मानकर उसकी उपासना करते हैं किन्तु ध्यान के साधन अपूर्ण और उलटे होने के कारण सभी कष्टों में पड़े हुए दिन रात कराहते रहते हैं। ठीक मार्ग अरणियों के परस्पर मन्थन से उत्पन्न अग्नि की भान्ति आत्मज्ञान क्रिया रूपी दो अरणियों के सङ्घर्ष नाम योगाभ्यास द्वारा 'ओ३म्' का प्रत्यक्ष करना ही है। यही बात लेखक ने

अनेक वेद मन्त्रों तथा उपनिषद् वाक्यों के आधार पर बताने का यत्न किया है। भाषा संस्कृत प्राय होने से सर्वथा अस्पष्ट, और विषय सरल होने के स्थान पर गहन हो गया है। निदर्शन के लिये १, २ उदाहरण हो पर्याप्त हैं:—

"परन्तु अद्भुत यह है कि........दर्शन स्पर्शनानृते प्रायः ईश्वरानभिज्ञ नास्तिक भाष्य कर्ताओं उतवा उनके अनुवादक अवैदिकों के ज्ञाता ज्ञात विप्रलम्भ वश प्रश्नगत परमात्मो शासन शास्त्रों की अपौरिषयता की अनूरी कर देते हैं।" भू० पृ० ११

"इह यह कहना......तो देह से छूटना तो तुच्छ वार्ता है।" भू० पृ० ३२

"यहां भ्रम निवारणार्थ एक ऋचा प्रविष्टा की जाती हैं।" पृ०

"यदि नीचे होना ऊरी न करें"—पृ० १६२, इत्यादि। ऊरी अनूरी का प्रयोग तो इतना अधिक है कि बस! अधिक क्या लिखें बुद्धिमानों के लिये इशारा ही पर्याप्त है। इसी प्रकार प्रूफ़ देखने में भी बड़ी असावधानता से काम लिया गया है। ओ३म् को ओइम् लिख देना तो साधारण सी बात है।

(३) आर्य समाज के दस नियम—यह भी उन्हीं महानुभाव श्रीस्वामी सत्यप्रकाश जी की रचना है। पुस्तक में (जैसा की नाम से ही स्पष्ट है) आर्य समाज के सुप्रसिद्ध १० नियमों को वैदिक मन्त्रों द्वारा सिद्ध करने का यत्न किया गया है। अस्वाभाविक रीति से संस्कृत शब्दों का बहुत प्रयोग करने के यत्न ने भाषा को क्लिष्ट और सर्व साधारण के लिये दुर्बोध बना दिया है। मूल्य ।) सरस्वती प्रेस मुरादाबाद से प्राप्य।

(४) भारत जननी को हिमालय से संदेश—अनुवादक म० शिवदयालु, अध्यक्ष आर्य-संघ मेरठ। मूल्य ।) मित्तिल ब्रदर्स ऐण्ड को, चौक बाज़ार मेरठ सदर से प्राप्य। इसके मूल लेखक योगिराज श्री अरविन्द घोष के शिष्य, प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक पाल रिचर्ड हैं, यह उन्हीं की To India: Message from the Himalaya का अविकल अनुवाद है। अनुवादक तथा उनके संघका उद्देश्य बहुत स्तुत्य है किन्तु ऐसी पुस्तकों के अनुवाद करने में हमारी सम्मति में यदि मक्खी पर मक्खी न मार कर मूल लेखक के भावों को सुरक्षित रखा जा सके तो अधिक उपयोगी तथा उत्तम हो। ऐसा करने से जहां भाषा में सरलता और माधुर्य आ सकेगा वहां अनुवादक के उद्देश्य की भी अधिक से अधिक पूर्त्ति हो सकेगी।

(५) भजन भास्कर—संग्रह कर्ता श्री० हरिशङ्कर शर्मा 'कविरत्न' सम्पादक आर्यमित्र आगरा। पृ० सं० २५६ मू० ॥), सजिल्द ॥≈), आर्य समाज में तुकबन्दों के हाथों से भजनों और आर्यभाषा की कविता की जो मिट्टी खराब हो रही है उसी को ध्यान मे रख कर कविरत्न जी ने उत्तमोत्तम भजनों का संग्रह किया है। इसमें सूर, तुलसी आदि पुराने कवियों की कृतियों के अतिरिक्त फ़लक, प्रेम, चातक, चमूपति, मुसाफ़िर आदि आदि नये २ कवियों की रचनाओं का भी समावेश किया गया है। पुस्तक में ईश्वर स्तुति, धर्म, देशभक्ति, हिन्दू संगठन, गुरुकुल, ऋषि दयानन्द, शुद्धि आदि प्रायः सभी प्रकार के भजनों का उत्तमोत्तम संग्रह है। पढ़ते २ कई स्थानों पर तो सचमुच शिर घूम जाता है और हृदय फड़क उठता है। हमारी सम्मति में पुस्तक सभी प्रकार की रुचि रखने वाले व्यक्तियों के लिये उपादेय। है विशेषतः प्रचारकों और भजनीकों के तो बड़े काम की चीज़ है।

(६) दयानन्द-लहरी—गुरुकुल वृन्दावन के स्नातक मेधाव्रत जी का संस्कृत के कवियों में ऊंचा स्थान है। शताब्दी के पुनीत अवसर पर आचार्य ऋषि दयानन्द के प्रति भक्तिभाव की भेंट करने के लिये कवि ने इस पुस्तक की रचना की थी। पुस्तक के अन्त में आर्यसमाज के दश नियमों को भी पृथक् २ करके कवि ने छन्दोबद्ध कर दिया है। श्लोक गुरुकुलों, आर्य्य विद्यालयों तथा कन्या पाठशालाओं में कण्ठ कराने योग्य हैं। मूल्य ~)॥ सरस्वती प्रेस मुरादाबाद से प्राप्य।

(७) वैदिक उपदेश माला—लेखक श्री० पं० 'अभय' देव शर्मा जी विद्यालङ्कार। मूल्य ॥) स्वाध्याय मंडल औंध (ज़िला सतारा) से प्राप्य। लेखक गुरुकुल कांगड़ी के योग्य स्नातक और गुरुकुल विश्वविद्यालय में वेद विद्यालय के आचार्य हैं। वेद के विषय में यूं तो अनेकों पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं किन्तु जो रस इस पुस्तक को पढ़ने से प्राप्त होता है वह शायद ही अन्य पुस्तकों से प्राप्त हो। कारण, लेखक स्वयं क्रियात्मक जीवन व्यतीत करने वाले और शान्त स्वभाव व्यक्ति हैं। लेखक का अब तक का सम्पूर्ण जीवन ही वैदिक सचाइयों को जीवन में हल करने में व्यतीत हुआ है। इस पुस्तक में बारह वेदोपदेशों का संग्रह किया गया है। ये उपदेश शताब्दी से ठीक १२ मास पूर्व "वैदिक धर्म' में प्रकाशित होने आरम्भ हुए थे। प्रतिमास

एक लेख लिखने का प्रयोजन क्या था यह बात लेखक के " पाठक एक एक वैदिक उपदेश को एक एक महीना भर अभ्यास करते हुए अपने जीवन में लाने का यत्न करें" इन शब्दों से स्पष्ट है । सारे ही उपदेश एक से एक बढ़ कर जीवन को उन्नत करने वाले और हृदय में गड़ जाने वाले हैं । आर्य्य समाज में इस समय उत्तम क्रियात्मक जीवन वाले व्यक्तियों की बहुत कमी है । हम समझते हैं कि यदि प्रति मास कोई पुरुष एक २ उपदेश का भी मनन करे (जिस उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई है) तो धीरे २ सारी जाति का सुधार हो सकता है । जीवन में उन्नति चाहने वाले प्रत्येक धर्म प्रेमी और अभ्यासी को यह पुस्तक अवश्य ही अपने पास रखनी चाहिये । भाषा सरल, सुन्दर और छपाई उत्तम है ॥

आर्य प्रति निधि सभा पञ्जाब-उपदेशक परीक्षा ।

सिद्धान्त प्रवेशिका ।

व्याकरण—सन्धि विषय, शब्द रूपावलि, धातु रूपावलि, वर्णोच्चारण शिक्षा, अष्टाध्यायी १—५ अध्याय तक कण्ठस्थ करनी ।

साहित्य—नीतिशतक, विदुरनीति, संस्कृत प्रथम पाठ, संस्कृत द्वितीय पाठ, संस्कृत वाक्य प्रबोध ।

सिद्धान्त ग्रन्थ—सत्यार्थ प्रकाश २, १०, ११, १३, १४ समुल्लास । आर्य्योद्देश रत्नमाला, व्यवहारभानु, सन्ध्या (अर्थ सहित) अग्निहोत्र स्वस्ति-वाचन तथा शान्ति प्रकरण (अर्थ सहित) ।

सिद्धान्त भूषण ।

(१म वर्ष)

व्याकरण—अष्टाध्यायी १—५ अध्याय पर्यन्त (अर्थोदाहरण सिद्धि सहित) ।
,, ,, ६—८ अध्याय पर्यन्त (मूल मात्र) ।

साहित्य—मुद्राराक्षस, मुनि चरितामृत ।

दर्शन—वैशेषिक (मूल) न्याय वात्स्यायन भाष्य सहित (१म अध्याय) ।

सिद्धान्त ग्रन्थ—(क) सत्यार्थ प्रकाश १, ३, ४—६, १२ ।
संस्कार विधि (विधि मात्र) ।
(ख) ईश, केन, कठ उपनिषद् ।

वेद—निघण्टु, आर्याभिविनय (मूल-सम्पूर्ण)

विकल्प—भास्कर प्रकाश (प्रथम अध्याय को छोड़ कर पूर्वार्द्ध) अथवा जैन तत्वादर्श (पूर्वार्द्ध), अथवा भाई गुरुदास दीयां बारां, भक्तवाणी और रहतनामे, अथवा इसाईयत, अथवा इस्लाम। अनुवाद प्रस्ताव संस्कृत संभाषण तथा व्याख्यान।

(२य वर्ष)

व्याकरण—अष्टाध्यायी ६ से ८ अध्याय तक (आर्षोदाहरण सिद्धि सहित) धातुपाठ।

साहित्य—प्रबोध चन्द्रोदय, शिवराज विजय बाल्मीकीय रामायण (संगृहीत भाग-इन्डियन प्रैस) काव्यालङ्कार सूत्र (इसमें छन्द सम्बन्धी प्रश्न भी होंगे)।

दर्शन—न्याय (वात्स्यायन भाष्य सहित। शेष)।

सिद्धान्त ग्रन्थ—(क) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, मनुस्मृति।

(ख) मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न उपनिषद्।

वेद—निरुक्त के १म ३ अध्याय, यजु० ३१, ३२, ३५, ३६ अध्याय (भाष्य सहित)

विकल्प—भास्कर प्रकाश (शेष), पुराण मत पर्य्यालोचन, अथवा जैन तत्वादर्श (शेष), अथवा—गुरु तेगबहादर के शब्द, विचित्र नाटक, गुरु गोविन्दसिंह के सवैय्ये, सूर्य वंशीय क्षत्रिय (निहंग सम्पूर्ण सिंह कृत), अथवा इस्लाम, अथवा ईसाईमत, अनुवाद, प्रस्ताव, संस्कृत सम्भाषण तथा व्याख्यान।

सिद्धान्त शिरोमणि।

(१म वर्ष)

व्याकरण—महाभाष्य (नवाह्निक)

दर्शन—सांख्य मूल, योग (व्यास भाष्य समेत), अथवा पूर्व मीमांसा (निवीतान्त)

उपनिषद्—ऐतरेय, तैत्तरीय, छान्दोग्य०

वेद—यजु १ से १० तक। अथवा, अथर्व १ से ५ काण्ड तक।

निरुक्त—शेष

व्याख्यान—संस्कृत प्रस्ताव

स्वतन्त्र पत्र—देवी भागवत

(२य वर्ष)

व्याकरण—महाभाष्य (अङ्गाधिकार) तथा ऋक् प्रातिशाख्य, अथवा यजुर्वेद प्रातिशाख्य।

दर्शन—वेदान्त अथवा पूर्व मीमांसा (शेष)

उपनिषद्—बृहदारण्यक।

वेद—(क) यजुर्वेद (शेष), अथवा अथर्व ६ से २० काण्ड तक।

(ख) ऋग्वेद भूमिका (सायण भाष्य सहित)

(ग) गोपथ ब्राह्मण

व्याख्यान—परमत निरसन पूर्वक स्व मत पोषक मौलिक निबन्ध (आर्य्य भाषा में)—६० फुलसकेप कागज़, प्रति पृष्ठ ३० पंक्ति, प्रति पंक्ति २० अक्षर।

उक्त परीक्षाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित दो परीक्षाओं का प्रबन्ध भी विद्यालय की ओर से होगा। इन परीक्षाओं के लिये अध्यापन का प्रबन्ध न होगा।

सिद्धान्त विशारद।

१. सत्यार्थ-प्रकाश।

२. (क) पुरुषार्थ-प्रकाश (श्रीस्वामी नित्यानन्दजी कृत)

(ख) ऋषि-कृत भ्रान्ति-निवारण आदि लघु पुस्तकें।

३. भारतवर्ष का इतिहास (श्रीयुत प्रोफ़ैसर रामदेवजी कृत)।

श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश (श्रीस्वामी सत्यानन्दजी कृत)।

४. संस्कार-विधि (श्रीयुत मास्टर आत्मारामजी कृत संस्कार-चन्द्रिका व्याख्या सहित)।

५. दर्शनानन्द-ग्रन्थ-संग्रह और वैदिक-दर्शन (पं० चमूपतिजी कृत)।

६. (क) व्याख्यान (आर्य्य-भाषा में)।

(ख) मौखिक शङ्का समाधान।

सिद्धान्त वाचस्पति।

वेद—ऋग्वेद (ऋषि दयानन्द कृत भाष्य)।

वैदिक साहित्य—शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, कात्यायन श्रौत सूत्र, आश्वलायन श्रौत सूत्र, गोभिलीय गृह्य सूत्र (गोभिल संग्रह सहित)।

समालोच्य विषय विकल्प—(१) याज्ञवल्क्य स्मृति (मिताक्षरा सहित)। अथवा (२) कौटिल्य अर्थ-शास्त्र। अथवा (३) न्याय-कुसुमाञ्जलि (हरिनाथी टीका)। अथवा (४) ब्रह्मसूत्र (शाङ्कर भाष्य)। अथवा (५) अज्ञेयवाद। अथवा (६) प्रकृतिवाद।

मौलिक—संस्कृत निबन्ध (६० पृष्ठ फुलस्केप)।

———

टिप्पणि—विद्यालय के नियमित विद्यार्थियों के अतिरिक्त यदि कोई और महाशय भी विद्यालय की शिक्षा के किसी भाग से लाभ उठाना चाहें, तो उनके लिये उचित प्रबन्ध किया जायगा।

आर्य्य-प्रतिनिधि सभा पञ्जाब—

आ० प्र० सभा पञ्जाब का साधारण अधिवेशन २३—२४ मई १९२५ शनिचार, रविवार को गुरुदत्त भवन में हुआ। २०० प्रतिनिधियों में से लगभग १०० प्रतिनिधि उपस्थित थे। भोजन तथा उतारे का प्रबन्ध गुरुदत्त भवन में ही था। सबसे प्रथम कार्य्य-कर्ताओं का चुनाव हुआ, जिसमें यथापूर्व श्री रामकृष्ण जी प्रधान, तथा डा० केशवदेवजी शास्त्री, प्रो० शिवदयालजी और लाला मोहनलालजी (शिमला) तीन उपप्रधान चुने गए। तदनन्तर मन्त्री का चुनाव हुआ। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् म० कृष्णजी बी. ए. ही मन्त्री निर्वाचित हुए। चुनाव के बाद वेद-प्रचार, आर्य्य-विद्यार्थी आश्रम, गुरुकुल कांगड़ी आदि संस्थाओं के बजट पेश किये गए, जो थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ निम्न-प्रकार स्वीकार हुए।

वेद-प्रचार ३७५०४), आर्य्य-विद्यार्थी आश्रम ४५००), दलितोद्धार फण्ड १००००), गुरुकुल कांगड़ी तथा गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ १७२०१३). मुख्य कार्य्यालय ८०००), दयानन्द उपदेशक विद्यालय ६०००), लेखराम स्मारक धि २८००)

सत्यार्थ-प्रकाश की ज़ब्ती का यत्न—

गाज़ी महमूद धर्मपाल अपने आपको सर्व-साधारण के सामने लाने के नित नए उपाय सोचते हैं। उनका धर्म हैं सनसनी पैदा करना, और उस सनसनी के सहारे रुपया बटोरना। इन्हीं दिनों उनकी एक गुप्त चिट्ठी प्रकट हुई है, जो उन्होंने बड़े बड़े मुसलमान नेताओं और समुदायों को भेजी है। इस चिट्ठी से एक विस्तृत षड्-यन्त्र का पता चलता है। षड्-यन्त्र का उद्देश्य है, सत्यार्थ-प्रकाश के चौदहवें समुल्लास को ज़ब्त कराना। मौलवी अब्दुल अज़ीज पञ्जाब लैजिस्लेटिव कौंसिल के सर्दियों के अधिवेशन में इस मतलव का प्रस्ताव पेश करेंगे उक्त पत्र के पढ़ने से यह प्रतीत होता है।

हम जानते हैं कि इस षड्-यन्त्र से बनना कुछ नहीं। हां, धर्मपाल को अपने नए पुस्तक बेचने का अच्छा अवसर मिल जायगा। तो भी मुसलमानों और आर्य्य-समाजियों में वैमनस्य फैलने की बड़ी सम्भावना है। सत्यार्थ-प्रकाश पर इससे पूर्व भी कई वार किये जाचुके हैं, और वे सब खाली गए हैं। आर्य्य-समाजियों को इस नूतन वार को भी उसी धैर्य्य-पूर्ण वीरता से निष्फल करना चाहिये।

पण्डित यशःपाल जी आसाम में—

पाठक यह समाचार सुन चुके होंगे, कि लगभग १ मास हुआ, जब पण्डित यशःपालजी स्नातक वेद-प्रचार के लिये आसाम गए थे। अब वहांसे आए समाचारों से पता लगता है कि पण्डितजी ने बड़ी लगन और परिश्रम से कार्य्य प्रारम्भ कर दिया है। डिबरूगढ आदि १; २ स्थानों में समाज भी स्थापित कर दीगई हैं। हमें आशा है कि यदि पण्डितजी इसी तरह कार्य्य में लगे रहे, तो शीघ्र ही कृतकार्य्य होसकेंगे।

आर्य्य-वीर बाबू नारायणसिंहजी—

धर्मों का इतिहास धर्म पर बलिदान होनेवाले ऐसे ही वीर-पुरुषों की आहुतियोंसे भरा पड़ा है। अभी म० रामचन्द्रजी (जम्मू) के बलिदानके संस्कार हृदयों से दूर ही न हुए थे कि हमारे पास श्रीबाबू नारायणसिंहजी के धर्म पर बलिदान होनेका समाचार आपहुंचा है। आप पटना आर्य्य-समाज के प्रधान और इस प्रान्त में शुद्धि के सञ्चालक थे। इन्हीं कारणों से आप मुसल-मानों की आंखों में बहुत खटक रहे थे। कहते हैं, कि पिछले साल भादों

आश्विन महीने में जब की मुसलमानों की ओर से यह घोषणा हुई थो की गणेश चौथ और देवी का जुलूस न निकलने पावेगा तब बाबू नारायणसिंह ने ही हिंदुओं को प्रोत्साहित कर दोनों त्यौहार धूमधाम से मनाये। गत अगहन और फागुन महीने में आर्य्य-समाज के उत्सव पर आप के उद्योग से पचासों नये मुसलिमों की शुद्धि हुई। इसी समय दो जन्म के मुसलमानों की भी शुद्धि की गई थी। कहते हैं, इन्हीं बातों से मुसलमान इन पर चिढ़े हुए थे और उन का काम तमाम करने का मौका देख रहे थे। गत मङ्गलवार के शाम को जब बाबू साहब अपने "टाल" से घर लौट रहे थे, कि हरिमन्दिर की गली में जो चौक थाने के पास ही है, ३० या ३५ आदमियों ने फर्सों और गंडासों से उन पर आक्रमण किया। निहत्थे बाबू साहब ने बड़ी वीरता से आक्रमण कारियों का सामना किया पर इतने हथियारबन्दों के सामने वे टिक न सके और लोहूलुहान होकर गिर पड़े। सूचना मिलने पर बाबू साहब के घर तथा अखाड़े के लोग उन्हें खाट पर लिटा अस्पताल ले गये। अन्त को १ बजे रात को बाबू साहब के प्राण निकल गए। मेडिकल परीक्षा के बाद दूसरे दिन १ बजे रथी निकाली गई। साथ लोगों की बड़ी भीड़ थी। शव संस्कार विधिवत् हुआ। कहते हैं, पुलिस इंसपेक्टर मौ० इशहाक ने इस मामले में बड़ी ढिठाई की है। इस हत्याकांड से पटने के हिंदुओं में हलचल मच गई है। वहां के हिंदू बाबू नारायणसिंह को अपना बड़ा भारी सहायक समझते थे।

अब प्रश्न है कि क्या इन बलिदानों को दृष्टि में रखते हुए शुद्धि और प्रचार का काम बढ़ेगा व शिथिल होता जायगा। ऐसे घृणित उपायों से किसी पवित्र काम को रोक देने का यत्न करना बड़ी सख्त गलती है। विरोधियों को याद रखना चाहिए कि उन के यह यत्न उन की अपनी जड़ों को खोखला कर रहे हैं। वीरों के खून से सिञ्चा हुआ कल्प वृक्ष कभी मुरझा नहीं सकता। अब देखना यह है कि क्या आर्य्य समाजें सार्वजनिक विराट सभाएं करके उन में प्रस्ताव ही पास करदेंगी वा कुछ काम की मात्र में भी बढ़ती होगी? हमें आशा है कि प्रस्ताव प्रस्ताव तक ही न रह जावेंगे किन्तु काम भी अधिक बल पूर्वक होगा।

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब लाहौर।

शेष पत्र वेद प्रचार विभाग बाबत सं० १९८१।

निधि	शेष	जहां धन लगा हुआ है	शेष
ेद प्रचार	५९८०९=)१०	ऋण मयामल लालचन्द बटाला	२६५१॥।=)॥।
्यानन्द सेवा सदन	१४१०)	,, वीरभानु सीताराम आदि	११४४।-)७
		मियां चन्नु	२३१६२॥≡)७
ःख राम स्मारक निधि	२८०७७।=)५	,, जगन्नाथ आदि अमृतसर	४५९॥।≡)॥
स्वदेश प्रचार	२४९२८।=)८	,, आर्य्य समाज वज़ीराबाद	८३६४॥।=)११
ुरुदत्त भवन आश्रम शाला	७६३४०॥-)॥।	,, ईश्वर दास आदि अबोहर	३३)४
ुरुकुल मुलतान	५११५॥।)	,, हरदयालु उपदेशक	५२॥=)।
्रोवीडेण्ट	५९१३।=)५	,, केसर चन्द भजनीक	११६४१।≡)॥
ो..स	६३६४।) ११	,, आर्य्य विद्यार्थी आश्रम	६१४७।=)७
अमानत वैदिक पुस्तकालय	२७६)	,, डा० मथुरादास आदि मोगा	११५०॥)१
,, आर्य्य सामाजें	१७६६८॥।)५	एजेण्ट अकौंट	५२३९≡)
,, अन्य संस्थायें	१०६९०॥)७	अगाऊ	५००)
,, अंबालाल दामोदर दास	४०८४)	इम्प्रैस्ट	१४८८५॥।)॥
,, ईश्वर दास	६३६७॥।)।	शीश महल भूमि	५०००)
,, विद्यार्थी आश्रम	६४७)	शुजाहबाद भूमि	७६३३८॥=)१०
कन्या गुरुकुल	१३४५१)	गुरुदत्त भवन आश्रम शाला	३२०६॥।≡)१
्म देवी होम करण भण्डार	१५३४।)	सेन्ट्रल बैंक	२०६५-)५
्ानन्द व्याख्यान	१०७५॥।=)	पञ्जाब नैशनल बैंक Floting at	१६७६६८)
आचार सुधार	१३९९॥-)	,, F. D.	६६०४
्ज्ञात निधि	१६८॥-)॥		
सभा के सेवकों की सहायता	५००)		
राजपूतोद्धार	८२७३-)।		
दलितोद्धार	६५६५।=)१०		
्ध्रास प्रचार	३८९=)		
विद्यार्थी आश्रम	—६६३।≡)८	पेशगी	
दयानन्द जन्म शताब्दी	८७८७॥।≡)।		
वसीयत पं० पूर्णानन्द	७५८७॥=)॥।		
्चन्द्र स्मारक निधि	६१३।≡)॥।	मोहनलाल रोड	
निहाल देवी जीन्दा राम	१३०३॥।=)१०		
दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय	१५८५४)		

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब लाहौर ।

शेष पत्र गुरुकुल विभाग बाबत सं० १९८१

निधि	शेष	जहां धन लगा हुआ है	शेष
ासाम प्रचार	१०७॥-)		
ण्डमन प्रचार	७०)		
० स्वा० विद्यानन्द जानकी बाई	६१८॥)		
, म० मोची रामजी	५०२५)		
्यानंद उपदेशक वि० स्थिरकोष	४००००		
योग	३६०४४२॥≠)॥		
गुरुकुल महानिधि	३०५४३८॥)॥	गुरुकुल भूमि	१६३६३)
,, स्थिर छात्र वृत्ति	११५२१०॥≡)२	,, मकानात	१२४९६१≡)॥
,, अस्थिर ,,	१२२३१०।-)॥	,, इन्द्रप्रस्थ मकानात	७७१५३।-)॥
,, आयुर्वेद	३०८६६॥≠)।	,, मायापुर भूमि	१२७४६॥=)॥
,, उपाध्यायवृत्ति	११५५४४-)११	,, अमरोहा ,,	१६००)
,, स्थिर कोष	८२८१=)	,, धर्म शाला कोठी	१७७०६)॥
,, कन्या गुरुकुल इन्द्र प्रस्थ	—१८२०।≡)॥	,, शीश महल भूमि	३४७३३॥≠)
		,, भूमि रैलवे रोड लाहौर	२४४६५)
योग	६६५८३४।)१	ऋण चौ० रामकृष्ण देव बन्धु	६०००)
		,, चौ० ठाकुरदास धर्मशाला	१०६।'।
		,, डा० मथुरादास मोगा	१२२९४॥)४
		,, म० बाबूराम लुध्याना	१०४१॥)
		,, लाहौर बिजली कम्पनी	५००००
		,, गुरुदत्त भवन	२७०००
प्र		डायमंड फ़्लोर कम्पनी	१००)
		पञ्जाब कोआप्रेटिव बैंक	५०)
		आर्य्य कम्पनी	२०१)
		प्रामेसरी नोट	१०००)
		ट्रस्ट आफ इण्डिया	८००)
		पञ्जाब नैशनल बैंक	३४२६५०॥≡)
		गुरुकुल धरोहर	—५४३१२'=
		कन्या गुरुकुल धरोहर	—१५०३)।
		योग	६६५८३४।)१

Registered. No. L. 1424. रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

* ओ३म् *

भाग ६ जून १९२५

अङ्क १ ज्येष्ठ १९८२

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना।

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तोऽराव्णः

ऋग्वेद।

हे प्रभु! हम तुम से वर पावें।
विश्व जगत् को आर्य बनावें॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें।
प्रीति-नीति की रीति चलावें॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

शेरत्चन्द्र लखनपाल प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से बाम्बे मैशीन प्रेस मोहनलाल रोड लाहौर में छप कर प्रकाशित हुवा।

विषय सूची ।

विषय | पृष्ठ

"आर्य्य" के नियम ।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है । (डाक ख़ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है) ।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है । सभा ने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है ।

३—इस पत्र में धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभा की सूचनाएं दर्ज होती हैं ।

४—पत्र में प्रकाशित होने के लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख़ से पूर्व आजाने चाहियें ।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के भीतर सूचना देने से वह अङ्क भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात् मंगवाने पर प्रति अङ्क ।=) देने पड़ेंगे ।

* ओ३म् *

आर्य्य

भाग ६] लाहौर–ज्येष्ठ १९८२, जून १९२५ [अंक १

दयानन्दाब्द १०१

वेदामृत।

सूम की गति।

ओ३म् ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः। या तेषामवमा दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद्विश्वकर्मा। अ० २। ३५। १॥

जो धन होते निर्धन रहते।
सहित कुटुंब क्षुधा–दुख सहते॥
यज्ञ वृथा सूमों ने जाना।
इस गति से यज्ञेश! बचाना॥

शेरनी का क़िस्सा।

(वेद से)

(लेखक—श्री जयदेव शर्म्मा विद्यालङ्कार)

सिंही असि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः। शुन्धस्व सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुंभस्व ॥ (यजुः ५।१०)

शत्रुओं को दमन करने वाली तू शेरनी है। देव लोगों के लिए तू भली प्रकार से बन कर रह। तू शेरनी है और शत्रुओं को दमन करती है। देव लोगों के लिए तू शुद्ध होकर रह। मैली मत रह। तू शेरनी है। शत्रुओं का दमन करती है। तू देव लोगों के लिए खूब सज कर रह।

इस मन्त्र में तीन यजुर्वाक्य हैं और तीनों का देवता उत्तर वेदि है। शतपथ के अनुसार—

(१) उत्तर वेदि यज्ञ की नाक है। (नासिका ह वा एष यज्ञस्य यदुत्तर वेदिः) (शत० का० ३।५।१।१२)

(२) गृहस्थ प्रकरण में उत्तर वेदि यजमान की पत्नी है। (योषा वा उत्तर वेदिः)।(३।५।१।३५)

(३) सिंही वाणी है (तेभ्यो ह वाक् चुक्रोध सा ह एभ्यो ऽपचक्राम तान् सिंही भूत्वाऽऽददाना चचार (३।५।१।२१)

एक ही प्रकरण की व्याख्या में शतपथकार ने उत्तर वेदि के तीन रूप बतलाये हैं। एक वाणी, दूसरा स्त्री, तीसरा यज्ञ की नाक, या शोभा। कर्म काण्ड के अनुसार भाष्यकारों ने शम्या मात्र उत्तर वेदि के वर्णन में उक्त मन्त्र को लगाया है। हे उत्तर वेदि! तू सिंह के समान शत्रु का दमन करती है इस कारण तू देवों के लिये उत्तर वेदि के रूप में बनी रह। यह कह कर वेदी को मिट्टी से बराबर कर देते हैं। फिर उस पर जल छिड़क कर कहते हैं— "शुन्धस्व" तू शुद्ध रह। उस पर रेत की बुकनी छिड़कते हैं और कहते हैं "शुम्भस्व" तू सज कर सुन्दर रूप धारण कर। यह तो उत्तर वेदि के साथ कर्म-काण्ड की प्रक्रिया की गई और उस का वर्णन हो गया। अब गृहपत्नी के पक्ष में लीजिये।

जिस समय स्त्री रजस्वला होती है वह पांसुला होती है। वह वही दशा है जो मिट्टी द्वारा उत्तर-वेदि की की गयी थी। फिर जो वह तीन रात्रियों के बाद जल से स्नान करती है वह वही दशा है जब उत्तर वेदी पर जल छिड़का गया था। फिर वह स्नानादि के बाद अलङ्कार पहन कर सूर्य का दर्शन कर के पति की कामना करती है। वह वह अवस्था है जब सुन्दर चमकते हुए वालुका-कणों से वेदी को सजाया गया था।

अब तीसरी सिंही देखिये—वाणी। शतपथकार कथा कहते हैं—नासिका यज्ञ की उत्तर वेदि है। यतः मुख्य वेदि के उत्तर भाग में इस को खोदा जाता है इस कारण इस को उत्तर-वेदि कहा जाता है। पहले दो तरह की प्रजा थी, आदित्य और आङ्गिरस। पहले आंगिरसों ने यज्ञ की सामग्री इकट्ठी की और अग्नि से कहा कि जाओ अदिति के पुत्र आदित्य! (देव) लोगों को कहो कि कल सुत्या (यज्ञ) होगा। हमें इस यज्ञ द्वारा यज्ञ करा देना।

आदित्य लोगों ने जवाब दिया 'क्या तुम ने हमें आङ्गिरस समझ रखा है? हम आङ्गिरस नहीं है। उन्होंने सोचा कि दूसरा आदमी यज्ञ कर लेगा। हम अग्नि को यज्ञ के बीच में ही पकड़ कर धर लेते हैं। उन्होंने भी यज्ञ की सब तय्यारी कर ली और कहा, तूने यज्ञ की खबर हमें दी थी। हम तुझे आङ्गिरस लोगों के पास भेजते हैं। जा उन को हमारे यज्ञ की सूचना दे आ। तू हमारा और उन का दोनों का होता है। अग्नि के लौट आने पर आङ्गिरसों को बहुत क्रोध हुआ कि यह हमारा दूत था, इस का इतना निरादर क्यों हुआ? अग्नि ने कहा आप लोग भले हैं, आप क्या बुरा मानते हैं? मुझे भले लोगों ने घेर लिया था इसलिए मैं आ नहीं सका था। पहले आङ्गिरसों ने आदित्य लोगों को सद्यः-क्री याग से यज्ञ कराया था। उसके उपलक्ष्य में उनको वाणी दक्षिणा में दी गयी थी। आङ्गिरस लोगों ने उसे स्वीकार न किया था। इसलिए कि कहीं जब आदित्य लोग हमारा यज्ञ करावें गे तो फिर हमें दक्षिणा में वाणी को लौटा देना पड़ेगा। इस लिये उन्होंने आङ्गिरसों को सूर्य दक्षिणा में दिया। उसे उन्होंने स्वीकार किया। तब आङ्गिरस लोग बोले—'हम ने यज्ञ किया था, हम ने दक्षिण भी प्राप्त की। हम ने दक्षिणा में यह पाया जो यह सब को तपाता है। इसी कारण सद्यः क्री–याग में श्वेत घोड़ा दक्षिणा दी जाती है। उस के आगे २ सोना होता है। यह उसी तपाने वाले सूर्य्य का प्रतिरूप है। यदि श्वेत घोड़ा न मिले तो श्वेत बैल दे दिया जाता है और सुवर्ण मुद्रा उस के भी आगे रखी जाती है।

(क्योंकि वाणी को दक्षिणा रूप से स्वीकार न किया गया था इस लिए) वाणी को आङ्गिरसों पर बड़ा क्रोध हुआ । यह सूर्य मेरे किस सम्बन्धी से अच्छा है कि इसे दक्षिणा में स्वीकार कर लिया गया, और मुझे स्वीकार नहीं किया गया ? वह दोनों को छोड़ भाग निकली । वह दोनों के बीच में शेरनी बनकर घूमने लगी और दोनों को हड़पने लगी । तब देव लोगों ने अपना गुप्त सन्देश उसको भेजा । इधर असुर आङ्गिरस लोगों ने भी अपना गुप्त सन्देश भेजा । अग्नि देवताओं का दूत था । वह इधर राक्षसों से भी मिला था । वह वाणी देवों के पास आकर बोली यदि मैं तुम्हारे पास आजाऊं तो मुझे क्या लाभ होगा ? तब देव बोले "अच्छा, तुम को हम अग्नि से भी पहली आहुति देंगे ।" वह बोली "अच्छा मुझ से जो वर या आशीर्वाद प्राप्त करोगे वह सब तुम्हारे लिए बढ़ोतरी देगा ।" खैर, वाणी देवताओं के पास आगयी ।

इसी कारण अग्नि को हाथ में लेकर उत्तर वेदि में थोड़ा घी सेचन करते हैं । यह अग्नि के पूर्व ही आहुति दी जाती है । यह उत्तर-वेदि वास्तव में वाणी है ।

वही जो पहले शेर बन बड़ी उद्विग्न होकर विचर रही थी उसी को यज्ञ में लगा लिया जाता है । इसलिए दक्षिणा का कभी निरादर न करे, नहीं तो वही शेरनी होकर नाश कर देती है ।

अस्तु, शतपथकार ने यह सिंही का वाणी-पक्ष में व्याख्यान किया है । (शत० ३ । ५ । १)

इस कथांश में वाणी का शेरनी बनकर विचरण करना, देवों और असुरों या आङ्गिरसों का यज्ञ करना, दक्षिणा का लेना और न लेना आदि सब आलङ्कारिक रहस्य है जो शरीर, यज्ञ, गृहस्थ, समाज, राष्ट्र और ब्रह्माण्ड की रचना में समान भाव से लगता है ।

वह वाणी गौ रूप है जो दक्षिणा में यज्ञ में दी जाती है । गृहस्थ में वह स्त्री या कुमारी है जो प्रथम आतिथ्य सहित दी जाती है । वह भी सुवर्णाभरणालंकृत करके दी जाती है । उस का निरादर भी नहीं करना चाहिये । महाभारत का घोर युद्ध उसी के निरादर का एक घोर निदर्शन है । वही सिंही होकर सब को खा गयी । रामायण काल में वही सीता थी । रावण द्वारा उस का अपमान ही उस को सिंही बना देने का कारण था ।

समाज में परस्पर के वार्तालाप—अर्थात् मधुर वाणी ही निरादृत होकर विशाल वैमनस्यों में बदल जाती है। फिर यही लाठी बन कर सिर तोड़ा करती है।

कोहाट-काण्ड इसी का निदर्शन है। राष्ट्रों में वही तलवार बन कर नाचती है। इस अंश में वह सिंही पृथ्वी है। उसी का अपमान राष्ट्र-विप्लवों का कारण होता है। उस का सम्यक् रूप से पालन न करना ही उसका निरादर है।

विशाल भौतिक संसार में विद्युत् ही मध्यम वाणी है। वही निरादृत होने पर कितना वज्ररूप हो शेरनी के समान दहाड़ती है और पहाड़ों को तोड़ डालती है।

पहले आंधियां चलना, फिर वर्षा आना और फिर बिजलियों का चमकना और पृथ्वी का हराभरा होजाना यह वही उत्तर वेदी के तीन रूपों का प्रकाश है।

वाणी का प्रथम सङ्कल्प-रूपों में धुन्धले रूप में उदित होना, फिर देवताओं और विद्वानों के लिये शुद्ध व्यक्त रूप प्रकट होना, फिर उसका स्वर व्यञ्जनों द्वारा गीत छन्दों और भाषा के नाना अलङ्कारों सहित लच्छों द्वारा प्रकट होना अवश्यंभावी है।

देवों, विद्वानों, और क्रियावान्, सामर्थ्यवान् पुरुषों के लिये यज्ञ की वेदी, वाणी, स्त्री और दमनकारिणी शक्ति को प्रथम सपत्नसाही होना चाहिये। अर्थात् वह अपने स्वयंवृत पति के अतिरिक्त दूसरे स्पर्धालु, अपमान करने वाले प्रतिपक्षी का मान मर्दन करने में समर्थ होना चाहिये। तभी वह सामर्थ्यवती यज्ञ सम्पादन एवं कार्य सम्पादन में समर्थ होती है। फिर उसे शान्तभाव से रहना चाहिये। तीसरे, उसे सुन्दर अलंकृत रूप में रहना चाहिये। उक्त वेद मन्त्र का अर्थ—ब्राह्मण-ग्रन्थकार वेद मन्त्रों की किस प्रकार सूक्ष्मता से चतुर्मुखी व्याख्या करते हैं—यही दर्शाने के लिये हम ने पाठकों के समक्ष पेश किया है। अभी इस में और भी कितने वैज्ञानिक तत्व भरे पड़े हैं जिनकी व्याख्या समस्त वैद्यक तथा राजनैतिक और समाज शास्त्र हैं। यह तो केवल वेद मन्त्र की दिशा का अनुदर्शन कराया गया है।

क्यों पाठक ! सुना शेरनी का किस्सा ? ओं नमः पूर्व ऋषिभ्यः ॥

——:०:——

ऋषि दयानन्द की वेद भाष्य शैली।

[ले०—श्री० विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार, अजमेर]

ऋषि ने यज्ञ परक व्याख्या क्यों नहीं की ?—यहां एक प्रश्न पैदा होता है कि ऋषि दयानन्द ने मनुष्य, मनुष्य के व्यवहार तथा तत्सम्बन्धी अन्य विषयों का प्रतिपादन तो वेदों में किया और वैसे अर्थों के करने में मनु, निरुक्त, शङ्कराचार्य्य आदि की सम्मति भी अवश्य अनुकूल है। परन्तु निरुक्तकारादि की सम्मति के अनुसार वेदों में याज्ञिक अर्थों का भी तो प्रतिपादन है। ऋषि ने उन अर्थों का प्रतिपादन क्यों नहीं किया ?। तथा ब्राह्मण ग्रन्थ, (जिन को कि ऋषि भी प्रमाण मानते हैं) जब वेदों के याज्ञिक अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, तब तो ऋषि दयानन्द के लिये यह और भी आवश्यक था कि वह वेदों के याज्ञिक अर्थों की भी व्याख्या करते। यजुर्वेद यज्ञों का मूलाधार है। इस वेद का सम्पूर्ण ऋषिकृत भाष्य भी मिलता है। इस में कहीं भी यज्ञपरक अर्थ नहीं, जैसे कि यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में मिलते हैं। अतः इस अंश में ऋषि का वेद-भाष्य यजुर्वेद की प्राचीन व्याख्या शतपथ ब्राह्मण के भी प्रतिकूल सिद्ध होता है। क्योंकि शतपथ ब्राह्मण ही एक ऐसा ब्राह्मण है जिस ने कि अपने वेद यजुर्वेद के प्रत्येक मन्त्र की प्रतीकें देकर मन्त्रों की पूर्ण व्याख्या की है। यजुर्वेद पर महीधर, उव्वट आदि के भाष्य तो प्रायः शतपथ ब्राह्मण के अक्षरों के अनुकूल प्रतीत होते हैं। परन्तु ऋषि दयानन्द का यजुर्वेद भाष्य इस दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण के अनुकूल बिलकुल भी नहीं।

उत्तर—इस प्रश्न के उत्तर में ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका का "प्रतिज्ञा विषय प्रकरण" अवश्य देखना चाहिये। वहां ऋषि निम्न रूप से लिखते हैं—"इस वेद भाष्य में शब्द और उन के अर्थ द्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे। परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में लगाए हुए वेद मन्त्रों में से जहां २ जो २ कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्त पर्यन्त करने चाहियें उन का वर्णन यहां नहीं किया जायगा। क्योंकि उन के अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरय, शतपथ आदि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है। उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों

के लेख के समान दोष इस वेद भाष्य में भी आ जा सकता है । इसलिये जो २ कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्ति प्रमाण सिद्ध है उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं ।"

इस उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषि दयानन्द ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड को भी अवश्य मानते थे । उन्होंने वेदों की याज्ञिक व्याख्या इसीलिये नहीं की, यतः वह व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रथम से ही विद्यमान थी । अतः विद्यमान का पुनरुल्लेख ऋषि ने व्यर्थ जाना ।

प्रश्न—ऋषि का यह उत्तर सुनकर एक प्रश्न और जागृत हो जाता है । वह यह कि जब ऋषि दयानन्द ब्राह्मणों की यज्ञीय व्याख्या को मानते हैं और उसे सत्य भी मानते हैं, तब अच्छा तो यह था कि वह यजुर्वेद की व्याख्या करते ही न । क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में तो यजुर्वेद की पूर्ण व्याख्या विद्यमान ही थी । ऐसा न कर के ऋषि ने यजुर्वेद की ऐसी व्याख्या कैसे कर दी जो कि शतपथ ब्राह्मण के शब्दों के विरुद्ध प्रतीत होती है ? ।

उत्तर—इस उपरोक्त प्रश्न के समाधान के लिये हमें ब्राह्मण ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ विचार करना पड़ेगा । मेरे विचार में, यद्यपि ऋषि का यजुर्वेद-भाष्य शतपथ के स्थूल शब्दों के अनुकूल प्रतीत नहीं होता तो भी वह शतपथ के अन्तर्गुप्त गूढ़ाशय के अनुकूल अवश्य है । इस विचार को पूरे रूप में समझने के लिये मेरी निम्नलिखित स्थापना को अवश्य हृदयगत कर लेना चाहिये । वह यह कि ,,ब्राह्मण ग्रन्थ जिस कर्मकाण्ड का स्वयं प्रतिपादन कर रहे हैं उस में उन का मुख्य तात्पर्य्य नहीं" । इस स्थापना को मैं इस प्रकार भी कह सकता हूं कि ब्राह्मण ग्रन्थों की यज्ञीय व्याख्या, संसार के वैज्ञानिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक गूढ़ सिद्धान्तों का केवल मात्र Demonstration है । ब्राह्मण ग्रन्थों की यज्ञीय व्याख्या प्रतिबिम्ब रूप है और संसार के वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनैतिक, तथा आध्यात्मिक आदि सिद्धान्त बिम्बरूप हैं । या दूसरे शब्दों में मैं यूं भी कह सकता हूं कि असली भारत देश का भारत देश के नक्शे के साथ जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध संसार की मुख्य २ घटनाओं का यज्ञीय व्याख्या के साथ है । जिस प्रकार हम प्रतिबिम्ब को देखकर बिम्ब के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करते हैं, या जिस प्रकार हम दीवार

पर टंगे भारत के नक्शे को देख कर वास्तविक भारत की नदियों, पहाड़ों, शहरों तथा उन के पारस्परिक सम्बन्धों का परिज्ञान करते हैं इसी प्रकार यज्ञीय क्रियाएं तथा यज्ञीय साधन भी संसार के रहस्यों का परिचय देते हैं। जिस प्रकार प्राकृतिक भूगोल का अध्यापक, कृत्रिम सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी आदि के गोले बना कर, और उन्हें आपेक्षिक दूरता पर किसी यन्त्र में अवस्थित कर, विद्यार्थियों को उन की गति तथा आपेक्षिक दूरता का परिज्ञान कराता है, इसी प्रकार ब्राह्मणकार भी, अपने कृत्रिम यज्ञीय साधनों तथा विधियों द्वारा संसार की मुख्य २ घटनाओं का परिचय पाठकों को देना चाहते हैं। संक्षेप में मैं यूं भी कह सकता हूं कि ब्राह्मणकारों ने महान् संसार को अपनी यज्ञीय स्थली में परिणत कर दिखाया है। ताकि संसार की मुख्य २ घटनाओं को हम सुगमता से समझ सकें। अभिप्राय यह कि यज्ञीय क्रियायें, विधियें तथा साधन, संसार के रहस्यों को समझाने में संकेत मात्र हैं। सम्भव है कि श्रोताओं को मेरी यह स्थापना कुछ अनोखी प्रतीत हो। परन्तु इतना मैं अवश्य कह देना चाहता हूं कि यह स्थापना चाहे कैसी अनोखी हो, परन्तु है सत्य। इसी स्थापना को न समझ कर ही पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मणकाल और उपनिषत्काल को भिन्न २ मान लिया है। मेरी इस स्थापना को दृष्टि में रखते हुए यदि पाठक ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों को पढ़ेंगे तो उन्हें ज्ञात हो जायगा कि ब्राह्मण-कार जिन सिद्धान्तों को यज्ञीय विधियों और साधनों द्वारा Demonstrate करते हैं, उन्हीं सिद्धान्तों को हस्तामलकवत्प्रत्यक्ष कराने के लिये उपनिषत्कार जिज्ञासु के अन्तर्बोध को जगाने की कोशिश करते हैं। ज्ञान के मुख्य साधन दो हैं। एक बाह्य इन्द्रियां, और दूसरा Intention अर्थात् अन्तर्बोध या प्रतिबोध। ज्ञान की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थ प्रथम सीढ़ी हैं और उपनिषदें द्वितीय। यह प्रथम और द्वितीय पन, विकाशवाद की दृष्टि से कालकृत नहीं, अपितु जिज्ञासु या अध्येता की बुद्धि-शक्ति की दृष्टि से है। ज्ञान की प्रथमावस्था में, ज्ञान के समझाने के लिये स्थूल साधनों की आवश्यकता होती है, और जैसे २ जिज्ञासु, शनैः २, ज्ञान के मार्ग पर अपने कदम आगे २ बढ़ाता जाता है, उसके साथ ही साथ, अगली २ ज्ञान कोटि के सीखने में, उस के लिये साधन भी बदलते जाते हैं। यही क्रम ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषद् ग्रन्थों में है।

इस स्थापना में कतिपय प्रमाण—मैं इस उपरोक्त स्थापना में कतिपय ब्राह्मण ग्रन्थ के प्रमाण भी उपस्थित करना चाहता हूं।

(१) शतपथ ब्राह्मण पृष्ठ ५ में (वैदिक प्रेस में छपे हुए) दो पवित्रों का विधान है। कुशा के दो पत्रों से जलादि को साफ़ करते हैं। ये ही दो पवित्र हैं। यज्ञ में दो ही पवित्र क्यों होने चाहियें, इसके उत्तर में ब्राह्मणकार कहते हैं, चूंकि शरीर में भी दो ही पवित्र हैं। एक प्राण और दूसरा उदान। ये प्राण और उदान शरीर की पवित्रता करते हैं। ये चूंकि कार्य-भेद से दो हैं, अतः यज्ञविधि में भी दो ही पवित्र चाहियें। १।१।३।१—३।

इसी प्रकार १।३।५।१—५ में यज्ञ और व्यष्टि पुरुष तथा समष्टि-जगत् में सादृश्य दर्शाया है।

व्यष्टि पुरुष का सादृश्य—यज्ञ में तीन स्रुच् (चमस्) होते हैं—जुहू, उपभृत् और ध्रुवा। यज्ञ को व्यष्टि-पुरुष का रूप दिखाते हुए शतपथ में लिखा है, कि पुरुष की दक्षिण भुजा जुहू, वाम भुजा उपभृत्, तथा आत्मा ध्रुवा है। चूंकि आत्मा से शरीर के सब अङ्ग पैदा होते हैं, इसीलिये ध्रुवा पात्र से सब यज्ञ सम्पादित होता है।

यज्ञ में स्रुव नामक भी चमस होता है। इस स्रुव द्वारा आज्य-स्थाली से घी निकाल कर ध्रुवा, उपभृत् और जुहू नामक स्रुवों में डाला जाता है। इस विधि की उपपत्ति ब्राह्मण यूं देते हैं:—स्रुव वास्तव में प्राणरूप है। प्राण चूंकि शरीर के सब अङ्गों में सञ्चार करता है, इसीलिये स्रुव भी यज्ञ के अङ्ग जो स्रुच् हैं, उनमें सञ्चार करता है। अतः यज्ञ में का स्रुव प्राणस्थानापन्न है। यहां तक ब्राह्मणकार ने यज्ञीय स्रुचों और स्रुव द्वारा व्यष्टि-पुरुष के सम्बन्ध का ज्ञान दिया। अर्थात् ध्रुवा से आत्मा का, जुहू से दाहिनी भुजा का, उपभृत् से वाम भुजा का, तथा स्रुव से पुरुष में रहने वाले प्राण का, एवं स्रुव स्रुच् के पारस्परिक सम्बन्धों से आत्मा, दाहिनी भुजा, वाम भुजा तथा प्राण के परस्पर सम्बन्धों का ज्ञान दिया है। इससे पाठकों को स्पष्ट होगया होगा कि यज्ञीय स्रुव-स्रुच्, व्यष्टि-पुरुष की कतिपय घटनाओं की नकलमात्र ही हैं।

इस वर्णन से पाठकों को यह भी ज्ञात होसकता है कि वे मन्त्र जो कर्म-काण्ड या यज्ञीय-व्याख्या की दृष्टि से ध्रुवा, उपभृत्, जुहू तथा स्रुवों का

वर्णन करते हैं । वास्तव में गुप्तरूप से वे आत्मा, दाहिनी भुजा, वाम भुजा, प्राण तथा इनके परस्पर सम्बन्धों का ही वर्णन करते हैं ।

समष्टि जगत् का सादृश्य—इसी स्थान में ब्राह्मणकार ने स्रुव् स्रुच् का समष्टि अर्थात् आधिदैविक रूप भी दिखाया है । यथाः—वह द्युलोक जुहू, अन्तरिक्ष लोक उपभृत् तथा पृथिवी लोक ध्रुवा है । ध्रुवा में से उपभृत में और उपभृत् में से जुहू में घी लिया जाता है । कारण यह कि पृथिवी-रूपी ध्रुवा से ही जल-रूपी घृत प्रथम तो उपभृत्-रूपी अन्तरिक्ष में जाता है और वहां से होकर वह फिर द्युलोक की ओर गति करता है । और स्रुव, जो घी को, ध्रुवा, उपभृत् और जुहू नामक स्रुवों में डालता है, वह तीनों लोकों में बहने वाला वायु ही है । चूंकि वायु-रूपी स्रुव, जल-रूपी घृत को, पृथिवी से अन्तरिक्ष में और अन्तरिक्ष से द्युलोक की ओर लेजाता है, अतः स्रुव स्रुच् के इस आधिदैविक-रूप को दृष्टि में रखते हुए हम उन मन्त्रों से—जिनमें कि याज्ञिक व्याख्या की दृष्टि से स्रुव स्रुच् का वर्णन है—आधिदैविक दृष्टि में, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, इनमें बहनेवाला वायु तथा इनके परस्पर सम्बन्ध—ये अर्थ भी ले सकते हैं । अतः स्रुव स्रुच् के उदाहरण से पाठकों को यह भाव अवश्य स्पष्ट होगया होगा, कि उन मन्त्रों से—जिनमें कि याज्ञिक-दृष्टि से स्रुव स्रुच् का वर्णन है—आध्यात्मिक-दृष्टि में पुरुष का, तथा आधि-दैविक-दृष्टि में जगत् का भी वर्णन हम कर सकते हैं । और वास्तव में उन मन्त्रों की आध्यात्मिक और आधिदैविक व्याख्या ही ब्राह्मणकार को गुप्तरूप से अभीष्ट है । यतः याज्ञिक-विधियां केवल इन तत्त्वों की नकल-मात्र हैं ।

इसी प्रकार स्रुचों के परस्पर सम्बन्ध द्वारा, ब्राह्मणकार, एक आधि-भौतिक अर्थ की ओर भी निर्देश करते हैं । वे कहते हैं कि यजमान अर्थात् राष्ट्रीय यज्ञ का करने वाला राजा जुहू है और प्रजा उपभृत् । यज्ञ में उपभृत् से जुहू में इसलिये ही घी डाला है, चूंकि जुहूरूपी राजा अर्थात् भक्षक होता है और उपभृत् रूपी प्रजा आद्य अर्थात् भोग्य होती है । जिस प्रकार प्रजा का कर राजा के कोष में जाता है इसी प्रकार उपभृत् का घी जुहू में जाता है ।

ब्राह्मण का यह प्रकरण कुछ लम्बा है, अतः मैंने केवल भाषानुवाद ही यहाँ दिया है ।

अपनी उपरोक्त स्थापना के सम्बन्ध में ब्राह्मणों के सैंकड़ों प्रमाण मैं पेश कर सकता हूं परन्तु लेख कहीं लम्बा न हो जाय इस भय से दो तीन प्रमाण ही पेश किये गए हैं।

यहां पर पाठक पुनः पूर्व प्रश्न का स्मरण करें कि ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद के याज्ञिक अर्थ क्यों नहीं दर्शाये ? संक्षेप में अब इस का उत्तर यूं हो सकता है कि ऋषि ने यह समझा कि यजुर्वेद के याज्ञिक अर्थ तो ब्राह्मण ग्रन्थों मे विस्तार से लिख ही रखे हैं। परन्तु ये याज्ञिक क्रियाएं और विधियें गुप्तरूप से जिन आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक अर्थों की ओर निर्देश कर रही हैं, और जिन की ओर निर्देश करना ब्राह्मणकारों को अवश्य अभीष्ट है—यतः इन अर्थों की ग्रन्थरूप में स्पष्ट व्याख्या कहीं भी प्राप्य नहीं अतः इन्हीं अर्थों का प्रकाशन करना ही उचित है। अतएव ऋषि ने अपने वेद भाष्य में इन्हीं अर्थों को प्रकाशित किया है, और याज्ञिक अर्थों को नहीं। इसलिए ऋषि की वेद भाष्य शैली के गूढ़ तत्त्व के जानने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों और आरण्यक ग्रन्थों का सतत अध्ययन अत्यावश्यक है॥

(शेष फिर)

चिरकाल का ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य के लिये क्या हानिकारक है ?

[ले०—श्री० विश्वनाथ आर्योपदेशक]

र्य के ऋष्यङ्क में ब्रह्मचर्य विषय पर एक लेख निकला था, जिसका सार यह है कि पाश्चात्य विद्वानों के अनुभव के अनुसार शरीर का स्वास्थ्य तथा दृढ़ता अण्डकोषों की स्वस्थता तथा शक्तिमत्ता पर अवलम्बित होती है। और अण्डकोशों की बलिष्ठता ब्रह्मचर्य पर निर्भर है। जब किसी बैल अथवा घोड़े को अण्डकोष से रहित (ख़स्सी) कर दिया जाता है तो वह पौरुषहीन और निस्तेज सा हो जाता है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य चिरकाल तक ब्रह्मचारी रहे तो उस के अण्डकोष में एक प्रकार का विष उत्पन्न हो जाता है, जो अण्डकोष तथा सारे शरीर के

लिये हानिकारक सिद्ध हुआ है। इस के अतिरिक्त प्राकृत नियमानुसार जब प्रजननेन्द्रिय से उसका स्वाभाविक कार्य नहीं लिया जाता तो वह उस कार्य के योग्य नहीं रहती। अर्थात् मनुष्य में नपुंसकता का प्रादुर्भाव हो जाता है। यही दोष स्त्रियों में भी उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु लेखक की सम्मति में योगाभ्यास द्वारा उपर्युक्त दोषों को रोका जा सकता है।

शरीर की स्वस्थता का अण्डकोषों से सम्बन्ध है—यह तो ऋषियों की अनुभव सिद्ध बात है। और इस में भी सन्देह नहीं कि यदि स्त्री पुरुष मर्यादा से प्रजनन कार्य करें तो किसी प्रकार की निर्बलता नहीं हो सकती। इसी बात को लक्ष्य में रख कर मनु जी ने कहा है कि—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदार निरतः सदा।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ मनु० ॥

अर्थ—पुरुष को उचित है, कि वह ऋतुगामी तथा केवल अपनी ही स्त्री में सन्तोष करे। इस अवस्था में वह ब्रह्मचारी के सदृश ही होगा। परन्तु चिरकाल के ब्रह्मचर्य से उपर्युक्त दोषों का उल्लेख किसी आर्ष-ग्रन्थ में नहीं देखा। इसके विरुद्ध सत्प्रतिज्ञ दृढ़व्रती, आजन्म ब्रह्मचारी भीष्म पितामह इस ब्रह्मचर्य्य के बल पर ही वृद्धावस्था में भी युद्ध में अर्जुन जैसे योधाओं और नवयुवक सैनिकों के छक्के छुड़ाते थे। वर्तमान समय में महर्षि दयानन्द जी ने अपने अखण्ड ब्रह्मचर्य्य का परिचय देकर प्राचीन ब्रह्मचारिगण आर्यों की कथाओं तथा ब्रह्मचर्य की महिमा विषयक सच्छास्त्रों के उल्लेखों को सत्य कर दिखाया है। प्राचीन साध्वी और पतिव्रता देवियों के जीवन को उद्बोधित करती हुई आर्य देवियों के पवित्र जीवन का चारों दिशाओं में परिचय देती हुई भारतीय सभ्यता का ज्वलन्त प्रमाण आजन्म ब्रह्मचारिणी भाग्यहीना बालविधवा आर्य्य-देवियां ६०, ७० वर्ष की आयु में अपने साहस, परिश्रम और मुखकान्ति से २०, २५ वर्ष की युवतियों को लजाती हुईं, इस पाश्चात्य सिद्धान्त की अवहेलना करती हुईं, इस पतित समय में भी दिखाई देती हैं। योगाभ्यास शरीर, बुद्धि और आत्मा की उन्नति के लिये अत्युत्तम आर्ष साधन है। परन्तु इस बात का प्रमाण कोई नहीं कि ब्रह्मचर्य्य से होने वाली हानि को यह रोकने वाला है। आर्य्य-धर्म-शास्त्र अथवा वैद्यक-शास्त्र तो ब्रह्मचर्य्य में ऐसा कोई दोष ही नहीं देखते। और पाश्चात्य डाक्टरों के पास इस प्रकार का कोई अनुभव

ही नहीं, कि योग इस हानि का प्रतिकार है। महर्षि चरक ब्रह्मचर्य्य का गुण-गान करते हुए लिखते हैं—

पुण्यतममायुप्रकर्षकरं जराव्याधिप्रशमनमूर्जस्करममृतं शिवं शरण्यं श्रोतुमर्हमथोपधारयितुं प्रकाशयितुं प्रजानामनुग्रहार्थमार्षं ब्रह्मचर्य्यम् ।

अर्थ—अत्यन्त पुण्यरूप, आयु को बढ़ाने वाला, जरा-व्याधि को दूर करने वाला, बल का भण्डार, मौत को जीतने वाला, कल्याणरूप, शरण करने योग्य, सुनने, सुनाने और धारण करने योग्य, प्रजा के सुख के लिये यह आर्ष ब्रह्मचर्य्य है।

इतना लिखने पर भी मुझे आशा नहीं है कि सभ्य पाठकों ने पाश्चात्य ब्रह्मचर्य के विरोधी भावों को हृदय से निकाल दिया होगा। क्योंकि वर्त्तमान युग पाश्चात्य विचारों से ऐसा प्रभावित है कि वैदिक-सिद्धान्तों की सत्यता के लिये पाश्चात्य साक्ष्य, प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अतिरिक्त नवम प्रमाण माना जाता है। और फिर जहां कहीं वैदिक-सिद्धान्तों और योरुपीयन विचारों की टक्कर लगे, वहां तो इसकी बहुत आवश्यकता पड़ जाती है। अतएव मेरे लिये आवश्यक होगया है कि आपके समक्ष इस विषय में कोई पाश्चात्य निश्चयात्मक सिद्धान्त भी उपस्थित करूं।

नारवे देश में एक सभा "यूनियन फ़ार दी एडवानसमिंट आफ़ पब्लिक मुरैलिटी" के नाम से स्थापित है। उसने क्रुश्चियन यूनिवर्सिटी की मैडिकल फ़ेकलटी से (जिसमें उत्तरीय योरूप के सर्वोत्तम डाकृर सम्मिलित हैं,) एतद्विषयक प्रश्न पत्र द्वारा पूछ भेजा, तो उन्होंने निम्नलिखित उत्तर दिया :—

"कुछ लोगों ने वर्त्तमान समय में ही अपनी सम्मति प्रकट की है। बल्कि समाचार-पत्रों और बहुत सी सभाओं ने भी इसका अनुमोदन किया है, कि ब्रह्मचर्य्य का रखना और जीवन को उच्च धार्मिक रीति से व्यतीत करना स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। उनकी यह सम्मति हमारे अनुभव से सर्वथा अशुद्ध है। हम सर्व-सम्मति से प्रकट करते हैं, कि हमें न ऐसे रोग का ज्ञान है, और न ऐसी निर्बलता का, जो पूर्ण ब्रह्मचर्य्य और धार्मिक-जीवन व्यतीत करने से उत्पन्न हो। अपने सबके अनुभव (तजुरबा) से हम कह सकते हैं, कि ब्रह्मचर्य्य पुरुष और स्त्री के लिये कुछ भी हानि-कारक नहीं।"

(आर्य्य मुसाफिर मई सन् १९०६ ईस्वी)

———

समास या व्यास।

(लेखक—श्रीयुत आत्मानन्द जी विद्यालङ्कार)

भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न शब्द अपने अर्थ की सीमा का सङ्कोच या विस्तार करते रहते हैं। इनमें 'आर्य्य' शब्द भी एक है। कैसी विचित्र स्थिति है, कि काशी के श्रीविश्वनाथ जी के मन्दिर के ऊपर लिखे 'आर्येतराणां प्रवेशो निषिद्धः' इस वाक्य में आर्य शब्द का कितना व्यापी अर्थ है? सामान्य हिन्दु जाति आर्य्य शब्द का विस्तार आर्य्यसमाजियों तक रखना चाहती है और साम्प्रदायिक आर्य्यसमाजी भी इसकी सीमा साम्प्रदायिक (कट्टर) आर्यसमाजियों तक ही रखना चाहते हैं। दूसरी ओर श्री दयानन्द जी को लगभग वही अर्थ अभिप्रेत था जो वस्तुतः "आर्येतराणां प्रवेशो निषिद्धः" इस वाक्य में आर्य शब्द से द्योतित होता है। यहांतक कि परोपकार के कार्य्य में तो वे समूची आर्यजाति के व्यक्तियों को सम्मिलित करना चाहते थे जैसा कि 'परोपकारिणी सभा' की सभ्यसूची से प्रकट होता है। उसमें रायसहिब मूलराज और श्रीरानडे महोदय का सम्मिलित करना और श्री यावदार्यकुल कमलदिवाकर हिन्दुकुलपति महाराणा सज्जन सिंह जी का प्रधान बनाना स्वामीजी की इस प्रवृत्ति का स्पष्ट सूचक है।

प्रश्न होगा—क्या हमने यह प्रवृत्ति स्थिर रखी? उत्तर—पर्याप्त समय तक तो नहीं। यद्यपि मथुरा में आर्य्य विद्वत्परिषद् में यह देखकर हर्ष होता था कि वहां 'आर्य्य' शब्द का व्यापी अर्थ ही प्रायः सभ्यों को अभीष्ट होता था। व्यावहारिक बुद्धि से भी देखें तो हम आटे में नमक के बराबर क्या कर सकते हैं यदि समूची आर्य्यजाति की धर्म-बुद्धि, धन, क्षात्रबल, संघशक्ति की सहायता न लें। डी० ए० वी० कालेज और गुरुकुलों की समूची धन सूची की सूक्ष्म दृष्ट्या पड़ताल की जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी।

क्या हम इस उदात्त प्रवृत्ति के प्रचार में स्वयं विघ्न नहीं?

हैं। कैसे? आप हमारे उपदेशक महानुभावों के भाषणों में अनेक गुणों को पाते हुए यह दोष भी पावेंगे कि वे दृष्टान्त के लिये श्री दयानन्द जी के चरित्र की चर्चा ही अधिक करते हैं। इतर ऋषिजन, सन्त, महात्मा, गुणिजनों के

चरित्रसागर में से रत्नों के जोड़ने का यत्न नहीं करते। यह सत्य है कि पिछली शताब्दी में हुए सत्पुरुषों में श्री दयानन्द जी शिरोमणि हैं, पर इतिहास तो समुद्र है, कूप या तालाब नहीं। इस प्रवृत्ति से व्यापी, महान् सत्य की रक्षा नहीं होती। हमारे उन भाइयों के भाषणों में यह दोष अधिक आता है जो पहिले स्कूल कालिजों में पढ़ते हैं और पीछे सामाजिक क्षेत्र में धर्म कार्य्य में सहसा बद्ध परिकर होजाते हैं।

दूसरा विघ्न हमारा खण्डन का प्रकार है। यह सत्य है कि स्वामी जी बड़ा कड़ा खण्डन करते थे। बड़े २ राजाओं को कुत्ता कहना और बाईबिल, कुरान, के खण्डन इसके दृष्टान्त हैं। और अब भी खण्डन की ज़रूरत है। खेत साफ़ किये बिना बीज ठीक उगता नहीं, फोड़े की पीप नश्तर से ही ठीक निकलती है। पर खण्डन के बाद स्वामी जी अपने आचार से जो सन्मार्ग दिखा सकते थे क्या वह हम लोग दिखा सकते हैं? श्रद्धावान्, सदाचारी प्रेम के भरे भाई खण्डन करें, तो यह सत्य की महिमा है कि वह स्वयं घर कर जायगा। तर्कशुष्कमति साम्प्रदायिकजन कीर्तिकामना से जब यह कार्य्य करते हैं तो लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। आर्यत्व का फैलाव नहीं, सङ्कोच होता है। लोग आर्यत्व की परिधि से परे ही रहना चाहते हैं आकर गले नहीं लिपटते। कुटिल पुरुषों को जाने दीजिये; किन्तु भोली हिन्दु जाति सत्य की ओर खिचना जानती है, पर सुपात्रों के हाथ से। सब प्रकार के गुणों का विनियोग समाज करें इसी में नेताओं की और जनता की बुद्धिमत्ता है। पर उसका प्रतिद्वन्द्वी गुण भी साथ है। जिनको हम आस्तिक नहीं बना सकते उनको आंशिक सत्य से भी विमुख करना परिणाम में सुखकर नहीं। मूर्त्तिपूजकों के पुत्र लाखों नये पढ़े लिखे इसके दृष्टान्त हैं। गवर्नमैण्ट से सम्बद्ध ऐसी संस्थाएं खोलते जाना जो पहिली पीढ़ी में अंशतः उपकार जननी थीं पर दूसरे सम्प्रदायों ने भी नक़ल से उस दिशा में वही कार्य्य किया। परिणाम, जहां एक बड़े स्थान में आर्यस्कूल हैं वहां सनातन, इस्लामिया, खालसा, (कहीं कहीं ब्रह्म और देवसमाजी भी) खुल रहे हैं, या खुल जावेंगे। अब भाई! इस ढङ्ग की शालाओं से लाभ के बदले हानि अधिक है और यह प्रवृत्ति साम्प्रदायिक जंजीरों को मजबूत कर रही है। यह करोड़ों रुपया विदेशी भाषा, पुस्तकें सामग्री, रुचि, वेषभूषा में खर्च करवाती है, अफसरों की खुशामदें बढ़ाती है, सरकारी सहायता के लिये दूसरे पक्षों से

झड़वाती है। बच्चों की चित्तवृत्ति को भी कूपमण्डूक की चित्तवृत्ति सी कर देती है। विचित्र बात है कि गुरुकुल के स्नातकों में वाह्य परिस्थिति के कारण जाति प्रेम और आर्यत्व के अर्थ की सीमा दोनों सङ्कुचित होने चाहियें थे पर प्रायः हमारे दिलों में आर्यजाति के सब अङ्ग समा जाते हैं इसीलिये हमें किसी भी वर्ण और इतरेतर प्रान्तों के लोग अपने से इतने भिन्न नहीं लगते जितने दूसरों को । इस भाव के प्रचार में यदि उनसे काम लिया जाय तो पर्याप्त सफलता हो सकती है।

आर्य्यत्व का फैलाव कैसे हो ? परोपकारिणी सभा को दृढ़ करने से जिसमें साम्प्रदायिक भाष्यों, और भावों को परे रख के मूल, वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद्, दर्शनादि का प्रचार हो। विधवाओं, अनाथों की रक्षा हो। द्वीप, द्वीपान्तर में वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार, हो । क्या हमारे आर्य्य नेताओं में यह भावना है कि स्वामी जी के स्वीकारपत्र के भाव और भाषा के अनुकूल, परोपकारिणी सभा में हिन्दुकुलपति राणा, गान्धी जी गायकवाड़ नरेश, माइसोर नरेश,काश्मीर नरेश,शादीलाल,मालवीय, भगवानदास शिवप्रसाद गुप्त, श्री निवास शास्त्री, प्रभृति में से चुनकर सहायता लें ? इतना ही नहीं, जिन २ धर्म के अङ्गों में हम दूसरों से सहमत है उसमें समान मति वालों से मिलकर प्रचार हो। जैसे शराब के विरोध में, मुसलमान, हिन्दू सिक्ख सब एक हैं। संस्कृत हिन्दी प्रचार में समूची हिन्दू जाति एक है। बालविवाह में २० वर्ष की वर की आयु तक सभी शनैः २ आवेंगे। प्रत्येक वर्ष एक वर्ष आगे बढ़ाके २४ तक ले आवें। स्वास्थ्यप्रचार, रोग-दूरीकरण में सब मिलकर काम कर सकते हैं। रुख बदलने की जरूरत है। शताब्दी रुख दे सकती थी पर उसने नहीं दिया, बड़ा शोक है। शायद दशाब्दी देवे ! नहीं तो पञ्चाब्दी विद्वानों को इसी उद्देश्य से ही करनी चाहिये ।

भारतीय राज्यव्यवस्थाओं का अनुशीलन।

(गताङ्क से आगे)

[ले०--पं० भोमसेन जी विद्यालङ्कार (प्रतिष्ठित) सम्पादक 'सत्यवादी' लाहौर]

राजा सब काम इनकी सलाह से ही करता था, सन्धि विग्रह उन्नति आदि बातों के विषय में राजा उनके साथ पृथक् पृथक् भी विचार करता था और इकट्ठे भी। मन्त्रि मण्डल की सत्ता इससे प्रतीत होती है।

इन सचिवों के अतिरिक्त एक राजदूत भी होता था जो कि पर राष्ट्रों से स्वराष्ट्र का सम्बन्ध ठीक रखता था। मनु के अनुसार राष्ट्र सम्बन्धी विशेष नियमों का निर्माण मन्त्रिगण ही करते थे। मनु के समय में ग्राम को राष्ट्र की इकाई मानकर शासन किया जाता था। ये ग्राम अपने२ कार्यों में स्वतन्त्र थे। दो, तीन, या पांच गांवों के बीच में एक गुल्म होता था। वर्तमान भाषा में हम इसे लोक सत्तात्मक, 'थाना' कह सकते हैं। फिर १० गांवों के, २० गांवों के, १०० गांवों के हज़ार गांवों के अधिकारी होते थे। जब ग्राम में कोई दोष उत्पन्न हो या कोई अनर्थ घटना हो, तो मनु के अनुसार ग्रामपति दश ग्राम पति को, दशग्राम पति विंशति ग्राम पति को और विंशतिग्राम पति सहस्रग्राम पति को उसकी सूचना देनी चाहिये। यद्यपि ग्राम अपने कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्र थे पर मन्त्रिपरिषद् का एक मन्त्री इन्हीं ग्रामों के कार्यों के आन्तरिक शासन के कार्यों का निरीक्षण करता था। वर्तमान भाषा में इस मन्त्री को हम स्वराष्ट्र सचिव या गृह सचिव कह सकते हैं।

शासन में स्थानीय स्वराज्य का पूरा ध्यान रखा जाता था। इसी स्थानीय स्वराज्य (Local self government) का यह परिणाम है कि भारत में मुसल्मानों के शासन काल तक भी ये ग्राम सदा स्वतन्त्र रहे हैं। इन ग्रामों ने ही भारतीय सभ्यता को विदेशी आक्रमणों से सदा बचाए रखा है। *इन ग्रामों

---

* मौलाञ्छास्त्र विदः शूरांल्लब्ध लक्षान् कुलोद्गतान्,
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥
तैःसार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्,
स्थान समुदयं गुप्तिः लब्ध प्रशमनानि च ॥

का प्रबन्ध पञ्चायतों द्वारा होता था ।*

मनुस्मृति के अनुसार देशके आन्तरिक शासन का यह स्वरूप है कि राजनैतिक संस्थाओं में स्थानीय शासन की मुख्यता है ।

मनु के समय न्याय विभाग का भी मुखिया राजा ही होता था । मनुस्मृति के अनुसार राजा को ब्राह्मणों के साथ मिलकर राष्ट्र में न्याय का संचालन करना चाहिये । न्याय के लिये केवल कानून ही काफ़ी नहीं थे । परन्तु रीति-रिवाज़, कुलक्रमागत नियमों पर भी ध्यान रखना पड़ता था । राजा को ग्राम, संघ आदि के विषय में निर्णय करते समय उनके नियमों पर भी ध्यान रखना आवश्यक था । मनुके अनुसार यदि कोई मनुष्य इन ग्रामों और संघों के साथ किये हुए ठेके, समझौते व प्रतिज्ञा को तोड़े तो राजा को उसे देश से निकाल देना चाहिये ।

प्राचीन काल में व्यापारियों के आर्थिक संगठन थे जिन का नाम गण

तेषां स्वमभिप्रायं उपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानाञ्च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥
मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्य संयुतम् ।
सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ॥
नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तस्तस्मिन्कर्माणि निक्षिपेत् ।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समाचरेत् ॥

* द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्,
तथा ग्राम शतानाञ्च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ।
ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दश ग्रामपतिं तथा,
विंशतीशं शतेशञ्च सहस्रपतिमेव च ॥
ग्राम दोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकःशनकैः स्वयम् ।
शंसेद् ग्राम दशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्,
शंसेद् ग्राम शतेशस्तु सहस्र पतये स्वयम् ।
तेषां ग्राम्याणि कर्माणि पृथक् कार्याणि चैव हि,
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥

था। धार्मिक संगठनों की प्राचीन संज्ञा संघ है। उसकी ही ओर यहां निर्देश किया गया है।

ग्राम-पञ्चायती में परस्पर मिलकर स्वयं शासन करने की शिक्षा मिलती थी, अब वह कुछ नहीं रहा। भारतीय इतिहास का सबक है कि यदि देश में शान्ति स्थापित करनी है, धार्मिक, नैतिक तथा सामाजिक शान्ति स्थापित करनी है, तो ग्रामों में ग्राम-पञ्चायतें बनाओ। ग्राम-पञ्चायतों से ही सच्ची राष्ट्रीयता पैदा होसकेगी। लोकलबोर्ड, म्युनिसिपैलटियां तथा कौंसिलें, राष्ट्रीयता को नष्ट करने वाली साम्प्रदायिकता को पैदा करती हैं. स्वराज्य स्थापित करने का मुख्य रचनात्मक मार्ग यही है कि फिर से ग्रामों में ग्राम-पञ्चायतें कायम करो। जब देश में इन ग्राम-पञ्चायतों का जाल फैलेगा, तभी स्वाधीनता स्थापित होगी। रूस वालों ने अपनी ग्राम-पञ्चायतों को स्थापित करके, ज़ारशाही का अन्त किया था। भारत में भी नौकरशाही का अन्त इन ग्राम-पञ्चायतों द्वारा ही होगा। आशा है, देश-प्रेमी कर्म-वीर ग्राम-पञ्चायतों के महत्त्व को समझेंगे।

---

* सतामनु परिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयं,
तेषां वृत्तं परिणमेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः॥
नगरे नगरे चैकं कुर्यात् सर्वार्थ चिन्तकम्,
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामविग्रहम्॥
राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः,
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः सदा॥
राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्य जनस्य च,
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः॥

† महाशय ई० बी हैवल ने The History of Aryan Rule in India में भारतीय चित्रकला और भवनकला के आधार पर ग्रामों के संगठन का वर्णन किया है। वे लिखते हैं—

" The Aryan system was a scientific organisation based upon sanitary laws and inspired by high ethical and social ideals. It was a scheme of common village life, worked out by the Practical Philosophy of one of the most highly gifted of the races of man kind in which each section of the com-

इस प्रकार हमने देख लिया कि मनु के समय की संस्थाओं की क्या विशेषताएं है।

> व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
> मन्त्रज्ञैः मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥८।१॥
> प्रत्यहं देश दृष्टैश्च शास्त्र दृष्टैश्च हेतुभिः।
> अष्टादशसु भागेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥८।३॥
> यो ग्राम देश सघानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
> विसंवदेन्तरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥

इस प्रकार मनु के समय तीनों विभागों का मुखिया राजा था। परन्तु यह राजा स्वतन्त्र नहीं होता था। इसे देश के वृद्धों और ब्राह्मणों के सामने झुकना पड़ता था, उनके आदेशानुसार काम करना होता था और साथ ही नियमों को उल्लंघन करने पर दण्ड भी भोगना पड़ता था।

> ब्राह्मणान् पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
> त्रैविद्यवृद्धान् विदुषाँस्तिष्ठेत्तेषान्तु शासने ॥

---

munity and each individual member of it took their allotted shares of work for the common welfare. Not under the compulsion of an autocrate or of a ruling caste, but by a clear perception of mutual advantage and a voluntary recognisation of superior intellectual leadership (P. 10)."

"The Aryan village was the basis of Indo-Aryan polity and its history is the real history of India.

आर्यों के ग्राम संगठन में स्वतन्त्रता का भाव समाया हुआ था। इन में Democrecy का पूरा प्रभाव था। ग्रामों के इस सुसंगठन के कारण ही ये ग्राम संस्थाएं कभी पराधीन नहीं हुईं। चार्लस मेटकाफ १८३० की विवृत-पत्रिका में लिखते हैं:—

"The village communities little republics..............................
Hindu, Pathan, Mogal, Maharatta, Sikh, English, are masters n turn, but the village communities remain the same,

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन्।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धराश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥७।२८॥
कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥८।३३६॥

प्रथम दो श्लोकों से सिद्ध होता है कि सब विभागों का मुखिया होते हुए भी राजा को ब्राह्मणों का शासन मानना पड़ता था। आर्य्य सभ्यता के अनुसार क्षात्र बल का प्रयोग सदैव विचार शक्ति या ब्राह्मणों के द्वारा ही होता था। हमारे देश वासियों ने जब तक इस नियम का ध्यान रखा तब तक देश में शान्ति और व्यवस्था बनी रही। यदि राजा धर्म का उल्लंघन करे तो उसे भी दण्ड दिया जा सकता था। प्रजा के प्रतिनिधि या रक्षक ब्राह्मण ही इसका दण्ड विधान करते थे।

मनु के इस राजव्यवस्था के वर्णन को पढ़कर कई विचारकों के दिलों में यह प्रश्न उठता है कि क्या मनु के समय कोई भी ऐसी सभा न थी जहां कि प्रजा के प्रतिनिधियों को शासन प्रबन्ध में भाग लेने का मौका दिया जाता हो? क्या उस समय ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं था जिससे प्रजा के प्रतिनिधि अपनी आवाज़ राजा तक पहुंचा सकें? वैदिक समय की सभा समितियों और प्रजा-सम्बन्ध को देखकर इस प्रश्न का उठना आवश्यक ही है। राजा की मन्त्रिपरिषद् और न्याय के लिये निश्चित की गई ब्राह्मण सभाओं के वर्णनों को यदि ध्यान से पढ़ें तो मनु के समय में भी ऐसी सभा समितियों की स्थिति देखी जा सकती है। प्रजा के सम्बन्ध विषय में निम्न श्लोक को ध्यान से देखना चाहिये—

तत्र स्थिताः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥७।१४६॥

इस श्लोक से स्पष्ट है कि राजा प्रजा से सीधा सम्बन्ध रखता था। राजा अपने मन्त्रियों से गुप्त सलाह करने से पूर्व साधारण प्रजा से भी साक्षात्कार कर उनकी बात भी सुनता था।

ऋणी कैलाश।

(लेखक—श्रीयुत बैसाखीराम, जम्मू)

[१]

कैलाश छोटी अवस्था में ही अनाथ होगया था। उसके माता पिता उसको तीन वर्ष का छोड़कर परलोक सिधार गये थे। उसके पिता ने शराब बेच बेच कर खासी धन-दौलत पैदा करली थी, परन्तु वह धन ही क्या जो बुरे पेशे से कमाया जावे? ऐसा धन अन्त में कष्ट तथा शोक का ही कारण होता है।

बिरादरी ने पिता की मृत्यु के पश्चात् पाप कैलाश के सारे धन को उसके चचा के सुपुर्द कर दिया। वह बड़ा लोभी और क्रोधी था। कैलाश ने बाल्यावस्था तो जैसे तैसे उसके पास व्यतीत की, परन्तु जब वह कुछ स्याना हुआ तो तङ्ग आकर उसने घर से निकल जाने का विचार किया, क्योंकि उसके चचा बात बात पर उसको डांटते और ज़रा ज़रा से अपराध पर मार मारकर उसका शरीर सुजा देते थे।

आख़िर समय पाकर कैलाश घर से निकल भागा। उसके पास खर्च के लिये एक पैसा तक नहीं था, और शरीर पर केवल फटे पुराने वस्त्र ही थे। घर से निकल कैलाश जब स्टेशन पर आया, तो उसने वहांपर एक मुसा-फिर-गाड़ी को खड़ी पाया। न जानते हुए, कि वह कहां जारही है, वह बगैर टिकट लिये ही उसमें जा बैठा। जिस डिब्बे में कैलाश ने यात्रा आरम्भ की, उसमें एक सन्यासी महात्मा भी विराजमान थे। महात्मा जी के मुख-मण्डल पर एक अपूर्व ज्योति छारही थी। वह प्रत्येक को अपनी करुणा-भरी दृष्टि से देख रहे थे। ज्यों ही कैलाश डिब्बे में घुसा, सन्यासी जी की दृष्टि उसपर जा पड़ी, और वह उसको बड़े गौर से देखने लगे।

बालक कैलाश इससे पहले घर से कभी अकेला नहीं निकला था। उस स्थान पर जब उसने अपने आपको अनजान पाया; तो उसको घर की याद आगई—यद्यपि उसको वहां बहुत कष्ट था—और उसकी आंखों से अश्रु-वर्षा आरम्भ होगई। सन्यासी जी उसे देखकर जान गये कि कोई दुखिया है।

उन्होंने उसके पास जाकर बड़े प्रेम से उसकी पीठ पर हाथ फेरा। कैलाश ने जब मुख ऊंचा किया, तो सामने एक महात्मा को देखकर उसकी आत्मा को कुछ साहस हुआ, और उसके मुखपर कुछ प्रसन्नता भी प्रकट हुई।

मालूम नहीं सन्यासी के हाथ में क्या जादू था, कि इतनी जल्दी कैलाश का मन पलट गया। महात्मा ने करुणा-भरी आवाज़ में कैलाश से पूछा—"ऐ बेटा! तू इतना उदास क्यों है? अपने दुःख की बात मुझसे कह।" कैलाश ने थोड़े ही समय में टूटे-फूटे अक्षरों में अपनी राम-कहानी कह सुनाई। उसे सुनकर महात्मा का दिल भर आया। माना, कि सन्यासी को दुःख और शोक नहीं होता, परन्तु ऐसा कोई विरला ही मानवीय-हृदय होता है, जो दुःखी को देखकर तड़प नहीं उठता। महात्मा के लाख सम्भालने पर भी आंसू टपक ही पड़े। कुछ काल के पश्चात् सन्यासीजी ने उससे फिर पूछा—"बेटा, अब तुम क्या करना चाहते हो?" कैलाश ने बड़े दीनभाव से कहा—"यदि मेरे लिये किसी प्रकर भोजन वस्त्र का प्रबन्ध होजावे तो मैं विद्या-ग्रहण में लगना चाहता हूं।" इसी प्रकार बातें करते करते एक स्टेशन आया, जहां महात्मा कैलाश को सङ्ग लेकर गाड़ी से उतर शहर की ओर चल पड़े। कुछ काल के बाद वह एक भवन में पहुंचे, जिसके आंगन में बहुत-से बालक आसनों पर बैठकर सन्ध्या कर रहे थे (क्योंकि यह सन्ध्या का समय था)। यह आर्य्य-समाज द्वारा स्थापित एक अनाथालय था। सन्यासी जी ने कैलाश को उसी अनाथालय में दाखिल कर दिया।

[२]

कैलाश बड़ा होनहार लड़का था। पाठ को आसानी से याद कर लेता था। समय पाकर उसी अनाथालय द्वारा उसने प्राईवेट तौर पर ऐन्ट्रैन्स परीक्षा पास की, और इसके पश्चात् अनाथालय द्वारा छात्रवृत्ति दिये जाने पर वह कालेज में प्रविष्ट होगया। चार साल में कैलाश ने बी. ए. पास कर लिया। वह अपनी श्रेणी में प्रथम और प्रान्त में उसका नम्बर बहुत ऊंचा रहा। कालेज के प्रबन्धकर्ताओं ने सन्तुष्ट होकर तथा दयाभाव से उसे दो वर्ष के लिये ५०) मासिक छात्रवृत्ति देना निश्चित किया, जिससे वह ऐम. ए. पास करले। परन्तु वह ऐम. ए. क्लास छोड़ 'ला'-कालेज में दाखिल होगया। जहांसे उसने दो वर्ष के बाद परीक्षा में उत्तीर्ण होकर ऐल. ऐल. बी. की उपाधि प्राप्त की

उसके वकील बनने पर उसके मित्रों ने उसे ज़ियाफतें दीं, कालेज व अनाथालय ने खुशियें मनाईं।

कुछ समय में कैलाश एक विख्यात वलील बन गया। उसके पास अब ठनाठन रुपये आने लगे। परन्तु शोक! धनोपार्जन के ध्यान में कैलाश आर्य्य-अनाथालय तथा आर्य्य-कालेज को जिनके द्वारा वह इस उच्च दशा को प्राप्त हुआ था, भूल गया। आर्य्य-समाज की सेवा का भाव जो पहले उसके मन में था, बिलकुल जाता रहा। अब उसको केवल ठनाठन का ही ध्यान था।

कैलाश की धर्मपत्नी एक तीन साल का शिशु छोड़कर परलोक सिधार गई। बड़ी कठिनाई से बालक अभी पांच वर्ष का ही हुआ था कि कैलाश बाबू भी बीमार पड़ गये। डाक्टरों ने लाख सर मारा, वैद्यों ने भी जी भर कर वैद्यक चमत्कार दिखाए, परन्तु कैलाश बाबू स्वस्थ न हुए। दिन प्रतिदिन रोग बढ़ता ही गया।

रोग से कैलाश बड़ा दुःखित था, वह बहुत जल्दी मृत्यु द्वारा उस रोग से छुटकारा पाना चाहता था। रोग के अतिरिक्त उसको एक मानसिक कष्ट भी था। उसको हर समय यही चिन्ता रहती थी, कि वह अपने एकमात्र पुत्र को किसके हवाले करे? शय्या पर पड़े पड़े जब पुत्र की याद आती थी, वह रोने लग जाता था।

एक दिन वह इसी अवस्था में था, कि वही महात्मा, जो उसे गाड़ी में मिले थे, अचानक उसके सामने आ विराजे। महात्माजी को जब कैलाश का हाल मालूम हुआ, तो वह धीरे से उससे बोले, "कैलाश! जिस प्रकार अब तुम्हारा पुत्र अनाथ होने वाला है, इसी तरह तुम भी एक दिन अनाथ थे। जिस प्रकार परमात्मा ने तुम्हारा पालन किया है, इसी प्रकार वह तुम्हारे पुत्र को भी गोद में लेंगे। इसकी चिन्ता मत करो। परन्तु (कुछ रुककर और धीरे से) तुम यह तो बताओ, कि जिसके द्वारा तुम इतने उच्च-पद को प्राप्त हुए हो उसके लिये तुमने अभी तक क्या किया है? तुम कृतघ्न निकले हो, इसलिए इस समय इतना कष्ट उठा रहे हो।" यह कह कर सन्यासीजी अदृश्य होगये।

अब अन्त समय में कैलाश को सब बातों का ख्याल आया। उसने कलम दवात मंगवाकर उसी समय अपनी सब सम्पत्ति आर्य्य समाज के नाम कर दी, और

अपने पुत्र को भी आर्य्य-समाज के सुपुर्द कर दिया। इसके साथ यह भी प्रार्थना लिख दी, कि उसके पुत्र को यथोचित पढ़ाकर, देश-देशान्तरों तथा द्वीप-द्वीपान्तरों में वैदिक-धर्म के प्रचार के लिये भेजा जावे। जब यह सब कुछ होगया तब कैलाश के मुख पर एक अद्भुत ज्योति प्रकट हुई, और उसने बड़ी प्रसन्नता से अपने प्राण त्याग दिये।

——:०:——

यम यमी सूक्त।

(प्रत्यालोचन)

चैत्र १९८२ के "आर्य्य" में मेरा "यम यमी सूक्त" शीर्षक लेख छपा था। लेख की अवतरणिका को समाप्त करते हुए मैंने निवेदन किया था कि:—

"हम अपनी व्याख्या को अन्तिम व्याख्या नहीं समझते। समालोचना आने पर हम इस में समुचित परिवर्तन करने को तैयार हैं।"

मुझे यह देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि इस लेख की चर्चा आर्य्य जगत् में होरही है। कुछ समाचार पत्रों में मेरे लेख का सार छपा है। कतिपय विद्वानों से मौखिक वार्त्तालाप का अवसर हुआ है। विरोध भी सुनने में आया है, सहमति भी। किसी को मेरी व्याख्या सर्वांश में स्वीकार है, कोई २ मेरी की सूक्त की संगति को मानते हैं, परन्तु व्याख्या के कुछ भागों पर आपत्ति उठाते हैं। कोई सिरे से इस धारणा के ही विरुद्ध हैं कि यह संवाद पति पत्नी में हुआ है।

श्री पं० सातवलेकर इस अन्तिम पक्ष के हैं। उन का मैं इसलिये आभारी हूं कि उन्होंने अपनी सम्मति ज्येष्ठ के "वैदिक धर्म" में मुद्रित करा दी है। उनकी उठाई आपत्तियों का स्वीकार अथवा समाधान करना सरल है क्योंकि वह लेखबद्ध होने के कारण निश्चित होगई हैं। यदि अन्य समालोचक भाई भी इसी प्रकार अपनी समीक्षा को लेखबद्ध कर मेरे पास भेजने की कृपा करें तो विचार में सुगमता होगी। "आर्य्य" के पृष्ठ इस प्रकार की समालोचना के लिए सदा खुले हैं।

श्री पं० सातवलेकर जी अपनी समालोचना के प्रथम परिच्छेद में लिखते हैं—

"जितनी मानसिक समता से उस (मेरे मूल—) लेख की वाक्य रचना की है, वह निस्सन्देह प्रशंसा योग्य है।"

मुझे बड़ी प्रसन्नता होती, यदि पण्डित जी ने वही "मानसिक समता" अपनी समालोचना में दिखाई होती। अस्तु। श्री पण्डित जी ने मुझ पर परस्पर-विरोधी विशेषणों की झड़ी लगाई है। विचार का विषय मैं नहीं, मेरा लेख है। अतः मैं अपने आप को वादी प्रतिवादी के बीच से निकाल कर प्रकृत को ही वाद का विषय बनाता हूं।

ब्राह्मण ग्रन्थों की साक्षि।

पण्डित जी का पक्ष है कि यमयमी युगल भाई बहिन हैं। यह पक्ष पुराना है—अर्थात् वृहद्देवताकार के समय का। इस बात का पण्डित जी को गौरव है। पण्डित जी ने शतपथकार याज्ञवल्क्य को भी अपने साथ लेना चाहा है परन्तु इस पक्ष में कोई उद्धरण नहीं दिया। मेरे उद्धृत किये श० ब्रा० ७। २। १। १० पर, जहां यम को अग्नि और यमी को पृथिवी कहा गया है, अपना रङ्ग बढाने का प्रयत्न तो किया है परन्तु सफल नहीं हुए। पण्डित जी का कहना है कि अग्नि भी सूर्य्य से उत्पन्न होता है, और पृथिवी भी। इस लिये दोनों भाई बहिन हैं। पण्डितजी की प्रतिज्ञा यह है कि यम और यमी यमज हैं। देखो "वैदिक धर्म" पृष्ठ १७३ स्तंभ २ :—

"यम का दूसरा अर्थ "युगल, जुड़े भाई, एक योनि से उत्पन्न सहजात भाई" यह है। यही यहां लेना चाहिये।"

क्या अग्नि और पृथिवी सहजात हैं? किसी भी शास्त्र ने इन्हें सूर्य्य का यमज नहीं ठहराया।

पण्डित जी "सहजात भाई" और "केवल भाई बहिन" में विवेक करलें तो उन्हें प्रतीत होगा कि शतपथ के प्रमाण की उन की कल्पना-मूलक व्याख्या भी उनके पक्ष का पूरा पोषण नहीं करती। और फिर इसका क्या प्रमाण कि अग्नि और पृथिवी के भ्रातृभगिनी सम्बन्ध को भी शतपथ ने स्वीकार किया है? गवेषणा के क्षेत्र में बिना प्रमाण की बात का आदर नहीं होता। शतपथकार का मत शतपथ से दर्शाइये, अपनी कल्पना से नहीं। लीजिये, अग्नि और पृथिवी का सम्बन्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में क्या माना गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।११।५।२७

में "अग्ने पृथिवीपते" यह पाठ मिलता है। सम्भव है आप को आपत्ति हो कि "पति" का अर्थ यहां स्वामी है। आगे चलकर कहा है "तस्मिन् योनौ प्रजनौ प्रजायेय" अर्थात् इस गर्भ में मैं गर्भाधान करूं। प्रकरण उस प्रकार के पतित्व का है जिस से प्रजनन होता है। गोपथकार इस से भी अधिक स्पष्ट हैं। लिखा है :—"पृथिव्यग्नेः पत्नी।" गो० उ०। २। ९। अर्थात् पृथिवी अग्नि की पत्नी है।

इन प्रमाणों से और भी स्पष्ट हो गया कि ब्राह्मण ग्रन्थों में यदि यमयमी में किसी सम्बन्ध की स्थापना की गई है तो वह सम्भवतः दाम्पत्य सम्बन्ध है, भाई बहिन का सम्बन्ध कदापि नहीं।

बृहद्देवता का प्रामाण्य।

ब्राह्मण ग्रन्थों के पीछे हम बृहद्देवताकार की ओर आते हैं। पण्डितजी लिखते हैं :—

"बृहद्देवता ग्रन्थ बड़ा प्राचीन और प्रामाणिक है।" वै० ध० पृ० १७०

कितना प्राचीन ? कितना प्रामाणिक ? मैंने तो अपने मूल लेख में ही इस ग्रन्थ का कुछ हुलिया दे दिया था। पौराणिक कथाओं का वैदिक आधार संभवतः इसी ग्रन्थ द्वारा संस्थापित हुआ है। यदि इस पुस्तक को प्रामाणिक मान लें तो वेद पौराणिक कथाओं का एक बेढब सा संग्रह मात्र ही रह जाता है। इसी यमयमी सूक्त पर इस ग्रन्थ के दो श्लोक मैं अपने पूर्व लेख में उद्धृत कर चुका हूं। अब सारा प्रकरण लिखे देता हूं :—

अभवन्मिथुनं त्वष्टुः सरण्यूस्त्रिशिराः सह।
स वै सरण्यूं प्रायच्छत् स्वयमेव विवस्वते॥
ततः सरण्य्वां जज्ञाते यमयम्यौ विवस्वतः।
तौ चाप्युभौ यमावेव ज्यायांस्ताभ्यां तु वै यमः॥ ६। १६२, १६३
सृष्ट्वा भर्तुः परोक्षं तु सरण्यूः सदृशीं स्त्रियम्।
निक्षिप्य मिथुनं तस्यामश्वा भूत्वापचक्रमे॥
अविज्ञानाद्विवस्वांस्तु तस्यामजनयन्मनुम्।
राजर्षिरभवत्सोऽपि विवस्वानिव तेजसा॥
स विज्ञाय त्वपक्रान्तां सरण्यूमश्व रूपिणीम्।

त्वाष्ट्रीं प्रतिजगामाशु वाजी भूत्वा सलक्षण: ॥
सरण्यूश्च विवस्वन्तं विदित्वा हयरूपिणम्।
मैथुनायोपचक्राम तांच तत्रारुरोह सः ॥
ततस्तयोस्तु वेगेन शुक्रं तदपतद्भुवि।
उपाजिघ्रच्च सा त्वश्वा तच्छुक्रं गर्भकाम्यया ॥
आघ्रातमात्राच्छुकात्तु कुमारौ सम्बभूवतुः।
नासत्यश्चैव दस्रश्च यौ स्तुतावश्विनाविति ॥ ७। १। ६

अर्थात्—त्वष्टा के जोड़ा हुआ, सरण्यू और त्रिशिरा। उसने स्वयं सरण्यू विवस्वान् को दी। विवस्वान् के सरण्यू से यम और यमी पैदा हुए। वह यमज थे। बड़ा यम था। पति की आंख बचा कर सरण्यू ने अपने सदृश स्त्री पैदा कर जोड़ा (यम और यमी) उस के अर्पण किया और घोड़ी बनकर भाग गई। विवस्वान ने अज्ञान में उस (स्त्री) से मनु पैदा किया। वह विवस्वान् की तरह तेजस्वी राजर्षि हुआ। वह घोड़े के रूप में सरण्यू को भागा हुआ जान कर उस के समान रूप वाले घोड़ा बना और शीघ्र त्वष्टृपुत्री (सरण्यू) के पास गया। सरण्यू विवस्वान् को घोड़े के रूप में जानकर मैथुन के लिये उस के पास आई और वह उस पर चढ़ गया। उस समय उन दोनों का वीर्य वेग से पृथिवी पर गिरा। उस वीर्य को उस घोड़ी ने गर्भ की कामना से सूंघा। उस सूंघने मात्र से दो कुमार पैदा हुए—नासत्य और दस्र। इन्हीं को अश्वी कहते हैं।"

पण्डित जी के शब्दों में वृहद्देवता "प्रामाणिक" पुस्तक है। और उस पुस्तक में हैं इसी प्रकार की कथाएं। मैं इस पुस्तक की अवहेलना में कोई दोष नहीं मानता। रही इस की प्राचीनता। उपर्युक्त कथा यहां यास्क के प्रमाण से लिखी गई है :—

इतिहासमिमं यास्कः सरण्यू देवतेद्वृचे।
विवस्वतश्च त्वष्टुश्च त्वष्टेति सह मन्यते ॥ वृ० ७। ७

मैंने अपने पूर्व लेख में यास्क के शब्दों में इस कथा का वर्णन किया था। यास्काचार्य इस कथा का उल्लेख ऐतिहासिक पक्ष में करते हैं जो उन का अपना नहीं। वृहद्देवताकार का पक्ष है ही ऐतिहासिक। और पक्ष वह जानते ही नहीं। श्री पं० सातवलेकर जी ने दोनों को एक साथ "प्रामाणिक व्यक्ति" "जिन का निराकरण योंही" नहीं किया जा सकता, कैसे मान लिया ? यास्क

पुराने हैं और उन का पक्ष नैरुक्त है। बृहद्देवताकार नवीन हैं और उन का पक्ष ऐतिहासिक अर्थात् पौराणिक है। यास्क कथाओं का उल्लेख करते हैं न मानने के लिये। बृहद्देवताकार वही कथाएं लिखते हैं और उन्हें सोलह आने सत्य मानते हैं। यही नहीं बृहद्देवताकार यास्क के कितने विरोधी हैं, इसका पता इसी बृहद्देवता के २०। १०९—११५ से लीजिये। विस्तार-भय से यहां उसका उद्धरण नहीं किया जाता। मुझे बृहद्देवताकार पुराण-लेखकों के आदिम गुरु प्रतीत होते हैं। उपरिलिखित यमयमी की कथा और कूर्म पुराण वर्णित कथानक में कुछ भेद नहीं।

यास्काचार्य्य का मत।

यास्काचार्य्य कृत ऋ० १०। १०। १० की व्याख्या से मुझे विचार हुआ था, कि निरुक्तकार सम्भवतः सायण का साथ देते हैं। पुनः विचार करने पर प्रतीत होता है, कि यह मेरी भूल थी। इस मन्त्र के नीचे 'जामि' शब्द के तीन अर्थ किये गए है—(१) अतिरेक—जिसको दुर्गाचार्य्य पुनरुक्त का पर्य्याय मानते हैं। (२) बालिश, जिसका अर्थ मूर्ख है। (३) असमानजातीय।

दुर्गाचार्य्य यम-यमी की पौराणिक कथा से प्रभावित हैं। वह ख़ाहमख़ाह 'जामि' का अर्थ 'बहिन' करते हैं, और मन्त्र को पौराणिक ढङ्ग से लगाते हैं। 'अतिरेक' और 'बालिश' में इसकी गन्ध न पाकर तीसरे अर्थ पर यों टीका करते हैं:—

"असमानजातीयो हि पुरुषस्य भगिन्याख्यो भ्राता, सा हि स्त्रीत्वादेवा-तुल्यजातीयैव पुरुषस्य भवति।"

अर्थात् पुरुष का बहिनरूप भाई असमानजातीय है। वह स्त्री होने से पुरुष की अतुल्य-जातीय है।

जामि का अर्थ यास्क के शब्दों में अतुल्यजातीय है। दुर्गाचार्य्य ने ठीक व्याख्या की है, कि स्त्री पुरुष की अतुल्यजातीय होती है, इसलिए वह 'जामि' है। ऐसे ही पुरुष स्त्री का अतुल्यजातीय होता है। इसमें भगिनिभाव कैसे आ कूदा, यह हमारी समझ में नहीं आता। मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है:—ऐसे (विवाह—) उत्तर काल आने की सम्भावना है, जब (जामि) स्त्री पुरुष आपस में

(अजामि व्यवहार करें) स्त्रीपुरुष न रहें। अर्थात् प्रजननक्रिया छोड़ने से उनमें लिङ्गभेद की भावना न रहे। संन्यास और दूसरी नियोग योग्य अवस्थाओं में यही स्थिति होती है।

इसी सूक्त के १४ चौदहवें मन्त्र की व्याख्या यास्काचार्य ने निरुक्त ११। ३४। १ में की है। निरुक्तकार वैदिक-देवताओं को तीन स्थानों में बांटते हैं। यम मध्यम-स्थानीय है। इसकी निरुक्ति निरुक्त १०। १९। २ में की गई है। यमी का पाठ स्त्री-लिङ्गी देवताओं में आया है। उसपर 'अन्यमूषु त्वम्' आदि ऋ० १०। १०। १४ का उदाहरण दिया है। इसपर दुर्गाचार्य्य नैरुक्तपक्ष की टीका करते हुए लिखते हैं:—

"त्रित्वपक्षे तु माध्यमिको यमो माध्यमिकां वाचुषसमात्मनः प्रविभक्तां कृत्वोभयस्थानां तां ब्रवीति—'हे यमि ! अतीतस्ते अस्मत्परिष्वङ्गसमयः, प्रभातमिदानीम्। लिबुजेव वृक्षं द्युःस्थानं परिष्वक्तुमिच्छ।"

अर्थात् देवतृत्वपक्ष में (और यही पक्ष निरुक्तकार का अपना है) मध्यम-स्थानी, यम मध्यमस्थानी वाक् अथवा उषा को कहता है:—"हे यमि! तेरा हमारे साथ आलिङ्गन का समय व्यतीत होगया, अब प्रभात है। अब तू द्युःस्थान को आलिङ्गन करने की इच्छा कर, जैसे वृक्ष को बेल।"

"आलिङ्गन का समय समाप्त हुआ"—इसमें न केवल पति-पत्नीभाव ही की ध्वनि है, किन्तु नियोग की भी।

यास्काचार्य्य के व्याख्यान से यदि कोई ध्वनि निकलती है, तो वह स्पष्ट नियोग ही की है। दुर्गाचार्य्य ने इस ध्वनि का अनुभव किया, जैसे उनके किये उपर्युक्त टिप्पण से प्रकट होता है। हां! पौराणिक देवतावाद से अभिभूत होकर वह निश्चयात्मक एक अर्थ न कर सके, और आने वाली सन्ततियों को भटकने का अवसर दे गए। तथापि जितना सत्यार्थ के अन्वेषण में उनका लेख सहायक है, हम उसके लिये उनके कृतज्ञ हैं। हां, पाठक को स्वयं विवेकी होने की आवश्यकता अवश्य है।

आर्ष-पक्ष ।

श्री पण्डित सातवलेकर जी ने मेरे किये अर्थ में प्रथम यह दोष निकाला है, कि 'वह इस समय तक किसीने भी माना नहीं है।' मैंने ऊपर सप्रमाण निवेदन किया है कि—

(१) ब्राह्मण ग्रन्थ यदि किसी पक्ष का पोषण करते हैं, तो वह मेरा ही पक्ष है। शतपथकार 'यम' को 'अग्नि' और 'यमी' को 'पृथिवी' बताते हैं। तैत्तिरीयकार 'अग्नि' को 'पृथिवीपति' कहते हैं, और 'अस्मिन् योनौ प्रजनौ प्रजायेय' लिखकर 'पति' शब्द का प्रयोजन स्पष्ट करते हैं, कि यह पति प्रजाजनक है। और गोपथकार तो स्पष्ट 'पृथिवी' को 'अग्नेः पत्नी' कहते हैं। अर्थापत्ति से यदि यम-यमी का कोई सम्बन्ध स्थिर होता है, तो वह दाम्पत्य सम्बन्ध है, भ्रातृ-भगिनी सम्बन्ध नहीं।

(२) यास्काचार्य्य के लेखों से केवल पति-पत्नी सम्बन्ध को ही नहीं, किन्तु नियोग की भी ध्वनि निकलती है।

(३) और यदि ऋषि दयानन्द को 'इस समय तक' के भाष्यकारों में सम्मिलित करलें, तो उन्हों ने भी 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' १०।१०।१० के इस अंश को नियोग प्रकरण में लगाकर इसका वक्ता पति को बनाया है। उनकी सम्मति स्पष्ट है।

(४) पण्डित गुरुदत्त ने टी. विलियम्स के पत्र का उत्तर देते हुए 'गर्भे नु नौ जनिता' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या की है। वह व्याख्या वही है, जो मैंने की है।

इन साक्षियों के विरुद्ध बृहद्देवताकार हैं, श्रीसायणाचार्य्य हैं, और उनके अनुगामी यूरोपीय तथा भारतवर्षीय भाष्यकार। वह सब पण्डित जी के पक्ष में हैं।

मैं इन साक्षियों को आदर देता हूं। पण्डित जी ने मेरी धारणा में 'इस समय तक किसीने भी माना नहीं है' यह दोष दिया जो यथार्थ नहीं। मेरा विश्वास है कि इस सूक्त के स्पष्टीकरण का आर्ष-पक्ष मेरे साथ है। इसी भरोसे मैंने प्रचलित व्याख्याओं के विरोध का साहस किया है।

यम यमी का संबन्ध ।

यम यमी सूक्त की मुख्य समस्या यम यमी का संबन्ध है । किसी भी भाष्यकार को पहले इस संबन्ध का निश्चय करना चाहिये, तत्पश्चात् सूक्त की व्याख्या में प्रवृत्त होना लाभकर हो सक्ता है । महर्षि दयानन्द सूक्त के १० वें मन्त्र का वक्ता पति को बना कर स्पष्ट संकेत करते हैं कि यम-यमी पति पत्नी हैं । यही अभिप्राय ब्राह्मण कारों तथा यास्काचार्य का प्रतीत होता है । इनके विपरीत बृहद्देवताकार, श्रीयुत सायण तथा उनके अनुगामी यम-यमी को बहिन भाई मानते हैं । कारण स्पष्ट है । पूर्वोक्त पक्ष यौगिक अर्थों का सहारा लेता है, शेषोक्त पक्ष रूढ़ि का ।

आओ ! पहिले हम यम-यमी शब्दों के अर्थों की पड़ताल करें । यम की निरुक्ति यास्काचार्य के मत में यह है:—यमो यच्छतीति सतः । निरुक्त १०।१९।२ । अर्थात् जो वशीकार करे । यही निर्वचन ब्राह्मणकारों ने किया है । यही धात्वर्थ ऋषि दयानन्द की दृष्टि में है जैसे मैं अपने पूर्व लेख में सिद्ध कर चुका हूं । अब यमी का क्या अर्थ होगा ? श्री पं० सातवलेकर लिखते हैं कि यदि यम का अर्थ 'संयमी पुरुष' हो तो यमी का अर्थ होना चाहिये 'संयमी स्त्री' । (वैदिक धर्म पृष्ठ ७३ स्तंभ २) । यह व्याकरण के किस नियम से ? पाणिनि मुनि तो लिखते हैं 'अजाद्यतष्टाप्' (४ । १ । ४ ।) अर्थात् यम गुण संपन्न स्त्री के लिये रूप होगा 'यमा' । 'यमी' रूप 'पुं योगादाख्यायाम्' (४ । १ । ४८) से ही सिद्ध होगा । इससे अर्थ होगा यम की स्त्री यमी ।

इसी प्रकार यदि श्री पं० सातवलेकर जी का किया अर्थ 'जुड़े भाई' स्वीकार करें तो 'जुड़ी बहिन' के लिये 'यमा' शब्द ही का प्रयोग हो सक्ता है, यमी का नहीं ।

बृहद्देवताकार और उनके अनुयायी इस नियम को जानते प्रतीत होते हैं । उन्हों ने यम-यमी का शब्दार्थ 'जुड़े भाई बहिन' नहीं किया । कोई से जुड़े भाई बहिन का रूढ़ि नाम यम यमी मान लिया है । यूरोपियन भाष्यकार रौथ ही अकेले इन शब्दों का यौगिक अर्थ युगल भाई बहिन करते हैं और उसका कारण उनका व्याकरण से अज्ञान है ।

मेरा अभिप्राय एक उदाहरण से स्पष्ट होजाएगा । कोई मनुष्य जिसका नाम

शंकर है, वह अपनी लड़की का नाम गौतमी रखता है । अब गौतमी का अर्थ है गोतम की लड़की । यह नाम सार्थक नहीं । सार्थक नाम शांकरी हो सक्ता था, जैसे जनक की लड़की जानकी । यह दोनों ताद्धित प्रयोग हैं । लोग अपनी लड़कियों का नाम गोपाली रख देते हैं । इस का अर्थ है 'गोपाल की स्त्री' । हो सक्ता है कि गोपाली का विवाह देवदत्त से हो परन्तु वह कहलाती गोपाली ही जाएगी । इन नामों में से 'जानकी' तथा 'शांकरी' यौगिक नाम हैं और यदि यह केवल विशेषण ही नहीं किन्तु नामधारी व्यक्तियों के निजू नाम भी यही हों तो इन्हें योगरूढ़ी कहा जायगा । इसके विपरीत गौतमी तथा गोपाली न यौगिक हैं न योगरूढ़ी हैं, किन्तु रूढ़ी हैं । वृहद्देवताकार तथा सायण आदि के मत में यमी शब्द ऐसे ही रूढ़ी है । उसका यह नाम इसलिये नहीं कि वह यम की यमजा है, क्योंकि ऐसा होता तो नाम यम और यमा होते । कोई से यमजों के नाम यम और यमी होगए । यही अवस्था महाभारत के प्रसिद्ध नामों कृप और कृपी की है । कृपी कृप की स्त्री का ही शुद्ध नाम हो सक्ता है । कृप की बहिन का यह नाम केवल रूढ़ी है ।

नैरुक्त पक्ष वाले वेदों में रूढ़ी स्वीकार नहीं करते—यही पक्ष आर्य्य समाज का है । यही पक्ष श्री पं० सातवलेकरजी का होना चाहिये । हमारी समझ में यम और यमी यौगिक शब्द हैं । यम का अर्थ है नियमन कर्ता और यमी उसकी स्त्री को कहते हैं । उसमें नियमन गुण हो या न, पाणिनि के मत में वह यमी कहलाएगी । यदि वह यम की स्त्री न हो तो उसका यौगिक नाम यमी नहीं हो सक्ता ।

सूक्त का अभिप्राय ।

पूर्व इसके कि मैं सूक्त की अन्तःसाक्षि की ओर आऊं, मैं भ्रातृ-भगिनि संबन्ध के पक्षपातियों से एक प्रश्न करना चाहता हूं । इस सूक्त से वेद को कौनसी शिक्षा देना अभिप्रेत है ? कहा जाएगा कि बहिन-भाई के विवाह का निषेध । संपूर्ण सगोत्र विवाह का तो नहीं? क्योंकि उसमें माता, दुहिता आदि संबन्धिनियों का भी नाम-निर्देश होना चाहिये । यहां केवल स्वसा के संयोग को ही पाप कर्म कहा है ।

फिर इसका ढंग क्या निकाला है? बहिन का भाई से मैथुन के लिये प्रस्ताव ! कोई स्वाभाविक विधि निकाली होती । बहिन की युक्ति क्या है ? गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कः, । पं० सातवलेकर जी इसका अर्थ करते हैं—'परमेश्वर ने

हमें (गर्भे) गर्भ में ही दम्पती बनाया है............एक गर्भ में सहजात भाई बहिन ये थे। इसलिये यमी का कहना यह है कि यदि हमारा विवाह परमेश्वर को मंजूर न होता तो हमें एक गर्भ में क्यों बनाता ?' (वैदिक धर्म पृष्ठ १७७ स्तंभ २) एक और मंत्र का अर्थ किया है:—'किं भ्राता सद्' इत्यादि। 'क्या भाई होते हुए बहिन अनाथ जैसी होगी ? क्या बहिन होती हुई भाई विनाश को चला जाय ?' (वेदामृत पृष्ठ २३५)। अर्थात् पं० सातवलेकर जी की सम्मति में यमी का पक्ष यह है कि चूंकि यम-यमी भाई बहिन हैं इस लिये उनका विवाह होना ही चाहिये। उसने उदाहरण भी दिये हैं :—'रात्रीभिरस्मा......'...... "इस मंत्र में—सहजात युगल भाई बहिन आपस में पतिपत्नीवत् रहते हैं इस लिये यम यमी सहजात भाई बहिन भी वैसे ही रहें—यह यमी का हेतु (Argument) है।" (वैदिक धर्म पृष्ठ १७९)। यह हेतु मंत्र में किन शब्दों पर समाप्त होता है ? 'यमीर्यमस्य बिभ्रियादजामि'—"यमी यम के साथ (अ-जामि) बन्धुत्व-रहित संबन्ध धारण करे।" (वैदिक धर्म पृष्ठ १७९ स्तंभ १)।

यमी जानती है कि विवाह संबन्ध (अजामि) बन्धुत्व-रहित है। उसी बन्धुत्व-रहित संबन्ध की उसे आकांक्षा है और फिर उसके लिये हेतु यह देती है कि हम बन्धु हैं, 'गर्भेनु नौ...' ! इस तर्क की बलिहारी है।

ऊपर के मन्त्रों का अर्थ मैंने श्री पं० सातवलेकर जी के शब्दों में किया है। यदि पंडित जी विचार करें हो उन्हें स्पष्ट प्रतीत होगा कि यमी के 'हेतु (Argument)' में वदतो व्याघात दोष है। पूर्वापर वाक्यों में स्पष्ट परस्पर विरोध है। जो बन्धुत्वरहित संबन्ध चाहता है उसे अपने आपको बन्धुत्व-रहित सिद्ध करना चाहिये था न कि उलटा सहजात बन्धु।

वेद परमात्मा का ज्ञान है। उस में यह तर्क आना वेद की शोभा को बढ़ाता नहीं। कहा जा सक्ता है कि यह यमी का पूर्व पक्ष है, वेद का सिद्धान्त-पक्ष नहीं। उस तार्किक की कुशलता को कोई साधुवाद न कहेगा जो पूर्व पक्ष उठाए भी स्वयं और वह इतना निर्बल पूर्वपक्ष हो कि उसका खण्डन कोई गली आता लड़का भी कर सके। यदि हम यम-यमी का भाई-बहिन संबन्ध मानलें तो यमी का हेतु लचर होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

फिर इसका समाधान वेद की ओर से किन शब्दों में किया गया है:—

'आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृण्वन्नजामि।' "हां! वैसे आगे युग आएंगे जिस समय (जामयः) भाई बहिन (अजामि) बन्धुत्व रहित व्यवहार करेंगे। [इस समय वैसा पतित काल नहीं है] इस कारण तू मेरे से भिन्न किसी अन्य पति की इच्छा कर।" (वैदिक धर्म पृष्ठ १७९, स्तंभ २)।

चाहिये तो यह था कि इस व्यवहार की सब कालों के लिये निन्दा करते। केवल एक समय के लिये इसे गर्हणीय ठहराकर किसी पतित युग में इस संबन्ध का विधान सा कर दिया प्रतीत होता है। वादी कह सका है—यह तो केवल भविष्यत् की संभावना है, विधान नहीं। प्रथम तो यह भी वादी की केवल कल्पना है। यह मान भी लें तो इस भविष्यत् वाणी की आवश्यकता क्या थी? उपदेश तो इसके बिना भी होसका था। यदि आज की अवस्था की ओर संकेत करना था तो केवल बहिनों के लिये ही क्यों कहा? माताओं तथा बेटियों के लिये भी कह दिया होता कि इनका भी निषिद्ध संयोग होगा। बेटियों के साथ दुराचार की घटनाओं के समाचार आए दिन पत्रों के पृष्ठों को काला करते ही रहते हैं। वेद ने उन पर मौन साध लिया है। हमारा तो विश्वास है कि दुराचार का संबन्ध किसी काल-विशेष से नहीं।

एक और अत्याचार भी बहिन भाई के संबन्ध के पक्षपातियों के मुख से वेद भगवान् के मत्थे मढ़ा जाता है। सारे सूक्त में दुराचार का प्रस्ताव बहिन कर रही है, जब कि आज कल के कलियुगी लोगों को भी ज्ञान है कि प्रकृत प्रकार का निषिद्ध संयोग भाइयों, पिताओं, पुत्रों आदि का बलात्कार होता है। या कम से कम उसका प्रस्ताव पुरुष ही करते हैं। वेद में इस प्रस्ताव की प्रस्तावकता भी भगिनी के हिस्से आई है। यम साधु है और यमी चुड़ैल। क्या इस प्रकार के चित्र-चित्रण के पीछे वेद का रचयिता सर्वज्ञ तो क्या, साधारण मनो-विज्ञान तथा प्रत्यक्ष वर्तमान इतिहास का ज्ञाता भी सिद्ध होता है? पण्डितजी ने 'जामि' का अर्थ "भाई बहिन" कर दिया है, उनके पक्ष के अन्य भाष्यकार 'जामि' का अर्थ 'बहिन' करते हैं। उनके मतानुसार 'अजामि' व्यवहार का सारा दोष वेद की ही वाणी में बहिनों पर है जो लोक विरुद्ध होने के अतिरिक्त किसी ऐसी स्थिति का दृश्य सामने लाता है जिसके विचार मात्र से हृदय कांपता है। श्रीपंडितजी का अर्थ मानते हुए भी यह बात भुलाई नहीं जासकी कि यह लज्जा-जनक प्रस्ताव बहिन कर रही है। चित्र की अश्लीलता में भेद नहीं आता। हां! वेद की व्यवस्था के कुछ शब्द उतने क्रूर नहीं रहते।

सार यह कि जिस दृष्टि से देखें, यम-यमी में बन्धुत्व-सम्बन्ध के लिए कोई आधार नहीं। (१) व्याकरण की दृष्टि से 'यमी' यम की स्त्री ही हो सकती है। (२) ब्राह्मण ग्रन्थों तथा यास्काचार्य्य का संकेत भी दाम्पत्य की ओर है। (३) संवाद भी कुछ ऐसा है जो भाई बहिन में नहीं, पति-पत्नी में ही हो सक्ता है।

संभव है कोई महाशय प्रश्न करें कि स्त्रियां इतनी निर्लज्ज नहीं होतीं कि अपने पति से भी मैथुन का प्रस्ताव स्वयं करें। हां ! जहां मैथुन व्यभिचार के लिये हों वहां प्रस्तोता पुरुष होता है। यमी गर्भाधान चाहती है और वह उस समय जब कि उसका पति संन्यासी होने को है और वह निस्सन्तान रहने लगी है। इसीलिये वह इतना आग्रह तथा विवाद उठाती है। गर्भाधान के लिये स्त्री का प्रस्ताव विज्ञान-सम्मत है।

जिन मन्त्रों का अर्थ अपने से विरुद्ध पक्ष में मैंने ऊपर दिया है उनका मेरा किया अर्थ मेरे पूर्व लेख में आचुका है। सार यह है कि यमी यह देख कर कि यम संन्यास लेने लगा है उससे कहती है कि हम तो गर्भावस्था से ही पति पत्नी बने थे। अर्थात् जन्म से पूर्व मैं अपनी माता के गर्भ में और आप अपनी माताके गर्भ में परस्पर दाम्पत्य संबन्ध के लिये बनाए गए थे। हमारे स्वभाव ही ऐसे थे कि हम पति-पत्नी होते या हमारे पूर्व कर्म ही ऐसे थे कि हम एक दूसरे का पाणि-ग्रहण करते। इसमें युगल भाई-बहिन होने की कोई गन्ध नहीं।

मैं 'जामिः' का अर्थ 'स्त्री करता हूं। मंत्र ९ में यमी द्यौः और पृथिवी का उदाहरण देती है कि देखो यह जोड़ा है जिसका संबन्ध स्थिर है। क्या 'यमीर्यमस्य बिभ्रियादजामि ?' यमी यम को अजामि रह जाए अर्थात् उससे जनन-संबन्ध तोड़ दे ? श्री पं० सातवलेकर जी द्यौः और पृथिवी को 'युगल भाई-बहिन' ठहराते हैं। (वैदिक धर्म पृ० १७९ स्तंभ)। इसके लिये कोई प्रमाण भी है ? मैं अपने पूर्व लेख में लिख चुका हूं कि विवाह पद्धति में ही पति पत्नी से कहता है 'द्यौरहं पृथिवी त्वम्' मैं द्यौः हूं, तू पृथिवी है।

उक्त प्रश्न (यमीर्यमस्य विभ्रियादजामि?) का उत्तर १०वें मन्त्र में दिया है:—

आघा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।

विवाहोत्तर ऐसे समय आते हैं जब कि जायाओं का (अपने पतियों से) जनन संबन्ध नहीं रहता।

ऐसे समय नियोग का विधान है जो वेद ने किया है 'अन्य मिच्छस्व सुभगे पति मत्' कितना स्वाभाविक और सरल अर्थ है !

भ्राता और स्वसा ।

श्री पंडित जी को सब से बड़ी आपत्ति 'भ्राता' और 'स्वसा' इन दो शब्दों के अर्थों पर हुई है । वह बहुत घबराए हैं, बहुत झुंझलाए हैं । झुंझलाहट का कारण श्री विश्वनाथ काशीनाथ रजवाड़े का एक अनुमान है जिसका पं० जी ने इस प्रकार वर्णन किया है :—

"वेद के पूर्व समय की जनता में भाई बहिन आपस में शादी करते थे, इसका सूचक भ्राता शब्द है क्योंकि भ्राता तथा भर्ता ये एक ही धातु से बनते हैं !!" यदि रजवाड़े महाशय का अनुमान 'भ्राता' तथा 'भर्ता' इन दोनों शब्दों के सधातुक होने से है, तो वह तो मेरे अर्थ के होते तथा न होते दोनों अवस्थाओं में सम बना रहेगा । क्योंकि यदि भ्राता का अर्थ भर्ता न भी हो तो भी धातु तो दोनों का भृ रहेगा ही । हां ! यदि रजवाड़े जी यह कहते कि भ्राता का अर्थ भर्ता होने के कारण वह अपना उक्त अनुमान स्थिर करते हैं तो उसका उत्तर मुझे देना होता । समानधातुक होने का निराकरण तो पण्डित जी भी न करेंगे ।

मेरा मत है कि वेद में 'भ्राता' का अर्थ 'भर्ता' भी है । लोक में भ्राता केवल भाई को कहते हैं परन्तु वेद में भ्राता भाई के अतिरिक्त कुछ और अर्थों में भी प्रयुक्त हुआ है । सायणाचार्य अथर्व ८।१।१६ में इसी यम-यमी सूक्त का ही भाष्य करते हुए 'भ्राता' का अर्थ करते हैं 'भरण कर्ता वा' । ऋ० ३।५३।५ में:—

परायाहि मघवन्नाच याहीन्द्र भ्रातरुभयत्राते अर्थम् ।

'भ्रातः' शब्द इन्द्र का विशेषण है । इस का अर्थ सायणाचार्य 'पोषक' करते हैं । ऋ० १ । १६४ । १ में :—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।

यहां भ्राता शब्द का अर्थ यास्काचार्य 'भरतेर्हरतिकर्मणो हरते भागम्' (निरुक्त ४ । २६ । १) भाग लेने वाला करते हैं ।

लौकिक भाषा में भ्राता शब्द का प्रयोग केवल 'भाई' अर्थ में होता है। पोषक तथा भागहर्ता—इन अर्थों में केवल वेद ही में इस शब्द का प्रयोग है। और हम वेद मंत्रों के ही अर्थ कर रहे हैं। यदि लौकिक भाषा में भ्राता शब्द का प्रयोग 'पोषक' अथवा 'भाग हर्ता' अर्थ में आता तो हम कहते, प्रयोग अशुद्ध हैं। ऐसे ही जब यह सिद्ध हो चुका कि यमी यम की स्त्री ही है तो उसके पीछे वह यम को 'भ्राता' कहे, लौकिक संस्कृत में यह अशुद्ध प्रयोग होगा। परन्तु वेद में 'पोषक' अर्थ में भी 'भ्राता' आता है और 'पोषक' और 'भर्ता' पर्याय हैं। फिर यमी का यह कहना कि वह 'भ्राता' क्या जिस के होते अनाथता आए। अनाथ वह होता है जिस का 'भर्ता' न हो। यमी को डर है कि उसका भर्ता न रहेगा। भाई के रहते (चाहे वह उसका पति न भी बने) यमी अनाथ नहीं हो सकती। यह सब बातें सिद्ध करती हैं कि 'भ्राता' शब्द यहां अपने धात्वर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अन्यत्र इस प्रयोग के उदाहरण भी हैं—यह हम ऊपर स्पष्ट करचुके हैं।

पण्डितजी का यह भय कि यदि भ्राता का अर्थ भर्ता हो गया तो भाई और पति में भेद न रहेगा निर्मूल है। अग्नि शब्द का अर्थ आग भी है, परमात्मा भी, सेनापति भी, दूत भी, राजा भी। तो क्या यह सब एक हो गए हैं? यही जामि शब्द लीजिये। इस का अर्थ बहिन और कुल स्त्री तो प्रसिद्ध ही है। ऋ० १।३१।१० में

त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत्तव जामयो वयम्।

हे परमात्मन् तू......हमारा पिता है... ...हम तेरे जामि (सन्तान) हैं।

"जामि" का अर्थ लड़के लड़कियां हैं। क्या कोई इस से यह अनुमान करेगा कि वैदिक काल में बहिन, लड़की, और स्त्री में भेद न था, क्योंकि इन सब के लिये एक शब्द "जामि" आया है? जिस सम्बन्ध से लड़की पैदा होती थी, उसी से बहिन और उसी से स्त्री पैदा होती थी?

रजवाड़े महाशय उतनी दूर नहीं गए जितनी दूर पण्डित जी गए हैं। और यदि वह अपनी कल्पना के तार्किक परिणाम पर दृष्टि डालें तो उन्हें उक्त कल्पना की कचाई का शीघ्र ज्ञान हो जाए।

यही बात 'स्वसा' शब्द के विषय में है। जब यमी यम की स्त्री सिद्ध हुई, व्याकरण से भी, वार्त्तालाप-शैली से भी, तो उस का अभिप्रेत अपने आप को

स्वसा कहने से बहिन कहना तो हो नहीं सक्ता । हम स्वसा शब्द का दूसरा अर्थ करेंगे । उस के लिये प्रमाण विद्यमान है । स्वसा "उङ्गली" को कहते हैं, स्वसा 'रात' को कहते हैं । इस की व्युत्पत्ति है स्वयं सरति इति । सायण ऋ० १ । ९२ । ११ में "स्वसारं" का अर्थ करते हैं " स्वयमेव सरन्तीं निशाम् " । इसी का अनुवाद मैंने किया ' अभिसारिका " । यमी अभिसारिका है—वह गर्भाधान का प्रस्ताव कर रही है । अभिसारिका को ऋतु दान न देना शास्त्रों में पाप कहा है । इसी लिये वह कहती है :—"किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्" क्या पत्नी के प्रस्ताव करने पर भी (गर्भाधान) पाप है ? यम कहता है :—हां! अभिसारिका का नियमपूर्वक गमन भी पाप है,"पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्" क्योंकि वह संन्यास-वृत्ति धारण किये हैं ।

यह अर्थ कर देने से सारी विचार-परम्परा ऊंची उठ जाती है । बहिन के मैथुन-प्रस्ताव की अश्लीलता के स्थान में पत्नी का शास्त्र-सम्मत गर्भाधान का प्रस्ताव कितना उत्कृष्ट विषय है । पूर्व पक्ष और सिद्धान्त पक्ष दोनों विद्वानों के विचार के विषय हैं । किसी गिरे हुए काल की बाज़ारी बातें वेद के नाम से प्रतिपादन नहीं की जातीं, जैसा कि दूसरे पक्ष में की जाती प्रतीत होती हैं ।

यम सन्यासी होना चाहता है ।

श्री पण्डित जी का कहना है कि यम सन्यासी नहीं हैं । कारण कि यमी कहती है "अन्या किल त्वां कक्ष्येवयुक्तं परिष्वजाते " । " कोई अन्य स्त्री तेरा आलिंगन करेगी । " (वैदिक धर्म पृ० १७३ स्तम्भ २) । और वह उत्तर देता है " अन्यमूषु त्वं यम्यन्य उत्वां परिष्वजाते" । " कि (जैसा मैं किसी अन्य स्त्री को आलिंगन दूंगा,) उसी प्रकार तू भी किसी अन्य पुरुष को आलिंगन देगी " । (वै० ध० पृ० १७४ स्त० १) ।

श्री पण्डित जी ने (जैसा मैं किसी अन्य स्त्री को आलिंगन दूंगा) यह शब्द अपनी ओर से अध्याहार किये हैं । जभी तो उन्हें कोष्ठों में रखा है । यमी ने यम को और प्रकार से बात मानता न देख अपनी स्त्री-सुलभ तीक्ष्णता से कटाक्ष किया कि तेरी किसी और स्त्री पर दृष्टि होगी । पुरुषों के ऐसे व्यवहार होते हैं और स्त्रियां यह कटाक्ष करती हैं । यम यह कहां स्वीकार करता है कि मैं 'दूसरी स्त्री को आलिंगन दूंगा' ? वह तो अपनी पत्नी को नियोग की अनुज्ञा

देता है जिस से वह चाहे तो लाभ उठा सक्तो है। इस मन्त्र का यही अभिप्राय है, निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य भी हमारे साथ सहमत हैं :—इसी मन्त्र का अर्थ करते हुए वह लिखते हैं—हे यमि ! व्यतीतस्ते अस्मत्परिष्वङ्ग समयः।

हे यमि ! तेरा मेरे आलिंगन का समय समाप्त हुआ।

यम संन्यास ले रहा है। इसमें पहिला प्रमाण तो ऋषि दयानन्द का "यम" शब्द का अर्थ है :—गृहाश्रमजन्यविषयसेवनादुपरताय यमनियमादि युक्ताय। यजुर्वेद ७। ४१। गृहस्थ आश्रम के विषय-सेवन से उपरत यम-नियम का अभ्यासी। यह संन्यासी नहीं तो और कौन है ?

स्वयं यम-यमी सूक्त में यम के संन्यासी होने की ध्वनि है, यथा, यमी की गर्भेच्छा का प्रत्याख्यान करते हुए मन्त्र २ में यम कहता है—

महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परिख्यन्।
परमात्माके वीर सबसे बड़े पुत्र हैं। विद्वान् लोग उदार-दृष्टिसे देखते हैं।
संन्यासी के सिवा यह और कौन कहेगा ? फिर कहा है :—
न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति। ८।

(देवानां) विद्वानों में से (स्पशः) जागरूक जो यहां फिरते हैं, वे ठहरते नहीं, आंख बन्द नहीं करते।

यह संन्यासी नहीं तो कौन हैं ? जिन्हें 'स्पशः' का अर्थ परमात्मा की शक्तियां करना हो, वे कृपया "देवानाम्" बहुवचनान्त है—यह देखलें।

मन्त्र ४ का अन्वय।

पण्डितजी ने मेरे किये मन्त्र ४ के अन्वय पर आक्षेप किया है। मन्त्र यह है :—

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनं ऋतं वदन्तो यदनृतं रपेम। ऋ० १०। १०। ४
मैंने इसका अन्वय यों किया है—

यत्पुरा चकृम न कृत् ह नूनम्..........।

पण्डित जी कहते हैं, 'न' पहिले से उठकर बीच में कैसे चला गया। उसका उत्तर वात्स्यायन का यह श्लोक है :—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्य्यमकारणम् ॥

न्याय वात्स्यायन भाष्य १ । २ । ९

अर्थात् जिस शब्दका जिस शब्दसे अर्थ सम्बन्ध हो, वह दूर पड़े भी उसी का है । निकट पड़े अर्थमें असमर्थोंकी निकटता (अन्वय में) कारण नहीं ।

अन्वय कहते ही इसीको हैं कि, जहां जो शब्द लगता हो लगाना । संन्यासी होने वाला यम 'साईं लोकों' की तरह अपने लिये बहुवचन का प्रयोग करता है कि, जो हम पहिले करते थे, अब कदापि न करेंगे । क्यों ? इसलिये कि "ऋतं वदन्तः" "नियम का व्याख्यान करने वाले ही क्या नियम तोड़ने वाला कर्म करें ।" (वैदिकधर्म पृष्ठ १८१, स्तम्भ १) नियम का व्याख्यान संन्यासी का काम है ।

पण्डितजी कहते हैं, 'कद्ध' का अर्थ कदापि कैसे हुआ ? कत् का अर्थ कदा सब भाष्यकारों ने किया है । यहां आ का लोप छान्दस है । ह अपि अर्थ में आता ही है ।

'कद्ध' को प्रश्नवाची रखना हो तो प्रथम आप 'न' को अलग कर लीजिये । यम यमो को उत्तर देता है—न, जो हमने पहिले किया, (अर्थात् गर्भाधान) वह हम अब कैसे करें ? कहिये, इसमें क्या आपत्ति है ?

सायण की तरह से 'कद्ध' 'अनृतं रपेम' के साथ लगालें, तो अर्थ होगा :—जो हमने पहिले (गृहस्थावस्था में) किया, वह अब न करेंगे । नियम का व्याख्यान करने वाले अनियम कैसे करें ? । यहां न का अन्वय नूनं के साथ होगा और कत् का अर्थ कस्मात् कारणात् ।

यह भी स्वीकार न हो तो आप ही का अर्थ स्वीकार किये लेते हैं । "नहीं जो पूर्व समय में हमने किया, कैसे भला अब करें ।"

वैदिकधर्म ४ । पृष्ठ १८१ । स्तम्भ १

किसने पहिले नहीं किया ? क्या यम और यमी ने ? तब तो क्रिया द्विवचनान्त होनी चाहिये थी, चकृवा, वदतः, रपेव । क्रिया बहुवचनान्त है, इसलिये यह दो तो कर्ता नहीं । फिर किसने नहीं किया ? नियम का व्याख्यान

करने वाले संन्यासियों ने। यहां यम अपने आपको संन्यासी-समूह का प्रतिनिधि मानकर कहता है:—संन्यासियों ने पहिले कभी गर्भाधान नहीं किया।

जो भी अन्वय करें मेरे पक्ष में ठीक है, पण्डितजी के पक्ष में नहीं। वास्तव में मुख्य प्रश्न यह है कि यम-यमी का सम्बन्ध क्या है? यह निश्चित होजाने पर शेष प्रश्नों का उत्तर मिल जाना सुगम है।

सख्य और सलक्ष्मा।

सखा और सलक्ष्मा शब्द पर पण्डितजी का सारा लेख अपना खण्डन आप करता है। यमी यम को सखा कहती और सख्य का वर्तात्र चाहती है। दोनों शब्दों में सखित्व एक होनेमें कल्पना लाघव है। सख्य तो पहिले ही विद्यमान है, वह उसको बदलना नहीं चाहती, किन्तु 'ववृत्याम्' प्राप्त सख्य का बर्तात्र चाहती है।

"एक माता पिता से उत्पन्न होनेके कारण भाई बहिन के लक्षण, अवयव, चिह्न आदि बहुत अंश में समान होते हैं। इस प्रकार के समान चिह्न वाले भाई बहिन का विवाह हुआ तो सन्तान में बड़ा बिगाड़ होता है। इसलिए सगोत्र-विवाह शास्त्र में निषिद्ध है।" वैदिकधर्म पृष्ठ १८३। स्तम्भ २

सगोत्र-विवाह निषिद्ध इसलिये है कि वीर्य्य और रज एक वंश के आपस में न मिलने चाहियें। रूप एकसा होना न होना सगोत्रता में कारण नहीं। यदि कोई भाई बहिन 'सलक्ष्म' न हों तो क्या वह भिन्न गोत्रोत्पन्न होजायेंगे, और क्या उनका विवाह होसकता है? कदापि नहीं। यहां गोत्र का प्रकरण ही नहीं। 'सलक्ष्मा' का अर्थ है सवर्णा, अर्थात् एकसी प्रवृत्ति और एकसे लक्ष्य वाली। पत्नी को ऐसा कहना ठीक है, यदि विवाह वैदिक हो।

"अन्य गोत्र के उत्पन्न स्त्री पुरुष विषम-वृत्ति वाले होते हैं, उनमें गुण, कर्म, स्वभाव का साम्य देखकर विवाह होना लाभकारी होता है।"

वैदिकधर्म पृष्ठ १८३। स्तम्भ १

विषम-वृत्ति और समान गुण-कर्म-स्वभाव यह परस्पर विरुद्ध बातें हैं।

श्रीपं० जी ने जाते २ इन शब्दोंको छेड़ दिया है, अन्यथा पति-पत्नी पक्षमें यह विशेषण अधिक उपपन्न हैं। यह तो स्वतःसिद्ध है।

अन्तिम निवेदन ।

श्रीपण्डितजी की समालोचना को मैंने ध्यान से पढ़ा है, परन्तु विचारमें परिवर्तन नहीं हुआ । मैं यम-यमी को पति-पत्नी मानता हूं । इसलिये कि—

(१) ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन्हें अग्नि और पृथिवी कहा है, और अग्नि और पृथिवी ब्राह्मण-ग्रन्थों के मत में पति-पत्नी हैं । अर्थापत्ति से यम-यमी में कोई सम्बन्ध है तो पति-पत्नी का ही है ।

(२) यास्काचार्य्य ने इस सूक्त के जिन मन्त्रों की व्याख्या की है, उनसे उनके नैरुक्त अर्थानुसार नियोग की ध्वनि निकलती है और नियोग की बात-चीत भाई बहिन में नहीं हो सकती ।

(३) ऋषि दयानन्द और पंडित गुरुदत्त इन्हें पति-पत्नी मानते हैं ।

(४) व्याकरण से यमी यम की स्त्री ही सिद्ध होती है, और चूंकि मैं वेद में अयौगिक रूढी नहीं मानता, इसलिये यमी को यमजा या यम की भगिनी स्वीकार नहीं कर सकता ।

(५) सारी वार्त्तालाप की शैली ऐसी है, जो भाई बहिन के सम्वाद की नहीं होसकती ।

(६) भाई बहिन के विवाह का निषेध इस सूक्त का प्रकृत नहीं है । यदि यह प्रकृत मानलें, तो उसका पूर्वपक्ष लचर और सिद्धान्तपक्ष अनिश्चित प्रतीत होता है । भगिनी का मैथुन-प्रस्ताव अस्वाभाविक, लोकस्थिति-विरुद्ध और अश्लील है । वेद की वर्णन-शैली में यह दोष आना नितान्त अयुक्त है ।

श्री पण्डितजी मेरे पूर्व लेख को पढ़ कर उद्विग्न हुए हैं । मैं उनसे निवेदन करूंगा कि उद्वेग विचार में बाधक होता है । कृपया 'मानसिक समता' से मेरा लेख पढ़िये और उसपर टिप्पणि कीजिये । मैं अब तक अपने किये भाष्य को विद्वानों के विचार के लिये एक कल्पनामात्र समझता हूं । हां, वह कल्पना युक्ति-शास्त्र सम्मत है । अर्थ का अन्तिम निश्चय तो वाद और प्रतिवाद के पश्चात् ही होगा ।

चमूपति

—:०:—

साहित्य-समीक्षा।

(१) "आर्य्य-पर्व-पद्धति"—लेखक श्रीपण्डित भवानीप्रसादजी गुप्त, हल्दौर (बिजनौर)। पृष्ठ संख्या २६२ मूल्य ॥)

कर्म-काण्ड के विषय में आर्य्य-समाज बहुत पीछे है, इसमें कोई सन्देह नहीं। श्रीस्वामी दयानन्दजी ने अपने जीवन के अल्पकाल में ही संस्कार-विधि आदि पुस्तकें लिखकर चाहा था, कि आर्य्य-सन्तान वेदोक्त संस्कारों पर आचरण करती हुई मन, वचन और कर्म से उन्नति को प्राप्त हो, किन्तु शोक, हमने उनपर ध्यान न दिया। शताब्दी के अवसर पर उसके प्रधान पूज्य नारायणस्वामीजी आदि कई महानुभावों का ध्यान फिर इस ओर आकर्षित हुआ, और यह प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं विचारों का परिणाम है। पण्डित हरिशङ्करजी दीक्षित आदि कई महानुभावों ने सनातन-पर्वों पर कुछेक विचार प्रकाशित किये थे, किन्तु वे सब प्रायः अपरिमार्जित अवस्था में ही थे। इसलिये एक विशुद्ध परिमार्जित ऐसी पर्व-पद्धति की अत्यन्त आवश्यकता थी, जो देश और जाति को अन्ध-विश्वास से ऊपर उठाकर उनके जीवनों को उच्च बनाने वाली हो। लेखक ने बड़ी लगन और परिश्रम से इस कमी को पूरा करने का यत्न किया है। इसमें भिन्न भिन्न पर्वों की क्रिया के साथ साथ उनकी उत्पत्ति का युक्ति-युक्त आदिम इतिहास लिखकर लेखक ने इसकी रोचकता तथा उपादेयता को और भी बढ़ा दिया है। सर्व-साधारण और विशेषतः विशुद्ध कर्म-काण्ड में रुचि रखने वाले हिन्दू-मात्र (आर्य्य) के लिये पुस्तक उपादेय है।

(२) "ओ३म् प्रत्यक्ष"—अर्थात् साक्षात् स्वतः प्रत्यक्ष केवल ईश्वर है। लेखक—सत्यप्रकाश वैदिक-यति शयन-कुटि, चतुर्विंशत्पुर नवद्वार द्विकाम, कारावासी। प्रकाशक—सार्वदेशिक आर्य्य-प्रतिनिधि सभा, देहली। पृष्ठसंख्या २१४। मूल्य ॥)

संसार में नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित हैं और प्रायः सभी किसी न किसी रूप में ईश्वर को सर्वाधार सर्वव्यापक मानकर उसकी उपासना करते हैं किन्तु ध्यान के साधन अपूर्ण और उलटे होने के कारण सभी कष्टों में पड़े हुए दिन रात कराहते रहते हैं। ठीक मार्ग अरणियों के परस्पर मन्थन से उत्पन्न अग्नि की भान्ति आत्मज्ञान क्रिया रूपी दो अरणियों के सङ्घर्ष नाम योगाभ्यास द्वारा 'ओ३म्' का प्रत्यक्ष करना ही है। यही बात लेखक ने

अनेक वेद मन्त्रों तथा उपनिषद् वाक्यों के आधार पर बताने का यत्न किया है। भाषा संस्कृत प्राय होने से सर्वथा अस्पष्ट, और विषय सरल होने के स्थान पर गहन हो गया है। निदर्शन के लिये १, २ उदाहरण ही पर्याप्त हैं:—

"परन्तु अद्भुत यह है कि.........दर्शन स्पर्शनानृते प्रायः ईश्वरानभिज्ञ नास्तिक भाष्य कर्ताओं उतवा उनके अनुवादक अवैदिकों के ज्ञाता ज्ञात विप्रलम्भ वश प्रश्नगत परमात्मो शासन शास्त्रों की अपौरिषयता की अनूरी कर देते हैं।" भू० पृ० ११

"इह यह कहना......तो देह से छूटना तो तुच्छ वार्ता है।" भू० पृ० ३२

"यहां भ्रम निवारणार्थ एक ऋचा प्रविष्टा की जाती हैं।" पृ०

"यदि नीचे होना ऊरी न करें"—पृ० १६२, इत्यादि। ऊरी अनूरी का प्रयोग तो इतना अधिक है कि बस! अधिक क्या लिखें बुद्धिमानों के लिये इशारा ही पर्याप्त है। इसी प्रकार प्रूफ़ देखने में भी बड़ी असावधानता से काम लिया गया है। ओ३म् को ओइम् लिख देना तो साधारण सी बात है।

(३) आर्य समाज के दस नियम—यह भी उन्हीं महानुभाव श्रीस्वामी सत्यप्रकाश जी की रचना है। पुस्तक में (जैसा की नाम से ही स्पष्ट है) आर्य समाज के सुप्रसिद्ध १० नियमों को वैदिक मन्त्रों द्वारा सिद्ध करने का यत्न किया गया है। अस्वाभाविक रीति से संस्कृत शब्दों का बहुत प्रयोग करने के यत्न ने भाषा को क्लिष्ट और सर्व साधारण के लिये दुर्बोध बना दिया है। मूल्य ।) सरस्वती प्रेस मुरादाबाद से प्राप्य।

(४) भारत जननी को हिमालय से संदेश—अनुवादक म० शिवदयालु, अध्यक्ष आर्य-संघ मेरठ। मूल्य ।) मित्तिल ब्रदर्स ऐण्ड को, चौक बाज़ार मेरठ सदर से प्राप्य। इसके मूल लेखक योगिराज श्री अरविन्द घोष के शिष्य, प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक पाल रिचर्ड हैं। यह उन्हों की To India: Message from the Himalaya का अविकल अनुवाद है। अनुवादक तथा उनके संघका उद्देश्य बहुत स्तुत्य है किन्तु ऐसी पुस्तकों के अनुवाद करने में हमारी सम्मति में यदि मक्खी पर मक्खी न मार कर मूल लेखक के भावों को सुरक्षित रखा जा सके तो अधिक उपयोगी तथा उत्तम हो। ऐसा करने से जहां भाषा में सरलता और माधुर्य आ सकेगा वहां अनुवादक के उद्देश्य की भी अधिक से अधिक पूर्त्ति हो सकेगी।

(५) भजन भास्कर—संग्रह कर्ता श्री० हरिशङ्कर शर्मा 'कविरत्न' सम्पादक आर्यमित्र आगरा। पृ० सं० २५६ मू० ॥), सजिल्द ॥≈), आर्य समाज में तुकबन्दों के हाथों से भजनों और आर्यभाषा की कविता की जो मिट्टी खराब हो रही है उसी को ध्यान में रख कर कविरत्न जी ने उत्तमोत्तम भजनों का संग्रह किया है। इसमें सूर, तुलसी आदि पुराने कवियों की कृतियों के अतिरिक्त फ़लक, प्रेम, चातक, चमूपति, मुसाफ़िर आदि आदि नये २ कवियों की रचनाओं का भी समावेश किया गया है। पुस्तक में ईश्वर स्तुति, धर्म, देशभक्ति, हिन्दू संगठन, गुरुकुल, ऋषि दयानन्द, शुद्धि आदि प्रायः सभी प्रकार के भजनों का उत्तमोत्तम संग्रह है। पढ़ते २ कई स्थानों पर तो सचमुच शिर घूम जाता है और हृदय फड़क उठता है। हमारी सम्मति में पुस्तक सभी प्रकार की रुचि रखने वाले व्यक्तियों के लिये उपादेय। है विशेषतः प्रचारकों और भजनीकों के तो बड़े काम की चीज़ है।

(६) दयानन्द-लहरी—गुरुकुल वृन्दावन के स्नातक मेधाव्रत जी का संस्कृत के कवियों में ऊंचा स्थान है। शताब्दी के पुनीत अवसर पर आचार्य ऋषि दयानन्द के प्रति भक्तिभाव की भेंट करने के लिये कवि ने इस पुस्तक की रचना की थी। पुस्तक के अन्त में आर्यसमाज के दश नियमों को भी पृथक् २ करके कवि ने छन्दोबद्ध कर दिया है। श्लोक गुरुकुलों, आर्य्य विद्यालयों तथा कन्या पाठशालाओं में कण्ठ कराने योग्य हैं। मूल्य –)॥ सरस्वती प्रेस मुरादाबाद से प्राप्य।

(७) वैदिक उपदेश माला—लेखक श्री० पं० 'अभय' देव शर्मा जी विद्यालङ्कार। मूल्य ॥) स्वाध्याय मंडल औंध (ज़िला सतारा) से प्राप्य। लेखक गुरुकुल कांगड़ी के योग्य स्नातक और गुरुकुल विश्वविद्यालय में वेद विद्यालय के आचार्य हैं। वेद के विषय में यूं तो अनेकों पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं किन्तु जो रस इस पुस्तक को पढ़ने से प्राप्त होता है वह शायद ही अन्य पुस्तकों से प्राप्त हो। कारण, लेखक स्वयं क्रियात्मक जीवन व्यतीत करने वाले और शान्त स्वभाव व्यक्ति हैं। लेखक का अब तक का सम्पूर्ण जीवन ही वैदिक सचाइयों को जीवन में हल करने में व्यतीत हुआ है। इस पुस्तक में बारह वेदोपदेशों का संग्रह किया गया है। ये उपदेश शताब्दी से ठीक १२ मास पूर्व "वैदिक धर्म' में प्रकाशित होने आरम्भ हुए थे। प्रतिमास

एक लेख लिखने का प्रयोजन क्या था यह बात लेखक के " पाठक एक एक वैदिक उपदेश को एक एक महीना भर अभ्यास करते हुए अपने जीवन में लाने का यत्न करें" इन शब्दों से स्पष्ट है । सारे ही उपदेश एक से एक बढ़ कर जीवन को उन्नत करने वाले और हृदय में गड़ जाने वाले हैं । आर्य्य समाज में इस समय उत्तम क्रियात्मक जीवन वाले व्यक्तियों की बहुत कमी है । हम समझते हैं कि यदि प्रति मास कोई पुरुष एक २ उपदेश का भी मनन करे (जिस उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई है) तो धीरे २ सारी जाति का सुधार हो सकता है । जीवन में उन्नति चाहने वाले प्रत्येक धर्म प्रेमी और अभ्यासी को यह पुस्तक अवश्य ही अपने पास रखनी चाहिये । भाषा सरल, सुन्दर और छपाई उत्तम है ॥

आर्य प्रति निधि सभा पञ्जाब-उपदेशक परीक्षा।

सिद्धान्त प्रवेशिका ।

व्याकरण—सन्धि विषय, शब्द रूपावलि, धातु रूपावलि, वर्णोच्चारण शिक्षा, अष्टाध्यायी १—५ अध्याय तक कण्ठस्थ करनी ।

साहित्य—नीतिशतक, विदुरनीति, संस्कृत प्रथम पाठ, संस्कृत द्वितीय पाठ, संस्कृत वाक्य प्रबोध ।

सिद्धान्त ग्रन्थ—सत्यार्थ प्रकाश २, १०, ११, १३, १४ समुल्लास । आर्य्योद्देश रत्नमाला, व्यवहारभानु, सन्ध्या (अर्थ सहित) अग्निहोत्र स्वस्ति-वाचन तथा शान्ति प्रकरण (अर्थ सहित) ।

सिद्धान्त भूषण ।

(१म वर्ष)

व्याकरण—अष्टाध्यायी १—५ अध्याय पर्यन्त (अर्थोदाहरण सिद्धि सहित) ।
,, ,, ६—८ अध्याय पर्यन्त (मूल मात्र) ।

साहित्य—मुद्राराक्षस, मुनि चरितामृत ।

दर्शन—वैशेषिक (मूल) न्याय वात्स्यायन भाष्य सहित (१म अध्याय) ।

सिद्धान्त ग्रन्थ—(क) सत्यार्थ प्रकाश १, ३, ४—६, १२ ।
संस्कार विधि (विधि मात्र) ।
(ख) ईश, केन, कठ उपनिषद् ।

वेद—निघण्टु, आर्याभिविनय (मूल-सम्पूर्ण)

विकल्प—भास्कर प्रकाश (प्रथम अध्याय को छोड़ कर पूर्वार्द्ध) अथवा जैन तत्वादर्श (पूर्वार्द्ध), अथवा भाई गुरुदास दीयां वारां, भक्तवाणी और रहतनामे, अथवा इसाईयत, अथवा इस्लाम । अनुवाद प्रस्ताव संस्कृत संभाषण तथा व्याख्यान ।

(२य वर्ष)

व्याकरण—अष्टाध्यायी ६ से ८ अध्याय तक (आर्थोदाहरण सिद्धि सहित) धातुपाठ ।

साहित्य—प्रबोध चन्द्रोदय, शिवराज विजय बाल्मीकीय रामायण (संगृहीत भाग-इन्डियन प्रैस) काव्यालङ्कार सूत्र (इसमें छन्द सम्बन्धी प्रश्न भी होंगे) ।

दर्शन—न्याय (वात्स्यायन भाष्य सहित । शेष) ।

सिद्धान्त ग्रन्थ—(क) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, मनुस्मृति ।

(ख) मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न उपनिषद् ।

वेद—निरुक्त के १म ३ अध्याय, यजु० ३१, ३२, ३५, ३६ अध्याय (भाष्य सहित)

विकल्प—भास्कर प्रकाश (शेष), पुराण मत पर्य्यालोचन, अथवा जैन तत्वादर्श (शेष), अथवा—गुरु तेगबहादर के शब्द, विचित्र नाटक, गुरु गोविन्दसिंह के सवैय्ये, सूर्य वंशीय क्षत्रिय (निहंग सम्पूर्ण सिंह कृत), अथवा इस्लाम, अथवा ईसाईमत, अनुवाद, प्रस्ताव, संस्कृत सम्भाषण तथा व्याख्यान ।

सिद्धान्त शिरोमणि ।

(१म वर्ष)

व्याकरण—महाभाष्य (नवाह्निक)

दर्शन—सांख्य मूल, योग (व्यास भाष्य समेत), अथवा पूर्व मीमांसा (निवीतान्त)

उपनिषद्—ऐतरेय, तैत्तरीय, छान्दोग्य०

वेद—यजु १ से १० तक । अथवा, अथर्व १ से ५ काण्ड तक ।

निरुक्त—शेष

व्याख्यान—संस्कृत प्रस्ताव

स्वतन्त्र पत्र—देवी भागवत

(२य वर्ष)

व्याकरण—महाभाष्य (अङ्गाधिकार) तथा ऋक् प्रातिशाख्य, अथवा यजुर्वेद प्रातिशाख्य ।

दर्शन—वेदान्त अथवा पूर्व मीमांसा (शेष)

उपनिषद्—बृहदारण्यक ।

वेद—(क) यजुर्वेद (शेष), अथवा अथर्व ६ से २० काण्ड तक ।

(ख) ऋग्वेद भूमिका (सायण भाष्य सहित)

(ग) गोपथ ब्राह्मण

व्याख्यान—परमत निरसन पूर्वक स्व मत पोषक मौलिक निबन्ध (आर्य्य भाषा में)—६० फुलसकेप कागज़, प्रति पृष्ठ ३० पंक्ति, प्रति पंक्ति २० अक्षर ।

उक्त परीक्षाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित दो परीक्षाओं का प्रबन्ध भी विद्यालय की ओर से होगा। इन परीक्षाओं के लिये अध्यापन का प्रबन्ध न होगा।

सिद्धान्त विशारद ।

१. सत्यार्थ-प्रकाश ।

२. (क) पुरुषार्थ-प्रकाश (श्रीस्वामी नित्यानन्दजी कृत)

(ख) ऋषि-कृत भ्रान्ति-निवारण आदि लघु पुस्तकें ।

३. भारतवर्ष का इतिहास (श्रीयुत प्रोफ़ैसर रामदेवजी कृत) ।

श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश (श्रीस्वामी सत्यानन्दजी कृत) ।

४. संस्कार-विधि (श्रीयुत मास्टर आत्मारामजी कृत संस्कार-चन्द्रिका व्याख्या सहित) ।

५. दर्शनानन्द-ग्रन्थ-संग्रह और वैदिक-दर्शन (पं० चमूपतिजी कृत) ।

६. (क) व्याख्यान (आर्य्य-भाषा में) ।

(ख) मौखिक शङ्का समाधान ।

सिद्धान्त वाचस्पति ।

वेद—ऋग्वेद (ऋषि दयानन्द कृत भाष्य) ।

वैदिक साहित्य—शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, कात्यायन श्रौत सूत्र, आश्वलायन श्रौत सूत्र, गोभिलीय गृह्य सूत्र (गोभिल संग्रह सहित) ।

समालोच्य विषय विकल्प—(१) याज्ञवल्क्य स्मृति (मिताक्षरा सहित)। अथवा (२) कौटिल्य अर्थ-शास्त्र । अथवा (३) न्याय-कुसुमाञ्जलि (हरिनाथी टीका)। अथवा (४) ब्रह्मसूत्र (शाङ्कर भाष्य)। अथवा (५) अज्ञेयवाद । अथवा (६) प्रकृतिवाद ।

मौलिक—संस्कृत निबन्ध (६० पृष्ठ फुलस्केप)।

टिप्पणि—विद्यालय के नियमित विद्यार्थियों के अतिरिक्त यदि कोई और महाशय भी विद्यालय की शिक्षा के किसी भाग से लाभ उठाना चाहें, तो उनके लिये उचित प्रबन्ध किया जायगा ।

आर्य्य-प्रतिनिधि सभा पञ्जाब—

आ० प्र० सभा पञ्जाब का साधारण अधिवेशन २३—२४ मई १९२५ शनिवार, रविवार को गुरुदत्त भवन में हुआ। २०० प्रतिनिधियों में से लगभग १०० प्रतिनिधि उपस्थित थे । भोजन तथा उतारे का प्रबन्ध गुरुदत्त भवन में ही था। सबसे प्रथम कार्य्य-कर्ताओं का चुनाव हुआ, जिसमें यथापूर्व श्री रामकृष्ण जी प्रधान, तथा डा० केशवदेवजी शास्त्री, प्रो० शिवदयालजी और लाला मोहनलालजी (शिमला) तीन उपप्रधान चुने गए। तदनन्तर मन्त्री का चुनाव हुआ। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् म० कृष्णजी बी. ए. ही मन्त्री निर्वाचित हुए। चुनाव के बाद वेद-प्रचार, आर्य्य-विद्यार्थी आश्रम, गुरुकुल कांगड़ी आदि संस्थाओं के वजट पेश किये गए, जो थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ निम्न-प्रकार स्वीकार हुए ।

वेद-प्रचार ३७५०४), आर्य्य-विद्यार्थी आश्रम ४५००), दलितोद्धार फण्ड १००००), गुरुकुल कांगड़ी तथा गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ १७२०१३), मुख्य कार्य्यालय ८०००), दयानन्द उपदेशक विद्यालय ६०००), लेखराम स्मारक धि २८००)

सत्यार्थ-प्रकाश की ज़ब्ती का यत्न—

गाज़ी महमूद धर्मपाल अपने आपको सर्व-साधारण के सामने लाने के नित नए उपाय सोचते हैं। उनका धर्म है सनसनी पैदा करना, और उस सनसनी के सहारे रुपया बटोरना। इन्हीं दिनों उनकी एक गुप्त चिट्ठी प्रकट हुई है, जो उन्होंने बड़े बड़े मुसलमान नेताओं और समुदायों को भेजी है। इस चिट्ठी से एक विस्तृत षड्-यन्त्र का पता चलता है। षड्-यन्त्र का उद्देश्य है, सत्यार्थ-प्रकाश के चौदहवें समुल्लास को ज़ब्त कराना। मौलवी अब्दुल अज़ीज़ पञ्जाब लैजिस्लेटिव कौंसिल के सर्दियों के अधिवेशन में इस मतलब का प्रस्ताव पेश करेंगे उक्त पत्र के पढ़ने से यह प्रतीत होता है।

हम जानते हैं कि इस षड्-यन्त्र से बनना कुछ नहीं। हां, धर्मपाल को अपने नए पुस्तक बेचने का अच्छा अवसर मिल जायगा। तो भी मुसलमानों और आर्य्य-समाजियों में वैमनस्य फैलने की बड़ी सम्भावना है। सत्यार्थ-प्रकाश पर इससे पूर्व भी कई वार किये जाचुके हैं, और वे सब खाली गए हैं। आर्य्य-समाजियों को इस नूतन वार को भी उसी धैर्य्य-पूर्ण वीरता से निष्फल करना चाहिये।

पण्डित यशःपाल जी आसाम में—

पाठक यह समाचार सुन चुके होंगे, कि लगभग १ मास हुआ, जब पण्डित यशःपालजी स्नातक वेद-प्रचार के लिये आसाम गए थे। अब वहांसे आए समाचारों से पता लगता है कि पण्डितजी ने बड़ी लगन और परिश्रम से कार्य्य प्रारम्भ कर दिया है। डिबरूगढ आदि १; २ स्थानों में समाज भी स्थापित कर दीगई हैं। हमें आशा है कि यदि पण्डितजी इसी तरह कार्य्य में लगे रहे, तो शीघ्र ही कृतकार्य्य होसकेंगे।

आर्य्य-वीर बाबू नारायणसिंहजी—

धर्मों का इतिहास धर्म पर बलिदान होनेवाले ऐसे ही वीर-पुरुषों की आहुतियोंसे भरा पड़ा है। अभी म० रामचन्द्रजी (जम्मू) के बलिदानके संस्कार हृदयों से दूर ही न हुए थे कि हमारे पास श्रीबाबू नारायणसिंहजी के धर्म पर बलिदान होनेका समाचार आपहुंचा है। आप पटना आर्य्य-समाज के प्रधान और इस प्रान्त में शुद्धि के सञ्चालक थे। इन्हीं कारणों से आप मुसल-मानों की आंखों में बहुत खटक रहे थे। कहते हैं, कि पिछले साल भादों

आश्विन महीने में जब की मुसलमानों की ओर से यह घोषणा हुई थी की गणेश चौथ और देवी का जुलूस न निकलने पावेगा तब बाबू नारायणसिंह ने ही हिंदुओं को प्रोत्साहित कर दोनों त्यौहार धूमधाम से मनाये। गत अगहन और फागुन महीने में आर्य्य-समाज के उत्सव पर आप के उद्योग से पचासों नये मुसलिमों की शुद्धि हुई। इसी समय दो जन्म के मुसलमानों की भी शुद्धि की गई थी। कहते हैं, इन्हीं बातों से मुसलमान इन पर चिढ़े हुए थे और उन का काम तमाम करने का मौका देख रहे थे। गत मङ्गलवार के शाम को जब बाबू साहब अपने "टाल" से घर लौट रहे थे, कि हरिमन्दिर की गली में जो चौक थाने के पास ही है, ३० या ३५ आदमियों ने फर्सों और गंडासों से उन पर आक्रमण किया। निहत्थे बाबू साहब ने बड़ी वीरता से आक्रमण कारियों का सामना किया पर इतने हथियारबन्दों के सामने वे टिक न सके और लोहूलुहान होकर गिर पड़े। सूचना मिलने पर बाबू साहब के घर तथा अखाड़े के लोग उन्हें खाट पर लिटा अस्पताल ले गये। अन्त को १ बजे रात को बाबू साहब के प्राण निकल गए। मेडिकल परीक्षा के बाद दूसरे दिन १ बजे रथी निकाली गई। साथ लोगों की बड़ी भीड़ थी। शव संस्कार विधिवत् हुआ। कहते हैं, पुलिस इंसपेक्टर मौ० इशहाक ने इस मामले में बड़ी ढिठाई की है। इस हत्याकांड से पटने के हिंदुओं में हलचल मच गई है। वहां के हिंदू बाबू नारायणसिंह को अपना बड़ा भारी सहायक समझते थे।

अब प्रश्न है कि क्या इन बलिदानों को दृष्टि में रखते हुए शुद्धि और प्रचार का काम बढ़ेगा व शिथिल होता जायगा। ऐसे घृणित उपायों से किसी पवित्र काम को रोक देने का यत्न करना बड़ी सख्त गलती है। विरोधियों को याद रखना चाहिए कि उन के यह यत्न उन की अपनी जड़ों को खोखला कर रहे हैं। वीरों के खून से सिञ्चा हुआ कल्प वृक्ष कभी मुरझा नहीं सकता। अब देखना यह है कि क्या आर्य्य समाजें सार्वजनिक विराट सभाएं करके उन में प्रस्ताव ही पास करदेंगी वा कुछ काम की मात्र में भी बढ़ती होगी ? हमें आशा है कि प्रस्ताव प्रस्ताव तक ही न रह जावेंगे किन्तु काम भी अधिक बल पूर्वक होगा।

———

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब लाहौर ।

शेष पत्र वेद प्रचार विभाग बाबत सं० १९८१ ।

निधि	शेष	जहां धन लगा हुआ है	शेष
वेद प्रचार	५९८०९=)१०	ऋण मयामल लालचन्द बटाला	२६५१॥।=)॥।
दयानन्द सेवा सदन	१४१०)	,, वीरभानु सीताराम आदि	११४४।-)७
		मियां चन्नु	२३१६२॥≡)७
लेखराम स्मारक निधि	२८०७७।≠)९	,, जगन्नाथ आदि अमृतसर	४५९॥।≡)॥
विदेश प्रचार	२४९२८।=)८	,, आर्य्य समाज वज़ीराबाद	८३६४॥।≠)११
गुरुदत्त भवन आश्रम शाला	७६३४०॥-)॥।	,, ईश्वर दास आदि अबोहर	३३)४
गुरुकुल मुलतान	५११५॥।)	,, हरदयालु उपदेशक	५२॥≠)।
प्रोवीडेंट	५९१३।≠)९	,, केसर चन्द भजनीक	११६४१।≡)॥
बोनस	६३६४।) ११	,, आर्य्य विद्यार्थी आश्रम	६१४७।≠)७
अमानत वैदिक पुस्तकालय	२७६)	,, डा० मथुरादास आदि मोगा	११५०॥)१
,, आर्य्य समाजें	१७६६८॥।)५	एजेंएट अकौंट	५२३९≡)
,, अन्य संस्थायें	१०६९०॥)७	अगाऊ	५००)
,, अंबालाल दामोदर दास	४०८४)	इम्प्रैस्ट	१४८८५॥।)॥
,, ईश्वर दास	६३६७॥।)।	शीश महल भूमि	५०००)
,, विद्यार्थी आश्रम	६४४)	शुजाहवाद भूमि	७६३३८॥≠)१०
कन्या गुरुकुल	१३४५१)	गुरुदत्त भवन आश्रम शाला	३२०६॥।≡)१
प्रेम देवी होम करण भण्डार	१५३४।)	सेन्ट्रल बैंक	२०६५-)५
दयानन्द व्याख्यान	१०७५॥।=)	पञ्जाब नैशनल बैंक Floting at	१६७६६८)१०
आचार सुधार	१३९९॥-)	,, F. D.	३६०४४२॥=)॥
अज्ञात निधि	१६=॥-)॥		
सभा के सेवकों की सहायता	५००)		
राजपूतोद्धार	८२०३-)।		
दलितोद्धार	६५६५।≠)१०		
मद्रास प्रचार	३८९=)		
विद्यार्थी आश्रम	—६६३।≡)८		
दयानन्द जन्म शताब्दी	८७८७॥।≡)।		
वसीयत पं० पूर्णानन्द	७५८७॥≠)॥।		
रामचन्द्र स्मारक निधि	६१३।≡)॥।		
निहाल देवी जीन्दा राम	१३०३॥।=)१०		
दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय	१५८५४)		

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब लाहौर ।

शेष पत्र गुरुकुल विभाग बाबत सं० १९८१

निधि	शेष	जहां धन लगा हुआ है	शेष
ासाम प्रचार	१०७॥-)		
एडमन प्रचार	७०)		
० स्वा० विद्यानन्द जानकी बाई	६१८॥)		
,, म० ओची रामजी	५०२५)		
यानंद उपदेशक वि० स्थिर कोष	४००००)		
योग	३६०४४२॥≈)॥		
गुरुकुल महानिधि	३०५४३८॥।)॥।	गुरुकुल भूमि	१६३६३)
,, स्थिर छात्र वृत्ति	११५२१०॥≡)२	,, मकानात	१२४९६१≡)॥।
,, अस्थिर ,,	१२२३१०।-)॥	,, इन्द्रप्रस्थ मकानात	७७१५३।-)॥।
,, आयुर्वेद	३०८६६॥≈)।	,, मायापुर भूमि	१२७४६॥=)॥।
,, उपाध्यायवृत्ति	११५५४४-)११	,, अमरोहा ,,	१६००)
,, स्थिर कोष	८२८१=)	,, धर्म शाला कोठी	१७७०६)॥।
,, कन्या गुरुकुल इन्द्र प्रस्थ	—१८२०।≡)॥	,, शीश महल भूमि	३४७३३॥≈)
योग	६६५८३४।)१	,, भूमि रेलवे रोड लाहौर	२४४६५)
		ऋण चौ० रामकृष्ण देव बन्धु	६०००)
		,, चौ० ठाकुरदास धर्मशाला	१०६।'।
		,, डा० मथुरादास मोगा	१२२९४॥।)४
		,, म० बाबूराम लुध्याना	१०४३॥।)
		,, लाहौर बिजली कम्पनी	५००००)
		,, गुरुदत्त भवन	२७०००)
		डायमंड फ़्लोर कम्पनी	१००)
		पञ्जाब कोआप्रेटिव बैंक	५०)
		आर्य्य कम्पनी	२०९)
		प्रामेसरी नोट	१०००)
		ट्रस्ट आफ इण्डिया	८००)
		पञ्जाब नैशनल बैंक	३४२६५०॥≡)२
		गुरुकुल धरोहर	—५४३१२।=)
		कन्या गुरुकुल धरोहर	—१५०३)।
		योग	६६५८३४।)१

Registered. No. L. 1424. रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

* ओ३म् *

भाग ६ जुलाई १९२५
अङ्क २ आषाढ़ १९८२

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना ।

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्णः

ऋग्वेद ।

हे प्रभु ! हम तुम से वर पावें ।
विश्व जगत् को आर्य बनावें ॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें ।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें ॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें ।
प्रीति-नीति की रीति चलावें ॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

[श]रत्चन्द्र लखनपाल प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से बाम्बे मैशीन प्रेस मोहनलाल रोड लाहौर में छप कर प्रकाशित हुवा ।

विषय

विषय सूची ।

पृष्ठ

"आर्य्य" के नियम ।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है । (डाक ख़ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है) ।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है । सभा ने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है ।

३—इस पत्र में धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभा की सूचनाएं दर्ज होती हैं ।

४—पत्र में प्रकाशित होने के लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख़ के पूर्व आजाने चाहियें ।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के भीतर सूचना देने से वह अङ्क भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात मंगवाने पर प्रति अङ्क ।≈) देने पड़ेंगे ।

* ओ३म् *

आर्य्य

भाग ६] लाहौर—आषाढ़ १९८२ जुलाई १९२५ [अंक २
[दयानन्दाब्द १०१]

* ध्येय *

(लेखक—श्री० संतलाल दाधिमथ, आयुर्वेदाचार्य)

विश्वम्भर ! विश्वाधार तुम्हीं, करुणामय ! करुणागार तुम्हीं ।
हो सार तुम्हीं, अविकार तुम्हीं, निर्धनी के धन—भाण्डार तुम्हीं ॥

* * * *

जीवन-तन्त्री के तार तुम्हीं, शुचि वेदों के उद्गार तुम्हीं ।
व्यापार तुम्हीं, व्यवहार तुम्हीं, हीनों के प्रिय-परिवार तुम्हीं ॥

* * * *

हर ! हरि, श्री, शक्ति, सुरेन्द्र तुम्हीं, महिमामय ! मान्य, महेन्द्र तुम्हीं ।
देवेन्द्र तुम्हीं, भूपेन्द्र तुम्हीं, लीलामय ! लीला—केन्द्र तुम्हीं ॥

* * * *

गीता कहती—"हो गेय तुम्हीं !", बिन प्रीति, परेश ! अजेय तुम्हीं ।
श्रद्धेय तुम्हीं विज्ञेय तुम्हीं, ध्याता हम हैं, हो "ध्येय" तुम्हीं ॥

दर्श और पौर्णमास।

(लेखक—श्रीयुत बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार, "आर्य्य-सेवक")
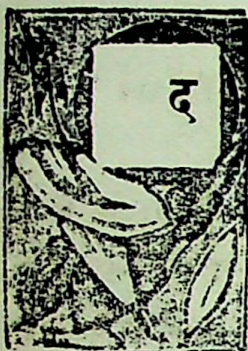
र्श और पौर्णमास-यज्ञ के विषय में विस्तृत लेख लिखने की प्रतिज्ञा हम पिछले किसी अङ्क में कर चुके हैं, किन्तु अनवकाशवश इस बार केवल अवतरणिका का एक अंशमात्र उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। इनमें से प्रथम पौर्णमास को ही लेना चाहिये। यदि स्थूलदृष्ट्या इस यज्ञ को देखा जाय तो इसमें कुछ भी नहीं है। वेद-वेदाङ्ग के जानने वाले मीमांसा के मर्मवित् ऋत्विज लोग यजमान के घर इकट्ठे होकर धान लेते हैं, उन्हें कूटते हैं, पछोड़ते हैं, पीसते हैं, उनकी उन्नीस टिकियां घी में तलकर पकाते हैं, यज्ञ की वेदि तैयार करते हैं, और घृताहुति के साथ उन उन्नीस टिकियों का कुछ अंश उस तैयार की हुई वेदि में हवन कर दिया जाता है, और फिर थोड़ा सा भात खाकर विद्वान् लोग अपने २ घर विदा होजाते हैं।

ऐसे शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वानों के समय का इससे अधिक उपहसनीय दुरुपयोग कदाचित् कल्पना द्वारा ही विचारा जा सकता हो। परन्तु जब सूक्ष्म-दृष्टि से विचार किया जाय तो उपहास श्रद्धा में परिणत होजाता है। निस्सन्देह यह सब कर्म-कलाप उपहसनीय ही हो, यदि इसकी तह में कोई गहरा भाव विद्यमान न हो। परन्तु यज्ञ में आसन बिछाना, गाड़ी में धान लादना, लाना, उतारना, कूटना, पीसना, गूंधना, तलना, आहुति करना, वेदी खोदना, उसपर कुशा बिछाना आदि आदि छोटी से छोटी क्रिया भी ऐसी नहीं जो किसी न किसी मन्त्र वा मन्त्रभाग के उच्चारण के बिना होती हो, और वही इस यज्ञ और यज्ञमात्र का मर्म है।

दर्श और पौर्णमास हैं क्या? बालकों को तथा माता-पिताओं को कुल-मर्यादा की रक्षा के पथ पथ में दोहराने का एक साधन हैं। प्रश्न होगा कि फिर इन दोनों में भेद क्या है? इसका उत्तर यह है कि पौर्णमास का केन्द्र घर के बालक हैं, और दर्श का केन्द्र घर के वृद्धजन। पौर्णमास चन्द्र का उदय पक्ष है, और दर्श क्षीयमाण पक्ष है। पौर्णमास यज्ञ में बालकों को नाम ले लेकर आदेश किया जाता है कि पिता ने उन्हें कुल की किसी विशेष मर्यादा के प्रवाह को अविच्छिन्न रखने के लिये उत्पन्न किया है। यदि दुर्दैव-वश पिता उस

कार्य्य को अधूरा भी छोड़ जाय, तो पुत्रों का कर्तव्य है कि वे उसे पूरा करें। दर्शेष्टि के दिन यही कुल-मर्य्यादा पूरी करने का उपदेश उन्हें एक और प्रकार से दिया जाता है। उस दिन घर के वृद्धजनों की पूजा करके उन्हें कहा जाता है कि देखो कुल की मर्य्यादा ऐसे पूरी कीजाती है, जैसे इन वृद्धजनों ने पूरी की, और जिसके कारण यह आज इतने आदर के भाजन हो रहे हैं। शेष विधि दोनों यज्ञों की लगभग एक ही है।

आज कल लोग पौर्णमास यज्ञ के रस का पूर्णरूप से आस्वादन कैसे करें? क्योंकि आजकल सन्तान यथार्थ में सन्तान है ही नहीं। सन्तान का अर्थ है, 'जारी रखना', और लोगों की अवस्था यह है कि बी. ए. पास करने के पश्चात् सोचा करते हैं कि अब क्या करना चाहिये। ऐसे संङ्कल्पहीन लोग किस बात को जारी रखना चाहते हैं, जिसके लिये उन्हें सन्तान की अभिलाषा हो? इसलिए उनकी सन्तान यथार्थ में सन्तान नहीं, अपितु वितान है, और यदि अपतान भी कहदें तो कोई हर्ज नहीं। यह सङ्कल्प-हीनता यदि गम्भीर-दृष्टि से देखा जाय, तो एक प्रकार से नपुंसकता है। केवल भेद इतना है कि स्थूल-दर्शी लोग शारीरिक नपुंसकता से अत्यन्त घबराते हैं, परन्तु उसकी अपेक्षा शतगुण अधिक शोचनीय परिणाम उत्पन्न करने वाली आध्यात्मिक नपुंसकता से बिलकुल नहीं घबराते। किन्तु जिस समय प्रत्येक कुल इस बात पर जान देता था कि यदि वह अपने कुल की मर्यादा में कुछ उन्नति न कर दिखाए तो कम से कम उसे हीनतर दशा में तो प्राप्त न होने दे, उस समय पौर्णमास बच्चों का खेल, शास्त्रमर्मवित् पण्डितों के समय का दुरुपयोग और निठल्लों की शतरञ्ज नहीं था। अब भी जिन जातियों में सङ्कल्प दृढ़ होते हैं, वहां सन्तान को इसी दृष्टि से देखा जाता है। उदाहरण के लिये पठानों को ले लीजिए। पठान लोगों में पौर्णमास यज्ञ का ही दूसरा निन्दितरूप अभिचार-यज्ञ अभी तक प्रचलित है। यह ठीक है कि न वहां ऋत्विज होते हैं, न वेद के ज्ञाता, न यज्ञवेदि, किन्तु तो भी हम निस्संकोचरूप से कह सकते हैं, कि वहां अभिचारयज्ञ प्रचलित है। यह बात और है कि वहां यज्ञ की पद्धति दूसरी हो।

अभिचारयज्ञ की पठानी पद्धति यह है कि जब कोई पठान किसी दूसरे पठान को मार देता है तो उसके कुल के लोग निहत (मारे हुए) व्यक्ति के कपड़े उसी रुधिर-दिग्ध (खून आलूदी) अवस्था में लेजाकर घर में खूंटी पर टांग देते

हैं। जब लड़के होश सम्भालने लगते हैं, उसी दिन से पूछते हैं, यह क्या रङ्ग है? उसी दिन से उन्हें पाठ पढ़ाया जाता है कि अमुक कुल के अमुक पठान ने तुम्हारे पिता को मारा था, और उससे बदला लेना तुम्हारा धर्म है। इसका प्रभाव यह होता है, कि जीवनकाल में कभी न कभी अवसर पाकर उस कुल का कोई लड़का दूसरे कुल के किसी लड़के को मारकर अपने प्रतिहिंसा के कुल-क्रमागत ऋण से मुक्त होता है।

अब यज्ञ-पद्धतियां शाखा-भेद से अनेक हुआ करें, परन्तु अभिचार यज्ञ का सार यही है, जो सबमें समान होगा। इसे अभिचार यज्ञ की पठानी-शाखा की पद्धति समझ लीजिए। अभिचार यज्ञ विगर्हित उद्देश्य से किया जाता है, इसलिये शास्त्रकार भी इसकी निन्दा करते आए हैं। पौर्णमास उत्तम उद्देश्य से किया जाता है, परन्तु वह तभी सफल हो सकता है, जब वहां भी प्रतिहिंसा के स्थान में कोई कुल-क्रमागत उत्तम सङ्कल्प हो। इसीलिये पौर्णमास में जहां जहां 'द्विषतो बधः' ऐसा शब्द आता है, वहां अभिचार में 'शत्रु का नाम' लिया जाता है। तात्पर्य, पौर्णमास यज्ञ पहले से किसी शत्रु की कल्पना करके नहीं बैठता। पौर्णमास के सङ्कल्प से उत्पन्न बालक अपने कुल-क्रमागत सङ्कल्प के पूर्ण करने में यदि कोई विघ्न-बाधाएं उपस्थित हों, तब उनसे लड़ने का सङ्कल्प करता है, किन्तु अभिचार का कर्ता और अभिचार-जन्य बालक यज्ञशाला में प्रवेश ही किसी व्यक्ति विशेष के मारने के लिये करते हैं।

अपने कथन की पुष्टि के लिए हम पौर्णमास पद्धति के केन्द्रभूत वाक्य को उद्धृत करते हैं:—

"ततोऽसि तन्तुरस्य नु मा तनु ह्यस्मिन् यज्ञेऽस्यां साधु कृत्यायामस्मिन् नन्नेऽस्मिंल्लोक इदं मे कर्म्मेदं वीर्य्यं पुत्रोऽनुसन्तनोत्विति पुत्रस्य नाम गृह्णाति।" कात्यायन श्रौतसूत्र तृतीयाध्याय १७६ सूत्र

हे प्रभो! तू सर्वत्र व्यापक है, इस संसार को यथास्थान बांध रखने वाला तन्तु भी तू ही है, मेरे तन्तु का भी विस्तार कर। इस यज्ञ, इस शुभ कर्म्म, इस अन्न द्वारा, इस लोक में मेरे इस सङ्कल्प, इस वीर्य्य को मेरा पुत्र मेरे पीछे भी विस्तार करता रहे। यह वाक्य बोलते हुए पुत्र के स्थानपर पुत्रका नाम लेता है।

"आत्मनोऽविद्यमाने तन्तवे त्वा ज्योतिषे त्वेति वा।"

का० श्रौ० अ० ३ सू० १८८

यदि पुत्र न हो तो अपना नाम ले, अथवा "तन्तवे त्वा ज्योतिषे त्वा" ऐसा कहे, अर्थात् मैं ऐसा करूं, कि अपने पीछे भी इस कार्य्य का तन्तु न टूटने दूं। अथवा हे प्रभो! इस शुभ कर्म का तन्तु न टूटे, इसलिए मैं तेरी शरण आता हूं।

इस प्रकार इस लेख में हमने पौर्णमास के मूल सूत्र का निर्देश किया है। किन्तु पौर्णमास में बालक की उत्पत्ति, शिक्षा, समय-विभाग, मस्तिष्क की अवक्रान्ति (Development) आदि सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है, जिनमें से दो चार का निर्देश हम अगले लेख में करेंगे। पौर्णमास के प्रत्येक अङ्ग की व्याख्या "आर्य्य" में करना कठिन है, क्योंकि वह एक विशाल-काय ग्रन्थ की अपेक्षा रखती है।

ऋषि दयानन्द की वेद भाष्य शैली

[ले०—श्री० विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार, अजमेर]

गतांक से आगे।

स्थापना और पाश्चात्य विद्वान्—इस स्थापना के सम्बन्ध में मैं पाश्चात्य विद्वानों के भी दो चार प्रमाण पेश करना चाहता हूं। ताकि श्रोताओं के हृदयों में इस स्थापना का अधिक गौरव हो सके।

१—शतपथ ब्राह्मण के अंग्रेज़ी अनुवाद की भूमिका में मि० जे० एगलिङ्ग (J. Eggeling) लिखते हैं "These theological treatises........ explaining the origin and hidden meaning of the various rites, form one of the most important department of the literature.

अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ........जो कि कर्म-काण्ड के गुप्त रहस्यों का वर्णन करते हैं, साहित्य का बहुत ही आवश्यक भाग हैं।

2. The story of the nations नामी पुस्तकमाला में प्रकाशित Vedic India नामी पुस्तक के विद्वान् लेखक मि० ज़ेनेडे ए० राजोज़िन (Zenaide A. Ragozin) उस पुस्तक के पृ० ३९९ में निम्न लिखित पंक्तियां लिखते हैं, "Celetial sacrifice then, is the model, terrestrial sacrifice the copy. There is more than imitation, there is absoclute Identity" अर्थात् द्यु लोक और अन्तरिक्ष लोक की घटनाएं आदर्श

रूप हैं और पृथिवी पर का यज्ञ उन की नकल है; नकल ही नहीं वरन् द्यु और अन्तरिक्ष की घटनाओं और पार्थिव यज्ञ में एक दृष्टि से अभेद ही है।

(३) इसी प्रकार वही विद्वान् उसी पुस्तक के पृ० ३९५ में लिखते हैं। "Of course knowledge, great and varied, is required to make the prayer and sacrifice efficient, the least omission or error would be fatal for, sacrifice being an imitation or reproduction of the celetial drama, it must run as smoothly, be as free from blemish. A hitch or blunder in the sacrificial rite must produce a corresponding disturbance with heavenly Rita (ऋत) or even course of the comic order and the safety of the universe is endangered."

अर्थात् मन्त्र और यज्ञ को सफल बनाने के लिये भिन्न २ विषयों के अगाध ज्ञान की आवश्यकता है। कर्म काण्ड के करने में किञ्चत् भ्रान्ति का होना भी अनर्थकर है। चूंकि कर्मकाण्ड वास्तव में बाह्य जगत् की घटनाओं का प्रतिबिम्ब अथवा पुनरुक्तिमात्र है। अतः यज्ञीय कर्मकाण्ड को, जगत् की बाह्य घटनाओं के अवश्य अनुसारी होना चाहिये। यज्ञीय कर्मकाण्ड में ग़लती संसार के व्यापक नियमों में अन्यथा भाव उत्पन्न कर देती है। क्योंकि कर्म काण्ड की क्रियाओं और विधियों से ही हम ने संसार के अन्तस्तत्त्वों का बोध करना है। कर्म काण्ड में यदि अन्यथा भाव हुआ तो ज्ञानी के सांसारिक घटनाओं के ज्ञान में भी अन्यथा भाव अवश्य हो जायगा।

(४) इसी प्रकार मि० मार्टिन हौग (Martin Haug) ऐतरेय ब्राह्मण की अंग्रेज़ी भूमिका के पृ० ४६ में सत्र यज्ञों के सम्बन्ध में निम्न प्रकार लिखते हैं "the Sattras which lasted for one year were, as one may learn from a careful perusal of the 4th book of the ऐतरेय ब्राह्मण, nothing but an imitation of the sun's yearly course" अर्थात् सत्रयज्ञ, जिन के करने में एक वर्ष चाहिये, सूर्य के वार्षिक अयनगमन की नकलमात्र हैं। इस की पुष्टि के लिये देखो ऐ० ब्रा० की चतुर्थ पञ्चिका।

(५) यही लेखक उसी पुस्तक के पृ० ६३ में पुनः लिखते हैं:—"The universal character of the अग्निष्टोम and its meaning is treated

especially in the fourth chapter of the third book" अर्थात् अग्निष्टोम यज्ञ का व्यापक स्वरूप और इस यज्ञ का रहस्य ऐ० ब्रा० की तृतीय पञ्चिका के चतुर्थ अध्याय में वर्णित है।

(६) इसी प्रकार यज्ञीय ऋत्विजों के सम्बन्ध में ताण्ड्य ब्राह्मण में जो वर्णन आया है उस सम्बन्ध में वही मि० हौग पृ० ५७ में लिखते हैं "Agni (the fire) is Hotar, Aditya (the sun) adwaryu, the moon Brahma पर्जन्य (the God of rain) udgatar" अर्थात् संसार-यज्ञ के अग्नि, सूर्य, चन्द्र और बादल, यज्ञीय कर्म काण्ड के ऋत्विजों अर्थात् होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता के प्रतिनिधि हैं।

(७) इसी प्रकार एक विद्वान् मि० एबल बरगेन (Abel Bergaigne) लिखते हैं कि "sacrifice is an imitation of the chief phenomena of the sky and the atmosphere" अर्थात् यज्ञीय कर्म काण्ड, आकाश और वायु मण्डल की मुख्य २ घटनाओं की केवल नकल है। (Vedic India p. 388 .

उपरोक्त प्रमाणों तथा उद्धरणों से पाठकों को अवश्य ज्ञात हो गया होगा कि यज्ञीय कर्मकाण्ड वास्तव में आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक रहस्यों का ही वर्णन करता है।

ऋषि-भाष्य तथा पौराणिक कालीन भाष्यों में दूसरा भेद यह है कि—ऋषि दयानन्द मन्त्रस्थ विशेषण पदों पर विचार करने के बाद विशेष्यपद का निर्णय करते हैं और पौराणिक कालीन भाष्यकार इस से प्रतिकूल, विशेष्यपद के अर्थ को प्रथमतः ही निश्चित और निर्णीत मान कर शेष बचे विशेषणपदों के अर्थों को यथा तथा विशेष्यभूत अर्थ के साथ जोड़ते हैं। इस विशेषता या भेद के स्पष्टी करण के लिये, मैं आपके सन्मुख एक लौकिक दृष्टान्त पेश करता हूँ।

उदाहरण के लिये पाठक हरि शब्द को लें। हरि शब्द के बोलते ही कईयों के मन में परमात्मारूपी अर्थ का बोध होगा। अब आप निम्नलिखित वाक्य पर ध्यान दीजिये। यथाः—

हरि प्राण लेता है, जल में उसका वास है और वर्षा में बोलता है। ऋषि की शैली से यदि हम हरि शब्द के अर्थ को जानना चाहें तो प्रथम हमें इस वाक्य के विशेष्य और विशेषण पदों को पृथक् २ कर लेना चाहिये। इस वाक्य में हरि विशेष्य पद है और शेष पद इसके विशेषण हैं। ऋषि की शैली के अनुसार प्रथम हमें इस वाक्य के विशेषण पदों पर ध्यान देना होगा। इस वाक्य में विशेषण पद ३ हैं। प्राण लेना, जल में वास तथा वर्षाऋतु में बोलना। अब हम देखेंगे कि ये विशेषण किस वस्तु में उपपन्न होते हैं। विचार के बाद हमें प्रतीत होगा कि ये विशेषण मण्डूक में चरितार्थ होते हैं। अतः ऋषि की विचार शैली का मनुष्य इस वाक्य में हरि पद में से मण्डूक अर्थ लेकर सम्पूर्ण वाक्य का तदनुसारी अर्थ कर देगा। और अपने अर्थ के अनुसार मण्डूक में हरि पद का प्रयोग कैसे हुआ उसकी निरुक्ति भी तदनुसारिणी ढूंढ लेगा। यथाः—

हरति चेतांसि वदन्निति हरिः। अर्थात् जो बोलता हुआ मनुष्यों के चित्तों को अपनी ओर हर ले या खींच ले वह हरि है। परन्तु पौराणिक कालीन भाष्यकारों की शैली इस शैली से प्रतिकूल है। कल्पना करो कि उन्हों ने हरि पद परमात्मा का वाचक माना हुआ है। वे हरि पद के माने हुए अर्थ का कभी त्याग न करेंगे। हरि पद के अर्थ को पहिले से ही निर्णीत मानकर वे अब विशेषणों पर आते हैं, और सोचते हैं कि परमात्मा में प्राण लेना, जलवास, तथा वर्षा में बोलना—ये विशेषण कैसे चरितार्थ होंगे? यदि इन विशेषणों में से कोई विशेषण—जिस किसी भी प्रकार से—परमात्मा में चरितार्थ होसका तो वे चरितार्थ कर दिखाएंगे। यथा—जलवास रूपी विशेषण के सम्बन्ध में वे युक्ति करेंगे कि परमात्मा चूंकि सर्व व्यापक है अतः वह जल में भी है। अतः जलवास रूपी विशेषण परमात्मा में चरितार्थ हो गया। अब वे अवशिष्ट विशेषणों पर दिमाग़ लड़ाएंगे कि वर्षा में बोलना यह विशेषण परमात्मा में कैसे चरितार्थ होगा? यदि इसका भी वे, द्राविड़ प्राणायाम की रीति से, दूर या समीप का कोई समाधान ढूंड निकालें तब तो ठीक, नहीं तो वे लिख देंगे कि देवताओं के अनन्तशक्तिशाली तथा सर्व शक्तिमान् होने से ये विशेषण भी उस में उपपन्न जानो। यदि किसी तरह भी कोई समाधान न सूझा, तो लिख दिया कि यह देवता की स्तुतिमात्र है, और स्तुति में तो ऊपर नीचे की बातें करनी ही होती हैं।

इसी प्रकार एक और वाक्य दृष्टान्तरूप में लीजिये। यथा:—

"हरि वर्षा करता है, दिन रात का निर्माता है, बड़ा तेजस्वी और चमकीला है, हज़ारों रङ्ग बिरङ्गे घोड़े उसके रथ में जुते हुए हैं।" इस वाक्य के विशेषणों को विचार कर ऋषिशैली का मनुष्य तो हरि पद से एकदम सूर्य अर्थ ले लेगा, और अपने अर्थ के अनुसार हरि पद का निर्वचन कर देगा, यथा:—

हरति जलमिति हरिः। चूंकि सूर्य जल का रश्मि द्वारा हरण करता है अतः वह हरि है। परन्तु पौराणिक कालीन भाष्यकारों का अनुयायी हरि पद के एक माने हुए अर्थ को तो कभी त्यागेगा नहीं, और हरि पद के परमात्मा रूप अर्थ में, यथा तथा, अन्य विशेषणों के लगाने की कोशिश करेगा।

इस प्रकार ऋषि की शैली विशेषणपदों के विचार से शुरु होती है और विशेष्यपदों पर समाप्त होती है और पौराणिक कालीन भाष्यकारों की शैली प्रथम विशेष्यपद को पकड़ती है और पुनः विशेषणों को उस विशेष्य अर्थ में जैसे तैसे घटाने की कोशिश करती है। अतः—

ऋषि के भाष्य में ये ही दो मुख्य विशेषताएं हैं। (१) यज्ञीय कर्मकाण्ड के छिपे हुए गूढ़ रहस्यों को उद्घाटन करना और (२) विशेषणों द्वारा विशेष्य पद के अर्थ को निश्चित करना।

ऋषि के भाष्य में की अन्य विशेषताओं में से कतिपय तो गौणरूप हैं, अतः उनका इस छोटे निबन्ध में वर्णन करना असम्भव है, और कतिपय इन्हीं दो मुख्य विशेषताओं के परिणामरूप हैं, जोकि निम्नलिखित हैं। (क्रमशः)

———

ब्रह्मचर्य और विज्ञान।

ह्मचर्य के विषय में 'आर्य' पत्र में एक दो वार से कुछ लिखे जाने के बाद अब यह आवश्यक सा हो गया है कि इस पर कुछ वैज्ञानिक प्रकाश भी डाला जाय। यदि हम अपने प्राचीन शास्त्रों को उठा कर देखें तो वे तो इस विषय पर इतना बल देते हैं कि जितना शायद किसी और विषय पर नहीं। परन्तु यह शोक का विषय है कि वह सब कुछ यूं ही पड़ा रह जाता है जब तक कि उस पर विज्ञान की मोहर न लगाई जावे।

यह ब्रह्मचर्य जिस प्रकार से पुरुषों के लिये आवश्यक है उसी प्रकार से स्त्रियों के लिये भी इसका होना आवश्यक है। परन्तु आज कल एक ऐसा मत चल पड़ा है जो यह मानता हुआ भी कि ब्रह्मचर्य जीवन को उच्च और दीर्घ बनाता है इस बात के मानने से नकार करता है कि वह सर्वांश में पालन किया जाय। उनका यह मत है कि कुछ अवस्थाओं तक ही इसका पालन होना चाहिये। अन्यथा, यदि बल पूर्वक इसका पालन कराया जाय तो इसका परिणाम मृत्यु होता है। परन्तु बड़ी प्रसन्नता की बात है कि वर्तमान विज्ञान नित नए २ परीक्षणों द्वारा इस सिद्धान्त का खण्डन करता जाता है। (देखो आर्य मुसाफिर सन् १९०६ ईस्वी)।

प्राचीन समय में बाल ब्रह्मचारी भीष्म पितामह जी और वर्तमान समय में श्री स्वामी दयानन्द जी सदृश यतियों ने किस प्रकार से निरन्तर ब्रह्मचर्य की रक्षा द्वारा ऊर्ध्वरेता होकर मोक्ष पद को प्राप्त किया, यह किसी से छिपा नहीं हैं। किन्तु तथापि अहम्मन्य आधुनिक विद्वानों के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है। प्रत्यक्ष से बढ़ कर आज किसी और प्रमाण की भी आवश्यकता है यह नितान्त हास्यास्पद विषय है।

कई व्यक्ति इन्द्रिय में कामोत्तेजना के स्वाभाविक भाव को ही निरन्तर ब्रह्मचर्य्य के खंडन के लिये पर्याप्त आधार समझते है किन्तु उन्हें यह याद रखना चाहिये कि यह उत्तेजन शुक्र कीटों की वृद्धि के कारण से नहीं है किन्तु इसका कारण रक्त की नाड़ियों पर मज्जातन्तु गत प्रक्रिया का अधिक दबाव ही है। इस से शिराएं और धमनियां रक्त से भर जाती हैं। अतः परिणाम स्वरूप, इस इन्द्रियगत उत्तेजना को दूर करने के लिये ब्रह्मचर्य का विनाश आवश्यक नहीं। यदि ये शिराएं और धमनियां रक्त के लौट जाने पर अपने आप को खाली कर सकें (जैसा कि प्रायः कर लेती हैं) तो यह उत्तेजना स्वयंमेव शान्त हो सकती है। इन्द्रिय लोलुप संसारी पुरुष व्यर्थ में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए इस से हानि उठाते हैं। यदि उन्हें वीर्य बिन्दु के विनाश से होने वाली हानि का ज्ञान हो जाय तो सम्भव है कि वे अपने को रोक सकें। किन्तु शोक! स्वयं-कल्पित असमर्थता और बहुत कुछ इस विषय में असावधानी का भाव यह भी नहीं करने देता।

जैसा कि विज्ञान हमें बताता है "एक सामान्य वीर्य-कण में कोई बीस

करोड़ से लेकर पचास करोड तक शुक्रकीट होते हैं। नीरोग पुरुष में इन में से प्रत्येक कीट एक नए पुरुष को जन्म देने में समर्थ हैं। .... "उन सूक्ष्म शुक्र कीटों में से प्रत्येक में संख्यातीत पैतृक विशेषताएं भरी पड़ी हैं। शुक्र के रासायनिक विश्लेषण से पता लगता है कि अन्य पदार्थों के अतिरिक्त इस में कैल्शियम तथा फास्फोरिक ऐसिड का भी पर्याप्त भाग हैं और ये दोनों पदार्थ हमारे शरीर में बहुमूल्य पदार्थ हैं।........." इससे सहज में पता लग सकता है कि वीर्य का एक बिन्दु कितना मूल्यवान् है। संसार के सारे वैभव को एक ओर रख देने से भी इसका मूल्य नहीं पड़ता। वस्तुतः वीर्य एक अमूल्य पदार्थ है।

इसीलिये ऋषि मुनियों ने इसके महत्त्व पर इतना अधिक बल दिया था कि बचपन में छोटे बालक और बालिकाएं भी परस्पर क्रीड़ा, तथा एक स्थान में निवास न करें। वे मनुष्य की कमज़ोरियों को जानते थे और इसीलिये उन्होंने इस विषय में कठोर से कठोर नियम बनाए थे। भाई बहिन का परस्पर एकत्र बैठना यह कितनी साधारण सी बात है, किन्तु मनु महाराज "मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्" कह कर इसका भी एक पक्ष में निषेध करते हैं। जैसा कि क्रिसोस्टोम हमें बताता है, प्राचीन समय में यूरोप में पुरुषों द्वारा जवान लड़कियों को अपने पास रखने की प्रथा थी। वह कहता है कि इसका उद्देश्य उनके कुमारपने की रक्षा करते हुए अपने जीवन में माधुर्य लाना ही था। परन्तु इतिहास हमें बताता है कि इस प्रथा से किसी भी प्रकार के लाभ होने के स्थान में निरन्तर हानि और दुराचार की वृद्धि ही हुई है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के कृत्य छुपे छुपे रूप में अनाचार और विषय वासना की वृद्धि ही करते हैं। एक स्वादिष्ट पदार्थ को अपने सन्मुख रख कर खाने की इच्छा करते हुए भी न खाना यह एक प्रकार का संयम है। किन्तु यह विधि सर्वत्र सब विषयों में एक सी लागू है–यह मानना अपने को जान बूझ कर मौत के मुंह में देना है। 'विषय विषयों के उपभोग से शान्त हो जाते हैं' कम से कम इस विषय में प्राचीन साहित्य तो साथ नहीं देता। वह तो पुकार पुकार कर कह रहा है "भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः"—अर्थात् भोग आज तक किसी से नहीं भोगे गए, भोगों ने ही भोगियों को भोग लिया।

संक्षेपतः ब्रह्मचर्य की रक्षा का एक मात्र उपाय संयम और केवल संयम

है। मनु महाराज कहते हैं—'संयमी पुरुष गृहस्थ में भी ब्रह्मचारी ही है।' संयम के लिये व्यक्ति का यत्न होना चाहिये, प्रकृति उसे स्वयं सहायता देती है। सर रामस क्लौस्टन अपनी पुस्तक Before I wed में लिखते हैं—'प्रकृति ने कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि जितना अधिक अनवरत रूप से आत्म-संयम किया जाय उतना ही यह अधिक सुगम और सफल होजाता है। यह बात भी एक प्रकार से स्वभाव में दाखिल हो जाती है। दूसरी ओर, जितना काम निग्रह किया जाय, काम वासना की प्रवृत्ति उतनी ही अधिक दुर्दमनीय और रौद्र रूप धारण कर लेती है। यह एक प्रकार का रोग है जिस का परिणाम जल्दी या देर से मृत्यु होता है"। यह सिद्धान्त किसी वैयक्तिक अनुभव का ही फल नहीं किन्तु विज्ञान भी इसी पक्ष का ही पोषण करता है।

परन्तु यह सब होते हुए भी यह संयम इतना कठिन है कि यह लगभग 'असम्भव' की सीमा तक पहुंच जाता है। निस्सन्देह दुर्बलेन्द्रिय और असमर्थ, निस्तेज व्यक्तियों का यह काम नहीं। यत्न करने से वे कुछ दूर तक पहुंच सकते हैं किन्तु शिखर तक पहुंचना उन के लिए असम्भव है।

संशयात्मा लोग कई वार शंका किया करते हैं कि ऋषि दयानन्द दो-दो और तीन तीन सेर रोज़ दूध पीकर भी किस प्रकार से ब्रह्मचारी रह सकते थे? किन्तु यह उन्हें भी मानना पड़ता है कि वे थे निस्सन्देह। इतना उत्कट संयम! अहो! मानने को चित्त नहीं चाहता। किन्तु जब तक स्पष्ट घटनाएं विद्यमान हैं कोई कैसे संशय कर सकता है?—बात यह है कि उन्हों ने कामदेव की उत्पादन-क्षम शक्ति को रूपान्तरित कर अपने ब्रह्मचर्य को दृढ़ करने में लगा दिया था। बस! साधारण और असाधारण व्यक्तियों में यही भेद है कि प्रथम जहां उत्तेजन को स्वाभाविक विनाश का कारण समझ कर उसे नष्ट कर देते हैं वहां दूसरे यति मुनि उसी को रूपान्तरित कर पूर्ण ब्रह्मचर्य्य द्वारा लोकोपकार में निरत रहते हुए अपने और दूसरों के जीवनों को सुधार जाते हैं॥

———

भारतीय राज्यव्यवस्थाओं का अनुशीलन।

(गताङ्क से आगे)

[ले०—श्री० भीमसेन जी विद्यालङ्कार (प्रतिष्ठित) सम्पादक 'सत्यवादी' लाहौर]

कई विद्वान् आजकल की राज्यव्यवस्थाओं के सिद्धान्तों के अनुसार मनु प्रतिपादित राज्यव्यवस्था में दोष दिखाते हैं और कहते हैं कि उस समय का राजा अनियन्त्रित था। हमारी सम्मति में उन महानुभावों को तत्कालीन अन्य अवस्थाओं को ओझल न करना चाहिये।

मनु के समय जन संख्या इतनी अधिक न थी कि वहां भी प्रतिनिधि-शासन प्रणाली की आवश्यकता होती। साथही उस समय सामाजिक बन्धन इतने जटिल न थे कि उनको हल करने के लिये आजकल की तरह महा जंजाल किया जाता। बड़ी जन संख्या में तो यह आवश्यक है कि राजसंस्था के विभागों की ऐसी रचना की जाय जिससे कोई व्यक्ति स्वेच्छाचारी न वन सके। परन्तु अवस्थाओं की ओर ध्यान देकर एक सिद्धान्त को सब जगह समान रूप से लगाना युक्ति विरुद्ध है। महाशय पारजीटर द्वारा किये गये पुराण सम्बन्धी अनुशीलन के अध्ययन से पता लगता है कि मनु के समय बहुत ही थोड़ा सा प्रदेश बसा हुआ था। मनु के वंशजों ने ही आगे जाकर भिन्न भिन्न प्रदेशों को बसाया था। संक्षेप से कह सकते हैं कि मनु के समय प्रजाजन इतनी कम संख्या में थे कि वे सीधे तौर से ही राजा की उच्छृंखलता को रोक सकते थे। उस समय आजकल की शासन मैशिनरी की ज़रूरत ही न थी। शासक या मुखिया लोगों का योग्य होना ही अधिक आवश्यक था। यत: विना योग्यता लाभ किये प्रजा का पालन करना बड़ा कठिन था। यही कारण है कि हमारे राजनीति शास्त्रकारों ने सभा समितियों के संगठनों पर बहुत बल न देकर उनके प्रबन्धक तथा सभ्यों की योग्यतादि पर ही बहुत ज़ोर दिया है। परन्तु आजकल की परिवर्तित अवस्थाओं के अनुसार राजसंस्था में व्यक्तियों को महत्व न देकर विभाग संगठन को ही अधिक महत्व देना पड़ता है। अतः अवस्थाभेदों के परिणामभूत भेदों के आधार पर भिन्नकाल की राजव्यवस्था में दोष दिखाना अनुचित और युक्ति विरुद्ध है।

मनु के बाद उनके वंशजों ने भारत के पूर्व उत्तर और दक्षिणभागों में फैल

कर अपनी सभ्यता को फैलाया। और सब ओर अपना अधिकार बढ़ाया। इस समय भिन्न २ स्थानों में भिन्न २ प्रकार की शासन प्रणालियां संगठित होगईं। उन प्रणालियों के स्वरूप का वर्णन तो नहीं मिलता किन्तु उनके नाम ब्राह्मण ग्रन्थों में पाये जाते हैं। वे इस प्रकार से हैं :—

(१) गंगा यमुना के मध्यवर्ती भाग में—साम्राज्य या सम्राट्।

(२) कुरु पांचाल वंश उशीनर में—राजा।

(३) पश्चिम की नीच्य तथा अपाच्यों में—स्वराज्य।

(४) उत्तर कुरु तथा उत्तर मद्र में—विराट्।

(५) एक राज्य। (ऐतरेय ब्राह्मण)

इन भिन्न भिन्न शासन प्रणालियों के नाम से इतना तो सिद्ध होता है कि ये भिन्न भिन्न प्रकार की राजव्यवस्थाएं हैं पर इनकी क्या समानताएं हैं और क्या भिन्नताएं हैं इनका कोई वर्णन नहीं मिलता। यहां पर यही मानना अधिक संगत प्रतीत होता है कि मनु के बाद उसके पुत्र पौत्रों ने भिन्न स्थानों को बसाया। भिन्न भिन्न स्थानों की प्राकृतिक अवस्थाओं और रीति रिवाजों की भिन्नता के कारण ये भिन्न भिन्न शासन प्रणालियां विकसित हुईं। इस समय वीर पुरुष अपने पराक्रम से नए शहरों को बसाते थे और जनता उन्हें अपना राजा चुन लेती थी। इस समय के वर्णनों में से विशेष महत्व का वर्णन राज्याभिषेक सम्बन्धी ही है। उसके अध्ययन से मालूम होता है कि राजा को किस प्रकार चुना जाता था। किस प्रकार के प्रतिनिधि उसे स्वयं चुनते थे।

"इयं ते राडिति राज्यमेवास्मिन्नेतद्धात्यथैनमासादयति यन्तासि यमन इति यन्तारमेवैनमेतद्यमनमासां प्रजानां करोति ध्रुवोसि धरुण इति ध्रुवमेवैनमेतद्धरुणमस्मिंल्लोके करोति कृष्यैत्वा क्षेमायत्वा रय्यैत्वा पोषायत्वेति साधवेत्वेत्येवैतदाह।" (शतपथ, काण्ड ५, अध्याय २, ब्राह्मण १ प्रवाक २५)

"इयं ते राडिति" यह राज्य तेरे लिये है, अर्थात् यह राज्य तुझे दिया जाता है। अध्वर्यु अपने इस कथन से ही उस पुरुष को राज्याधिकारी बनाता है। अर्थात् अध्वर्यु की इस घोषणा के अनन्तर ही वह राजा बनता है। पुनः अध्वर्यु उसे राजसिंहासन पर बिठाता और उसे कहता है, "यन्तासि यमन इति" तू

यन्ता अर्थात् शासनकर्ता और यम अर्थात् प्रजा को नियम पूर्वक चलाने योग्य है। अध्वर्यु अपने इस कथन से ही उस पुरुष को प्रजा का यन्ता अर्थात् शासनकर्ता बनाता है। पुनः अध्वर्यु उस पुरुष से कहता है, "ध्रुवोऽसि धरुण इति" अर्थात् तू ध्रुव की भान्ति ध्रुव पर दृढ़ है, तू शासनभार को धारण कर सकता है। अध्वर्यु अपने इस कथन से ही उस पुरुष को इस लोक में ध्रुव और धरुण (प्रसिद्ध) करता है। (अर्थात् अध्वर्यु की इस घोषणा ही से वह पुरुष ध्रुव और धरुण माना जाता है)। पुनः अध्वर्यु उस पुरुष से कहता है "कृष्यैत्वा क्षेमायत्वा रय्यैत्वा पोषायत्वेति साधवेत्वेति" तुझे कृषि अर्थात् खेती की उन्नति के लिये, तुझे क्षेम अर्थात् प्रजा के कल्याण और सुख के लिये, तुझे रयि अर्थात् ऐश्वर्यों की वृद्धि के लिये, तुझे पोष अर्थात् प्रजा के पोषण पालन के लिये, तुझे साधु अर्थात् महात्मा जनों की संख्या-वृद्धि के लिये अथवा साधु जनों की सेवा के लिये (राजा बनाते हैं)। अध्वर्यु के ऐसे कथन के अनन्तर ही उक्त पुरुष उक्त प्रकार के कार्य्यों के सम्पादन योग्य माना जाता और तब प्रजा उसे अपना राजा स्वीकार करती थी।

तदनन्तर अन्यान्य कई प्रकार की क्रियाएं होती थीं। पुनः इस यज्ञ में नियमानुसार आमन्त्रित और उपस्थित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के सन्मुख राजा के आवेदन और अभिषेचन होते थे। (देखो प्रो० रामदेव कृत 'भारतवर्ष का इतिहास' प्रथम भाग पृष्ठ ८८) इसके बाद अध्वर्यु तथा उसके साथी "एनं पृष्ठतस्तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति' ते दण्डैर्घ्नन्तो दण्डवधमतिनयन्ति तस्माद्राजा दण्ड्यो यदेनं दण्डवधमतिनयन्ति। शतपथ, काण्ड ५, अध्याय ४, ब्रा० ४, अनुवाक ७१ के अनुसार राजा को सूचित करते थे, कि यदि उसने भी नियम तोड़े तो वह भी दण्डनीय होगा।

ब्राह्मणों के निम्न मन्त्रभाग में भी योग्य को ही राजा रूप से स्वीकृत करने का विधान है:—

रथीतमं रथीनां वाजिनां सत्पतिं पतिम्।

वसवस्त्वां पुरस्तादभिषिञ्चन्तु गात्रयेणछन्दसा विश्वदेवास्त्वामुत्तरतोऽभिषिञ्चन्तु। तैत्तरीय २ का०, ७ अ० १५ मन्त्र।

ब्राह्मणग्रन्थों की इस विधि की विस्तृत व्याख्या अग्नि पुराण के २१९

अध्याय में है। वहां लिखा है कि ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के प्रतिनिधि मन्त्री भिन्न २ प्रकार के घंटों से राजा का अभिषेक करें।

ब्राह्मणों के समय की राजव्यवस्था का पूरी तरह से ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित यज्ञों का राष्ट्रीय-दृष्टि से अध्ययन करना चाहिये। ब्राह्मणों के यज्ञ राष्ट्रयज्ञ के भी निदर्शक हैं। ब्राह्मणों का स्वर्ग कोई अलौकिक वस्तु नहीं है। उसके अनुसार सुखमय राज्य का नाम भी स्वर्ग है। शतपथ में आता है कि "पुरादेव युग आसीत्"। कालिदास भी लिखते हैं, "ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः" इस देवराष्ट्र में अग्नि, वरुण, इन्द्र, आदित्य देवता राष्ट्र के ही पदाधिकारी होते थे। हमारी यह कल्पना निराधार नहीं है। "राष्ट्रं वा अश्वमेधः, क्षत्रं वै होता विशो होत्रा शंसिनः" इत्यादि इस कल्पना के पोषक हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों का असुर शब्द राष्ट्र के स्वार्थी पुरुषों के लिये है। देव लोग राष्ट्ररूपी यज्ञ कर इनको दमन करते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के समय की राजव्यवस्था भी किसी किसी अंश में ऐतरेय ब्राह्मण के चतुर्थ अध्याय के गाथाक्रम में उपलब्ध होती है। ऐतरेय ब्राह्मण के चतुर्थ अध्याय के गाथाक्रम में ब्रह्म क्षत्र परस्पराश्रित माने गए हैं। "क्षत्रो मा ब्रह्मणो गोपयतु ब्रह्म मा क्षत्रात्गोपयतु" इत्यादि वाक्य उस समय की राजव्यवस्था के आदर्श को हमारे सामने रखते हैं। इस प्रकार हमने देखा कि ब्राह्मणग्रन्थों के समय में मनु द्वारा स्थापित राजव्यवस्था क्रमशः विकसित होकर नाना रूपों में प्रकट होरही थी।

——:०:——

वर्तमान जातपात।

(लेखक—श्री पण्डित जनमेजय जी विद्यालङ्कार)

हिन्दू जाति इस समय अत्यन्त भीषण संग्राम में से गुज़र रही है। मुसल्मान और ईसाई इस जाति को बिलकुल निगल जाने तथा हज़म कर डालने के लिए एड़ी चोटी का पसीना एक कर रहे है। पर इस जाति की दशा अत्यन्त दयनीय है। इन भलेमानसों को अभी तक पता ही नहीं कि दुनियां में क्या हो रहा है। यह बेचारे सुबह उठके गंगा नहा लेते हैं, दोपहर को भोजन कर लेते हैं, और रात को सो जाते हैं; इसी में जीवन बिता देते हैं। रोटी चौके के भीतर खावें कि बाहर, कपड़े उतार कर भोजन करें कि पहिन कर,

* ओ३म् *

आर्य्य

भाग ६] लाहौर—ज्येष्ठ १९८२, जून १९२५ [अं

दयानन्दाब्द १०१

वेदामृत।

सूम की गति।

ओ३म् ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नय अन्वप्यन्त धिष्ण्याः। या तेषामवमा दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद्विश्वकर्मा। अ० २। ३५। १॥

जो धन होते निर्धन रहते।
सहित कुटुंब क्षुधा-दुख सहते॥
यज्ञ वृथा सूमों ने जाना।
इस गति से यज्ञेश! बचाना॥

जुटा रहता है।
को चुरा लेगए
। वेचारे इसी
ौर छोटा कर
न में से क्यों
र हैं। हम न
में शामिल
को ऐसा
दर टूटता
की लड़की
हते हैं कि
दि आग
बन जाने
हानि यह
न्य करोड़ों
नसे घृणा
यक तथा
परस्पर
पूर्ण
र से
पड़ने
ति नहीं
नातन
देंगे।
शी से
साथ
बीघा
ह हैं"
होगा!
भूति के

शेरनी का किस्सा।

(वेद से)

(लेखक—श्री जयदेव शर्म्मा विद्यालङ्कार)

हो असि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः।
न्धस्व सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुंभस्व ॥ (यजुः ५।१०)

त्रुओं को दमन करने वाली तू शेरनी है। देव लोगों के लिए तू भली
से बन कर रह। तू शेरनी है और शत्रुओं को दमन करती है। देव लोगों
ए तू शुद्ध होकर रह। मैली मत रह। तू शेरनी है। शत्रुओं का दमन
है। तू देव लोगों के लिए खूब सज कर रह।

इस मन्त्र में तीन यजुर्वाक्य हैं और तीनों का देवता उत्तर वेदि है।
के अनुसार—

(१) उत्तर वेदि यज्ञ की नाक है। (नासिका ह वा एष यज्ञस्य यदुत्तर
(शत० का० ३।५।१।१२)

(२) गृहस्थ प्रकरण में उत्तर वेदि यजमान की पत्नी है। (योषा वा
वेदिः)। (३।५।१।३५)

(३) सिंही वाणी है (तेभ्यो ह वाक् चुक्रोध सा ह एभ्यो ऽपचक्राम तान्
ही भूत्वाऽऽददाना चचार (३।५।१।२१)

एक ही प्रकरण की व्याख्या में शतपथकार ने उत्तर वेदि के तीन रूप
ाये हैं। एक वाणी, दूसरा स्त्री, तीसरा यज्ञ की नाक, या शोभा। कर्म
ाण्ड के अनुसार भाष्यकारों ने शम्या मात्र उत्तर वेदि के वर्णन में उक्त
न्त्र को लगाया है। हे उत्तर वेदि! तू सिंह के समान शत्रु का दमन करती है
स कारण तू देवों के लिये उत्तर वेदि के रूप में बनी रह। यह कह कर वेदी
ो मिट्टी से बराबर कर देते हैं। फिर उस पर जल छिड़क कर कहते हैं—
"शुन्धस्व" तू शुद्ध रह। उस पर रेत की बुकनी छिड़कते हैं और कहते हैं
शुम्भस्व" तू सज कर सुन्दर रूप धारण कर। यह तो उत्तर वेदि के साथ कर्म-
ाण्ड की प्रक्रिया की गई और उस का वर्णन हो गया। अब गृहपत्नी के पक्ष
ेखिये।

१९८२
ध मन्त्री
के लिए
हिये।
किक
थ में
राज्यं
के ही
वमेधः,
ब्राह्मण
यज्ञ
स्था
ध
ति
स्य
कार
मशः
हर
हैं।

ऐसे ही बेहूदा सवालों को हल करने में इनका दिमाग़ हमेशा जुटा रहता है। संगठित मुसलमान इस जाति में से लाखों करोड़ों नर नारियों को चुरा लेगए पर इनमें न तो आत्मरक्षा की इच्छा ही है और न शक्ति ही शेष है। बेचारे इसी में सन्तुष्ट हैं, ले गए सो लेगए, हम अपने चौके का घेरा कुछ और छोटा कर लेंगे। परन्तु सोचने की बात यह है कि आत्मरक्षा की शक्ति हम में से क्यों नष्ट होगई। उत्तर बिलकुल स्पष्ट है कि हम सब बिलकुल अलग २ हैं। हम न इकट्ठे चल सकते हैं, न इकट्ठे बैठ सकते हैं, न एक दूसरे के सुखदुःखों में शामिल होसकते हैं। बनावटी हजारों और लाखों जातपातों ने हिन्दू जाति को ऐसा फाड़ दिया है कि सब बिलकुल अलग २ होगए हैं। गड़रियों का मन्दिर टूटता है तो अपने को ब्राह्मण कहने वाले बैठे २ तमाशा देखते हैं। चमार की लड़की को मुसलमान जबर्दस्ती भगा ले जाते हैं तो खत्री और वैश्य सभी कहते हैं कि चमारिन थी, चली गई तो क्या हुआ। भङ्गी कहलाने वालों के घर में यदि आग लग जावे तो कोई बुझाने नहीं पहुंचता,क्योंकि भङ्गी को छू लेने से भङ्गी बन जाने का डर है। इस जात पात की कुप्रथा से हिन्दू जाति को सब से बड़ी हानि यह होरही है कि हमको अपनी छोटी सी बनावटी बिरादरी के सिवाय अन्य करोड़ों हिन्दुओं से न केवल अपना संबन्ध ही छोड़ देना पड़ता है किन्तु उनसे घृणा करना, द्वेष करना तथा अन्य सब का बुरा सोचते रहना भी आवश्यक तथा अनिवार्य होजाता है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि जिन जातियों में परस्पर विवाहादि संबन्ध (Blood Relation) नहीं होते उन में कभी पूर्ण सहानुभूति होही नहीं सकती। यह बात बिल्कुल ठीक है। हम लोग ऊपर से चाहे कितना ही सहानुभूति चिल्लाया करें परन्तु आपत्ति का मौका आ पड़ने पर साफ़ मालूम होजाता है कि हिन्दुओं में परस्पर रत्तीभर भी सहानुभूति नहीं है। एक सनातनधर्मी पण्डित कहते हैं कि "हिन्दूसंगठन" से पहिले "सनातन धर्म संगठन" होना आवश्यक है। इसके विना हम "हिन्दू संगठन" नहीं होने देंगे। बहुत अच्छा महाराज, आप कीजिए "सनातन धर्म संगठन।" बड़ी खुशी से कीजिए। परन्तु कीजिएगा कैसे ? जहां नौ कन्नौजिए बड़े अभिमान के साथ दस चूल्हे बनायेंगे और पृथक् २ रोटी बनाते समय आपस में "तुम बीस बीघा के कन्नौजिया हो पर हम २२½ बीघा के कन्नौजिया हैं, तुमसे बड़े घराने के हैं" ऐसे २ बोलकर खूब लड़ते भी जावेंगे तब तो "सनातन धर्म संगठन" खूब होगा! जब आप अपनी सभा करने बैठेंगे और वहां परस्पर प्रेम और सहानुभूति के

लैकचर झाड़ते होंगे, अचानक अगर चार पांच सनातनधर्मी भंगी भी आकर दरी पर बैठ गए, तब वहां भाग दौड़ मच जावेगी, सभी स्नान करने को भागने लगेंगे, तब तो सनातनधर्म का संगठन खूब होगा। मैक्समूलर प्रभृति सैंकड़ों वेदों के विद्वानों के होचुकने के बाद आज जब अछूत कहाने वाले भी वेदों को पढ़ते हैं और आप उन्हें वेद पढ़ने से रोकते हैं, कुंओं पर चढ़ने नहीं देते, मन्दिरों में जाने नहीं देते, सिर्फ इस लिए कि वह आपकी जबर्दस्ती ऊंची कहाने वाली जातों में पैदा नहीं हुए, और वह डङ्के की चोट से मुसलमान होजाते हैं, तब तो आपका सनातन धर्म संगठन खूब होता है। सच तो यह है कि आजकल वर्तमान सनातनधर्म और असंगठन अर्थात् बेतरतीबी पर्यायवाचक शब्द होगए हैं। जैसे एक ही वस्तु एक ही समय में अश्व तथा अनश्व नहीं हो सकती, जैसे सूर्य्य पश्चिम से भी उदय हो और पूर्व से भी उदय हो यह नहीं होसकता, ठीक इसी प्रकार वर्तमान जातपात भी बनी रहें और संगठन भी होजावे, यह कदापि नहीं होसकता। संगठन ऐक्य चाहता है और जातपात पृथक्त्व को फैलाती हैं। हिन्दू जाति के पतन का आजकल यही मुख्य कारण है। हिन्दू जाति कभी भी संग्राम में जीत नहीं सकती जब तक कि उसमें यह जन्मानुसार जातपातें मौजूद रहेंगी। आप हज़ार अखाड़े खोद लीजिए, हज़ार बार पटा, बनैटी, गतका चलाने का अभ्यास कर लीजिए पर आप सदा मुसलमानों से हारेंगे, क्योंकि वे अनेक होंगे और आप अकेले होंगे, वे इकट्ठे होंगे और आप अलग २ तथा दूर २ होंगे। अभी दो साल हुए जब हिन्दू सङ्गठन का ज़ोर हुआ और माननीय नेताओं ने अखाड़े व्यायाम शालायें तथा पाठशाला आदि खोलने का प्रबल आन्दोलन उठाया तब एक विचित्र बात देखने में आई। भला जिनकी नस नस में परस्पर द्वेष और पारस्परिक घृणा के भाव कूट २ कर भरे हों, उनमें परस्पर सहानुभूति के भाव कैसे पैदा होते? सो इन भले मानसों ने कनौजियों का अखाड़ा, खत्रियों का अखाड़ा, चमारों का अखाड़ा, हलवाइयों की व्यायामशाला, मेहतर पाठशाला, मेहतर भाइयों के लिए शीतल जल का प्याऊ, ब्रह्मभट्ट मन्दिर, अछूत देवालय, अछूत मन्दिर, आदि सब पृथक् २ बना डाले। धन्य है वर्तमान हिन्दू कौम! सब कुछ किया पर कुछ भी न किया। अखाड़े व्यायामशाला पाठशाला सभी कुछ खुला, पर जाति में पारस्परिक घृणा, असहानुभूति, अभ्रातृभाव, अप्रेम की बिलकुल भी कमी न होने पाई। प्रेम, भ्रातृभाव, समानता, सहानुभूति, आदि बातें जिनसे संगठन होता है हिन्दू जाति में पैदा न होसकीं। कारण वही एक है

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन

ब्यौरा आय-व्यय बाबत मास आषाढ़ संवत् १९८२ विक्रमी

निधि	बजट आय	इस मास की आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास व्यय
...यत निहालदेवी जींदाराम			४४५५)		१॥)
,, स्वामी विद्यानन्द जानकी बाई			५१०)		
...सीयत पं० पूर्णानन्द					४०)
,, महाशय ओचीराम					२५)
,, ,, रायशरणदास		१०००)	१०००)		
योग		१०००)	५९५५)		६६॥)[illegible]
दलितोद्धार		४०)	१८४।)		६४२॥
राजपूतोद्धार					२३१॥
प्रोवीडेएट		८२।=)१	२३३॥)८		४७॥)
उपदेशक विद्यालय		२९७१-)॥	८४६६≡)॥।		१०३८[illegible]
आर्य्य विद्यार्थी आश्रम		८१५)	१२३७॥।=)		२०३॥)
अज्ञात		१३७॥।≡)	९४३।-)		२५५-)
...ताब्दी		८॥।)	७२।)		६।)
...मृत		४३॥=)॥	५४२१॥।≡)		
...देशकविद्यालय स्थिर कोष		१००००)	२००००)		
...श प्रचार		४॥)	६५॥=)।		
...दास प्रचार		५)	५)		
... के सेवकों की सहायता					
... समिति		१०)	१०)		
...कविद्यालयशाला		६१०)	६१०)		
योग		१४७२८।-)१	३७२८३)८		११७६९॥-[illegible]
गुरुकुल महा निधि		६६६३॥≠)।	३०६०३।≠)॥		१२४१८॥-[illegible]
,, स्थिर छात्र वृत्ति			३०)		
,, अस्थिर ,,			१६३०)		
,, उपाध्याय वृत्ति		५३४०५)॥	५८४०५)॥		
कन्या गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ			३६७९=)।		
योग		६००६८।।= ॥।	६०७८४-)।		१२४१८॥-[illegible]
...योग		८९१६५।=)१०	१५४५१६)		२६९८०॥≡[illegible]
...शेष	१०	६४६१२॥≡)॥।	१०५६२७६॥≠	१०	
योग		११५३७७८।≠)७	१२१०७९२॥=)	१०	
व्यय		२६९८०॥≡)	८३९९६।≡)।		
... शेष		११२६८९७॥≡)९	११२६[illegible]		

तिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन लाहौर ।

ौरा आय-व्यय बाबत मास आषाढ़ संवत् १९८२ विक्रमी ।

	बजट आय	इस मासकी आय	इस वर्ष को आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
					३७०।≡)७	१२८९॥।
		५४≠)।	६२०।।)।।।		५८।।।≡)	१९१=)।।
ा			१५०)			
			१२५)			
द			६०)			
		५४≠)।	९५५।।।)।।।		४२६≠)७	१५८१)१
ारं					६६)	१६४।।)
लय		४८)	१४८)		११८।।≡)	५३७।।≡)।।।
		५०।।।-)।	२०२≠)।		४०।।=)७	३२३।।।)७
		।।)	३७-)			
		≡)	२८।≡)			
					९८५।।=)४	२६६६≡)
					४२६)।।	१५७३।≠)।
						२३।)
					६४।।।=)।।।	१७४।।।≠)।।।
		६६।।)।	४०५।।।≠)।		१७०२≡)२	५६९३ ४
		६८५।।)४	३१५१)।।			
निधि		२६।)	७२)			
					२५०)	४१६।।)
					९।।≡)	४७।।)
ाम					१०)	३०)
रचंद					८)	२४)
		२६।)	७२)		२७७।।≡)	५१८)
		१२०५२।।।=)२	१४७२३।।≡)७		३१)।।।	३१)।।।
		७४।।।)	७४।।।)			
		१८।।-)	१२३।।-)		३३।।।=)	५३।।।=)
		६)	६)			
		१२१५२≡)२	१४९२८)७		३९=)।।।	५७≠)।।।
स्था		१४५।।।-)	२४८।।।-)		३१)	६३७६।।≡)८
माजें		२०५)	७२२।-)		१३५)	२२१।।-)
ालय			१०)			
आश्रम					१४)	४४८)
दास						[illegible])
		२८०।।।-)	९८१=)		१८०)	७१०६

कि हम कन्नौजिए हैं तुम गौड़ हो; वह खत्री है, वह चमार है; फलाना मेहतर है, अमुक ब्राह्मण है; सब की जातें, पक्तियां, बिरादरी अलग २ हैं। इस अवस्था में तो हिन्दू जाति का पतन अवश्यम्भावी है। हिन्दू कौम के नेताओं का परमधर्म है कि वास्तविक गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था रूपी पूर्ण स्वास्थ्य को इस हिन्दू जाति के रोगी देह में प्रविष्ट कराने के लिए पहिले इन जातपात और बिरादरियों रूपी जहरीले फोड़ों पर तीक्ष्ण नश्तर का प्रयोग करें।

स्त्रियों को वेदाधिकार।

(लेखक—पण्डित व्रतपाल जी उपदेशक)

आजकल हमारे सनातन-धर्मी भाई आर्य्य-समाज के सन्मुख जब कभी स्त्री-शिक्षा के विचार के लिये उपस्थित होते हैं, तो वर्त्तमान काल के प्रभाव से यह तो कह देते हैं, कि स्त्रियों को शिक्षा देनी चाहिये, परन्तु जब वेदाध्ययन का प्रश्न उपस्थित होता है, तो उसके विषय में यही उत्तर मिलता है कि ऋषि दयानन्द जी ने नई बात चलाई है। स्त्रियों को वेद का अधिकार नहीं, पिछले ऋषियों ने क्यों न लिखा, पुराने किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता, इत्यादि।

भगवान् दयानन्दजी महाराज ने सर्वोपरिमान्य वेद में से मन्त्र हमारे सामने उपस्थित किया, जिसमें परमात्मा स्वतः उपदेश करते हैं कि वेद का ज्ञान मनुष्यमात्र के लिये दिया गया है,उसमें पुरुष स्त्री का कोई भेद नहीं किया गया।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥

यजु० अ० २६, मं० २

वेद के मुकाबले में पुराणों को असिद्ध समझकर, अथवा विषसम्पृक्त अन्नवत् त्याज्य समझकर उनका प्रमाण देना अपने लिये उन्होंने उचित न समझा।

किन्तु आज मैं इस छोटे से लेख में आपको दर्शाऊंगा, कि पुराण भी स्त्रियों को वेद का अधिकार देते हैं। अतः स्वामी दयानन्दजी ने जो स्त्री-जाति के छीने हुए अधिकार पुनः दिलाने का यत्न किया है वह कोई नई प्रथा नहीं चलाई।

(१) भविष्य पुराण में गोवत्सद्वादशी के व्रत में गौपूजा की विधि इस प्रकार लिखी है:—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां स्त्री जनेश्वर। यथाक्रमेण पूज्यैनां गन्धपुष्पजलाक्षतैः॥
कुङ्कुमालक्तकैर्दीपैर्माषान्नवटकैः शुभैः। कुसुमैर्वत्सकं चापि मन्त्रेणानेन पाण्डवः॥
[माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट।] नमो नमः स्वाहा।

भविष्यपुराण, उत्तर पर्व, अ० ७६ श्लो० ८२, ८३, ८४।

कोष्ठान्तर्गत मन्त्र जिसके बोलने का विधान व्रती के लिये है, वह स्त्री हो अथवा पुरुष। ऋग्० मं० ८, अ० १०, सू० १०१ का यह १५ वां मन्त्र है। यदि स्त्रियों को वेद का अधिकार नहीं तो वेदमन्त्र का विधान कैसे किया।?

(२) पद्म पुराण सृष्टि खण्ड में ब्रह्मा ने महेश्वर से प्रश्न किया है कि वेश्याओं का समाचार सुनना चाहता हूं, वेश्या कौन होती हैं, उनके कर्म क्या हैं, तथा उनकी मुक्ति किस प्रकार होगी?

महेश्वर सब वृत्तान्त कहकर बताते हैं कि दाल्भ्य ऋषि जो व्रत उन्हें बतायेंगे, उस तरीके से उनकी मुक्ति होगी।

दाल्भ्य ऋषि बहुत कुछ कर्म वेश्याओं के उन्हें बताते हैं कि तुम कैसे रहा करोगी। अन्त में उन्हें मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं, जो कि अत्यन्त अश्लील होने के कारण यहां नहीं लिखा गया। अन्त में लिखते हैं:—

कोऽदात्कामोऽदादिति वैदिकं मन्त्रमुदीरयेत्।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य विसर्ज्य द्विजपुङ्गवम्॥

पद्म पुराण, सृष्टि खण्ड, अ० २३, श्लो० १३४।

इसमें साफ़ लिखा है, कोऽदात् वैदिक मन्त्र बोले, फिर ब्राह्मण की प्रदक्षिणा कर उसे छोड़कर अगला काम करे।

अतः यह तो स्पष्ट है, कि वेश्या को मन्त्र उच्चारण के लिये कहा गया है, यदि वेद का अधिकार नहीं तो मन्त्र के लिये कैसे कहा गया?

इस छोटेसे लेख में पुराणों के प्रमाण से स्पष्ट होगया, कि कुलीन स्त्रियों का क्या कहना, वेश्या तक के लिये वेद का अधिकार पुराणों ने देदिया है।

जो आर्य्य-समाज पर आक्षेप करते हैं, और कहते हैं कि ऋषि दयानन्द ने नई प्रथा चलादी, जो स्त्रियों के लिये भी वेद का पढ़ाना बता दिया, वे ध्यान से पुराण के इन स्थलों को पढ़लें। उन्हें मालूम होजायगा कि वेदाध्ययन का अधिकार स्त्रियों का पुराना ही चला आता है।

वेदोद्धर्ता ब्रह्मर्षि श्रीविरजानन्द सरस्वती ।

प्रथम—सर्ग ।

शैशव

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।" [गी० अ० ७—]

१—अन्धेर भारतवर्ष में जब था अन्धेरी—रात का,
जब छा रहा सब ओर था झङ्कार झंझावात का !
जब ज्ञान तक कुछ था न निद्रा में किसी भी बात का,
जब स्वप्न तक आता न था उस दिव्य पुण्य-प्रभात का !

* * * *

२—जब गद्दियों पर से गुरुमुख बोलते गोमायु[1] थे,
जब घोर-निद्रा में पड़े ही खो रहे सब आयु थे !
जब 'वेद' भारतवर्ष से था सर्वथा ही लुप्त—सा,
अतएव 'वैदिक-धर्म' भी जब हो रहा था गुप्त—सा !

* * * *

३—ऐसे तमोमय काल में था कौन—'जो जागृत रहा ?,
'वह दिव्य-दृङ्मय-देव 'विरजानन्द' था योगी महा !,'
वह कौन था—'जिस के हृदय में वेद का आलोक था ?,
'वह एक ही योगीन्द्र 'विरजानन्द' पुण्य-श्लोक था !'

* * * *

४—जिन की समुज्ज्वल—जीवनी में जन्मतः गुण गूढ़ थे,
पूर्वज स्वयं शुभ-भाव जिन के स्वान्त पर आरूढ़ थे !
पाठक ! उन्हीं की 'जीवनी' संक्षेप के ही साथ में—
हम दे रहे हैं आप के कोमल कमल-से हाथ में !

* * * *

५—'कर्तारपुर' के प्रान्त में है ग्राम 'गङ्गापुर' यहाँ
'रणजीत सिंह' नरेन्द्र का शुभ राज्य-शासन था तहां।

१ गोमायु—श्रृगाल (गीदड़);

'पञ्जाब' की वर-भूमि औ, व्यासा-नदी-तट भी जहां,
द्विज एक 'नारायण' हुए उपजाति—'शारद' में तहां !

* * * *

६—था गोत्र—'भारद्वाज', 'सारस्वत' रहे वे जाति[1] के,
थी क्या ख़बर—' इतिहास में भागी बनेंगे ख्याति के !'
है बात तो पिछली सदी की, नाम पर अक्षर हुआ'
क्यों?-हेतु यह-'सविता-सदृश शिशु एक उनके घर हुआ'

* * * *

७—जब वेद-(४) सायक-(५) सिद्धि-(८) शशि-(१) शुभ विक्रमी वत्सर[2] हुआ,
तब बाल-जन्म-महोत्सवों से हर्ष-पर[3] वह घर हुआ !
वह बाल,'नारायण'—पिता की गुदगुदी-सी गोद में,
पलने लगा वात्सल्य से आनन्द में, आमोद में !!

* * * *

८—जब पांचवां था वर्ष, तब सहसा 'मसूरी[4]-रोग' से—
आक्रान्त हो, दृक्-हीन वह, हा ! होगया विधि-योग से !!
वा 'दिव्य-बल' की प्राप्ति के हित बन्द यों दृक् हो गईं—
ढूंढें वही जो तालिका वेदाऽर्थ की थीं खो गईं !!!

* * * *

९—फिर वर्ष ग्यारह तक पिता ने आप अध्यापन किया,
तब संस्कृत का एक 'सारस्वत' पढ़ा पुस्तक दिया !
अति प्रेम से पालन किया, लालन किया, शिक्षा दई,
माता-पिता ने राह फिर स्वर्-लोक की सीधी लई !

* * * *

१०—माता-पिता बिन बाल द्वादश-वर्ष में जब हो रहा,
हा ! तब सहारा भ्रातृ-पत्नी और अग्रज का गहा !
पर काल भी वह क्रूरता का क्या कठोर कराल था ?
हा ! बन्धु के हित बन्धु तब भारी भयंकर—व्याल था !!

* * * *

१—जाति' से यहां 'उपवर्ण' अभीष्ट है। २—सं० १८५४ वि०;
३—हर्ष-पर = हर्ष-बहुल; ४—मसूरी-चेचक (माता) ;

११—रो, रोटियां वह भूख में जब मांगता निर्दोष था,
तब रिक्त उस के अर्थ होता गालियों का कोष था!
हा! रोटियों के स्थान में वह गालियां पाने लगा!
खाए बिना भी हा! न उस से यों रहा जाने लगा!!

* * * *

१२—सोचा—'अहो दुर्दैव' अब तो 'प्राण' संकट में पड़ा!
हा हा! सहोदर—बन्धु का होता हृदय इतना कड़ा?
अब कौन है संसार में जब 'बन्धु अपना' ही नहीं?
घर और जङ्गल एक से हैं, अब चलो चाहे कहीं!!,

* * * *

१३—यों सोच, वह सब से सदा को हो विदा घर से चला;
या जो न चलता, 'आज हम मिलते कहीं इतने भला?'
हो क्षुत्तृषाऽऽकुल, यातनाएँ दैव की सब देख लीं!
संसार की 'निस्सारता' की सत्यता भी लेख ली!!

* * * *

१४—उस 'हृषीकेश—अरण्य' को वह चीरता-ही-चीरता—
उस 'अद्रि-भू' पर जा डटा, धारे हृदय में धीरता!
उस सुर-सरित् की धार में हो शुद्ध, सावित्री जपी;
पाने लगी वह शान्ति, जो थी आत्मा अब तक तपी!!

* * * *

१५—तब था न ऐसा देश, जैसा आज वह[1] सुख—धाम है,
तब था भयङ्कर,अब निगम[2] वह गम्य, रुच्य,ललाम है!
गज—गर्जना, हरि-गर्जना का अब कहां अनुनाद[3] है?
अब शङ्ख-घण्टा-नाद[4]-नादित वह 'फ़क़ीराबाद' है!!!

* * * *

१६—उस हृषीकेश—प्रदेश में, मन्दाकिनी की धार में,
औ, मग्न हो प्यारे-पिता के प्रेम—पारावार में,

१—वह-हृषीकेश; २—निगम—क़स्बा; ३—"—गूंज; ४—नाद—शब्द;

उस वेद-सावित्री प्रसविनी[1] की सदा-शुभ-गोद में,
कर स्वान्त—अर्पण, फिर उसे अपने लगा आमोद में !

* * * *

१७—उस काल पत्ते, फूल, फल जो मिल सका-'आहार' था !
तरु—मूल, तटिनी[2], तीर ही शीतोष्ण का उपचार था !!
जो जीव थे तरु, तीर, तटिनी के वही परिवार था !!
तब तीर, तटिनी और तरु-तल ही बना घर-बार था !!!

* * * *

१८—जो वह द्रुमों पर काल दो होता द्विजों[4] का गान था,
उस गान ही में-'ग्राम्य-शैशव-गान का' भी भान था !
मृग वे सरित् के तीर आते नीर पीने त्रस्त—से,
पर भान होता यह कि-'सहचर[5] आरहे अभ्यस्त-से !'

* * * *

१९—घर-बार ही सब कुछ तजा, तब याञ्चा करता कहां ?
ऐसे भयंकर—देश में निर्भय हराऽऽश्रित था वहां !
उस बाल-वटु की वर्ष 'पन्द्रह की' अहो ! जब आयु थी-
हृद्देश में वैराग्य की बहती विमल तब वायु थी !!

* * * *

२०—यों हो चुके जब जाप करते वर्ष तीन व्यतीत थे—
तारुण्य ही में हो गए तब राग-द्वेषाऽतीत थे !!
शुभ-भावनाओं का रहा हृद्देश में तब वास था !
तब 'आत्म-बल—परमात्म-बल' पर ही अटल विश्वास था !!

* * * *

२१—थे एक दिन वे सुर-सरित् के तीर पर श्रम खो रहे,
औ, योग-निद्रा के अतुल—आनन्द में लय हो रहे,
तब स्वप्न में परमात्म-प्रभु की 'प्रेरणा' पाई यही—
—'जाओ चले, जो भाव्य[6] था—है हो गया, अब तो वही !'

* * * *

१—प्रसविनी-माता; २—तटिनी—नदी (गङ्गा); ३—काल दो—दो काल प्रातः—सायं ४—द्विज—पक्षी; ५—सहचर—साथी; ६—भाव-होनहार।

२२—तप-तप्त-तनु तब तूर्ण[1] जागृति में तभी तो आगए !
'परमात्म-प्रभु की प्रेरणा का भाव' पा हर्षा गए !!
की पुण्य-प्रभु ने प्रेरणा वा 'ज्ञान-दृक्' खोले कहीं ?
वा हिन्दुओं के त्राण-हित हृत् में स्वयं बोले कहीं ?

*   *   *   *

२३—पावन-पिता का प्रेम-पूरित, पुण्य, प्रिय—, आदेश ले—
मुनि-मोहिनी मन्दाकिनी के तीर-तरु तज वे[2] चले !
उन कण्टकों के बीच से, कानन-गहन को चीरते—
तप-तप्त-तनु वे चल दिए, आः ! धन्य तू ध्रुव धीरते !

*   *   *   *

२४—"भगना पड़ा जब भूँख में था मिल रहा भोजन नहीं।"
पाठक ! न भ्रम से भागने का हेतु यह समझें कहीं ?
आता नहीं वैराग्य—राग[3] मलीन हृत्-पट पर कभी,
पाठक ! न लाखों 'वृद्ध' ऐसे दृष्टि में क्या हैं अभी ?

*   *   *   *

२५—"जिन को कु-वचनों से सदा हैं 'सुत-वधू' फटकारतीं !
घर में 'दरो-दीवार भी' जिनको सदा दुद्कारतीं !!
पर श्वान-सम फिर भी वहीं खा चाव से टुकड़ा रहे !
औ खाँसते ड्योढ़ी वहीं फिर थूक-थूक सड़ा रहे" !!!

*   *   *   *

२६—होता चिरस्थायी वहीं वैराग्य का वह 'राग' है—
मालिन्य जिस हृत्पटल पर हो ही न किञ्चिद् भाग है !
सो वह न होसकता कहीं, बिन पूर्व के विधि-योग के,
चुकते कहीं हैं लोक में फल बिन किए भी भोग के ?

[प्रथम सर्ग समाप्त]

१—तूर्ण—शीघ्र। २—वे—वे तीर तक। ३—राग—रंग।

आचार्य्य पिङ्गल ।

(लेखक—पं० भगवद्दत्त बी. ए. रिसर्च स्कौलर डी. ए. वी. कालेज लाहौर)

(१) पिङ्गल अथवा पिङ्गलनाग भगवान् पाणिनि का कनिष्ठ भ्राता था । यह बात षड्गुरुशिष्य (वि० सम्वत् १२४४) * अपनी स्वरचित वेदार्थदीपिका में लिखता है:—

तथा च सूत्र्यते हि भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन "क्वचिन्नवकाश्चत्वारः ।" [पिङ्गलछन्दोविचिति ३, ३३] इति । परिभाषा ७, ९ ।

अर्थात् पाणिनि के अनुज=कनिष्ठ भ्राता भगवान् पिङ्गल ने "क्वचित्......" सूत्र बनाया । यह सूत्र पिङ्गल के छन्दोविचिति ग्रन्थ का ३ । ३३ है । अतः निश्चय हुआ कि षड्गुरुशिष्य को जो परम्परा ज्ञात थी, तदनुसार पिङ्गल-छन्दः-सूत्रों का कर्ता पिङ्गलनाग पाणिनि का छोटा भाई था । सबसे पहले वैबर (इण्डीशस्टूडीन सन् १८६३) और फिर मैक्समूलर ने यह बात लिखी थी ।

(२) पिङ्गलनाग किस पाणिनि का कनिष्ठ भ्राता था ? अष्टाध्यायी वाले का वा किसी अन्य का ? यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है । पाणिनि चाहे कितने होगये हों, पर पिङ्गल का ज्येष्ठ भ्राता, अष्टाध्यायी वाला ही पाणिनि था, यह बात अगले प्रमाण से स्पष्ट होजायगी ।

(३) ऋषि दयानन्द सरस्वती प्रणीत 'अष्टाध्यायी भाष्यम्' का मैं सम्पादन कर रहा हूं । उसमें अष्टा० १ । १ । ९ सूत्र पर भाष्य के प्रसङ्ग में मैंने एक टिप्पण लिखा था । उसका उद्धरण यहां आवश्यक प्रतीत होता है—

प्रचलित पाणिनीय शिक्षा सम्प्रति दो शाखाओं में मिलती है । एक ऋग्वेदीय और दूसरी यजुर्वेदीय । ऋग्वेदीय शिक्षा में प्रायः ६० श्लोक मिलते हैं । यह "बनारस संस्कृत सीरीज़" के शिक्षा-संग्रह में छपी है । इसीपर "शिक्षा-प्रकाश" नामक व्याख्यान † भी उसी संग्रह में छपा है । वह व्याख्यान हलायुध

---

* षड्गुरुशिष्य वेदार्थदीपिका के अन्त में अपनी तिथि स्वयं देता है । हमने उसकी सारी गणना की है । उसका विस्तृत विवरण In ische Studien, 1863, page 160 पर देखो ।

† इस व्याख्यान में २३ से अधिक श्लोकों की व्याख्या नहीं की ।

अथवा यादवप्रकाश का है। सम्भव है, किसी और का हो। पर अधिक विचार इन्हीं दो में से किसी को मानने पर बाधित करता है। उसके आरम्भ में यह दूसरा श्लोक आया है—

व्याख्याय पिङ्गलाचार्य सूत्राण्यादौ यथायथम्।
शिक्षां तदीयां व्याख्यास्ये पाणिनीयानुसारिणीम्॥

पिङ्गल छन्दःसूत्रों पर दो ही पुरुषों की टीका सम्प्रति मिलती है। * हलायुध वाली तो छप चुकी है। दूसरी यादवप्रकाश की हस्तलिखित हमारे पुस्तकालय में विद्यमान है। अस्तु। यह शिक्षाप्रकाश चाहे किसी का हो, पर इसका कर्ता भी इस शिक्षा को पाणिनीयानुसारी मानता है, पाणिनिकृत नहीं। जो उसने यह लिखा है कि यह पिङ्गलाचार्य कृत है, इस पर पूरा विश्वास नहीं हो सकता।

दूसरी प्रचलित पाणिनीयशिक्षा यजुर्वेदीय है। इसमें प्रायः ३५ श्लोक मिलते हैं।...................। इण्डिया आफ़िस वाले ५४४ अङ्कस्थ पाणिनीय शिक्षा ग्रन्थ में २०½ श्लोक ही हैं। ऐसी दशा में यह प्रचलित पाणिनीय शिक्षा है।

(४) पूर्वोद्धृत स्वकीय टिप्पण में जो मैंने यह लिखा था कि "ऋग्वेदीय पाणिनीयानुसारी शिक्षा पिङ्गलाचार्यकृत है, इस पर पूरा विश्वास नहीं हो सकता।" यह बात तो अब भी सत्य है। पर इतना मानने में कोई आपत्ति वा दोष नहीं कि आधुनिक पाणिनीय मतानुसारी शिक्षा का मूल तो अवश्य पिङ्गल का बनाया हुआ था। पाणिनि की सूत्रभूत शिक्षा † को उसने श्लोकबद्ध किया

---

* हमारे पुस्तकालय में पहले यही दो टीका-ग्रन्थ थे। गतवर्ष किसी अज्ञातनाम ग्रन्थकार की एक और टीका भी हमें प्राप्त हुई है। आफ्रेख्ट के वृहद्सूची में और भी कुछ टीकाएं दी गई हैं।

† यह सूत्रभूत मूल पाणिनीयशिक्षा दयानन्द सरस्वती ने यत्नों से उपलब्ध करके छपवाई थी। दयानन्द सरस्वती को वास्तविक पाणिनीय शिक्षा का ही हस्तलेख प्राप्त हुआ था और उसकी सम्पादन की हुई शिक्षा को पाणिनीय ही मानना चाहिए। इस विषय में एक प्रमाण देखोः—

अष्टाध्यायी पर की हुई काशिकावृत्ति का प्रतिसंस्कर्ता यद्यपि वामन (लगभग ७५० वि० सं०) है, हां, वहीं वामन जो कि वृत्तिसहित लिङ्गानुशासन का कर्ता है (तुलना करो—अष्टाध्यायी २।४।२१। तथा लिङ्गानुशासनवृत्ति

इस में कोई आश्चर्य की बात नहीं। षड्गुरुशिष्य के लेख की उपस्थिति में उस में उसका इस शिक्षा को श्लोकबद्ध करना ही इस बात का संकेत है, कि पिङ्गल का अष्टाध्यायी, वा शिक्षा वाले पाणिनि से कोई सम्बन्ध है।

आचार्य पिङ्गलनाग की वही शिक्षा बढ़ते बढ़ते ६० श्लोकों वाली बन गई। पर धन्यवाद हो "शिक्षाप्रकाश" नामक टीकाकार का, कि जिस ने पुरातन ऐतिह्य का उल्लेख करके वास्तविक परम्परा का ज्ञान सुरक्षित कर दिया।

५—शिक्षा प्रकाश नामक टीका का करने वाला ही नहीं, प्रत्युत याजुष शाखीय * शिक्षा की पञ्जिका का निवारण कर्ता महादेव-शिष्य धरणीधर (सं० १४५४) भी लिखता है।

पाणिनीयमतानुसारिणी श्रीपिङ्गलाचार्यविरचिता पाणिनीयशिक्षा समाप्ता। (काशी सं० पृ० २३ पं० ९)

कारिका ७), तथापि प्रथम पांच अध्याय अधिकांश में जयादित्य के हैं। जयादित्य लिखता है:—

काशिका।	पाणिनीय शिक्षा सूत्र, (षष्ठं प्रकरणम्)	
लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति।	,,	॥२॥
तं द्वादशप्रभेदमाचक्षते।	०श भेदमा०	॥३॥
सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति तान्यपि द्वादशप्रभेदानि।	,,	॥५॥
अन्तःस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिता यवलाः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च।	,,	॥६॥
रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति।	,,	॥७॥
वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः।	,,	॥८॥

आचार्य चन्द्रगोमी व्याकरण में प्रायः पाणिनीय सूत्रों को ही बदल कर वा संक्षिप्त करके स्वप्रयोजन सिद्ध करता है। वैसे ही उसने अपने "वर्णसूत्रों" में भी पाणिनि के सूत्रों को भी संक्षिप्त किया है। तुलना करो "चान्द्रवर्णसूत्र।"

* पूर्वोक्त "शिक्षाप्रकाश" और यह शिक्षा पञ्जिकाविवरण, वस्तुतः २३ से अधिक श्लोकों का व्याख्यान नहीं करते। अतः प्रतीत होता है कि मूल शिक्षा जो पिङ्गलकृत थी, किसी प्रकार भी २३ से अधिक श्लोकों वाली न थी।

सम्भवतः यह लेख उसी का है । कदाचित् किन्हीं पुरातन मूलपुस्तकों का भी हो । सम्पादक ने यह बात स्पष्ट नहीं की । अतः विवादास्पद होते हुए भी पाठान्तर पूर्वोक्त तथ्य को प्रकाशित करता है ।

(६) इन सब बातों के अतिरिक्त "शिक्षाप्रकाश" का कर्ता षड्गुरुशिष्य-लिखित-परम्परागत-एतिह्य को भी परिपुष्ट करता है । उसका लेख है:—

जेष्ठभ्रातृभिर्विहितो [ज्येष्ठ-?] व्याकरणेऽनुजनुस्तत्र भगवान् पिङ्गलाचार्यस्तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते । शिक्षा सङ्ग्रह पृ० ३८५ । पं० ६ ।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि भगवान् पिङ्गल वैय्याकरण पाणिनि का ही अनुज था ।

(७) यह पाणिनीय मतानुसारी शिक्षा अपने मूलरूप में पर्याप्त पुरानी है, इस में अणुमात्र भी सन्देह का स्थान नहीं । अब इसके लिये बाह्य साक्षी उपस्थित की जाती है ।

महाभाष्य पर त्रिपदी का रचयिता सुप्रसिद्ध भर्तृहरि (न्यूनातिन्यून सप्तम शताब्दी) है । उसका ग्रन्थ हमारे पास नहीं । पर Indian Antiquary August 1883, p. 227 R पर व्याकरण महाभाष्य में कृतभूरिपरिश्रम डाक्टर कीलहार्न लिखता है:—

In his commentary on the *Mahabhashya* he (Bhartr Hari) cites...............a verse from the *Paniniya-siksha* in particular.

पाणिनीयमतानुसारी शिक्षा के विषय में इससे अधिक पुरानी बाह्य साक्षी अभी तक मुझे नहीं मिली । यह असंभव नहीं कि अगाध संस्कृत वाङ्मय में और भी पुराने ग्रन्थकार इसे उद्धृत कर गये हों । यह भावी अनुसन्धान से ज्ञात हो जायगा ।

——:०:——

'मुडवन' लोगों में विवाह—

ऐल. ए. कृष्ण ऐय्यर 'मैन आफ़ इण्डिया' अख़बार में ट्रावनकोर की जंगली जाति 'मुडवन' के विषय में लिखते हैं—"उनमें साधारणतः विवाह २५ और १६ वर्ष की आयु के पीछे ही होते हैं। विवाह से पूर्व समय तक जननेन्द्रियसम्बन्धी कोई भी दोष सहन नहीं किया जाता। सारे अविवाहित-नवयुवक रात्रि में विवाहित पुरुषों के स्थानों से दूर इकट्ठे एक स्थान में निवास करते हैं। इसी प्रकार अविवाहिता स्त्रियां भी विवाहित व्यक्तियों के स्थान से दूर वृद्धा स्त्रियों की सङ्गत में इकट्ठी निवास करती हैं। रात्रि के भोजन के पीछे दोनों अविवाहित स्त्रियां और पुरुष अपनी २ झोपड़ियों में चले जाते हैं। यही रीति आसाम की नाग जाति और छोटा नागपुर की ओरैन-जाति में भी पाई जाती है।"

संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष—

एक समय इंग्लैंड में प्रश्न उठा कि सम्पूर्ण संसार में सबसे बड़े ६ व्यक्ति कौन होचुके हैं ? मिस्टर वेल्स—जो इंग्लैंड के विख्यात लेखकों में से हैं—ने उत्तर दिया—ईसामसीह, गौतम बुद्ध, आरिष्टाटल, अशोक, बेकन और लिङ्कन। यह क्यों ? वह लिखते हैं—"मैं क्यों ईसामसीह को सर्वोच्च स्थान देना चाहता हूं, इसका कारण उनकी सीधी सादी गम्भीर शिक्षा है, जो उन्होंने संसार को दी। वे ईसाई मत के प्रवर्तक हैं, इसलिये वह मुझे सबसे बड़े मालूम होते हैं यह बात नहीं, क्योंकि मैं तो अपने को ईसाई कहने को भी तैयार नहीं। एवं, गौतम बुद्ध ने संसार को एक सार्वभौम सन्देश सुनाया, जिसमें देश और काल के लिये कोई स्थान नहीं। उनके विचार इतने प्रौढ़ थे कि आधुनिक समय के उत्तम से उत्तम विचार भी उनसे आगे नहीं निकल सके। उन्होंने लोगों को एक दिव्य ज्योति के दर्शन कराए थे।" जब उनसे हज़रत मुहम्मद साहब के व्यक्तित्व के विषय में पूछा गया तो उन्होंने कहा—"मुहम्मद के विषय में मेरी अति उच्च धारणा नहीं है। मुझे तो उनमें मिथ्या गर्व, अहङ्कार और उद्दाम वासना की भी थोड़ी बहुत गन्ध आती है। इतना ही नहीं, मुझे तो उनका कुरान भी

स्वर्गीय एवं अधिक आनन्दोत्पादक ग्रन्थ नहीं मालूम होता। ” आरिष्टाटिल के जीवन को सर्वोच्च समझते हुए आप लिखते हैं—“असली बात तो यह है कि यदि हम स्वीकार करते हैं कि संसार के विकास में आधुनिक विज्ञान का हाथ है, तो हमें यह मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिये, कि अरस्तू संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुषों में स्थान पा सकते हैं। ” आगे आप अशोक की जीवनी पर मुग्ध होकर लिखते हैं—“संसार के इतिहास में केवल एक यही सम्राट् ऐसा हुआ है, जिसने विजय प्राप्त करने के बाद युद्ध को सदैव के लिये तिलाञ्जलि दे दी। वह सच्चा युद्ध—वीर था। उसके हृदय में स्वार्थ की गन्ध भी न थी। यही कारण है कि जब हम उसका स्मरण करते हैं तो हमारे हृदय में एक विशेष प्रकार की श्रद्धा उमड़ पड़ती है जो सिकन्दर सीज़र या नैपोलियन के स्मरण से नहीं होती”। इसी प्रकार बेकन और लिंकन के विषय में अपनी सम्मति देकर अन्त में आप लिखते हैं—“ मेरी सम्मति में मनुष्य लेने से बड़ा नहीं होता, किन्तु देने से बड़ा होता है। उपर्युक्त मनुष्यों ने जीवन में त्याग-वृत्ति का जो उदाहरण दिखाया है, उसका प्रभाव आज तक लाखों और करोड़ों मनुष्यों के ज़ीवनों पर पड़ता रहा और पड़ता रहेगा। ” —सरस्वती

हिन्दूइज़्म और अछूत—

पूज्य मालवीयजी हिन्दुओं की सभा में व्याख्यान देते हुए कहते हैं—“हमारे बहुतसे भाई, जो दूसरे धर्मों में शामिल होरहे हैं, उसके लिये अधिकांश रूप से हमारा “मुझे मत छुओ, मुझे मत छुओ” का चीत्कार ही जिम्मेदार है। जहां १८ पुराण हों, जहां पवित्र गङ्गाजल हो, जहां गौमाता मौजूद हो, वहां क्या किसी का छुआ पानी हिन्दू धर्म से पतित कर सकता है ? हमारे शास्त्रों में प्रायश्चित्त का विधान मौजूद है। ऐसी अवस्था में यदि हिन्दू पतित व्यक्ति को अपनी जाति मे शामिल नहीं करते; तो यह हिन्दुओं का अपना दोष है *। यदि

* विशुद्धिं याचमानस्य यदि यच्छन्ति नो द्विजाः।
कामाद्वा यदि वा क्रोधात् प्रद्वेषात् प्रच्युतेर्भयात्।
ब्रह्महत्योद्भवं पापं सर्वेषां तत्र जायते॥ स्कन्द पुराण

अर्थात् शुद्धि की इच्छा रखते हुए किसी व्यक्ति को यदि कोई द्विज (ब्राह्मण) शुद्ध नहीं करता तो उसे ब्रह्महत्या का पाप लगता है। —सं०

कोई गुण्डा स्त्रियों पर हमला करता है, तो उसका अवश्य सिर तोड़ दीजिये*। दुष्टों का दमन करना ही सनातन धर्म है।"

अछूतों के प्रश्न पर बोलते हुए आपने कहा—"मैं पञ्चपरमेश्वर को साक्षी कर जाति गङ्गा के सामने कहता हूं कि जो चुटिया रखता है, जो व्रत रखता है, जो हिन्दू-धर्मके सिद्धान्तोंको मानता है, जो हिन्दू-धर्म पर प्राण देनेको उद्यत रहता है, उसे मैं गौमांस खाने वाले अहिन्दू से कहीं श्रेष्ठ समझता हूं।"

शिखा और धर्म—

हमारे प्राचीन शास्त्रकारों में कुछ ऐसी प्रथा थी कि वे जीवन के सामान्य तत्वों को भी धर्म का रूप देकर उनकी महानता को और भी बढ़ा दिया करते थे। शिखा का रखना प्रत्येक 'आर्य्य' का जातीय चिन्ह था। किन्तु वह यूं ही नहीं, उसमें कुछ वैज्ञानिक आधार अवश्य था। वह क्या था, इस विषय में डाक्टर महेशचरणसिंह, माधुरी (ज्येष्ठ ११८२) में लिखते हैं, कि जिस स्थान पर प्राचीन आर्य्य-जाति ने शिखा रखने का आदेश किया है, ठीक उसी के नीचे मस्तिष्क में दृष्टिकेन्द्र है। इससे उसका जो सम्बन्ध है, वह नीचे बतलाया जाता है। भिन्न २ पदार्थों में भिन्न २ रूप से सञ्चालिकाशक्ति है। जैसे लोहा एक स्थान से गरम करने पर सारा गरम होजाता है, और हम उसे हाथ से पकड़ नहीं सकते, किन्तु लम्बी लकड़ी यदि एक ओर से जल रही हो तो हम उसे दूसरी ओर से हाथ से पकड़ सकते हैं। ऊन में सञ्चालिका-शक्ति कम होने के कारण ही शरद् ऋतु में लोग ऊनी कपड़े का व्यवहार करते है।

भारतवर्ष उष्णता प्रधान देश है, यदि सूर्य्य की किरणें पूर्णरूप से मस्तिष्क में पहुंच जाय तो दृष्टिकेन्द्र (Vssual centre) को विशेष क्षति होने की सम्भावना रहती है। दृष्टिकेन्द्र के निकट काले बालों का ढेर रहने से वह सूर्य की उष्णता को तो अपने में लेलेता है, किन्तु उसमें सञ्चालिकाशक्ति का अभाव रहने के कारण मस्तिष्क के अन्दर तक उसे पहुंचने से रोकता भी है। इस तरह शिखा के कारण दृष्टिकेन्द्र उष्णता से बचा रहता है।

इस्लाम और पर्दा—

म० अज़ीज़ुद्दीन अहमद बी० ए० 'पर्दे' के विषय में (मौडर्न रिव्यू में) लिखते हैं—"मैं पर्दे को केवल एक सामाजिक रिवाज़ समझता हूं, न कि

* "आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्। मनुः।" —सं०

कोई धार्मिक नियम। वर्तमान समय में यह बहुत सी शारीरिक, सामाजिक और नैतिक बुराइयों का कारण हो रहा है। इस के प्रचलित होने के दो ही कारण प्रतीत होते हैं। एक, असभ्य वहशी लोगों के समय में जब कि शारीरिक बल की प्रधानता थी तो उन जंगली जाति के लोगों से अपनी स्त्रियों की रक्षा करने के लिये इस का रिवाज़ चला हो। दूसरा, किसी समय जब स्त्री जाति को केवल भोग की सामग्री समझा जाता था तो कुछ ईर्ष्यालु लोगों ने अपनी स्त्रियों को एकान्त में बन्द रखने के लिये इस का प्रचार किया हो। प्राचीन भारत में इस का प्रचार बहुत कम था। जब प्रथम प्रथम यवनों ने भारत पर आक्रमण किया तो परस्पर घृणा के भाव से स्त्रियों की रक्षा आवश्यक होगई और दोनों जातियों ने ही अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के विचार से इस को एक प्रचलित रिवाज़ के तौर पर अपना लिया। तात्कालिक आवश्यकता ही ने इस समय एक फ़ैशन का रूप धारण कर लिया है। टर्की, मिश्र, एवं अरब और अन्यान्य मुसलिम देशों में अब इस का रिवाज़ धीरे धीरे हटता जारहा है। कई मुसलमान अब भी इसे एक धार्मिक अङ्ग समझते हैं—यह कितने शोक की बात है। भारतवर्ष में कट्टर मुसलमान पर्दे पर बड़ी दृढ़ता से विश्वास रखते हैं, जोकि उनके अपने ही पैग़म्बर की शिक्षा से विरुद्ध है। उन में ९, १० साल की लड़कियां भी पर्दे के अन्दर बन्द रखी जाती हैं जिस का परिणाम यह होता है कि वे कद में छोटी, पीली और भावी में गृहस्थ के काम काज के सर्वथा अयोग्य हो जाती हैं। उनकी सन्तान भी ऐसी ही दुर्बल और कमज़ोर पैदा होती हैं। वे बेचारी पर्दे की चार दीवारी में रहती हुई बाहर के संसार से सर्वथा अनभिज्ञ होती हैं। भारतीयों और विशेषतः मुसलमानों का सभ्य संसार के सामने सिर ऊंचा न कर सकने का एक कारण यह पर्दे की अमानुषिक प्रथा भी है। स्त्री शिक्षा के मार्ग में यह पर्दा एक बड़ी भारी रुकावट है।

इस के अतिरिक्त, शारीरिक उन्नति की दृष्टि से भी पर्दा एक बहुत बुरी चीज़ है। चूंकि धर्म के बन्धनों से उन्हें दिन रात पर्दे की चार दिवारी में रहना पड़ता है इसलिये वे सूर्य के प्रकाश और स्वास्थ्यप्रद पवित्र वायु से सर्वथा वञ्चित रहती हैं। इसीलिये वह कई बीमारियों और प्रलोभनों की शिकार बनी रहती हैं। आपत्ति के अवसर पर वे अपनी रक्षा आप नहीं कर सकतीं। जब कभी उन्हें पैदल या सवारी पर कहीं बाहर दूर जाना होता है तो वे जीवित नगों (Living luggages) के समान बड़ी सावधानी से पहरे में ले जाई जाती हैं।

अन्त में, ऐसी अवस्था में अपनी जाति के शुभचिन्तकों का ध्यान वे इस ओर खींचते हैं, और इस विनाशकारी प्रथा को दूर कर देने की प्रबल प्रेरणा करते हैं।'

पुस्तक समीक्षा।

(१) ब्रह्मचर्य्य ही जीवन है—ले० स्वामी शिवानन्द। प्रकाशक बाबू केदारनाथ गुप्त, हैडमास्टर दारागञ्ज हाई स्कूल, इलाहाबाद से प्राप्य। मूल्य ॥।=)

पुस्तक का विषय जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, ब्रह्मचर्य्य जीवन और वीर्य नाश मृत्यु, है। इस समय देश में ब्रह्मचर्य्य के अभाव से जो क्षीणता दिखाई दे रही है वह किसी से छिपी नहीं है। लेखक ने ब्रह्मचर्य्य के विनाश से उत्पन्न हानियों और उस के दुष्परिणामों को इस पुस्तक में अच्छी प्रकार से दिखलाया है तथा साथ ही साथ स्वानुभव व परानुभव, एवं शास्त्रीय प्रमाणोंद्वारा उस की रक्षा के साधनों पर भी प्रकाश डाला है। पुस्तक सर्व साधारण, और विशेषतः नवयुवकों के पढ़ने योग्य है।

(२) बलिवैश्वदेव यज्ञ—ले० हरिशरण श्री वास्तव्य मराल तथा शिवदयालु प्रकाशक आर्य संघ मेरठ सदर से प्राप्य। मूल्य ॥=) आना।

आर्य्यों के नैत्यिक पञ्च महायज्ञों में से एक यज्ञ बलिवैश्वदेव यज्ञ भी है। इस छोटी सी पुस्तक में इसी यज्ञ की वैदिक व्याख्या है। कर्मकाण्डी लोगों के लिए पुस्तक संग्राह्य है।

(३) प्राचीन भगवद्गीता—लेखक और प्रकाशक श्री मङ्गलानन्द पुरी। मुहल्ला अतरसूया, प्रयाग से प्राप्य। लेखक का यह विचार है कि आजकल जो गीता ७०० श्लोकों की प्रचलित है वह यथार्थ में बहुत विस्तार से है। वस्तुतः गीता का विषय ७० श्लोकों में ही है। युद्ध के समय श्री कृष्ण का अर्जुन को इतने विस्तार से उपदेश देना कुछ असंगत सा प्रतीत होता है।

डाक्टर देसाई को बाली (जावा) द्वीप से यह गीता सन् १९१४ में प्राप्त हुई थी जिसे उन्होंने जुलाई मास के मौडर्न रिव्यू में प्रकाशित कराया था।

इस में १८ अध्याय के स्थान में १ ही अध्याय है और ७०० श्लोकों के स्थान में कुल ७० ही श्लोक पाए जाते हैं। पढ़ने से विषय भङ्ग भी प्रतीत नहीं होता सम्भव है जिस प्रकार से महाभारत में ८८०० श्लोकों के स्थान पर आज १०७३९० श्लोक पाए जाते हैं इसी प्रकार से गीता में भी वृद्धि कर दी गई हो किन्तु पूरी खोज के अभाव में कुछ निश्चय से नहीं कहा जा सकता। विद्वानों को इस विषय में खोज करनी चाहिये।

(४) A Guide to Health, Wealth and Happiness. संग्रह कर्ता ऐस० बी मौरिस मूल्य ३ Krs. cents. Pharmacy Maulian. Avenue Lagezar तेहरान (परशिया) और Pharmacy Nasery Avenue Naseriyeh तेहरान (परशिया से प्राप्य। लेखक ने रति-शास्त्र के आधार पर इस पुस्तक में रहन-सहन,स्वास्थ्य तथा ब्रह्मचर्य को स्थिर रखने के साधन बताए हैं। भारतीयों के लिये पुस्तक का विषय बहुत साधारण और सुबोध है किन्तु यवन प्रदेशों में यह सिद्धान्त अभी नए और आश्चर्य में डालने वाले हैं। तथापि पुस्तक की भाषा इतनी सरल और सुन्दर है कि एक साधारण बुद्धि रखने वाला भी विषय को भली भांति समझ कर उस पर आचरण करने से सुख और शान्ति प्राप्त करता हुआ मनुष्य जीवन को आनन्दमय बना सकता है।

इस में ब्रह्मचर्य्य की रक्षा के लिये (जिस पर सारे जीवन का आधार है) एक एक साधन को विस्तारपूर्वक खुलासा करके मोटे शब्दों में दर्शाया गया है। इस से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

लेखक का यह प्रथम प्रयत्न है किन्तु यह पुस्तक इतनी उत्तमता से लिखी गई है जिस के लिये हम उसे बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि सर्व साधारण, विशेषतः नवयुवक इसे अपना कर अपना सुधार करते हुए लेखक के परिश्रम को सफल करेंगे।

पंजाब में हिन्दी और आर्य समाज—

भारत के सब प्रान्त तीव्रगति से हिन्दीभाषा को अपना रहे हैं। मद्रास में वहां के राष्ट्रीय-नेताओं ने राष्ट्रभाषा के महत्व को समझकर उसे अपनाने में जो उत्साह दिखाया है, वह प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय है। बंगाल में दौरा करते हुए महात्मा गांधी ने प्रायः सब जगह हिन्दी में ही भाषण किया। कई सज्जनों ने महात्मा जी से बंगाल में भी हिन्दी पाठशालाएं खोलने की प्रेरणा की। महात्मा जी ने कलकत्ता की हिन्दी नागरी प्रचारणी सभा को इस काम को अपनाने की सलाह दी है। कलकत्ता के राष्ट्रीय नेता भी इसे धीरे धीरे अपना रहे हैं परन्तु पंजाब में दशा शोचनीय है। जिन समाजों के सिद्धान्त-ग्रन्थ तथा साहित्य हिन्दीभाषा में है वे भी प्रतिद्वन्दिता के जोश में मुंहतोड़ जबाब देने के लिये उर्दू या अंग्रेज़ी को अपना रहे हैं।

लाहौर का प्रान्तीय सम्मेलन तथा आर्यसमाज आर्यभाषा को प्रचलित करने का यत्न कर रहे हैं परन्तु उनके यत्न तभी सफल हो सकते हैं जब पंजाब या लाहौर के राष्ट्रीय नेता तथा धनी मानी इसको अपनाएं। पंजाब में भाषा का प्रश्न इतना प्रबल या पेचीदा नहीं जितना कि लिपि का। यहां गुरुमुखी, देवनागरी तथा फारसी तीन लिपियां हैं। अन्य प्रान्तों में इस लिपि सम्बन्धी प्रश्न पर इतना मतभेद नहीं है। अतः पंजाब में जो लोग आर्यभाषा या राष्ट्रभाषा का प्रचार करना चाहते हैं उन्हें पहिले इस लिपि सम्बन्धी प्रश्न को हल करने का यत्न करना चाहिये। अस्तु।

यह काम तो यथावसर होते ही रहेंगे परन्तु वैदिक धर्मावलम्बी प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि उससे जैसे भी बन पड़े यथाशक्ति अपनी बोलचाल, पत्र व्यवहार तथा काम काज में हिन्दी (आर्यभाषा) का ही प्रयोग करे। किन्तु यह स्थिति तो बहुत दूर की है। प्रश्न तो यह है कि हममें से कितने आर्य भाई

है जो इसे जानते भी हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने गत वर्ष 'आर्यभाषा-चातुर्मास' नियत कर इसके प्रचार के लिये बहुत यत्न भी किया था किन्तु उसका परिणाम उतना नहीं हुआ जितना कि होना चाहिये था। कारण, हमें अपने धर्म, अपनी भाषा, और अपनी लिपि में विश्वास ही नहीं। विश्वास के बिना, बलात् कोई भी काम सफल नहीं हो सकता। यह कितने शर्म और लज्जा की बात है कि कितने ही पुराने समाजी ऐसे विद्यमान हैं जो आर्यभाषा लिखना तो दूर रहा उसे भली भांति पढ़ भी नहीं सकते। जब तक यह अवस्था विद्यमान है तब तक निरी बातें बनाने से वैदिक-धर्म का प्रचार नहीं होसकता। ऋषि को अपनी भाषा से प्रेम था, और उन्होंने उसका ठीक प्रकार से ज्ञान न रखते हुए भी अपने सब ग्रन्थ आर्य्य-भाषा में ही लिखे। हमें इस अंश में अपने गुरु से शिक्षा लेनी चाहिये, और प्रतिदिन कुछ न कुछ समय निकाल कर आर्य्य-भाषा के सीखने का उद्योग करना चाहिये। तभी सच्चे अर्थों में वैदिक-धर्म और वैदिक-सभ्यता का प्रचार होसकेगा।

आर्य्य-समाज और सनातनधर्मी भाई—

कुछ समय से लायलपुर में सनातनधर्म प्रतिनिधि सभा की स्थापना की गई है। इस सभा का मुख्य—कई कहते हैं, एकमात्र कार्य्य आर्य्य-समाज के विरुद्ध विष फैलाना है। बात का बतङ्गड़ बनाना, झूठे सच्चे अपराधों की कल्पना कर उनकी डौंडी पीटना, व्याख्यानों म फक्कड़-बाजी से काम लेना, यह इस सभा के उपदेशकों के मुख्य शस्त्र हैं, जो आर्य्य-समाज के विरुद्ध प्रयोग में लाए जारहे हैं। शताब्दी के अवसर पर स्वयं उपस्थित लोगों को जिन बलात्कारों तथा आक्रमणों का पता तक नहीं हुआ, उनकी मन-घड़न्त कथाएं लोगों को सुनाई जारही हैं। आर्य्य-समाज को दान न देने की प्रेरणा की जारही है, आर्य्य-संस्थाओं के बायकाट का प्रचार किया जारहा है।

सिद्धान्त-विरोध पर अवलम्बित तार्किक खण्डन तो हमारी समझ में आता है कि कोई धर्मसभा करे, और उसमें अपनी कठोरता की शक्ति का व्यय करे, धड़ेबाजी के भाव से लोगों को बहकाना अत्यन्त गर्हणीय है। धर्मसभाओं के धार्मिक उद्देश्यों से यह सर्वथा विरुद्ध है। पहिले हिन्दू-मुस्लिम दल विद्यमान हैं। इसका प्रभाव यह है कि सदाचार का निरादर और केवल धड़े की-मात्र प्रतिष्ठा होती है। किसी व्यभिचारी, पुंमैथुन के दोष से दूषित मुसलमान की

पुष्टि में जब लम्बी डाढियां और लहराते हुए गौन देखने में आते हैं, तो दया आती है कि मज़हब किस गढ़े में जागिरा है। अभी धर्म बदनाम होने में कोई कसर थी, जो सनातन-धर्म और समाज के नए धड़े बन रहे हैं। लोगों की रुचि बिगाड़ी जारही है और देश तथा जाति का अकल्याण किया जारहा है।

डेराग़ाज़ीख़ान—

डेराग़ाज़ीख़ान में आर्य्य-समाज और सनातन-धर्म के उपदेशकों में अभियोग चल रहे हैं। शास्त्रार्थ की आयोजना होरही थी, कि पं० कुञ्जलाल कहते हैं:—हम पं० लोकनाथ से शास्त्रार्थ न करेंगे। इन्होंने मुलतान में घोर से घोर व्यभिचार किया है। नित्यप्रति इस वाक्य को दोहराये चले जाते हैं। इस प्रकार के वैयक्तिक तथा अश्लील आक्षेपों की छुट्टी जिस प्लेटफार्म से होजाए, उसकी धर्मनिष्ठता के क्या कहने? और ऐंठ देखो, कि यदि सत्य न होता, तो क्या अदालत में न जाते? कोई भलामानस प्रचारक होता हुआ अदालत में न जाए तो? पं० लोकनाथजीको बाधित होकर मुकद्दमा करना पड़ा। पं० कुञ्जलालजी जबानी मुकद्दमा करते हैं, कि आर्य्य-समाज के प्लेटफार्म से पण्डित लोकनाथ ने मुझे अपशब्द कहे हैं, और पं० बुद्धदेव ने उनका समर्थन किया है।

लीजिये! अब शास्त्रार्थ अदालत में होगा, और सिद्ध यह करना होगा, कि फक्कड़ कौन है? मुकद्दमों और जबानी मुकद्दमों का परिचय रखने वाले समझ सकते हैं, कि इस दूसरे अभियोग की सत्ता क्या होगी? चालू होने की अवस्था में हम अभियोग की सत्यता असत्यता के विषय में मौन रहेंगे।

नोट लिखे जाने के बाद हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि सनातनी पंडित कुञ्जलाल ने अदालत में माफ़ी मांगली है।

जामपुर—

दङ्गल का दूसरा मैदान जामपुर है, जो उसी डेरा ग़ाज़ी खान जिले का एक ग्राम है। वहां आर्य समाज की पुत्री पाठशाला छः मास से पञ्चायत के एक मकान में चली आती है। पञ्चायत आर्य समाजियों और सनातन धर्मियों की सांझी है। एक दिन कुछ सनातन धर्मी भाइयों को सूझी कि उस मकान में शीतला का चौंतरा है। इस चौंतरे पर मुद्दतों से पानी न पड़ा था। पानी डालने के बहाने हमारे भाई वहां पहुंचे। पुत्री पाठशाला में हरप्रकार का पुरुष कैसे आने दिया जा सका है। आपस में झगड़ा होने पर पांच २ पुरुष प्रत्येक पक्ष के पकड़ लिये गए। यही दूसरे दिन हुआ। आठ २ दिन हवालात में रहने के पश्चात् जमानत पर छुटकारा हुआ। अब अभियोग चल रहे हैं।

स्थान पञ्चायत का है। पञ्चायत ने ही पञ्चायती कार्य के लिये आर्यसमाज को दिया। देने के दिन सनातन धर्म सभा के मुख्य २ सज्जन विद्यमान थे। पत्र पर (जो समाज को लिख कर दिया गया), सनातन धर्म सभा के प्रधान तथा उपप्रधान के हस्ताक्षर विद्यमान हैं। पर उस समय की सनातन धर्म सभा और आज की सनातन धर्म सभा में भेद है। उस समय लायलपुर का प्रभाव न पड़ा था।

हमारा कर्तव्य—

हमें तो इस सारे झगड़े का रहस्य यह प्रतीत होता है कि आर्य समाज के प्रचार से यदि सारी हिन्दू जनता आर्य-समाज के विचार की नहीं हुई तो सनातन धर्मी भी नहीं रही। आर्य समाज के सिद्धान्त लोगों के आचरण में न आए हों, सर्वप्रिय हो रहे हैं। सिद्धान्तों के क्षेत्र में हार खाकर अब कट्टर पौराणिक, टोला धड़ा वन्दी की शरण ले रहा है। आर्य समाज अपने प्रचार में दृढ़ रहा तो थोड़े दिनों में रोगी का यह अन्तिम संभाला भी समाप्त होजाएगा।

यह स्मरण रखना चाहिये कि आर्य समाज का पक्ष सत्य और धर्म का है। इस पक्ष को असत्य, अधर्म तथा असभ्यता और अश्लीलता का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं। असत्य के सम्मुख सत्य का, असभ्यता के सम्मुख सुशीलता का, अधर्म के सम्मुख धर्म का सिक्का अपने आचरण से बिठाओ। लड़ो भी इस प्रकार कि तुम्हारे लड़ने में शान्ति तथा धैर्य और धर्मोत्साह की झलक हो। वीर की वीरता की परख रण क्षेत्र में जाकर होती है। वहां वह वीरता की मर्यादा में रहे तभी उस की विजय है।

हिन्दू या आर्य्य—

आर्य समाज की स्थापना हुए ५० साल से ऊपर होचुके हैं और तभी से उस का यह दावा रहा है कि हमारे प्राचीन साहित्य में सर्वत्र स्थान २ पर इस देश के रहने वाले लोगों के लिये 'आर्य्य' शब्द ही का प्रयोग होता रहा है और 'हिन्दू' शब्द हमारे विरोधी यवन लोगों का ही चलाया हुआ है। इस पर समय २ पर हिन्दू (सनातनी) लोगों की ओर से यह कहा जाता रहा कि यह सब कार्यवाही इने गिने कुछेक आर्य समाजियों की है और इसका उद्देश्य गुप्त रूप से आर्य समाज का प्रचार करना है। अब भी कुछेक ऐसे व्यक्ति हैं जो निष्काम भाव से इस बात पर विश्वास रखते हैं, और हृदय से इसे स्वीकार

करते हैं कि इस देश का नाम हिन्दू है। किन्तु उन्हें यह याद रखना चाहिये कि यह प्रश्न कोई आर्य समाजियों का उठाया हुआ नहीं हैं। आज से ५५ साल पूर्व (जब आर्य समाज की इस रूप में स्थापना भी नहीं हुई थी) भी काशी के विद्वानों में इस प्रश्न ने खलबली पैदा की थी। उस समय उन विद्वानों ने इस विषय में जो व्यवस्था दी थी उसे अभी स्वामी श्रद्धानन्द जी ने पुराने कागजों से निकाल कर पत्रों में प्रकाशित कराया है। वह निम्न प्रकार है:—

प्रश्न।

श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्ध, सत्रहवें अध्याय में लिखा है, कि सतयुग में हंसवर्ण सब कोई कहावते थे; और त्रेता में हंसोक्त चार वर्ण, चार आश्रम का विभाग होता गया। इस कारण वर्णाश्रमी कहाये। अब सब कोई हिन्दू नाम करके ख्याल करते हैं। सो हिन्दू शब्द की चर्चा कोई शास्त्रमें नहीं मिलता। इस हेतु हम यह जानना चाहते हैं, कि हिन्दू कहावना उचित वा अनुचित है?

उत्तर।

वर्णाश्रमी देश बोधक जो हिन्दू शब्द है सो यवन-सङ्केतित है। वर्णाश्रमी बोधक जो हिन्दू शब्द है, यह भी यवन-सङ्केतित है। इस कारण हिन्दू कहावना सर्वथा अनुचित है। यह निर्णय श्रीकाशी मध्य टेढ नीम तले श्रीमहाराजाधिराज काशिराज महाराज सँरक्षित धर्म-सभा में सब लोगों ने किया। हस्ताक्षरः—

(१) श्रीविश्वनाथ शर्मा…………………(४५) श्रीबाबा शास्त्री।

हिन्दूशब्दो हि यवनेष्वधर्मिजनबोधकः।
अतो नार्हति तच्छब्द बोध्यतां सकलो जनः।
पापिनां पापी यवनः सङ्केतं कृतवान्नरः।
नोचितः स्वीकृतोस्माभिर्हिन्दूशब्द इतीरितः॥
काफ़िर को हिन्दू कहत, यवन स्व-भाषा मांहि।
ताते हिन्दू नाम यह, उचित कहइवो नांहि॥

——:०:——

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन लाहौर।

ब्यौरा आय-व्यय बाबत मास ज्येष्ट संवत् १९८२ विक्रमी।

निधि	बजट आय	इस मासकी आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
...र्यालय सभा				६४१०)	४९१)॥	९१९।-)॥।
...ांश	२६००)	४०२॥-)॥।	५६६॥=)॥			
...याद्य				८६०)	४६।≡)	१३२≡)॥।
...ार्थ		१५०)	१५०)			
...थार्थ प्रकाश आज्ञा		१२५)	१२५)			
...llimpses आफ स्वा० दयानन्द		६०)	६०)			
		७३७॥-)॥।	९०१=॥)॥		५४०।≡)॥	१०५१॥।-)॥
...र्यालय वेद प्रचार				१५६०)	१२८॥)	१२८॥)
...व वैदिक पुस्तकालय	५००)	३२)	१००)	२५००)	१६७॥।)॥।	३१८॥)॥।
...र्ष	३०००)	७६॥।≡)	१५१।-)	३०००)	१५४॥।)	२८३=)
...ार आना निधि	२०००)	२६।=)	२६॥-)			
...क्ट	२००)	२६॥।)	२८।)			
...तन उपदेशक				१७०८०)	९३४॥≡)११	[illegible]६८०।)८
...ार्ग व्यय				६४००)	६६९॥।=)॥।	११४७।-)॥
...ीला जीवन				५०)		२३।)
...दिक कोष				१२००)		११०)
		१५६-)	३०६।=)		२०८५॥≡)५	३९९१॥-)२
...द प्रचार	२६७०४)	७७६।≡)१०	२५६५॥)२			
...स्मारक निधि	३००)	१७॥।=)	४५॥)			
...उपदेशक				२०००)	१३१॥)	१६६॥)
व्यय				५००)		३७॥।-)
...रा विधवा पं०						२०)
तुलसी राम				१२०)	१०)	
,, पं०वज़ीरचंद				६६)	८)	१६)
योग		१७॥।=)	४५॥।)		१४६॥)	२४०।-)
...ंक		८१४॥।)५	२६७०॥।-)५			
...आय व्यय		१०५)	१०५)		२०)	२०)
		६१६॥।)५	२७७५॥।-)५		२०)	२०)
...त अन्य संस्था		८३)	१०३)		२००)	६३४५॥≡)८
आर्य समाजें		३०२।-)	५१७।-)		२८।=)	८६॥-)॥
...दिक पुस्तकालय			१०)		१०)	१०)
...विद्यार्थी आश्रम					३५०)	४३४)
अम्बालाल दामोदरदास					५०॥)	५०॥)
		३८५।-)	६३०।-)		६३८॥।=)	६६२६॥।-)२

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन लाहौर।

ब्यौरा आय-व्यय बाबत मास ज्येष्ठ संवत् १९८२ विक्रमी ।

निधि	बजट आय	इस मास की आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
वसीयत जींदाराम निहालदेवी			४४५५)		२०)	२०)
,, स्वामी विद्यानन्द जानकी बाई			५००)		१८।)	१८॥)
वसीयत पं० पूर्णानन्द					४०)	८०)
,, महाशय ओचीराम					२५)	५०)
			४९५५)		१०३॥)	१६८॥)
दलितोद्धार	१००००)	१२६।=)	१४४।)	१००००)	८००।)	११५६।-)
राजपूतोद्धार					२६५॥।-)॥	४६४-)।
प्रोवीडेण्ट		८०।≡)४	१५१=)७			७)
उपदेशक विद्यालय	९०००)	२४९७।)	५५२८=)।	८०००)	५०१॥।-)	११०[illegible]
आर्य्य विद्यार्थी आश्रम	४५००)	३७४॥।=)	४२२॥।=)	४५००)	१७३॥)	६६२॥[illegible]
अज्ञात		२५३।=)	८०५।=)		१००)	१३४।-[illegible]
शताब्दी		५३॥)	६३॥)		-)	१६॥।=[illegible]
वेदामृत		६)	५३७८।)॥			
उपदेशकविद्यालय स्थिर कोष			१००००)			
विदेश प्रचार	१४५)	६१=)।	६१=)।	१५००)	१८॥)	१८॥)
सभा के सेवकों की सहायता					६७॥)	६७॥[illegible]
		३४५२॥।≡)७	२२५५४॥≡)७		१६६५॥-)॥	१३२[illegible]
गुरुकुल महा निधि		८२३६।≡)॥	२३९४०।)।		१९५३८।≡)॥	२४७६[illegible]
,, स्थिर छात्र वृत्ति		३०)	३०)			
,, अस्थिर ,,		२२३०)	१६३०)			
,, उपाध्याय वृत्ति		५०००)	५०००)			
कन्या गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ			३६७५=)।			६५६८।[illegible]
		११०३६।≡)॥	३०७१५)		१९५३८।≡)॥	३१३३[illegible]
सर्व योग		१७४८२॥-)१	६५३५०॥-)२		२५०४२-)११	५७०१[illegible]
गत शेष		१०७२१७२॥)७	१०५६२७६॥।=)१०			
योग		१०८९६५५-)८	११२१६२९॥)			
व्यय		२५०४२-)११	५७०१४॥)।			
वर्तमान शेष		१०६४६१२॥≡)॥।	१०६४६१२॥≡)॥।			

Registered. No. L. 1424. रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

* ओ३म् *

भाग ६ अगस्त १९२५
अङ्क ३ श्रावण १९८२

आर्य्य

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना ।

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्णः

ऋग्वेद ।

हे प्रभु ! हम तुम से वर पावें ।
विश्व जगत् को आर्य बनावें ॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें ।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें ॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें ।
प्रीति-नीति की रीति चलावें ॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

शरत्चन्द्र लखनपाल प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से बाम्बे मैशीन प्रेस मोहनलाल रोड लाहौर में छप कर प्रकाशित हुवा ।

विषय **विषय सूची ।** पृष्ठ

"आर्य्य" के नियम ।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है । (डाकख़ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है) ।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है । सभा ने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है ।

३—इस पत्र में धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभा की सूचनाएं दर्ज होती हैं ।

४—पत्र में प्रकाशित होने के लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख़ से पूर्व आजाने चाहियें ।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के भीतर सूचना देने से वह अङ्क भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात् मंगाने पर प्रति अङ्क ।=) देने पड़ेंगे ।

आर्य्य

भाग ६] लाहौर—श्रावण १९८२ अगस्त १९२५ [अंक ३

[दयानन्दाब्द १०१]

मैं क्या जानूं ?

(लेखक—श्री० बुद्धदेव विद्यालङ्कार)

सुर की गत मैं क्या जानूं, एक भजन करना जानूं।
वह जाने गुरुअन के घर में, जिस ने सान धराई हो।
गुनियन की संगत में मैं तो, भौचक सा रहना जानूं॥
मरम भजन का भी अति गहरा, उसको भी मैं क्या जानूं।
प्रभु प्रभु प्रभु करना जानूं, नैनों जल झरना जानूं॥
फुलवारी लख लोग जगत के, झूम झूम गुण गाते हैं।
जब पूछा क्या कुछ पाते हो, बोल उठे मैं क्या जानूं॥
फुलवारी के फूल झूल कर, जिस के नित गुण गाते हैं।
उसके गुण गाऊं तो पूछें, क्यों क्यों क्यों मैं क्या जानूं॥
अधम शिरोमणि कौन जगत में, जब यह खोज चलाई है।
मो तज जो यह पदवी पावे, और कौन है क्या जानूं॥
गुण गाए प्रभु न्याय न छोड़े, फिर क्यों तुम गुण गाते हो।
मैं बोला मैं प्रेम दिवाना, इतनी बातें क्या जानूं॥
तू निवेड़ अपनी, क्यों तूने, औरों की अपनाई है।
मैं बोला संगत ही ऐसी, बिगड़ी है, मैं क्या जानूं॥
मुझे बिगड़ना भाया, जग को कुछ बनना ही भाता है।
बिगड़ चलो कुछ बनने वालो, कैसे बनोगे क्या जानूं॥

मांसौदन।

(विद्वानों से सम्मति की प्रार्थना)

लेखक—श्री० जयदेव शर्म्मा विद्यालङ्कार।

बृहदारण्यक उपनिषद् में पुत्रलाभ-विद्या पर प्रकाश डालते हुए ऋषि याज्ञवल्क्य ने लिखा है:—

"अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो वि(जि)गीतः समितिङ्गमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत, सर्वान् वेदाननुब्रुवीत, सर्वमायुरियादिति मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै। औक्षेण वार्षभेण वा।"

अर्थात्—"जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र पण्डित, प्रसिद्ध यशस्वी, सभाओं और राज-सभाओं में आदर पाने वाला, सुन्दर लच्छेदार वाणी बोलने वाला, सब वेदों का प्रवक्ता और पूर्णायु होकर शरीर त्यागने वाला हो तो, मां बाप मांस और भात पकाकर उसमें घी मिलाकर खावें और तब सन्तान उत्पन्न करें। मांस भी बैल का या सांड का हो।"

श्री शङ्कराचार्य ने इस का भाष्य करते हुए यहां मांसौदन पर लिखा है—

"मांसमिश्रमोदनं मांसोदनं। तन्मांसनियमार्थमाह औक्षेण वा मांसेन। उक्षा सेचनसमर्थः। पुङ्गवस्तदीयमांसं। ऋषभस्ततोऽप्यधिकवयास्तदीयमार्षभंमांसम्।"

"मांस से मिला भात मांसौदन कहाता है। मांस का नियम करने के लिये कहा है औक्ष मांस से। उक्षा (वीर्य) सेचन में समर्थ बैल। उसका मांस। ऋषभ उससे भी अधिक उमर वाला, उसका मांस आर्षभ मांस कहाता है।"

इस लेख पर योरोपीयनों को ऋषियों पर यह दोष देने का मौका मिला कि प्राचीन काल में गाय बैल का मांस खाया जाता था। क्योंकि वे लोग अभी भी खाते हैं। इस कारण उनको यह कोई नई बात नहीं लगी, बल्कि अपने को प्राचीन आर्य्यन् रेस कहने का सौभाग्य होगया। परन्तु आर्य्य-समाज को

मांस-भोजन का यह सिद्धान्त सर्वथा अभिमत नहीं। हिन्दू-समाज की दृष्टि से गोमांस या बैल के मांस का तो प्रकरण और भी दोष उत्पन्न करता है। शङ्कराचार्यको यह अर्थ लिखते हुए कुछ भी सङ्कोच नहीं हुआ। कदाचित् शङ्कराचार्य इस बात को वाममार्ग के अनुसार सत्यता का अंश समझते थे। उनको वह अंश ठीक प्रतीत हुआ, और उन्होंने निःसङ्कोच होकर गोमांस-परक व्याख्या करदी।

आर्य्य-समाज को यह मत कभी किसी अवस्था में भी सहन नहीं होसकता। इसपर भी सनातनी लोगों को यद्यपि गोमांस अभिमत नहीं, तो भी आर्य-समाज के विरोध में उनको उस स्थल पर गोमांस ही साग्रह अभिमत होजाता है। ऐसी दशा में क्या समाधान किया जाय, यह एक समस्या है।

स्वर्गीय पण्डित शिवशङ्करजी काव्यतीर्थ ने अपने बृहदारण्यक भाष्य में "मांसौदनं" के पाठ का पाठान्तर करके "माषौदनं" किया है, और श्रीमन्मथ में माष शब्द की गणना दिखाकर माष शब्द को "उरद" अर्थ में प्रमाणित किया है, तथा "मांसौदन" पाठ किसी मांसप्रिय लोलुप व्यक्ति का कार्य बतलाया है। एवं आर्षभ और औक्ष दो प्रकार की विधियां मानी हैं। आर्षभ विधि का अर्थ ऋषि-कृत विधि माना है, और औक्ष विधि को प्रकरणान्तर से वाजीकरण विधि स्वीकार किया है।

इधर बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का चौदहवां काण्ड है। अजमेर के छपे संस्करण में 'माꣳसौदनं" पाठ है। ऐसी दशा में वैदिक-सिद्धान्त की रक्षा किस रूप से की जाय, यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है। मांस शब्द के धात्वर्थ या निरुक्ति का आश्रय लेकर मांस शब्द का अर्थ कोई अभिमत पदार्थ करना यह भी एक अनियत पदार्थ ही कहना है। कोई लोग मांस शब्द का अर्थ गुद्दा कर लेते हैं, और आर्षभ और औक्ष मांस का तात्पर्य उक्षा या ऋषभ नामक जीवनीय गण में पढ़े गये वाजीकरण औषध का गुद्दा कर लिया जाता है। यह अर्थ कुछ अवश्य समाधान कारक है, परन्तु "औक्षेण वा आर्षभेण वा" यह वाक्य बहुत दूर होनेपर उसका सहसा समन्वय मांस शब्द से नहीं होता प्रतीत होता। इसलिये मांस शब्द यहां रूढिगत है। औक्ष और ऋषभ शब्द भी लोकप्रसिद्ध बैल और सांड का वाचक सिद्ध होता है।

इन सब विकल्पों में क्या माननीय सिद्धान्त है, इसका निर्णय करने का मैं यहां प्रयत्न करता हूं, और पाठकों का ध्यान बृहदारण्यक के उस सम्पूर्ण भाग पर आकर्षित करता हूं।

स्त्री की रजस्वलावस्था से लेकर जातकर्म तक पूरा ही प्रकरण उपनिषत् में दिया गया है। प्रकरण इस प्रकार प्रारम्भ किया है :—

(१) "जिसकी स्त्री ऋतुमती हो, वह प्रथम तीन दिन कांसे के बर्तन से जल-पान करे, और स्नान आदि न करे। एक ही वस्त्र से रहे। उस अवसर पर कोई नौकर चाकर भी उससे स्पर्श न करे। तीन दिन के बाद वह स्नान करके अपने ही हाथों छान कूट कर चावल तैयार करे।

(२) जो चाहता है कि मेरा पुत्र वेद का वक्ता हो, वर्ण से श्वेत हो, वह क्षीरोदन पकाकर घी डालकर खावे, और स्त्री पुरुष पुत्र उत्पन्न करें।

(३) जो चाहे मेरा पुत्र कपिल (आताम्र) या पिङ्गल (पीला) रङ्ग का हो, और दो वेद पढ़े, और सब आयु भोगे, वह दही भात पकाकर घी डालकर खावे और स्त्री पुरुष पुत्र उत्पन्न करें।

(४) और जो चाहे मेरा पुत्र तीन वेद पढ़े, और सर्व आयु भोगे, वह उदौ-दन बनाकर घी डालकर खावे, और स्त्री पुरुष पुत्र उत्पादन करें।

(५) और जो चाहे मेरी कन्या पण्डिता हो पूर्णायु भोगे, वह तिलौदन पकाकर घी मिलाकर खावें, और स्त्री पुरुष पुत्रोत्पत्ति करें।"

इसके पश्चात् यह छठी बात आती है, जिसपर विवाद है।

यहां यही एक विचारणीय प्रश्न है कि क्रम से एक वेद, दो वेद और तीन वेदों के ज्ञाता पुत्र के उत्पादन का प्रकार बतलाया और फिर पण्डिता पुत्री के उत्पन्न करने की विधि का भी वर्णन होचुका, तब फिर पुत्र की उत्पत्ति करने का प्रकरण छेड़ना अप्रासङ्गिक और अनुपयुक्त प्रतीत होता है। इस कारण यह कण्डिका की कण्डिका ही प्रक्षिप्त प्रतीत होती है। यह बृहदारण्यक के ६ठे अध्याय की १८ वीं कण्डिका है।

दूसरे, इसकी रचना भी अन्यों से भिन्न है, और इसके साथ की अन्य कण्डिकाएं "जनयित वै" पर समाप्त होती हैं, और यह कण्डिका "औक्षेण वा

आर्षभेण वा" इस वाक्यांश पर समाप्त होती है । यह निश्चय शङ्कराचार्य्य से पूर्व उस काल का बना हुआ है, जब कि यज्ञों में मांसबलि तथा घोर कर्म प्रचलित थे। वाममार्गी पण्डितों ने खूब मनमाना किया है। शतपथ में कई प्रकरण ऐसे और भी हैं, जिनपर हमें वाममार्गियों का हाथ मालूम होता हैं।

यदि और कोई विद्वान् इस विषय पर अधिक उत्तम समाधान दें, तो बड़ा लाभ हो। लेख समाप्त करने के पूर्व मैं विद्वान पाठकों का ध्यान शतपथ के पञ्चमहायज्ञ और स्वाध्याय प्रकरण में लिखे कुछ शब्दों पर भी खेंचना चाहता हूं। वहां लिखा है कि—

क्षीरौदनमांसौदनाभ्यां ह वा एष देवांस्तर्पयति य एवं विद्वान् वाकोवाक्यमितिहासपुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते।

यह वाक्य ब्रह्मयज्ञ स्वाध्याय की प्रशंसा के प्रकरणमें लिखे गये हैं। इसका अभिप्राय यही है कि ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ से किसी प्रकार न्यून नहीं है । परन्तु मैं विद्वानों के समक्ष यह कहने में भी सङ्कोच नहीं करूंगा, कि वह प्रकरण भी प्रक्षिप्त है। क्योंकि उसकी सङ्गति उससे पहले ब्राह्मण में कहीं तुलना से नहीं लगती, प्रत्युत् विपरीत पड़ती है। एक ही विद्वान् दो तरह के लेख नहीं लिख सकता। फलतः स्वाध्याय-प्रशंसा ब्राह्मण की ६, ७, ८ कण्डिकाएं प्रक्षिप्त प्रतीत होती हैं॥

——०——

सोम क्या है ?

[लेखक—श्री० विश्वनाथ आर्योपदेशक]

वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थादि में सोम का बहुत वर्णन आया है, विशेषकर यह यज्ञों में उपयुक्त होता था। सोम का रस पान किया जाता और यह एक सर्वोत्तम हव्य पदार्थ गिना जाता था। परन्तु सोम था क्या यह विषय अब बहुत विवादास्पद होगया है। आज इसी पर विचार करना है।

भारत कलङ्क वाममार्गियों ने जब अपने पांच मकारों का प्रचार आरम्भ किया तो वेद शास्त्र निरत आर्य्यों को अपने जाल में फंसाने के लिये उन्होंने आर्ष-ग्रन्थों में अपनी स्वार्थ सिद्धि के बहुत से प्रमाण सूत्र श्लोकादि के रूप में मिला कर उन्हें कलुषित कर दिया। परन्तु वेदों में वह ऐसा नहीं कर सकते थे

अतएव उसके अर्थों को बिगाड़ कर मद्यमांस आदि की पुष्टि करने लगे। और जहां वेदों में सोम शब्द आया इन्होंने उसका अर्थ शराब करके संसार में वेदों के नाम से घोर अत्याचार फैलाया। यह प्रत्यक्ष दुराचार का सम्प्रदाय लोपसा होगया था परन्तु पञ्जाब के एक ब्राह्मण ने इसके पुनर्जीवित करने पर फिर कमर बान्धी है। बहुत से हिंदु जो मांस मद्य का सेवन तो करते थे परन्तु धार्मिक सभाओं में लज्जा से सिर ऊंचा नहीं कर सकते थे उनका अब साहस बन्धाया जारहा है। एक स्थान पर ऐसे १०० पुरुषों को इसका चेला बनना भी बताया गया है। इसनें कई एक पुस्तकें भी लिखी हैं जिनमें वेद शास्त्रों से मद्य मांस की सिद्धि का दुष्प्रयत्न किया गया है। और इसका यह पक्ष भी है कि वेद में आये सोम शब्द का अर्थ शराब है।

इसमें सन्देह नहीं कि वेद मन्त्रों में सोम के विशेषण सुरा मद्य मदिरा आदि आये हैं, परन्तु इस का अर्थ यहां शराब कदापि नहीं हो सकता।

सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोम। यजुर्वेद
मदिरो न जागृपिरच्छा कोश मधुश्चतुम। साम
सोममवतु मदाय। यजुः
स्वादुरिह मदिष्ठ आस। ऋग्वेद
सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ। अथर्व

साधारण बुद्धि के पुरुषों के हृदयों में ऐसे प्रमाण भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। परन्तु यदि कुछ भी विचार से काम लिया जावे तो यह संदेह सूर्योदय के साथ कुहर की भान्ति स्वयमेव विलुप्त होजाता है। यह स्मरण रहे कि किसी भी ऋषि ने सोम को शराब नहीं कहा। और वैद्यक शास्त्र से तो यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि सोम शराब से अतिरिक्त एक औषधि विशेष है।

बृहन्निघन्टु रत्नाकर में सोम का उल्लेख गुडूच्यादि वर्ग में आता है परन्तु शराब का सन्धान वर्ग में। और सोमवल्ली के ये नाम दिये हैं—सोमवल्ली सोमलता सोमक्षीरी द्विजप्रिया। और संग्रह कर्ता ने अन्य पुस्तकों से सोमवल्लिका, महागुल्मा, यज्ञवल्ली, यज्ञश्रेष्ठा, धनुर्लता, सोमार्ही, गुल्मवल्ली, सोमक्षीरा, सोमा, बल्लाङ्गा, यह दसनाम और दिये हैं इनमें कोई ऐसा नाम नहीं

जो शराब का भी हो। और इसी पुस्तक में शराब के निम्न नाम दिये हैं:—

मद्यं तु सीधुर्मैरेय मिरा च मदिरा सुरा।
कादम्बरी वारुणी च हालापि बलवल्लभा॥

इनके अतिरिक्त संग्राहक महाशय ने ५३ नाम अन्य पुस्तकों से दिये हैं परन्तु शराब का नाम सोम अथवा सोम के नामों में से कोई नहीं आया। और इसी पुस्तक में बतलाया गया है, कि सोम थोहर जाति की एक लता होती है जिसमें अमावस्या के दिन कोई पत्ता नहीं होता। अगले दिन शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक पत्ता निकलता है। द्वितीया को दूसरा और इसी प्रकार प्रतिदिन एक पत्ता निकलता है। पूर्णमासी के दिन पूरे पंचदश १५ पत्ते हो जाते हैं। पुनः अगले दिन कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से प्रतिदिन एक २ पत्ता झड़ने लगता है और अमावस्या को कोई नहीं रहता। यह क्रम सदा बना रहता है। चन्द्र के बढने घटने के साथ इसके पत्ते एक एक करके लगते झड़ते हैं। इसी कारण इसका नाम चन्द्र के नाम पर सोम है। यह पर्वतों पर मिलती है। इस से स्पष्ट होजाता है कि सोम शराब नहीं है।

यह तो हुआ वैद्यक का प्रमाण; परन्तु वेद अपनी व्याख्या आप करता है। वेदों के अनुशीलन से प्रत्येक शब्द का वैदिक अर्थ स्वयं ज्ञात होजाता है। वेदमें यदि सोम का बहुत उल्लेख मिलता है तो ऐसे उपयोगी पदार्थ को खोल कर भी बतला दिया है। देखिये—

अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आनय। पुनाहीन्द्राय पातवे। तव त्यं इन्दो अन्धसो देवा मधोर्व्यशनत। पवमानस्य मरुतः। दिवः पीयूषमुत्तमं सोममिन्द्राय वज्रिणे। सुनोता मधुमुत्तमम्॥ साम० उ० ५।१।११

अर्थ—हे अध्वर्यु, यज्ञकराने वाले! पर्वत से सोम लाओ। इन्द्र (ऐश्वर्यशाली पुरुष वा राजा) के पीने के लिये इसे पवित्र करो। तेरे इस मधुर अन्न को देवता भक्षण करें। विद्वान इस पवित्र करने वाले सोम को खावें। दिव्यगुण युक्त अत्युत्तम सोमामृत दुष्टों को दण्ड देने वाले राजा के लिये अत्यन्त आह्लाद, शारीरक बलपुष्टि तथा अरोग्यता का उत्पन्न करने वाला है। इस मन्त्र से स्पष्ट विदित होजाता है कि सोम एक लता है जो पहाड़ों में उत्पन्न होती है न कि शराब। और साम

अन्न भी है परन्तु शराब नहीं। सोम पवित्र, शराब महा अपवित्र। सोम अमृत, शराब तीक्ष्ण विष। सोम देवों राजाओं उत्तम पुरुषों के ग्रहण करने योग्य है परन्तु शराब पिशाचों राक्षसों और धूर्त्तों के पीने के लिये है।

जब वेदादि शास्त्रों तथा वैद्यक ग्रन्थों से स्पष्ट कर दिया जाता है कि सोम शराब कदापि नहीं तो कुमार्गी कहने लग जाते हैं कि सोम तो लता ही है परन्तु जैसे महुए वा गन्ने के रस की शराब बनाई जाती है ऐसे ही सोम की शराब थी। यह भी उनका प्रमाद मात्र है। क्योंकि इसके लिये उनके पास कोई प्रमाण नहीं। और वेद शास्त्र में सोम और उसके रस का ही वर्णन आता है। परन्तु शराब खमीर उठाकर बनाई जाती है और जिस पदार्थ से शराब बनाई जाती है उसके नाम के पीछे तद्धित प्रत्यय होकर उसका नाम बनता है। जैसे गुड़से बनाई गई शराब का नाम गौड़ी, अंगूर से बनी शराव का नाम अंगूरी परन्तु सोम के सम्बन्ध में वेद अथवा किसी अन्य शास्त्र में ऐसा कोई नाम नहीं आता।

क्या सोम भङ्ग है ?

इस अवस्था में कई भङ्गड़ यह कह उठते हैं कि यतः वेद में सोम को मद्य भी कहा गिया है, और मद्य किसी नशीले पदार्थ का नाम ही हो सकता है, अतः सोम अवश्य भङ्ग ही होगी। परन्तु यह विचार भी उनका प्रमाद मात्र ही है। क्योंकि वैद्यकशास्त्र में भंग से सोम का सर्वथा पृथक् वर्णन है। भंग के नाम निघण्टु में:-

भंगा गंजा मातुलानि मादिनी विजया जया।

यहः छ नाम आए हैं और संग्राहक महोदय ने ३० नाम अन्य पुस्तकों से लिखे हैं जिनका सोम के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। इसके अतिरिक्त भंग को स्पष्ट नशीला पदार्थ लिखा है।

वेदना क्षेप हरणी ज्ञेया च मदकारिणी।

परन्तु सोम के गुणों में नशे का कोई उल्लेख नहीं। यथा—

सोमवल्ली त्रिदोषघ्नी कटुस्तिक्ता रसायनी।

सोमवल्ली त्रिदोष को दूर करने वाली, स्वाद में कड़वी, कसैली और रसायन है। इसी प्रकार इसका रस भी नशेवाला नहीं है। यथा—

सोमवल्ल्यास्त्रिदोषघ्नः क्षीरकृच्च रसायनः।

सोम का रस त्रिदोष को दूर करने वाला रसायन और दूध उत्पन्न करने

वाला होता है। यह एक ऐसा अमूल्य और गुणवाला पदार्थ होता था कि इसका रस सुवर्ण की शलाका से निकाल कर सेवन किया जाता था।

सोमकंदं सुवर्णसूच्या विदार्य पयो गृह्णीयात्। सुश्रुत ॥

जब यह सिद्ध होगया कि सोम न तो शराब थी और न कोई मादक पदार्थ ही, तो वेद में आए हुए इसके विशेषण मद्य मदिरा मदिष्ठ सुरा आदि का यौगिक अर्थ लेना ही समुचित हो सकता है। और इन शब्दों का यौगिक अर्थ हर्ष-उत्पादक है। अतएव सोम के विशेषणों में जहां कहीं मद्य आदि शब्द वेद में आएं उनका यौगिक अर्थ हर्ष जनक ही होना चाहिये। इसी प्रकार का सन्देह वेद में आए मांस शब्द पर भी होजाता है। उस पर कभी फिर लिखा जावेगा।

एक नया प्रश्न।

कुरान में कई ऐसी आयतें हैं जिनका सम्बन्ध केवल हज़रत मुहम्मद साहिब के घरेलु झगड़ों के साथ है। अतएव आर्य समाज की ओर से मुसलमानों को कहा जाता है कि ऐसी आयत निकम्मी हैं क्योंकि अब दूसरों को उनसे क्या लाभ ?। इस पर वह सोम पर आक्षेप करते हैं कि यह औषधि भी अब कहीं नहीं मिलती। अतएव जिन वेद मन्त्रों में सोम का वर्णन है वह निकम्मे होगये। परन्तु कुरान पर के आक्षेप और इसमें पृथिवी आकाश का अन्तर है। क्योंकि कुरान की ऐसी आयतें तो दूसरों के किसी काम की कभी हो ही नहीं सकतीं। इसको मुसलमान भी अस्वीकार नहीं कर सकते। परन्तु यदि कल को सोम मिल जावे तो वेद मन्त्र सार्थक हो जावेंगे। यह स्मरण रखना चाहिये कि सद्ग्रन्थों की बात ऐसी होती हैं जिनके लिये अन्वेषण की आवश्यकता होती है। वह निकम्मी नहीं हो सकतीं। वैद्यक शास्त्र में अन्य भी कई पदार्थ अन्वेषण के योग्य हैं।

इसके अतिरिक्त सोम औषधिमात्र का नाम भी वेद में आया है, यथा:—

त्वमिमा औषधीः सोम विश्वा। यजु० ३४। २२ ॥

सब औषधियां सोम हैं। अतएव सोम किसी विशेष औषधि को उपलब्ध। न करके किसी भी औषधि से यज्ञ करके वेद के सोम परक मन्त्रों को हम सार्थक कर सकते हैं॥

योगिराज दयानन्द की विभूतियें।

(लेखक—श्री० बृहद्बल संयमी शास्त्री, आर्य्योपदेशक)

पाठकगण ! मैंने महर्षि श्रीदयानन्द सरस्वतीजी की योगशास्त्रानुसार विभूतियों को आपके सामने रखना है। श्रीहरिजी ने महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १ के "वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः" में से "वाग्-योगविद्" शब्द को लेकर उद्योत में "अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्द एव निबन्धनम, तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते" इस कारिका को लिखकर यह दर्शाया है, कि अर्थ-प्रवृत्ति का कारण शब्द है, और शब्दावबोध बिना व्याकरण-शास्त्र के नहीं होता। अतः शब्द-शास्त्र का पढ़ना बड़ा आवश्यक है। ठीक उसी तरह से "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" योग० अ० १, पा० १, सू० २, अर्थात् समस्त चित्तवृत्तियों के निग्रह का नाम योग है, चित्त की वृत्तियां इन्द्रिय-जन्य साधनों पर निर्भर होती हैं। इसलिए मनुजी ने कहा, "दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।" मनु० अ० ६ श्लो० ७१। जैसे अग्नि में धातुओं के तपाने से उनके विकार भस्म होजाते हैं, उसी तरह प्राणों के निग्रह से इन्द्रियों के दोष भी नष्ट होजाते हैं। तात्पर्य्य यह कि इन्द्रियों के विकारों का नाश करना ही योग की पहिली पहेली सीखना है। और वे विकार बिना प्राणों के निग्रह के दूर नहीं होसकते। प्राणायाम क्या है ? "तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः" योग० अ० २, पा० २, सू० ४९ अपने श्वासों को खींचकर बढ़ाना, और बाहर निकालते रहना, यही प्राणायाम है। सच पूछो तो दूसरे शब्दों में यही "योग" है ऐसा कहना अनुचित न होगा। इसीलिए शिवसंहिता में लिखा है "आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः। एकमेव सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं स्मृतम्॥" अर्थात् समस्त शास्त्रों के मथन करने से मालूम हुआ, कि एक ही योगशास्त्र मनुष्य की मोक्षप्राप्ति का साधन है, और इसी साधन से "योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक-ख्यातेः" इन्द्रियों की अशुद्धि का नाश होकर ज्ञान का प्रकाश एवं प्रसिद्धि होती है। इतना सिद्ध कर लेने पर मनुष्य एक योगी बन जाता है, और विभूतियों को सिद्ध करने के लिये योग्य बन जाता है। जितना शब्दावबोध के लिये व्याकरण-शास्त्र उपयुक्त है, उतना ही विभूति सिद्ध करने के लिये मनुष्य का प्राणायाम द्वारा, उपरोक्त नियमानुकूल योगी होना आवश्यक है। महर्षि दयानन्दजी ने

इसी योग की कोटि पर पहुंचकर विभूतियें सिद्ध कीं। आप विस्मित होंगे कि योगीराज दयानन्द की वे कौनसी विभूतियें हैं, जिनका आज तक ज़िकर नहीं हुआ। सज्जनो! महर्षि के जीवन में आपने समस्त घटनाएं पढ़ीं, और उनपर विचार भी किया होगा। परन्तु आपने उन घटनाओं को पढ़ सुनकर ऋषि की अद्भुत शक्ति है, विचित्र पराक्रम है, कहकर सन्तोष किया। परन्तु मैं उन्हींको रूपान्तर से "योगिराज दयानन्द की विभूतियें" बतलाता हूं, और वह योगशास्त्र के आधार पर थीं ऐसा मानता हूं। विचार कीजिये।

(१) "ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः।" योग० पा० ३, सू० १२ अर्थात् ध्यान, धारणा, समाधिरूप (संयम) के पश्चात् योगी में शान्त, निर्भ्रान्त एवं समान ज्ञान उत्पन्न होता है, और वह उसके चित्त की एकाग्रता का परिणाम है। यह एक विभूति है। हम योगिराज के जीवन में नित्यम्प्रति पढ़ते हैं, कि जिस समय योगिराज पं० भीमसेन आदि को वेद का भाष्य लिखाने बैठते हैं, जिस पद पर शंका होती है, सहसा मकान के अन्दर एकान्त में बैठते हैं। उसी संयम के प्रताप से उनके अन्दर एक शान्त, निर्भ्रान्त एवं समान ज्ञान क्या नहीं उत्पन्न होता है? यदि महीधर, सायण तथा उव्वट आदि आचार्य्यों से योगिराज श्रीदयानन्दजी के भाष्य में आदर्श, कोई निर्भीकता, एवं सत्यता प्रकट होती है, तो वह केवल इसी एक विभूति का परिणाम है।

(२) "प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्" पा० ३, सू० १९ अर्थात् उसी संयम के बल पर ही दूसरे के चित्त का पहिचान लेना, यह दूसरी विभूति है। इसी विभूति के प्रताप से मुनि शौनक ने प्रजाच्युत राजा बेन को दूर से आते देखकर जान लिया था, और सहसा कह दिया था— "हे राजन्! गच्छ गच्छ न ते स्थानं प्रीणात्यस्मान् ब्रुवन् हि ते। रुधिरस्येव ते गन्धः शवस्येव च दर्शनम्॥" महाभारत॥ अर्थात् तुम यहांसे चले जाओ, तुम्हारे लिये मेरा आश्रम नहीं है, तुम्हारे शरीर से खून के समान गन्ध आती है, और तुम्हारा दर्शन मुर्दे के समान दीख पड़ता है। इसी विभूति के बल पर योगिराज ने महाराजा कर्णसिंह को ललकारा, और प्रतापसिंह को फटकारा। यदि श्रीयोगिराज उन राजाओं के चित्तों को न जानते, तो परम कारुणिक दयानन्द कदापि उनपर रुष्ट न होते। मैं समझता हूं, यह हमारे योगिराज की दूसरी विभूति है।

(३) 'बलेषु हस्तिबलादीनि" पा० ३, सू० २४ अर्थात् बल में संयम करने से हाथियों के समान बल की प्राप्ति होती है। आप देखते हैं, कि बनारस की गली में एक तरफ़ से सांड लोगों को मारता हुआ आरहा है। लोग मना करते हैं कि भगवन्! इधर न जाइये, परन्तु योगिराज, जिन्होंने इस विभूति को सिद्ध किया था, जाते हैं, ज़रा आंखें मिलते ही सांड वापिस होजाता है। इसी प्रकार जङ्गलों के अन्दर योगिराज का विचरना और वहां रीछों आदि का सामना करना, ये सारी घटनाएं योगी की इस विभूति का ही परिणाम हैं। यद्यपि ब्रह्मचर्य्य का भी प्रताप है, परन्तु इस विभूति को सिद्ध करने के लिये मैं ब्रह्मचर्य को केवल साधनमात्र समझता हूं। वास्तव में वहां यही विभूति काम कर रही थी।

(४) "कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्" पा० ३ सू० ४२ अर्थात् शरीर तथा आकाश इन दोनों के सम्बन्ध में संयम करने से "सत्वं लघुप्रकाशकम्" सांख्यकारिका। सतोगुण लघु एवं प्रकाशक होता है। इसलिये हलकी, प्रकाशक, सतोगुण वाली वस्तु में संयम करने से योगी आकाश में जाता है। यद्यपि सांख्यकर्त्ता के मत में यही एक अणिमा सिद्धि है, परन्तु योगशास्त्र के कर्त्ता पातञ्जलि मुनि इसे विभूति बतलाते हैं। निःसन्देह हमारे योगिराज ने इस विभूति को प्राप्त किया था। मेरे मित्र, जो बनारस में पढ़ते रहे हैं, उनका नाम विश्वचित् शर्मा व्याकरणाचार्य है। वे मुझे सुनाते रहे कि काशी में स्वामीजी गये, और मेरे गुरु श्रीमहानन्द योगी से वार्तालाप करते यह प्रसङ्ग छिड़ गया। योगी महानन्दजी ने कहा, "श्रीस्वामीजी, यदि आप कुछ योग की विभूतियें जानते हों तो ज़रा दिखलाइये?" स्वामीजी ने उत्तर में कहा, यदि आप भी कुछ जानते हों तो दिखलावें? अस्तु। योगी महानन्दजी ने इसी उक्त विभूति को संयम द्वारा दिखलाया, और ज़मीन से एक बालिश्त ऊपर उठ गये। तत्पश्चात् श्रीपरमयोगी दयानन्दजी ने भी आसन लगाया, और केवल ५ मिनट के अन्दर योगिराज देखते देखते $१\frac{१}{२}$ डेढ़ हाथ ऊपर उठ गये। यह महानन्दजी से सुना हुआ वृत्तान्त मुझे मेरे मित्र ने सुनाया। शोक! कि आज श्रीमहानन्दजी संसार में नहीं हैं। अस्तु, लिखने का अभिप्राय यह है, कि योगिराज दयानन्द ने कितनी कैसी २ अद्भुत विभूतियों को प्राप्त किया।

(५) "कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः" पा० ३ सू० ३० अर्थात् गले में जो कण्ठकूप नाम्नी नाड़ी है उसमें संयम करने से भूख, प्यास मिट जाती है। इस विभूति

को भी हमारे योगिराज ने पूर्णतया अपने जीवन से बतला दिया। जङ्गलों में जिस समय वे सच्चे आदर्श की खोज में घूम रहे थे, उन्हें कितने ही दिन निराहार व्यतीत करने पड़े परन्तु फिर भी दुःख अनुभव नहीं किया। क्या यह योगी महाराज की विभूति का फल नहीं था?

(६) "मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्" पा० ३ सू० ३२ अर्थात् मूर्द्धा नाड़ी जो मस्तिष्क के अन्दर होती है, उसमें संयम करने से घर बैठे सिद्धों के दर्शन होने लगते हैं। यह एक विभूति है, जो हमारे प्रवर्त्तक योगीराज दयानन्दजी ने प्राप्त की थी। जहां पर बैठते थे, उनकी कीर्ति सुन कर बड़े २ महात्मा लोग उनके दर्शनों को उनके पास आते थे। बस, यही घर बैठे सिद्ध-दर्शन होता था। पाठक तनिक विचार करें कि उस ही योग के द्वारा जो मैंने साधारण शब्दों में बतलाया है, अगर प्रत्येक मनुष्य उसे ध्यान, धारणा, समाधिरूप (संयम) के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करे, तो कर सकता है, और योग-शास्त्र की उक्त अद्भुत विभूतियों को पासकता है। मैंने संक्षेप से ६ विभूतियों का वर्णन महर्षि दयानन्द योगिराज के पवित्र जीवन से दर्शाया है, विस्तारभय से मैं अधिक नहीं लिख सकता। हां, इतना अवश्य अन्तिम निवेदन करूंगा, कि कम से कम संध्या से पहिले और मध्य में प्राणायाम अवश्य किया करें। यही योगशास्त्र की घुण्डी है।

नैतिक सुमन।

(लेखक—"श्रीहरि")

शूकर कूकर से खल लोक को, ओक कभी घुसने नहीं दीजिये।
प्रेमिक-पार्श्व में प्रेम-सुधा नित, प्रीति-प्रतीति से जाकर पीजिये॥
दीन-दुखी जन से करके हित, मानव-जीवन को फल लीजिये।
देश की आन पै मान समेत, सदा प्रिय-प्रान निछावर कीजिये॥१॥
प्रान का मान है, मान जहां तक, मान गये फिर प्रान कहां है।
दान का मान है, पात्र विचार, कुपात्र में दान से दान कहां है॥
ध्यान का मान है, ध्येय अभेद में, भेद रहे वह ध्यान कहां है।
ज्ञान का मान है, ज्ञेय के ज्ञान में, ज्ञेय अजान में ज्ञान कहां है॥२॥

ऋषि दयानन्द की वेद भाष्य शैली।

[ले०—श्री० विश्वनाथ विद्यालङ्कार, अजमेर]

गताङ्क से आगे ।

(१) विशेषणों द्वारा विशेष्यपद के अर्थ निर्णय करने से वेद मन्त्रों म एक विशेष प्रकार का प्रकाश दीखने लगता है। और इस शैली पर चलते हुए विचारक को, नए २ Suggestions अपने आप उठने लगते हैं। इस से प्रतिकूल, पौराणिक कालीन भाष्यकारों की शैली से, वेदों में असम्बद्ध और निरर्थक वचन, अत्युक्ति, प्रलाप, शब्दाडम्बर आदि अनेक दोष दृष्टि गोचर होते हैं। अतः ऋषि की शैली से वेदों में सार्थकता अधिक प्रतीत होने लगती है।

(२) इस ऋषि शैली से द्वितीय लाभ हुआ है—वेदों में ऐतिहासिक दृष्टि का लगभग लोप। वेदों में जमदग्नि, विश्वामित्र अत्रि, देवापि, कश्यप आदि पदों की उपस्थिति मात्र से ही जो सायणाचार्य आदि ने ऐतिहासिक व्यक्तियों की कल्पना करली है, वह ऋषि की शैली में सम्भवनीय नहीं। क्योंकि ऋषि की शैली में इन पदों वाले मन्त्रों के विशेषण पद जिस अर्थ का बोध कराएँगे, उन गुणों से विशिष्ट जो भी होंगे—चाहे वे जड़ पदार्थ हों या चेतन—वे ही जमदग्न्यादि पदों से गृहीत हो सकेंगे, न कि वे ही कल्पित ऐतिहासिक व्यक्ति विशेष। ऋषि की यह वेद भाष्यशैली निरुक्तकारों की शैली के साथ मिलती है। इसीलिये ही निरुक्तकार भी वेदों में इतिहास नहीं मानते। इसके लिये देखो निरु० अ० २। खं० १६। निरुक्तकार कहते हैं कि "तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवति"। अर्थात् वेदों में ऐतिहासिक युद्ध आदि का वर्णन नहीं। अपितु मनुष्यों को युद्ध आदि की विद्या देने के लिये, गौणरूप में, उन में कल्पित युद्धों का वर्णन है।

(३) ऋषि की भाष्यशैली से तीसरा लाभ यह हुआ है कि वेदों में "बहुदेवता पूजावाद" का भी निराकरण हो गया है। क्योंकि जब विशेषणों द्वारा ही विशेष्यपद के अर्थ का परिज्ञान करना है तो जहां २ विशेषणों द्वारा पूजा, सत्कार, सर्व व्यापकता, प्रार्थना, निराकार, जगत्स्रष्टृत्व आदि गुणों का वर्णन प्रतीत होगा, वहां २ ऋषि शैली के अनुसार, परमात्मा का अर्थ लेना ही युक्ति युक्त तथा सङ्गत होगा। अतः 'बहु देवता पूजा" की कल्पना, ऋषि की भाष्य शैली द्वारा सर्वथा निर्मूल हो जाती है।

(४) ऋषि की वेद भाष्यशैली से चौथा लाभ यह हुआ है कि वैदिक देवताओं के स्वरूप में, हमारे विचारों में असम्भवनीय परिवर्तन आगया है। जहां, पौराणिककाल के भाष्यकार, अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवतावाचक पदों द्वारा, आग, हवा, तथा सूर्यपिण्ड आदि की अधिष्ठात्री और साथ ही अचिन्त्य, अदृश्य, अननुभवनीय, नाना चेतन देवताओं का ग्रहण करते थे, वहां, ऋषि शैली के अनुसार, वे ही अग्न्यादि देवता अब व्यावहारिक तथा प्रमेयरूप में स्पष्ट भासित होने लग गये हैं। क्योंकि ऋषि की शैली में अग्न्यादि दैवतपदों द्वारा वही विशेष्यार्थ लेना है, जिसमें, उस मन्त्र और प्रकरण में अथवा मन्त्र या प्रकरण में, पढ़े गये विशेषण चरितार्थ हो सकें। इसी लिये ऋषिने अपने अमूल्य वेदभाष्य में अग्निपद से—परमात्मा, जीवात्मा, ब्राह्मण, आग, नेता, बिजुली, विज्ञान आदि अर्थ भी लिये हैं। क्योंकि वे मन्त्र, जिनमें कि अग्नि पद देवतारूप में पढ़ा है, उनमें के विशेषणपदों की सार्थकता ने ऋषि को बाधित किया कि वे अग्निपद से उपरोक्त अर्थ भी लें। नहीं तो उन मन्त्रों के कई विशेषणपद सर्वथा निरर्थक हो जाते हैं। इसी प्रकार ऋषिने इन्द्र पद से—परमात्मा, वायु, बिजुली, क्षत्रिय, सेनापति आदि अर्थ भी लिये हैं। इसी तरह अन्य देवताओं के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिये। इस तरह, ऋषि शैली के आधार पर, वेद, हमारे जीवन-व्यवहार के पथ दर्शक भी बन गये हैं। और पौराणिक कालीन भाष्य शैली या तो हमें वेदों के सम्बन्ध में नास्तिक बना देती है और या बुद्धि को अलग रखवा कर केवल पारलौकिक लाभालाभ तक ही हमें सीमित कर देती है। इस प्रकार "बुद्धि पूर्वा वाक्य कृतिर्वेदे" कणाद ऋषि का यह सूत्र भी ऋषि की भाष्यशैली मेंहीचरितार्थ होता है, पौराणिक कालीन वेद भाष्य शैली में नहीं।

ऋषि ने देवता-निर्णय की अपनी इस शैली पर सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में कुछ प्रकाश डाला है। जिसमें से कुछ उद्धरण मैं पाठकों के सन्मुख रखता हूं। ऋषि लिखते हैं "ओ३म् यह तो केवल परमात्मा का ही नाम है। और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियम कारक हैं। इससे सिद्ध हुआ कि जहां २ स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टि कर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं २ इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है।......................

(और) जहां २ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों, वहां २ परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता.................. और जहां २ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख, और अल्पज्ञादि विशेषण हों वहां २ जीव का ग्रहण होता है।"

ऋषि के ये शब्द कितने स्पष्ट और गम्भीर हैं। ऋषि कहते हैं "ओ३म्" तो परमेश्वर का निज नाम है। वेदों में ओ३म् के अतिरिक्त जो अग्न्यादि नाम हैं उनके अनेक अर्थ हो सकते हैं। परन्तु अग्नि आदि पदों द्वारा, किस मन्त्र में किस अर्थ का ग्रहण करना है, इस में दो वस्तु नियामक हैं। एक प्रकरण और दूसरी विशेषण। अर्थात् प्रकरण और विशेषणों पर विचार किये बिना मन्त्रों के अग्नि आदि विशेष्यपदों के यथार्थ अर्थों का जानना असम्भव है।

इस चतुर्थ लाभ के सम्बन्ध में एक और प्रश्न जागृत होता है। वह यह कि यदि ब्राह्मण ग्रन्थकारों को ऋषि की वेदभाष्य शैली अभीष्ट होती तो ब्राह्मणग्रन्थों के बनाने वाले, अग्न्यादि पदों द्वारा ऋषिदयानन्द ने अपने वेद भाष्यों में जो २ अर्थ लिये हैं, उन अर्थों की सत्ता के सम्बन्ध में अवश्य थोड़ा बहुत लिखते।

मेरे विचार में इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर केवलमात्र यही हो सकता है कि मैं पाठकों के विचारार्थ कतिपय ऐसे प्रमाण उपस्थित करदूं जिनसे प्रमाणित हो जाय कि ऋषि की इस शैली में मूल वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की अवश्य अनुमति है।

अग्न्यादि पदों से परमात्मारूपी अर्थ में प्रमाण—पौराणिक भाष्यकार अग्न्यादि पदों से आग या उसका अधिष्ठात्री देवता, प्रायः अर्थ लेते हैं। ऋषि दयानन्द ने इन पदों का परमात्मा अर्थ भी किया है। इस सम्बन्ध में उन्हों ने "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः सः प्रजापति॥" य० ३२। १। इस मन्त्र से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अग्नि आदि देवतापद परमात्मा के अवश्य वाचक हैं।

अग्न्यादि पदों के व्यावहारिक अर्थ—

(क) शतपथ ब्राह्मण कां० २, अ० ४, ब्रा० ३, कं० ६ और ७ में निम्नलिखित शब्द मिलते हैं "क्षत्रं वा इन्द्राग्नी, विशो विश्वेदेवाः" जिनका अभिप्राय यह है

कि इन्द्राग्नी पद से क्षत्रिय, और विश्वदेवाः पद से वैश्यरूप अर्थ का भी ग्रहण होता है ।

(ख) तैत्तिरीय सं० कां० ७, प्रपा० १, अनु० १ कं० ४ और ५ में निम्न लिखित वर्णन है :—

परमात्मा के मुख से पैदा हुए—अग्नि, त्रिवृत्स्तोम, गायत्री, रथंतर, ब्राह्मण, अज ।
" बाहु " " इन्द्र, पञ्चदशस्तोम, त्रिष्टुप्, बृहत्, राजन्य, अवि ।
" मध्यभाग " " विश्वेदेवाः, सप्तदशस्तोम, जगती, वैरूप, वैश्य, गौ ।
" पाद " " भूयिष्ठाः एकविंशस्तोम, अनुष्टुप्, वैराज, शूद्र, अश्व ।

इस वर्णन में अग्नि का ब्राह्मण के साथ, इन्द्र का क्षत्रिय के साथ तथा विश्वेदेवाः का वैश्य के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है । अतः अग्नि पद से ब्राह्मण का, इन्द्र से क्षत्रिय का और विश्वेदेवा से वैश्य का अवश्य वर्णन हो सकता है । यही ब्राह्मणकार को यहां अभीष्ट है ।

(ग) अग्निमीड़े पुरोहितम्—ऋग्वेद के इस प्रथम मन्त्र में अग्नि और पुरोहित ये दो शब्द एक अर्थ के वाचक दर्शाए हैं । अतः अग्नि शब्द से ब्राह्मण-पुरोहित का भी वर्णन वेद को अवश्य अभीष्ट है ऐसा प्रतीत होता है ।

(घ) शतपथ, २ । ५ । १ । १२ तथा २ । ५ । २ । २४ में लिखा है "विशो वै मरुतः" "अहुतादो वै विशो, विशो वै मरुतः" । जिस से स्पष्ट सूचित होता है कि ब्राह्मणकार को मरुतः का अर्थ वैश्य अवश्य अभीष्ट है ।

(ङ) शतपथ, २ । ५ । २ । २७ में लिखा है "क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतः" तथा उसी ब्राह्मण के २ । ५ । २ । ३४ में लिखा है कि "क्षत्रं वै वरुणो विशोमरुतः" । इन प्रमाणों से भी स्पष्ट सूचित हो रहा है कि इन्द्र तथा वरुण पदों से क्षत्रिय का तथा मरुतः पद से वैश्य का अर्थ भी अवश्य हो सकता है ।

(च) इसी प्रकार ऋग्वेद मं० ७ । सू० ८८ । मन्त्र २, ३ में इन्द्रपद से सम्राट् (Universal Ruler or Overlord) तथा वरुण पद से स्वराट् (Self Ruler or Independent Lord) अर्थ भी लिये हैं ।

(छ) अथर्ववेदीय ब्राह्मणसूक्त······के निम्न लिखित मन्त्र में मैत्रावरुण पद से राजा तथा ब्राह्मण अर्थ लिये गये प्रतीत होते हैं "न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यम-

भिवर्षति" अर्थात् ब्राह्मणद्वेषी राज्य में मित्र और वरुण के मेल से उत्पन्न होने वाली सुख की वर्षा नहीं होती। मित्र = ब्राह्मण, वरुण = क्षत्रिय वा राजा।

इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति के कतिपय उद्धरण भी सम्भवतः पाठकों के लिये रुचिकर हों अतः वे नीचे दिये जाते हैं।

अग्नि, इन्द्र और विश्वदेव = ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य—

In the later dogmetic literature we find the three Aryan castes the Brahmans, the Khatra, and the Visha identified with Agni Indra and the Vishwedeve respectively. This identificatin is a very natural one

(Sacred Books of the East Series शतप० Vol. I. P. XVI).

उपरोक्त उद्धरण शतपथ ब्राह्मण के अंग्रेज़ी अनुवाद की भूमिका का है। इसमें लेखक ने लिखा है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्नि, इन्द्र और विश्वेदेव पदों से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का वर्णन मिलता है जो कि स्वाभाविक है।

वरुण राजा—Varun the king of Heaven and the uphoder of law, is the divine representation of the earthly king; whence the **राजसुय** or Coronation ceremony is called Varuna's consecration.

यह उद्धरण भी उसी शतपथ की भूमिका का है। इसमें भी स्पष्ट दर्शाया है कि वैदिक साहित्य में वरुण पद द्वारा राजा का भी वर्णन होता है।

इस प्रकार इस लेख में मैंने ऋषिदयानन्द की वेदभाष्यशैली के सम्बन्ध में कतिपय मुख्य विचार रखे हैं। मैं आशा करता हूं कि आर्य वैदिक विद्वान् अपनी आलोचना द्वारा मुझे अनुग्रहीत करेंगे। कुछ काल के पश्चात् दयानन्द की वेदभाष्य शैली के सम्बन्ध में मैं अन्य गौण विचारों को भी लेख बद्ध उपस्थित करूंगा।

———

दार्शनिक-सिद्धान्त-पुष्पमाला ।

(लेखक—श्रीयुत पं० मुक्तिराम उपाध्याय)

रसिक-भ्रमर—(मन में) रात्रि भर विचार किया। प्रकृति, जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञानी जो कुछ कहता है, कुछ ठीक ही प्रतीत होता है। जी चाहता है मानलूं। न मानूं तो चैतन्य को शरीर का धर्म किस प्रकार सिद्ध करूं ? अनुमान मानना पड़ता है; और उसके मानते ही ज्ञानी का सारा प्रपञ्च मानना पड़ जाता है। तो क्या मानलूं ? ना; जिनका मैं नेता हूं, जिनके साथ मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिन्हें आज तक अपने मत की सत्यता पर विश्वास दिलाता रहा हूं, वे क्या कहेंगे ? कल मैं जिस फूल को सगन्ध कहता रहा, क्या आज उसीको निर्गन्ध कहूं ? क्या हार मानलूं ? सत्य के प्रकाश की ओर दौड़ता हुआ भी पुरुष, अहङ्कार और ममकार (मैं और मेरा) की रस्सियों से खींचा हुआ बीच में ही लटकता रहता है, या उसी अन्धकार के गहरे गढ्ढे में आ गिरता है, जिसमें कि पहिले पड़ा था। धीर, वीर पुरुष रस्सियों को तोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। दृढ़ता का आश्रय ले रसिक ने कहा, (प्रकट) ज्ञानीजी ! आपके कथन में सत्यता प्रतीत होती है। जी चाहता है, कुछ दिन विचार करूं, और फिर आपके दर्शन करूं।

ज्ञानी-भ्रमर—ठीक है। चिरञ्जीव ! ऐसा ही चाहिये। धर्म जैसी जीवन की सार वस्तु को विचार-पूर्वक ही ग्रहण करना चाहिये। समझाना हमारा कर्त्तव्य था। मानने न मानने में आप स्वतन्त्र हैं। यह लोगों का भारी भ्रम है, कि हम अपने पवित्र सिद्धान्तों को लोगों के गले बल-पूर्वक मढ़ते है। भला कौन ऐसा मूर्ख दानी होगा, जो किसीकी इच्छा न होनेपर भी अपने पवित्र धन को किसी के शिर लादे गा। हां, एक सर्वोत्तम धर्म से अपने आप ही लाभ उठाकर स्वार्थी भी नहीं बनना चाहते, अतः उसका प्रचार करना भी अपना कर्त्तव्य समझते हैं। आप जासकते हैं, और विचार कर सकते है।　　(चार्वाक)

———

दूसरा फूल ।

महमूद-भ्रमर—ज्ञानीजी महाराज ! आदाबे अर्ज़। हम अपने इक़रार पर आगये। आप तैयार हैं ?

ज्ञानी—हर समय कमर कसी ही रहती है।

"अच्छा, ग़ौर फरमाइये। सुना है, रसिक का फूल आपको पसन्द नहीं आया। असल में वह अच्छा भी न था। जिस फूल के अन्दर ख़ुदा की हस्ती और रूह की ख़ुशबू नहीं वह किस काम का? वह तो एक विलायती फूल की तरह बेकार है। मगर देखिए, हमारे फूल के अन्दर वह ख़ुशबू बराबर मौजूद है, और इसका रूप-रस! वाह! इसके तो कहने ही क्या? ज़मीन के तख्ते पर कहीं भी खोजो, ऐसा न मिलेगा। बहिश्त में पहुंचते ही सत्तर सत्तर हूरें, और ऐसे लड़के, जिनका रङ्ग मोतियों जैसा होगा। शराब की तो नहरें चल रही हैं, खजूरों के टाल लगे हुए हैं। और हासल करने का तरीक़ा? वाह! कितना आसान! एक बार कलमा पढ़लो, उलमा होनेकी ज़रूरत नहीं, उम्मी भी सीधे होजाते हैं। कई २ औरतें करलो, रुकावट नहीं। देखा? यहां भी मज़ा, और वहां भी गुलछर्रे। कहिये, ऐसा फूल भी कोई मिलेगा? आइये, आप जैसी हस्ती की बड़ी ज़रूरत है। आपके लिये एक बड़ी गद्दी खाली पड़ी है।

ज्ञानी—धन्य धन्य! बड़ा सुन्दर फूल है। क्यों न हो, रसिक के मित्र हो न? रसिक आप जैसा फूल न घड़ सका था। आपके यहां तो दोनों हाथों में लड्डू है, यहां भी आनन्द और वहां भी।

अच्छा भला बहिश्त में जो हूरें मिलेंगी, उनके साथ विवाह होगा या नहीं? यदि विवाह हुआ, तो चार चार से अधिक के साथ धर्म-विरुद्ध। और यदि विवाह न हुआ, तो फिर भी धर्म से विरुद्ध। और भला मोतियों के रङ्ग के लड़के किस लिये?

एक और बात पूछनी है। हम आपके फूल पर आबैठें, तभी हूरें मिलेंगी, वैसे न मिलेंगी?

'नहीं, कभी नहीं। ख़ुदा और हज़रत मुहम्मद साहिब पर यक़ीन लाओगे, और कलमा पढ़ोगे, तभी मिल सकेंगी, वैसे नहीं।"

"अच्छा, भला जो हज़रत पर यक़ीन नहीं लाए, और क़लमा नहीं पढ़ते, उन्हें अब औरतें, शराब, दूध और मेवे आदि सब वस्तुएं कैसे मिल गईं?"

"ये तो ऐसे ही मिल गईं।"

"तो वहां भी ऐसे ही मिल जावेंगी।"

"ये तो ख़ुदा ने अपनी कुदरत दिखलाने के लिये देदी हैं, ताकि बन्दे मेरी बड़ी ताक़त समझें और यक़ीन लावें।"

"अपनी शक्ति तो परमात्मा एक और ढंग से भी दिखला सकते थे। जितने कलमा पढने वाले और विश्वास रखने वाले हैं उनको स्त्रियें, धन अच्छे २ शरीर और शराब आदि सब वस्तुएँ दे देते। और जो विश्वास नहीं रखते हैं, उन्हें लँगड़े, लूले, कोढ़ी, निर्धन बना देते। परमात्मा की शक्ति भी प्रकट हो जाती और लोग इस्लाम को स्वीकार करने के लिये बड़ी शीघ्रता से पैर आगे बढ़ाते, यहां तक कि एक ही दिन में सब मुसलमान हो जाते। फिर तो परमात्मा को दोज़ख़ बनाने की भी आवश्यकता न होती। अस्तु! अब पश्चाताप से क्या बनता है, जो हो गया सो हो गया। यह बतलाइये कि विना कुछ करने धरने के ही यहां की सब वस्तुएं मिल गईं तो हूरें और शेष बहिश्त के पदार्थ भी बिना ही कर्म क्यों न मिल जावेंगे?

"यहां की चीजें ऐसे ही मिल जाती हैं, मगर बहिश्त की चीजें नेक ऐमालों के बाद ही मिलती हैं, ऐसे नहीं।"

"अच्छा तो हूरों और उन मोती के रङ्ग वाले लड़कों को बहिश्त कैसे मिल गई? इन्हें किन कर्मों का फल मिला? मौलवी जी!"

'हूरें कोई बहिश्त का मज़ा लेने के लिये थोड़ा ही पैदा की हैं। वे तो इन्सानों के लिये बनाई गई हैं।"

"ठीक! मनुष्यों को उन से आनन्द मिलेगा और मनुष्यों से उन्हें नहीं। और बहिश्त में दुःख तो आप मानते ही नहीं। फिर उन्हें सुख न मिलेगा तो और क्या मिलेगा? ठीक है! अच्छा तो बतलाइये यह सुख उन्हें किन कर्मों का फल मिला?"

"यह भी ऐसे ही मिल गया"।

"यह भी ऐसे ही मिल गया और वह भी ऐसे ही मिल गया। सब कुछ ऐसे ही मिल गया। सब कुछ ऐसे ही मिल जाता है? ऐसा अन्धेर खाता है? तब तो क्षमा कीजिये, रखिये अपने फूल को, हमें भी सब कुछ ऐसे ही मिल जावेगा।

भोले भाई? कुछ सोचो और विचार करो, क्या उस राजा को राजा कहा जा सकता है जो अपनी शक्ति का गर्व दिखलाने के लिये दीन प्रजा का रुधिर बहाता हो? वह नेता ही क्या जो किसी नैतिक लक्ष्य की सिद्धि के लिये सत्यता के कण्ठ पर कृपाण फेर दे। क्या उसे परमात्मा कहोगे जो एक मात्र

इसलिये कि मैं यह कर सकता हूं, या लोग मुझे मानें, निरपराध अनेक प्राणियों को पैदा कर, किसी को कोढ़ी, किसी को अङ्गहीन, किसी को निर्धन और किसी को सन्तान रहित बनाता हुआ दुःख सागर में डालता है। और फिर तुर्रा यह कि मैं रक्षक हूं, दयालु हूं, न्यायकारी हूं। बलिहारी ऐसे न्याय पर?।

"ज्ञानी जी महाराज! आप तो बहुत तैश में आगये। आप भी तो आख़िर दुनियां की पैदायश ख़ुदा से ही मानते हैं, भला आप से ही कोई ये सब सवाल कर दे तो आप क्या जवाब देंगे?"

"मित्रवर! मैं अप्रसन्न नहीं हुआ, परन्तु आप लोगों का खींचा हुआ न्यायकारी, दयालु प्रभु का ऐसा घृणित चित्र देख कर चित्त को खेद अवश्य हुआ है। आप क्या उत्तर देंगे? अरे भाई हमारा तो छोटा सा बच्चा भी इस का उत्तर दे सकता है। कठिनाई आप लोगों को है जो तर्क की रंग भूमि से कोसों दूर भागते रहे हैं, धर्म में तर्क के प्रवेश को महापाप समझते रहे हैं। हमारे यहां तो सदा से ही धर्म के तत्त्वों को तर्क की तुला पर तोला जाता है। जीव प्रकृति और ब्रह्म अनादि हैं, जीव अनादि काल से शुभ-अशुभ कर्म करते चले आते हैं। परमात्मा उन के कर्मानुसार प्रकृति से जगत् का निर्माण करते हैं, जीवों को शरीर आदि की प्राप्ति उन के कर्मानुसार ही है।

"हैं! क्या रूह भी क़दीम से है? तोबास तफ़गार! और माद्दा भी? सुबहानअल्ला! तो फिर ख़ुदा ने क्या बनाया—ख़ाक?"

"जी हां ख़ाक भी। और जीवों के जैसे कर्म थे, उनका जैसा फल होना था, प्रकृति को वैसे ही सांचे में ढाल दिया। यह ही परमात्मा का काम है और इसी का नाम न्याय है।"

"ज्ञानी बाबा क्या कहते हो! यों तो ख़ुदा रूह के फ़ेल का मोहताज हो गया। भला फिर आज़ाद कहां रहा?"

"अच्छा तो फिर हूरें, खजूरें, लड़के और शराब हमें भी मिलेंगे?"

"वाह तुम को क्यों मिलेंगे? तुम कोई ख़ुदा और हज़रत मुहम्मद साहब पर ईमान लाये हो? या तुमने कभी कलमा पढ़ा है?"

"अरे भाई परमेश्वर को तो हम भी मानते हैं। यह ठीक है कि आपके ख़ुदा को नहीं मानते। अच्छा तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि हमने ये शुभ कर्म नहीं किये इसलिये हमें बहिश्त न मिलेगी?"

"जी हां, बिना इस्लाम कबूल किये ख़ुदा ये सब चीज़ें नहीं दे सकता।"

"अर्थात् परमात्मा जीवों के कर्मों का फल बहिश्त देता है। दूसरे शब्दों में वह कर्मों के आधीन है स्वतन्त्र नहीं।"

"जादू वह जो सिर पर चढ़ कर बोले"

"हैं! मोहताज तब नहीं, ज़रा ठहरिये।"

"अच्छा तब न सही, अब तो होगया। घबराइये मत, अभी बहुत कुछ होना है। अच्छा कहिये क्या कहना चाहते हैं?।"

"यही, कि ख़ुदा दुनिया के बनाने में किसी का मोहताज नहीं। बहिश्त या दोज़ख़ के देने में रूहों के फेल का मोहताज है।"

"यह क्या खिचड़ी पकाते हो मौलवी जी? अभी स्वाधीन और कभी पराधीन? एक ही के दो विरुद्ध स्वभाव? आपने ईश्वर की पराधीनता के भयसे ही सृष्टि-रचना के समय बेचारे न्याय को गल हत्थी दे बहिष्कार कर दिया था। परन्तु अब तो आपके भाग्य से परमात्मा पराधीन हो ही गया। अब संसार के भेद की आधार-शिला भी कर्मों के भेद पर ही रखिये। इसी में भला है। अच्छा यह बतलाईये कि ६—७ मासकी अवस्था में ही जो मुसलमानों के अनेक बालक मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं उन्हें परलोक में क्या मिलेगा बहिश्त या दोज़ख़?। उन्हें अभी तक न तो ख़ुदा और हज़रत महोदय का ज्ञान ही था, और न वे अभी क़लमा ही पढ़ सके थे, अतः बहिश्त के पुरस्कार से तो वञ्चित ही रहे। कोई पाप भी अभी तक उन्हों ने ज्ञान पूर्वक नहीं किया था, अतः दोज़ख़ के गड्ढे में भी ढकेले नहीं जासक्ते। कहिये इनके लिये कोई तीसरा मध्यस्थान है?।"

"नहीं तीसरी जगह तो कोई नहीं"

"श्रीमान्‌जी! आपको अपने घर का भी भली भांति पता नहीं। सुनिये एक युक्ति हम बतलाते हैं। एक ओर बहिश्त है और दूसरी ओर दोज़ख। मध्य में ख़ुदा का तख्त है और इन बालकों को मध्यम फल ही मिलना है। बस ये सीधे ख़ुदा के तख्त पर जा डटेंगे। और पूछेंगे—बतला हमें क्यों उत्पन्न किया था?। इतना शीघ्र उठा लिया कि भविष्य के लिये कुछ कर भी न सके। अब हम कहां जावें?। और कोई स्थान तो उन्हें, न है न मिलेगा। फलतः आनन्द से उसी तख्त पर लेटेंगे। ख़ुदा अपना प्रबन्ध आप करता रहेगा। और भला स्त्रियों को बहिश्त में क्या मिलेगा, श्रीमान् जी? केवल मदिरा और ख़जूरें ही?"

"इसका तो खुदा ने कुछ फ़ैसला ही नहीं किया।"

"करता भी कैसे हज़रत साहब के घर के अभियोगों (मुक़द्दमों) से अवकाश मिलता तब न? मौलवी साहब? क्षमा कीजिये, मेरी समझ में तो इस्लाम किसी अरबी मस्तिष्क की ही उपज है, परमात्मा का ज्ञान नहीं। क्योंकि जिसे जिसमें आनन्द है वह औरों को भी वैसा ही उपदेश करता है। परमात्मा यदि हूरों से ही आनन्द समझता तो अपने लिये भी लाख दो लाख हूरें बना रखता। परन्तु वह स्वयं इन सब झगड़ों से दूर रहता हुआ ही आनन्द में है। अतः यदि परमात्मा का उपदेश होता तो वह जीवों को काम वासनाओं से दूर होने में आनन्द बतलाता, न कि अधिक कामी बनाने का यत्न करता। हां, इस्लाम के जन्मकाल में अरब में मनमानी स्त्रियें भोगने की प्रथा थी। अपने मन की उन भावनाओं के अनुसार ही उन्होंने अपने बहिश्त की भी अल्पना करली, उनका भी कोई दोष नहीं है—

जिसकी बनी भावना जैसी, हरि सम्पति देखी तिस तैसी।

भाई! मुझे तो संशय होजाता है, कि यह बहिश्त का दृश्य देख रहा हूं या चकले का। क्या इसी फूल के लिये आप मुझे निमन्त्रण दे रहे हैं?। क्षमा कीजिये।

विषय भोग दुर्गन्धि अरु मद्य, हीन-रस मूल।
हमको यह नहीं चाहिये, मित्र तुम्हारा फूल॥

अच्छा अब आपके बहिश्त को छोड़ देते हैं। जीवात्मा और प्रकृति को अनादि सुन कर आप बड़े आश्चर्य्य चकित हुए थे। कहिये आप जीवात्मा को किस रूप में मानते हैं?।

"हम रूहों की पैदाइश ख़ुदा से मानते हैं। रूह जिस्म से अलग चीज़ है। इससे पहले न उसे कोई जिस्म मिला था और न उसकी हस्ती उसके बनने से पहले थी। यहां उसे जो कुछ मिलता है खुदा ने पहले ही उसकी तक़दीर में लिख दिया है। अपनी उम्र भोग कर वह इस जिस्म से अलग हो जावेगी। नेक फ़ेल करने वाली इलईन में और बद फ़ेल करने वाली रूहें सिज्जईन में चली जावेंगी।"

'वे क्या होते हैं?"

"इलईन और सिज्जईन आसमान में दो सूराख़ हैं।"

"हैं ! आकाश में छिद्र ? आकाश भी कोई पृथिवी की भांति ठोस घन वस्तु है क्या ?"

"भाई ज्ञानी जी ? आप हर जगह दलील बाज़ी शुरू कर देते हैं, हमारी बात तो पूरी हो लेनें दें। भला जब आसमान पर ख़ुदावन्दकरीम का तख्त बिछाया जा सक्ता है, तो क्या सूराख़ नहीं होसक्ते ? ।"

"हां ठीक है, हम भूल गये थे, यहां तो आवा ही बिगड़ा हुआ है। अच्छा आगे कहिये कहानी।"

"फिर ये वहां तब तक रहेंगी जब तक यह दुनियां रहेगी। इसके बाद वे क़यामत होते ही कबरों में दबे अपने जिस्म के साथ उठ कर अल्लाहताला के दरबार में पेश होजावेंगी। और उन्हें उनके नेक व बद फ़ेलों नतीज़ा बहिश्त व दोज़ख़ मिलेगा। इसके बाद वे वहां लाइन्तहा वक्त तक रहेंगी, न फना होंगी और न लौट कर आवेंगी।"

"ये सब बहिश्त या दोज़ख में कलमा पढ़ा करेंगे या नहीं ? ।"

"यह आप क्यों पूछते हैं।"

"इसलिये कि क़लमा न पढेंगे तो मुसलमान न रहे। और क़लमा पढेंगे तो किस लिये ? जो कुछ मिलना था सो तो मिल ही चुका। अब तो सदा यहां ही रहना है। खुदा भी चाहे तो निकाल नहीं सकता।"

"अच्छा आप ही बतलाइये आप के मुक्त लोग मुक्ति में सन्ध्या किया करेंगे या नहीं ? ।"

हमारे यहां तो मुक्ति में शरीर रहता ही नहीं। आत्मा शुद्ध रह जाता है। उसे प्रतिक्षण के स्वरूप और आनन्द का ही भान हुआ करता है। यह सब सन्ध्याओं की एक महासन्ध्या है। जिह्वा वहां होती नहीं अतः शब्द का उच्चारण हो नहीं सक्ता।

"अच्छा तो हमें भी बहिश्तमें हर वक्त खुदा का ही ख़याल रहा करेगा।"

"ठीक ! ख़ुदा का ध्यान रहा करेगा या हूरों का ? आपको कुछ पता भी है ? एक नहीं सत्तर २ मिलेंगी। और यदि एक दो पल के लिये हाथ पैर जोड़कर इनसे छुट्टी मिली, तो कुछ और भी है। क्योंकि बहिश्त है। आनन्द के बिना तो एक मिनट भी वहां रह नहीं सकते, और आनन्द के साधन आपके सिद्धान्त के अनुसार हूरें हैं, या कुछ और इसी प्रकार का घृणित विषय। ऐसी दशा में वहां न क़लमा होगा, और न खुदा का नाम। दूसरी बात यह कि यहां तो

क़लमा हूरों की लालसा से पढ़ा जाता है, वहां उसके पढ़ने का क्या प्रयोजन ? विना प्रयोजन के तो कोई मूर्ख पुरुष भी किसी काम को नहीं करता। परोपकार में भी अपने प्रयोजन को सामने रक्खा जाता है। अब तो बड़ी कठिनाई में पड़ गये। हूरें तो मिलीं, पर काफ़िर बनना पड़ा। अच्छा आप आगे कहिये, "कच्चे घड़े का क्या ठकोरना।"

"बस मैं कह चुका, आप कीजिये क्या सवाल करते हैं।"

"जीवात्मा किस वस्तु से बनाये गये हैं ?"

"आपके यहां किस चीज़ से बनाये गए हैं ?"

"किसीसे भी नहीं। हम तो जीवात्मा को अनादि अनन्त मानते हैं।"

"आप बड़ी जल्दी पीछा छुड़ा लेते हैं। अच्छा सुनिये, रूह को ख़ुदा नेस्ति से हस्ती में लाया।"

"उत्तर नहीं मिला। आपने कहा—परमात्मा के द्वारा जीवात्मा अभाव से भाव में लाया गया। सार यह कि जीवात्मा पहले नहीं था, परमात्मा ने उसे उत्पन्न कर दिया हमारा प्रश्न है—उसका उपादान (इल्लतेमाद्दी) बतलाइये ?"

"बस, ख़ुदा ने रूहों को हुक्म दिया कि तुम होजाओ; और वे होगई।"

"जीवात्मा तो अभी उत्पन्न हुआ ही नहीं, आज्ञा कैसे दी ? अभाव को भी आज्ञा दी नहीं जासकती, क्योंकि वह कोई वस्तु नहीं है। हां, परमात्मा ने अपने आपको आज्ञा दी हो तो दी हो। परन्तु वह तो स्वयं विद्यमान था, अपने आपको होनेकी आज्ञा क्यों देता ? "तू होजा" किसको कहा, मौलवीजी ?"

"अच्छा इसे जाने दीजिये। अगर हम यह कहें, कि ख़ुदा ने आदम का जिस्म बनाया, और उसमें रूह फूंक दी, और फिर सिलसिला चल पड़ा, तो आप क्या दोष देंगे ?"

"वह क्या वस्तु थी जो ख़ुदा ने फूंक दी। क्या वायु था ? तब तो रूह जड़ हुई। और यदि ख़ुदा ने अपना ही कोई भाग आदम में प्रविष्ट कर दिया, तो और भी आपत्ति। क्योंकि भाग (हिस्से) सावयव (ज़र्रों वाली) वस्तु के हुआ करते है, अतः परमात्मा भी सावयव होगया। और उसमें से कोई भाग निकल गया है, इसलिए न्यूनता भी आनी चाहिये। और सावयव वस्तु उत्पन्न और नष्ट होने वाली होती है, अतः परमात्मा के भी उत्पत्ति विनाश मानने पड़ेंगे। ऐसी दशामें वह सृष्टि कर्ता क्या ? उसके भी किसी कर्त्ता का अन्वेषण करना पड़ेगा।"

"अच्छा तो हम कहेंगे, रूह रब्बी अमर है।"

"आपका भाव यह है, कि जीवात्मा परमात्मा की सम्पत्ति है। सम्पत्ति दो प्रकार की हुआ करती है। एक वह जो सदा से पास हो, और दूसरी कहींसे प्राप्त कीहुई। रूहें यदि परमात्मा के सदा से पास हैं, तो अनादि होगईं, और यदि कहींसे प्राप्त कीं, तो जिससे प्राप्त कीं, वह परमात्मा से भिन्न वस्तु भी सृष्टि के आदि में सिद्ध होगई। और यदि अपने अन्दर से निकली, तो पूर्वकथनानुसार परमात्मा को अनित्य मानना पड़ जावेगा। इसी प्रकार जीवात्मा की उत्पत्ति मानते ही उसका नाश भी मानना पड़ेगा। क्योंकि उत्पन्न होने वाली सब वस्तुएं नष्ट होती देखी जाती हैं। ऐसी अवस्था में तो आप बहिश्त का भी आनन्द न लूट सकेंगे। कहिये और कुछ कहना है?"

"और तो रूह के बारे में हमारे यहां कुछ लिखा ही नहीं, कहें क्या?।

"अच्छा तो यह बतलाइये प्रकृति का उपादान कारण क्या है?"

"नेस्ति।"

"अर्थात् कुछ नहीं? यह कैसा उत्तर? विना उपादानकारण के भी कोई वस्तु उत्पन्न होती है? यदि परमात्मा का यह ही नियम है, तो अब सृष्टिकाल में भी ऐसा ही होना चाहिये। परन्तु यहां तो उपादान के बिना किसी की उत्पत्ति देखी नहीं जाती। नेस्ति का अर्थ तो अभाव होता है और अभाव कोई वस्तु नहीं है।"

"अच्छा ख़ुदा सही।"

"यदि ख़ुदा उपादान है तो उससे कोई चेतन वस्तु उत्पन्न होनी चाहिये, क्योंकि ख़ुदा चेतन है, और प्रत्येक वस्तु जगत् में अपने उपादान के स्वभाव वाली ही उत्पन्न होती देखी जाती है। परन्तु प्रकृति जड़ है चेतन नहीं, और पहले की भांति परमात्मा भी अनित्य मानना पड़ जावेगा। मित्रवर! क्या कहें, आपके फूल के जिस पत्ते को विचार के हाथ से स्पर्श करते हैं वही कुम्हलाकर सूख जाता है। रसिक के फूल को आप निर्गन्ध कहते थे, परन्तु आपके फूल में उस गन्ध को दुर्गन्धि के रूप में पाया। आप भूले हैं जो इसे सुगन्धि का आगार माने बैठे हैं। कड़ाहे में से एक ही चावल देखा जाता है, आपके तो कई सिद्धांतों को परखा, परन्तु "चर्खा ढीला ही मिला"। कहिये आपका अब क्या विचार है? क्योंकि—

पत्ता पत्ता खोल यह, देखा फूल टटोल।
मिला न कुछ देखा इसे, तर्क-तुला पर तोल॥

अतः मैं तो यह ही कहूंगा—

सड़े गले इस फूल को, छोड़ो सोच विचार।
पुष्प चक्रवर्ती सखे! लो मेरा उपहार॥ (इस्लाम)

प्रण ।

[लेखक—"दर्शक"]

[१]

सोमनाथ बटाला आर्य्य-समाज के प्रधान थे। स्थानीय वकीलों में इनका स्थान बहुत उत्कृष्ट था। हज़ारों कमाते और हज़ारों ही खर्च कर देते थे। शास्त्रों का तो उन्हें सुना सुनाया ही ज्ञान था। आर्य्यभाषा के अक्षर पहिचान सकते थे। परन्तु वेग पूर्वक कोई ग्रन्थ अथवा पृष्ठ पढ़लें, यह कठिन था। उर्दू का सत्यार्थ-प्रकाश भी पूरा न पढ़ा था, परन्तु लेक्चर अच्छा देते थे। आर्य्य-समाज के सिद्धान्तों को समझते थे। अनादि-त्रयी, कर्माश्रित-वर्णाश्रम, निराकार-पूजा आदि विषयों पर विवाद करते तो बड़े २ पण्डितों के कान कतरते। व्याख्यान सामाजिक विषयों पर देते। बाल-विवाह का खण्डन करते। विधवाओं की कथा का वर्णन करने लगते, तो जहां अपनी आंखों से करुणा-कण टपकाते, वहां दूसरे भी किसीका नेत्र सूखा न रहने देते। अछूतपना उनके लिये पहेली थी। परमात्मा के बन्दे अस्पृश्य हों, यह उनकी समझ में न आता था। यहां वह शास्त्र की नहीं, आत्मा की सुनते थे। यह मानते हुए भी कि ऋषि मुनियों का पक्ष वही है, जो आर्य्य-समाज का है, वह कह दिया करते थे, कि शास्त्र विरोध भी करें, तो भी अछूत-उद्धार का काम तो होना ही चाहिये। शास्त्र की मुफ्त की अव-हेलना का उदाहरण यहीं मिलता था। ऋषियों का दोष यही था, कि वह सोमनाथ के पक्ष में थे। अस्पृश्यता का नाश, यह उनकी आत्मा की आवाज़ थी। न जाने क्यों—वह इसका श्रेय शास्त्रों को देते सँकुचाते थे।

[२]

आगामी आदित्यवार आर्य्य-समाज में चमारों की शुद्धि होगी—यह समाचार बटाले की गली २ में गूंज गया। शुद्धि क्या होती है, कोई बटाला-वासी न जानता था। जनता को कौतूहल था। पञ्चायत आवेश में थी—तिलक-धारी ब्राह्मण कहते थे, हिन्दु-धर्म भ्रष्ट होने वाला है। सोमनाथ के घर डूमने आते जाते थे। यह उनके हाथ का पानी पीते हैं, यह भी नगर के बच्चे २ को पता था। परंतु वैयक्तिक साहस समझकर उसकी उपेक्षा की जासकती थी। मन्दिर में सर्व-साधारण के सम्मुख उनके हाथ की मिठाई खाना और औरों को खिलाना अक्षम्य धृष्ठता थी। चमारों की शुद्धि होगई, तो चमड़े का काम

कौन करेगा ? यह भी तो हमारी तरह पवित्र होजायेंगे। आर्य्य-समाजी इस जात-पात के आर्थिक रहस्य को नहीं जानते। इस प्रकार की खिचड़ी नगर भर में पक रही थी। मुसलमान सनातनियों का साथ देरहे थे। एक प्रभु-भक्त मुस्लिम जब किसी समाजी से बात करता तो उसके पक्ष को अल्लह का और इसलाम का पक्ष कहता। आर्य्य-समाज के कार्य को सराहता, उसके लिये बरकत मांगता। परन्तु किसी सयाने मुलाने से गोष्ठि होती तो उसकी भी समझ में आजाता कि इस शुद्धि से इस्लाम की हानि है। और नहीं तो आर्य-समाज की जन-शक्ति तो इस संस्कार से बढ़ ही जायगी। यह कुर्आन का खण्डन अधिक करेंगे। अछूत खुदा के बन्दे सही, परन्तु आर्य्यों के बन्दे नहीं बनने चाहियें। उनके साथ मनुष्यों का सा व्यवहार होसकता है, यदि वह मुसलमान होजाएं। काफ़िर रहते हुए यह पशु अच्छे हैं।

[३]

रविवार को आर्य्य-समाजमें जमघट था। न जाने, इतने नाई कहांसे मिले कि सैकड़ों का सिर प्रातःकाल होते २ मूंड गए।

सोमनाथ मारे खुशी के कपड़ों से बाहर होरहे थे। आज उनकी मनोकामना पूरी हुई थी। जब यह सिरमुंडा-समूह वेदी के आगे बिठाया गया, तो सोमनाथ उठे। उन्होंने जनता को सम्बोधन किया। बात २ में आंसू गिराते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि उनके हृदय में पीड़ा है। वह रह रहकर जिगर को थामते और बोलते। हिन्दुओं की गणना में दिन प्रतिदिन बढ़ती कमी का वर्णन किया, भीलनी के बेरों का वर्णन किया, आने वाली आपत्ति का वर्णन किया कि ईसाई इन अछूतों पर आंखें लगाए हुए हैं। वह इन छः करोड़ों को ईसा के गल्ले में भर्ती करेंगे। इतने में एक बछड़ा उनके हाथ में दिया गया। उन्होंने उसे चूमा, गले लगाया और रोये। कहा :—गोमाता के पुत्र ! तुझे इन चमारों के सिपुर्द करता हूं। [एक चमार को बछड़ा देकर] तेरा भविष्य इनके हाथ है। हिन्दुओ ! तुम्हारी इच्छा है, इस बछड़े के साथ यह छुरी भी [छुरी दिखाकर] इन अछूतों के हाथमें दो कि वे इसका गला काटदें। आखिर इनके ईसाई होजाने से तो परिणाम यही होगा। या इन्हें अपने गले लगाओ और हिन्दू रक्खो कि गौमाता का वंश बचे।

इन शब्दों में बिजली का असर था। शहर का एक पञ्च उठा। वह सोम-

नाथ की ओर आया। उसने चमार और बछड़े दोनों को गले लगाया, और कहाः—मेरे जीते यह छुरी मेरी गर्दन पर पड़ सकती है, इस बछिया पर नहीं।

सुनने वालों की आंखें आंसुओं में डबडबा गईं। सब ओर से आवाज़ उठीः—चमार हमारे भाई हैं। हमसे बढ़कर गोरक्षक हैं।

संस्कार का कुछ भाग पूर्व होचुका था। अब थोड़ीसी विधि और हुई। सोमनाथ ने खड़े होकर एक नवयुवक को आगे किया, और उससे वेदमन्त्रों का पाठ कराया। फिर कहाः—ऐसा शुद्ध उच्चारण अपने नगर के किसी ब्राह्मण से तो करा दिखाओ। यह लड़का चमार जाति का है। इस समय गुरुकुल में पढ़ता है। कुलीन ब्राह्मण से इसकी पहिचान क्या? हमें भगवान् दयानन्द ने सिखाया है कि मनुष्य मात्र परमात्मा की प्रजा हैं। सबका अधिकार वेदाध्ययन में समान है। जो वेद पढ़ले और उसका प्रचार करे वह ब्राह्मण है।

सब ओरसे कोलाहल उठाः—भगवान् दयानन्द की जय!
किसीने कहा:—गो रक्षक दयानन्द की जय!
और बोला:—आर्य्य रक्षक दयानन्द की जय!
सोमनाथ बोले:—मनुष्य रक्षक दयानन्द की जय!
उस नव-युवक ने कहा:—वेद-रक्षक दयानन्द की जय!

इस समारोह में एक चमार ने मिठाई बांटी। सबने स्वीकार की, और वहीं उसे खाया। संस्कार सफल हुआ।

[४]

आर्य्य समाज का बहिष्कार होगया। पञ्चायत ने प्रस्ताव पास किया, चमारों और आर्य्यों से एक सा वर्ताव करो। कोई इनका दिया खाओ नहीं, इनके घर जाओ नहीं। हिन्दुओं के कुओं से यह पानी न लेसकें। जो कुएं पहिले चमारों के लिये खुले थे, वह भी अब चमारों तथा आर्य्य समाजियों दोनों के लिये बन्द कर दिये गए।

साधुवाद है आर्यों के उत्साह को। हफ्तों यह बहिष्कार रहा परन्तु यह अपनी आन पर डटे रहे। चमारों के डर जाने का भय था। परन्तु जब सोमनाथ समेत आर्य समाजियों ने—जिन में से कई अच्छे धनाढ्य और प्रतिष्ठित थे, पनिहार का काम अपने ऊपर लिया, आर्यों का प्रेम चमारों और चमारियों के

हृदयों में घर कर गया। बटाला आर्य समाज में उस समय मानों इस भाव का प्रवाह पुनीत भागीरथी का प्रवाह था कि किसी चमार के घर पानी भर के दे आना महापुण्य है। वह दृश्य देखने योग्य होता था जब आर्य समाज का प्रधान तथा मन्त्री और मान्य सभासद नहर से अपने कन्धों पर पानी के घड़े धरे चमारों के मुहल्ले की ओर जा रहे होते थे। धर्म अपने पवित्र तम रूप में विराजमान था। गली २ कूचे २ के लोग कहते थेः—चमार आर्यों के गुरु हैं। परन्तु कौन सा ऐसा हृदय था जो प्रेम रस में सने नव आर्यों की सेवा में रत आर्य समाजियों को पनिहार बना देखता और एक वार आर्य समाज के सिखाए सेवा धर्म पर गद्गद न हो जाता।

[५]

सेठ नन्दकिशोर आर्यसमाजी नहीं। यह वह सज्जन हैं जिन्हों ने शुद्धि के दिन चमार और बछड़े को एक साथ गले लगाया था। इन की गणना भी आर्यों में की गई है। उन पर भी वही संकट है जो आर्यों पर। आग्रह के पक्के हैं। कहते हैं, और बातों में आर्य समाजी बनूं या न बनूं, जिन हाथों से चमार को गले लगाया है, वह टूट जाएं तो टूट जाएं पर चमार उन से न छूटेगा। पनिहारी के काम में यह भी आर्य समाजियों के साथ सम्मिलित होते हैं।

सेठ नन्दकिशोर पर आपत्ति यह आई है कि इन की माता बीमार है। वैद्य ने कह दिया है कि उसे नहर का पानी ठीक नहीं। यह तो कुएं के पानी से अच्छी हो सक्ती हैं। दो तीन दिन टाला है परन्तु रोग बढ़ता जा रहा है। सेठ जी चिन्तित हैं कि क्या करें।

म० सोमनाथ ने परामर्श दिया है कि हार मान लो। पंचायत से क्षमा मांग कर प्रायश्चित्त कर डालो। आर्य समाजियों के सिर की बला आप अपने ऊपर क्यों लेते हैं।

नन्द०—यदि आप की माता ऐसे ही रुग्ण हो जाती तो आप क्या करते?

सोम०—[सोच कर] देखा जाता।

नन्द०—'देखा जाता' एक आर्य समाजी ही कह सक्ता है। आर्य समाज के ऊपर २ के प्रेमी को यह कहते लज्जा आती है।

सोम०—अपना सिर बलिदान किया जा सक्ता है। माता जी को क्यों भेंट चढ़ाओ?

नन्द०—यह विचार तो मुझे भी आता है परन्तु आन कैसे छोड़ूं ? माता जी को अपने से अलग कर दूं ? यह होना भी असंभव है।

सोम०—चलो स्वयं माता जी से पूछें।

नन्दकिशोर डरता हुआ साथ हो लिया। माता जी ने उसे म्लान मुख देख पूछाः—बेटा ! क्या है ? डाक्टर कहता है, मर जाऊंगी ?

नन्द०—नहीं मां ! पानी का झगड़ा है। उधर आप का स्वास्थ्य है, उधर मेरी आन।

माता—डाक्टर से पूछा है कि यदि कुएं का पानी पी लूं तो फिर अमर हो जाऊंगी ? मुझे तो दैव स्फूर्ति हो रही है कि कल प्रातः काल के पीछे मैं न हूंगी।

नन्दकिशोर की आंखों में आंसू आगए।

माता—देखना कहीं मरती मां को लज्जित न करना कि वैद्यों के झांसे में आकर बेटे का प्रण तुड़वा दिया था। बेटा ! प्राण जायें पर प्रण नहिं जाए।

सोमनाथ चकित रह गया। माता जी के पांव पर गिरा। कहा, मैं आर्य समाज पर भूला था। निराश था कि देवियां साथ न देंगी। माता जी ! आप के होते दलितोद्धार भी कठिन नहीं, समाज सुधार भी कठिन नहीं। ऐसी प्रण की पक्की देवियां जो चाहें, कर डालें। खेद है कि आप शुद्धि में न हुईं।

माता—बेटा ! मैं तो एक ही शब्द सीखी हूंः—प्रण। यह मेरा प्राण है और चाहती हूं कि सन्तान का, सात पीढियों का यही प्राण हो। शुद्धि भी प्रण है और समाज भी प्रण। मैं तो यही धर्म नन्दकिशोर को देना चाहती हूं। और यही............आप को।

[गले लगा कर] तू भी नन्दकिशोर है।

सोम—[नन्दकिशोर से, रोकर] भाई ! माता के अन्तिम शब्द हैं। प्रभो ! अक्षर २ सत्य हो।

नन्दकिशोर ने सिर झुका दिया। और गंभीर हो गया।

माता गंभीर हो गई। उसके मुख पर गहराई आगई। प्रतीत होता था कि अब उसका चलाऊ संसार से संबन्ध नहीं रहा। वह एक 'प्रण' है जो पूरा हो चुका है। इस अवस्था में किसी को बोलने का साहस न था। घंटों सन्नाटा रहा जिसकी मूक ध्वनि थी 'प्रण'।

झोली।

बन्दर और मनुष्य—

बाइबिल में संसार और मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में जो सिद्धान्त दिये हैं, वे आज विज्ञान की टक्कर के सामने नहीं ठहर सकते। वर्त्तमान समय में डार्विन की थ्यूरी भी आजकल के प्रचलित विवादास्पद विषयों में से एक है। मनुष्य यह कभी नहीं सहन कर सकता, कि उसके पूर्वज बन्दर थे, और वह धीरे २ उन्नति करता हुआ इस अवस्था को पहुंचा है। एक बार ऐच. पी. ब्लैवेट्स्की ने डार्विन के इस सिद्धान्त के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी, किन्तु उस समय चूंकि वह सिद्धान्त अपनी ऊंचाई पर था, इसलिये उसकी आवाज़ नक्कार-खाने में तूती की आवाज़ के समान दब गई। परन्तु आज वह समय नहीं है। अभी लण्डन की यूनिवर्सिटी में प्रोफ़ैसर वुडजोन्स (Wood Jones) ने 'मनुष्य की उत्पत्ति' विषय पर व्याख्यान देते हुए कहा है कि (जैसा कि अभी कुछ काल पूर्व माना जाता था) मनुष्य बन्दर श्रेणी के वंशजों में से नहीं है। परन्तु हम यह कह सकते हैं, कि बन्दर किसी कदर मनुष्य की अवस्था में से होसकता है। मनुष्य इस प्राणि-जगत् में एक प्राचीनतम प्राणी है। उसकी अपेक्षा ओरङ्ग ओटाङ्ग और चिपांजी बिलकुल नवीन माने जासकते हैं। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया में डाक्टर स्टूअर्ट आर्थर स्मिथ ने वेल्स के दक्षिणीय प्रान्तों से सन् १८८९ में प्राप्त एक खोपड़ी द्वारा वैज्ञानिक-संसार का ध्यान इस विषय की ओर खेंचा है। यह माना जासकता है कि बन्दर मनुष्य की अपेक्षा विकास में दूसरे दर्ज़े पर है, किन्तु किसी एक का दूसरे से प्रकृति-विकृति रूप होना सर्वथा ही असम्भव है। वैदिक-सिद्धान्त जन्म-जन्मान्तरों में आत्मा के विकाश-सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, किन्तु पाश्चात्य-विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार नहीं। अन्ततः विकाश का वैदिक-सिद्धान्त ही सर्वमान्य और युक्ति तथा तर्क के अनुकूल ठहरता है।

—दि पैट्रियट

शाक और मांस—

आज कल कहीं २ यह विश्वास बढ़ता चला जाता है, कि शारीरिक-विकास के लिये मांस का सेवन आवश्यक है, किन्तु नीचे के उद्धरण से उन्हें स्पष्ट होजागया, कि यह सिद्धान्त ठीक नहीं है :—

"अब बहुतसे पहलवानों ने नित्य निरामिष भोजन करके जगत् की अनेक

प्रतियोगिता परीक्षाओं में प्रथम स्थान प्राप्त किया है। उदाहरणार्थ २५ और २६ मील की दौड़ में, माएथन दौड़ की बाजी में, बैलजियम की ५००० मोटर की दौड़ में, लैन्डस ऐंड से जान ओ-ग्रोटस तक पैदल चलने में, साइकल पर लगातार २४ घण्टे चढ़कर ४०२ मील की यात्रा में, अंग्रेजों की टेनिस की प्रतियोगिता में (१० बार), कुश्ती में (१० बार) भारी चीज़ उठाने में, तैरने में, पहाड़ पर चढ़ने में जिन्होंने विजय प्राप्त की, वे सब वीर निरामिष भोजन करने वाले हैं। अतएव यह कहना ठीक नहीं, कि शारीरिक बलप्राप्ति के लिये मांस का सेवन आवश्यक है। आत्मिक-बल के विषय में तो मांस का सेवन सर्वथा ही व्यर्थ है। —माधुरी

पर्दा—

गताङ्क में हमने मि. अजीज़ुद्दीन बी. ए. के लेख से यह दर्शाया था कि पर्दा (जिस रूप में कि इसका आज कल प्रचार है) जाति और समाज के लिये बहुत विघातक है। आज कलकत्ता के स्वास्थ्य-विभाग के अध्यक्ष १९२३ की रिपोर्ट लिखते हुए कहते हैं, कि १५ से २० साल तक की बीच की आयु में क्षय रोग से यदि १ बालक की मृत्यु होती है, तो वहां इसी रोगसे ५ बालिकाओं की मृत्यु होती है। संक्षेपतः इसका एकमात्र मूलकारण उनके शब्दों में— "These girls were suffocated behind fhe Purdah." अर्थात् पर्दा ही है। आज इस पर्दे ने एक प्रकार से धर्म का रूप धारण कर लिया है, यह और भी लज्जा-जनक और दुःख की बात है। —मौडर्न रिव्यू

इस्लाम का ह्रास—

एक नव-युवक शेख मुसलमान जिनका नाम मुहम्मद एल अत्तार है, उन्होंने इस्लाम के विषय में एक लघु पुस्तक प्रकाशित की है। पुस्तक का नाम Where is Islam ? अर्थात् इस्लाम कहां है, है। यह महाशय एल अजहर यूनिवर्सिटी में कई वर्षों तक अध्यापक भी रह चुके हैं, और इन्होंने बहुत सी पुस्तकें भी लिखी हैं। इस ३२ पृष्ठ के निबन्ध में इस हमारे मुसलमान भाई के हृदय के मर्मस्पर्शी उद्गार हैं। इनका कहना है कि अब संसार में इस्लाम के पवित्र तथा वास्तविक धर्म का प्रचार नहीं है। वह मक्का-निवासियों को अपील करता है कि "मैंने मक्का में इस्लाम की खोज की, जहां पर कि कुरान की बहुतसी आयतों का इलहाम हुआ था, परन्तु आज उसी मक्का में संसार की सब बुराइयों का अड्डा है। मक्का की इस दशा को देखकर सिवाय दुःख के दो आंसू बहाने

के और क्या किया जासकता है ? आगे वह लिखता है, कि बहुतसे मुसलमान, जो कि हज्ज करने जाते हैं, वे रुपये का व्यर्थ खर्च करते हैं, जो धन की बेईमानी से एकत्र किया होता है। अन्त में वह लिखता है, कि "I searched for Islam throughout the whole world, from east to west and from north to south; nor did I find it. Where shal I find it? Shall I find it among those who are not moslem?" अर्थात् मैंने सारे संसार में इस्लाम की खोज की, परन्तु मुझे कहीं भी इसका प्रचार दृष्टिगोचर नहीं हुआ......इत्यादि। —व्हेयर इज़ इस्लाम

सार्व-भौमिक धर्म—

आज आप किसी भी व्यक्ति से उसके मत के विषय में पूछिये तो वह अन्य सब मतों में त्रुटियां दिखाता हुआ अपने ही मत की पुष्टि करता है। किन्तु क्या यह बात सत्य है ? क्या सभी मत-मतान्तर अच्छे और त्रुटियों से रहित हैं ? डाक्टर जे. टी. सुन्दरलैंड अपनी पुस्तक India, America and World Brotherhood में ईसाई, इस्लाम और हिन्दू मतों की समालोचना करते हुए अन्त में लिखते हैं—आज एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जो दूसरे से ईर्ष्या न रखता हुआ उसके गुणों की प्रशंसा करे। प्रचलित मत-मतान्तरों के लिये सबसे उत्तम बात यह है कि उनके मानने वाले हृदय में साफ़ और परस्पर भ्रातृभाव से वर्तने वाले हों। उत्तम धर्म के प्रचार के लिये तलवार व किसी बाह्य-साधन की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। जब ऐसे धर्म का प्रचार होगा, तो युद्धों का होना असम्भव होजायगा, एक दूसरे के हृदय से घृणा के भाव निकल जावेंगे, शत्रुताएं दूर होजावेंगी, प्राणी प्राणीमात्र के साथ एक दिल, एक मन होकर विचरण करेंगे। तभी संसार में शान्ति और सुख का राज्य होजावेगा। "मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्ष्यन्ताम्।" —मौडर्न रिव्यू

साहित्य-समीक्षा।

आदर्श पति—लेखक म० सन्तराम बी. ए.; प्रकाशक म० राजपाल, अध्यक्ष सरस्वती आश्रम लाहौर। मूल्य ॥)

पुस्तक का विषय जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, गृहस्थ में पति को अपनी स्त्री के साथ किस प्रकार वर्ताव करना चाहिये, है। इसमें क्रमशः साधारण स्वभाव, व्यक्तिगत सम्बन्ध, डाह, आमदनी, गृहस्थी की बातें, मनोरञ्जन,

स्वास्थ्य, सन्तान, गार्हस्थ्य सूत्र इन नौ विषयों पर प्रकाश डाला गया है। हमने इस पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ा जिससे स्पष्ट मालूम होता है कि गृहस्थी में कोई भी बात ऐसी नहीं रह गई जिसका वर्णन लेखक ने पुस्तक में न कर दिया हो। विषयानुसारी वर्णन तो शायद किन्हीं अन्य पुस्तकों में भी मिल सके किन्तु जिस मधुर ढंग से इस पुस्तक में वर्णन किया गया है, हम दावे से कह सकते हैं कि वह कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकता। लेखक ने पति पत्नी के परस्पर सम्बन्ध की छोटी २ बातों को इस ढंग से पुस्तक में दर्शाया है कि यदि कोई पति उन पर आचरण करे तो उस का गृहस्थ सचमुच स्वर्गधाम बन सकता है। आप पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ जाइये बातें साधारण ही मालूम होती हैं किन्तु उनका ज्ञान शायद् किसी विरले को हीं होगा। वस्तुतः लेखक ने यह पुस्तक लिख कर जनता का बहुत ही उपकार किया है। आज कल ऐसी पुस्तकों की बहुत ही आवश्यकता है। दिल चाहता है कि विषय को एक २ करके आपके सामने रख दें किन्तु शोक! कि स्थानाभाव हमें इसके लिये आज्ञा नहीं देता। इसलिये हम अपने पाठकों से आग्रह करेंगे कि वे अवश्य इस अमूल्य पुस्तक को अपने पास मंगा कर पढ़ें और औरों को सुनावें। पुस्तक का एक २ शब्द दिल में स्वयं स्थान करता चला जाता है। भाषा बहुत ही सुन्दर और सरल है। नव विवाहितों और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले नवयुवकों के लिये तो यह एक अमूल्य रत्न है। वे इसे पढ़ें और अवश्य पढ़ें यही हमारा उनसे सानुरोध निवेदन है। पुस्तक की छपाई, जिल्द और [Get up] बहुत ही सुन्दर है। मुख पृष्ठ पर आदर्श पति मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और लक्ष्मण की तीन रंग का ब्लौक पुस्तक की शोभा को और भी बढ़ा देता है। हम ऐसी पुस्तक के प्रकाशन के लिये लेखक और साथ ही साथ प्रकाशक को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते।

सम्पादकीय।

पण्डित चमूपति जी अफ्रीका को—

विदेश में वैदिक-धर्म के प्रचार की आवश्यकता को जितना ही पूर्ण करने के लिये यत्न किया जाता था, वह उतनी ही बढ़ती चली जाती थी। समय समय पर कई महानुभाव वहां गए, और उन्होंने अपनी शक्ति के अनुसार सन्तोषजनक

काम किया। अभी पिछले वर्ष गुरुकुल विश्व-विद्यालय के आचार्य्य श्री प्रो० रामदेवजी इसी कार्य्य के लिये वहां गए थे। उनके नाम तथा काम से आर्य्य-जगत् अपरिचित नहीं है। अब उसीको अनुभव करके आर्य्य-प्रतिनिधि सभा पञ्जाब ने दयानन्द सेवा-सदन के सदस्य श्री पं० चमूपतिजी सम्पादक 'आर्य्य' को यहां भेजा है। वहां आप जहां एक ओर वैदिक-धर्म का प्रचार करेंगे, वहां दूसरी ओर एक गुरुकुल की भी स्थापना करेंगे। पण्डितजी की लगन, योग्यता, उत्साह तथा सौम्यस्वभाव आदि गुणों को देखकर हम कह सकते हैं, कि आप महर्षि के सन्देश को वहां फैलाने में अवश्य कृतकार्य्य होंगे।

सत्यार्थप्रकाश की ज़ब्ती—

हमने अपने ज्येष्ठ मास के अङ्क में आर्य पुरुषों से निवेदन किया था कि अब्दुलगफूर धर्मपाल अपने आप को सर्व साधारण के सामने लाने और पैसे बटोरने की खातिर पंजाब की लैजिस्लेटिव कौंसल में सत्यार्थ प्रकाश के चौदहवें समुल्लास को ज़ब्त कराने के लिये बुरी तरह हाथ पांव मार रहा है। इस विषय का प्रस्ताव मियां अब्दुल अज़ीज़ बैरिस्टर लाहौर कौंसिल में पेश करने वाले थे किन्तु जब उन से इस विषय में पूछा गया तो उन्हों ने कहा कि कोई विचार नहीं है। अब समाचार मिला है, कि मियां साहब ने उपर्युक्त आशय का प्रस्ताव कौंसिल में पेश करने को भेजा, किन्तु गवर्नर ने उसे पेश करने की आज्ञा न दी। अब्दुलगफूर और उसके सहधर्मियों को अब भी कुछ शिक्षा लेनी चाहिये। किसी दूसरे के घर पत्थर फैंकने से पहिले अपने शीश महल का ख्याल कर लेना चाहिये।

न्याय-प्रकाश—

अब्दुल गफूर भला कब चुप बैठने वाला था? और नहीं तो एक किताब 'न्याय-प्रकाश' ही लिख मारी, और जब ख्वाज़ा साहब जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति उसकी डोंडी पीटने वाले तैयार हैं, तो उसके प्रचार में क्या देरी थी? देखते ही देखते सब अखबारों में, व्याख्यानों में एक तूफ़ानसा मच गया। यह पुस्तक है क्या? यह सत्यार्थ-प्रकाश के प्रथम संस्करण का उर्दू रूप है। इसमें आदिम भूमिका का डेढ़ सौ पृष्ठ लिखकर धर्मपाल ने खुद जोड़ दिये हैं, और इसी का मूल्य ३) रखकर बाजार में बेचा जारहा है। इस पुस्तक में यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है, कि सत्यार्थ-प्रकाश का १३ वां २४ वां समुल्लास स्वामी दयानन्द का बनाया हुआ

ही नहीं। सच है "मरता क्या न करता" जब एक तरफ़ से मुंह की खाई, तो दूसरा ही रुख बदल लिया। उद्देश्य तो येन केन प्रकारेण प्रसिद्धि पाना और पैसे बटोरना ही है। किन्तु यदि वह सत्यार्थ प्रकाश में ऋषि के हाथ की लिखी भूमिका को पढ़ लेता तो यह शोर शराबा ही न मचता। ऋषि ने भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि "१३ वें समुल्लास में इसाईयों का मत लिखा है। ये लोग बाइबिल को अपना धर्म पुस्तक मानते हैं। इनका विशेष समाचार उसी १३ वें समुल्लास में देखिये और चौदहवें समुल्लास में मुसल्मानों के मत के विषय में लिखा है। वे लोग कुरान को अपनी मूल पुस्तक मानते हैं। इनका भी विशेष व्यवहार १४ वें समुल्लास में देखिये।" यह भूमिका ऋषि ने उदयपुर में महाराजा जी के स्थान में रहते हुए भाद्रपद शुक्लपक्ष संवत् १९३९ को लिखी है। फिर यह कहना कि स्वामी जी के लिखे १३, १४ समुल्लास नहीं हैं, सफेद झूठ है। अब पाठक स्वयं विचारलें कि इसमें कौन सच्चा और कौन झूठा है। किन्तु इतना हमें सन्तोष है कि जो मुसलमान भाई इस पुस्तक को पढ़ेंगे उन्हें ज़रूर अगले समुल्लासों के पढ़ने को भी दिल करेगा। इसमें हमारे लिये चिन्ता करने की कोई बात नहीं है।

सनातन धर्मी और आर्य समाजी—

इससे अधिक और क्या दुःख की बात हो सकती है कि एक ही सत्य सनातन वैदिक धर्म और एक ही ईश्वरीयज्ञान वेद के मानने वाले सनातनधर्मी और आर्यसमाजी ज़रा ज़रा सी बात पर परस्पर लड़ बैठते हैं। परन्तु यह बात सत्य है इससे इन्कार भी नहीं किया जा सकता। कहीं कहीं तो यह लड़ाई बहुत ही भयंकर रूप धारण कर लेती है। अभी पिछले दिनों जामपुर, डेरागाज़ीखान, रावलपिंडी आदि कुछेक शहरों में जो पारस्परिक दुर्घटनाएं हुई हैं उनको सुन कर तो हमारा सिर शर्म के मारे नीचे झुक जाता है। हम अपने सनातनी भाईयों से पूछते हैं कि क्या उनके पास सिवाय इसके कोई और काम नहीं है? आज समाचार पत्रों को जिधर से उठाकर देखिये आए दिन यही शोर सुनाई देता है कि अमुक जगह से इतनी लड़कियां भगाई गईं, इतने लड़के भगा लिये गए, इतनी कन्याओं का सतीत्व नष्ट कर दिया गया, इतने मन्दिर लूट लिये गए,⋯ ⋯इत्यादि। परन्तु शोक! हिन्दू जाति को आज अपने ही सच्चे दोस्त शुभचिन्तकों से लड़ने से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती। कोई एक जगह हो तो हम उसका उल्लेख भी करें। अब तो दिन प्रतिदिन ज्यों ज्यों दवा की जा रही है यह मर्ज़ बढ़ता ही चला जा रहा है सच

है हिन्दू जाति को अभी और बुरे दिन देखने हैं। भला इससे अधिक और कौन सी भोली जाति दुनियां के तख्ते पर हो सकती है जो अपने ही भक्षकों को रक्षक और अपने ही मित्रों को शत्रु समझे बैठी है ?। ख्वाजा हसन निज़ामी एक ओर मन्दिरों को लुटवाते हैं और लूटने वालों को शाबास देते हैं किन्तु दूसरी ओर आप पटना में जाकर और वहां के हिन्दू महन्तों को सत्यार्थ प्रकाश और आर्य समाज के विरुद्ध भड़काते हैं। बस ! अब क्या देर है ? ख्वाजा साहिब के चरणों में रुपया पानी की तरह बहा दिया जाता है और उनकी सवारी निकाली जाती है। सनातन धर्म के वर्तमान स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए एक सनातनी पंडित ने ठीक ही लिखा है—"......यहां सनातन धर्म पर वह पक्षाघात पड़ा है कि अंग कटते रहते हैं और खबर नहीं होती। जो कर्णधार हैं वे अपनी लट्टु-पट्टु संभालने में लगे हुए हैं। कोई गद्दी बनाए बठा है तो कोई खि़ताब लटकाए भिक्षा मांगने की नित नई चाल सोच रहा है, और उन में से अधिकतर उदासीन बने हुए दुर्दशा की ईश्वरता का अनुचित अभिमान कर रहे हैं। व्यक्तिगत रूप से हिन्दू धर्म में सब कुछ है किन्तु अपने धर्म की रक्षा के लिये उन्होंने अभी कोई उत्तम संगठन नहीं किया है।" हम तो इतना ही कहेंगे कि हिन्दु जाति ! तू अब भी चेत और अपने शत्रु और मित्र की पहिचान कर। नहीं तो यह तेरा भोलापन एक दिन तुझे सदा के लिये सुला जायगा।

शोक समाचार—

हमें यह सुनकर बहुत दुःख हुआ है; कि सभा के भजनोपदेशक म० केसरचन्द की धर्मपत्नी श्रीमती धनदेवी का देहान्त होगया है। हमें महाशयजी तथा उनके दुःखित परिवार के साथ हार्दिक सहानुभूति है।

आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, लाहौर।

उपदेशक परीक्षा के नियम।

(१) यह परीक्षाएं ४ प्रकार की होंगी :—

१—सिद्धान्त विशारद, २—सिद्धान्त भूषण, ३—सिद्धान्त शिरोमणि, ४—सिद्धान्त वाचस्पति। यदि सभा के आधीन कार्य करेंगे तो क्रमानुसार प्रचारक उपदेशक, महोपदेशक, महामहोपदेशक कहलावेंगे। इन परीक्षाओं के उत्तीर्ण किये बिना भी सभा इतर योग्यता, व्याख्यान शैली, धर्म-प्रेम, सिद्धान्त-ज्ञान आदि को देख कर 'प्रचारक', 'उपदेशक' आदि की पदवी दे

(क्षुरकर्मादिसंस्कृतस्य प्राग्वंशप्रवेशाभिधानम्)

उभयोः । लोकयोः । अभिजित्या इत्यभि-जित्यै । केश-श्मश्र्विति केश-श्मश्रु । वपते । नखानि । नीति । कृन्तते । मृता । वै । एषा । त्वक् । अमेध्या । यत् । केशश्मश्र्विति केश-श्मश्रु । मृताम् । एव । त्वचम् । अमेध्याम् । अपहत्येत्यप-हत्य । यज्ञियः । भूत्वा । मेधम् । उपेति । एति । अङ्गिरसः । सुवर्गमिति सुवः-गम् । लोकम् । यन्तः । अप्स्वित्यप्-सु । दीक्षातपसी इति दीक्षा-तपसी । प्रेति । अवेशयन् । अप्स्वित्यप्-सु । स्नाति । साक्षादिति स-अक्षात् । एव । दीक्षातपसी इति दीक्षा-तपसी । अवेति । रुन्धे । तीर्थे । स्नाति । तीर्थे । हि । ते । ताम् । प्रेति । अवेशयन् । तीर्थे । स्नाति (२) । तीर्थम् । एव । समानानाम् । भवति । अपः । अश्नाति । अन्तरतः । एव । मेध्यः । भवति । वाससा । दीक्षयति । सौम्यम् । वै । क्षौमम् । देवतया । सोमम् । एषः । देवताम् । उपेति । एति । यः । दीक्षते । सोमस्य । तनूः । असि । तनुवम् । मे । पाहि । इति । आह । स्वाम् । एव । देवताम् । उपेति । एति । अथो इति । आशिषमित्या-शिषम् । एव । एताम् । एति । शास्ते । अग्नेः । तूषाधानमिति तूष-आधानम् । वायोः । वातपानमिति वात-पानम् । पितृणाम् । नीविः । ओषधीनाम् । प्रघात इति प्र-घातः (३) ।

आदित्यानाम् । प्राचीनतान इति प्राचीन—तानः । विश्वेषाम् । देवानाम् । ओतुः । नक्षत्राणाम् । अतीकाशाः। तत् । वै । एतत् । सर्वदेवत्यमिति सर्व—देवत्यम् । यत् । वासः । यत् । वाससा । दीक्षयति । सर्वाभिः । एव । एनम् । देवताभिः । दीक्षयति । बहिःप्राण इति बहिः—प्राणः । वै । मनुष्यः । तस्य । अशनम् । प्राण इति प्र—अनः । अश्नाति । सप्राण इति स—प्राणः । एव । दीक्षते । आशितः । भवति । यावान् । एव । अस्य । प्राण इति प्र—अनः । तेन । सह । मेधम् । उपेति । एति । घृतम् । देवानाम् । मस्तु । पितृणाम् । निष्पक्कमिति निः—पक्कम् । मनुष्याणाम् । तत् । वै (४) । एतत् । सर्वदेवत्यमिति सर्व—देवत्यम् । यत् । नवनीतमिति नव—नीतम् । यत् । नवनीतेनेति नव—नीतेन । अभ्यङ्क्त इत्यभि—अङ्क्ते । सर्वाः । एव । देवताः । प्रीणाति । प्रच्युत इति प्र—च्युतः । वै । एषः । अस्मात् । लोकात् । अगतः । देवलोकमिति देव—लोकम् । यः । दीक्षितः । अन्तरा । इव । नवनीतमिति नव—नीतम् । तस्मात् । नवनीतेनेति नव—नीतेन । अभीति । अङ्क्ते । अनुलोममित्यनु—लोमम् । यजुषा । व्यावृत्त्या इति वि—आवृत्त्यै। इन्द्रः । वृत्रम् । अहन् । तस्य । कनीनिका । परेति ।

सकती है। किन्तु वह उपरोक्त उपाधि अपने नाम के साथ न लगा सकेंगे।

(२) सभा जिस किसी को उचित समझे,आरम्भ में 'परीक्षा' दिये बिना ले सकती है। परन्तु तब तक वे स्थिर न समझें जावेंगे जब तक कि वे कोई परीक्षा पास न करलें।

(३) वेतन निम्न प्रकार होंगे :—
सिद्धान्त विशारद ३१) से ५०) मासिक सिद्धान्त भूषण ५१) से ७५) सिद्धान्त शिरोमणि ७६ से १००) और सिद्धान्त वाचस्पति१०१)से१५० यदि कोई स्वयं न्यून वेतन लेना चाहे तो उसकी इच्छा है। परन्तु उपाधि वही रहेगी।

(४) सिद्धान्त विशारद और सिद्धान्त भूषण परीक्षाओं का माध्यम आर्य भाषा होगा

(५) सिद्धान्त शिरोमणि परीक्षा में आर्य भाषा-निबन्ध को छोड़कर अन्य पत्र संस्कृत में होंगे, सिद्धान्त वाचस्पति परीक्षा में सब पत्र संस्कृत में होंगे।

(६) प्रत्येक पत्र के लिए समय ३ घण्टा होगा, पूर्णाङ्क १०० होंगे, और उत्तीर्णाङ्क ४० प्रतिशतक होंगे।

(७) सिद्धान्त शिरोमणि का आर्यभाषा मौलिक निबन्ध और सिद्धान्त वाचस्पति के संस्कृत निबन्ध परीक्षा स्थान में न लिखने पड़ेंगे, अपितु घर से लिखकर लाए जायेंगे, जो कि किसी ग्रंथ से उद्धृत न हों।

(८) परीक्षा प्रति वर्ष फाल्गुन मास के अन्तिम सप्ताह में जो सोमवार को आरम्भ होगा, हुआ करेगी। परीक्षा का स्थान गुरुदत्त भवन लाहौर होगा। यदि विद्यालय उचित समझे तो अन्यत्र भी परीक्षा ली जा सकेगी।

(९) परीक्षार्थी जिस पत्र में अनुत्तीर्ण रहेगा वह द्वितीय वर्ष केवल उसी पत्र में परीक्षा दे सकेगा। केवल एक विषय में अनुत्तीर्ण परीक्षार्थी ३ मास के पश्चात् पुनः परीक्षा दे सकेगा। यदि फिर भी अनुत्तीर्ण रहे तो फिर वार्षिक परीक्षा में ही बैठ सकेगा।

(१०) सिद्धान्त शिरोमणि व सिद्धान्त वाचस्पति परीक्षायें खण्ड २ भी दी जा सकती हैं। परन्तु उपाधि उसी समय मिलेगी, जब सारी परीक्षा उत्तीर्ण कर ली जाय।

(११) सिद्धान्त वाचस्पति परीक्षा में वही परीक्षार्थी बैठ सकेगा, जो सिद्धान्त शिरोमणि उत्तीर्ण कर चुका हो। किसी प्रतिष्ठित संस्था से जिस पुस्तक की परीक्षा कोई विद्यार्थी उत्तीर्ण कर चुका होगा, उसे उस पुस्तक की शिरोमणि परीक्षा से मुक्त कर दिया जावेगा।

(१२) प्रार्थना पत्र परीक्षा से दो मास पूर्व मंत्री आर्य प्रतिनिधिसभा पंजाब के पास पहुंच जाने चाहियें।

(१३) इन परीक्षाओं का प्रबन्ध दयानन्द उपदेशक विद्यालय के आधीन होगा।

सकती ... ।

(२) सभा ... है।

परन्तु ... लें।

(३) वेत...

विषय सूची ।

पृष्ठ

"आर्य्य" के नियम ।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है । (डाक ...ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है) ।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है । सभा ने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है ।

३—इस पत्र में धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभा की सूचनाएं दर्ज होती हैं ।

४—पत्र में प्रकाशित होने के लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख़ के पूर्व आजाने चाहियें ।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के भीतर ... भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात्

(१२) प्रार्थना ... के पास पहुंच जाने चाहियें ।

(१३) इन परीक्षाओं का प्रबन्ध दयानन्द उपदेशक विद्यालय के आधीन होगा ।

* ओ३म् *

आर्य्य

भाग ६] लाहौर—भाद्रपद १९८२ सितम्बर १९२५ [अंक ४
[दयानन्दाब्द १०१]

विक्षुब्ध

(ले०---पं० चमूपति जी "सम्पादक आर्य" अफ्रीका)

तू क्यों है विक्षुब्ध ? हृदय !

शान्त सिन्धु है, शान्त पवन है। निर्मल निश्चल शान्त गगन है।
विमल दिशाओंकी चितवन है। देख तुझे होता विस्मय। तू क्यों ? ॥१॥

मस्त मछलियां उड़ने वाली। फिरतीं इधर उधर मतवाली।
अपनी उछल कूदकी जाली। उड़ीं! उड़ीं!! गिर रहीं अभय। तू क्यों ?॥२॥

तुझे स्मरण किसका आता है ? किसे ढूंढता, नहिं पाता है।
कौन झांककर छिप जाता है ? मुस्काता हा! हा!! निर्दय। तू क्यों ? ॥३॥
शान्ति कहां ? माया है, छल है। सजा शून्य सा देवस्थल है।
सूनी निश्चलता चञ्चल है। दीखो देव! सुनूं जय! जय!! तू क्यों ? ॥४॥

कारागोला २८ जुलाई १९२५,

यह कविता भारत से अफ्रीका जाते हुए मार्ग में समुद्र के वक्ष स्थल पर लिखी गई है। "उपसम्पादक"

यम-यमी सूक्तपर नया विचार।

(ले०—पं० जयदेव जी शर्मा विद्यालङ्कार, सम्पादक आर्य्य-जीवन कलकत्ता)

कुछ एक दिनों से आर्य्य साहित्य-संसार में यम-यमी सूक्त पर बहुत चर्चा छिड़ी हुई है। सबसे प्रथम इस.ी चर्चा पण्डित गुरुदत्तजी ने अपने वैदिक मैग़ज़ीन में की थी। पर वहां केवल पादरी टी० विलसन की समालोचना में प्रत्युत्तरमात्र लिखा था। वर्त्तमान में पं० चमूपतिजी ने "आर्य्य" (लाहौर) पत्र में यम-यमी सूक्त पर एक खोजपूर्ण लेख लिखा। जिस में समस्त सूक्त की व्याख्या स्वतन्त्र नियोगपरक करने का प्रयत्न किया है। परन्तु उसमें परिश्रम के अनुसार फल प्राप्त नहीं हुआ। उन्होंने कतिपय शब्दों के अर्थ करनेमें बहुत खचा-तानी की, जिससे वैदिक-अनुशीलकों को वह व्याख्या रुचिकर नहीं हुई। उसके विरुद्ध प्रथम आवाज़ पं० सातवलेकरजी ने अपने "वैदिक-धर्म" में की। वह आलोचना अपने पक्ष में पर्याप्त पुष्ट थी। परन्तु पूर्व लेखक ने अपने प्रतिवाद का प्रत्युत्तर भी योग्यता से लिखकर "आर्य्य" पत्र में दिया; और कुछ एक नवीन प्रमाण भी उद्धृत करके अपने पक्ष को स्पष्ट कर दिया। तो भी उनकी व्याख्या में से वह दोष नहीं गये। विश्वविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी के योग्य स्नातक पं० चन्द्रमणिजी विद्यालङ्कार ने पं० चमूपतिजी एम. ए. के दोनों लेखों की आलोचना करते हुए एक अच्छा अनुशीलन-पूर्ण लेख वहांसे निकलने वाले मासिक "अलङ्कार" में प्रकाशित कराया। हमने समस्त लेख साद्यन्त पढ़ा, परन्तु उसमें भी वह मनोरथ सिद्ध न हुआ, जो आर्य्य-विद्वानों की लेखनी से होना चाहिये था। आपने भी अपनी स्थापना में अद्भुत २ विचारों को स्थान देकर उनके अनुसार ऋषि दयानन्द के लेख की मरम्मत करने की कोशिश की। परन्तु उनका यत्न भी केवल सीधी रेखा के दोनों छोर मिलाने के यत्न की तरह व्यर्थ ही सिद्ध हुआ।

ऋषि दयानन्द के मन्तव्य के अनुसार यम-यमी सूक्त में "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" यह मन्त्रांश पुत्रोत्पत्ति करने में असमर्थ पति का अपनी समर्थ पत्नी के प्रति 'नियोग'परक वाक्य है। इसके विरुद्ध पं० चन्द्रमणिजी ने अपने पुराने अभिभावक भाष्यकारों के अनुसार इस सूक्त को भाई बहन का संवाद ही माना।

आपकी स्थापना है कि—

(१) यम-यमी सूक्त भाई बहन के बीच संवाद है, और महर्षि दयानन्द उनके पक्ष का पोषण करते हैं।

(२) वे दोनों सहजात भाई बहिन नहीं, पर सगोत्र भाई बहन हैं।

(३) यम पूर्ण संन्यासी है।

(४) नियोग पक्ष में यमी का पति जीवित है, परन्तु निःसन्तान है। यम भी अपनी पत्नी से निःसन्तान है, परन्तु यमी उससे नियोग करना चाहती है, वह यम उसको प्रत्याख्यान करता है।

इन स्थापनाओं को देखकर हमें बहुत हंसी आती है। क्योंकि ये स्थापना ही परस्पर विरोधी हैं।

(१) वे सगोत्र भाई बहन हैं, और नियोग चाहते हैं। दूसरा यम पूर्ण सन्यासी है। यदि यम संन्यासी है, तो फिर सन्तान की अभिलाषा कैसी, और नियोग कैसा?

(२) क्या सगोत्र भाई बहिन होना, यमी को नियोग के लिये सङ्कोच नहीं पैदा करेगा। प्रथम तो सगोत्रता, द्वितीय उसका संन्यासीपन, ये दोनों ही यमी को अपनी काम-वासना परित्याग करने के पर्याप्त कारण थे। यदि उसपर भी उसने प्रस्ताव कर ही दिया, तो ऋषि यमी और देवी यमी दोनों पद उसकी इस स्थिति के अनुरूप नहीं। पौराणिकों पर जो दोष हम दिया करते हैं कि उन्होंने पूर्वजोंपर ऐसी २ कथाएं गढ़कर कलङ्क लगाया, वही दोष आपपर भी लग रहा है।

इतने पर भी आप ऋषि दयानन्द को अपने पक्ष में मानते हैं, सो आश्चर्य है। ऋषि लिखते हैं:—

"जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवें, कि—अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्। हे सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री! तू (मत्) तुझसे (अन्यं) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर। क्योंकि अब मुझसे सन्तानोत्पत्ति न होसकेगी। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे।" इत्यादि।

अर्थात् ऋषि तो इस वचन को सगोत्र भाई या पूर्ण संन्यासी का वचन नहीं मानते, प्रत्युत् सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ (शक्तिरहित) पति का अपनी पत्नी

के प्रति वचन मानते हैं। इधर पण्डित चन्द्रमणिजी पूर्ण संन्यासियों में नियोग की चर्चा चला रहे हैं। क्या शोभा लगी, जब कि पूर्ण संन्यासी पूर्ण संन्यासिन को और किसी गृहस्थ या रण्डुए से नियोग के लिये कहें ? क्या कभी सगोत्र भाई का अपनी सगोत्र बहन को नियोग का आदेश करना नियोग कहा सकता है ? पण्डितजी ! पति के जीते जी स्त्री को नियोग की आज्ञा भाई नहीं दिया करता, प्रत्युत पति दिया करता है। 'नियोग' का अर्थ ही है, कि पति की असमर्थता में पति की आज्ञा से पर-पुरुष से सन्तान की उत्पत्ति करना, और अपने पति के तन्तु को चलाना। न कि भाई की आज्ञा से।

पण्डितजी ! आप अपने लिखे पर बार २ विचार करें। पाठकगण ! प्रतिपक्ष का दोष दिखाकर अब मैं अपने पक्ष की स्थापना पर आपका ध्यान आकर्षण करता हूं।

(१) यम-यमी सूक्त में किसी का भी संवाद नहीं, न भाई बहिन का और न पति पत्नी का। यह केवल एक मन्त्रद्रष्टा के दर्शन में मन्त्र (मनन) का एक क्रममात्र है। इस सूक्त के कुछ मन्त्रों के द्रष्टा यम, कुछ के द्रष्टा ऋषि यमी है। पर मेरा कहना उस द्रष्टा से है, जिसने ऋक् संहिता का दर्शन किया। मन्त्र के अर्थों पर विचार करने से वह एक संवाद के समान जान पड़ता है। जैसे कवि के हृदय में पात्रों का संवाद विचारक्रम से उत्पन्न होता है, और पात्रों के नाम उनके वचनों में आये, सम्बोधनों से पता लगाते हैं, उसी प्रकार इस विचारक्रम में भी सम्वाद की ध्वनि है, और परस्पर सम्बोधन से व्याख्याकारों ने यम-यमी पात्रों का निर्णय किया। फलतः मैं भी इस सूक्त को संवादमय विचार दर्शन मानता हूं। इसमें मन्त्रद्रष्टा के हृदय में क्या पात्र थे, मैं नहीं कह सकता। १, २, ३, ४, ५, ६ इन मन्त्रों में पात्र कोई सखा हैं, जो गृहस्थ धर्म से बद्ध हैं। उनके पुत्र नहीं है, पर दोनों पुत्र चाहते हैं। ७, ९, १३, १४, इन मन्त्रों में यम-यमी पात्र प्रतीत होते हैं, परन्तु आपस का यम यमी नाम का सम्बोधन भी विशेष अभिप्राय से है, वह उनका निज नाम नहीं है। अपि तु गुण-द्योतक नाम है। शेष ८, १०, ११, १२ में भी पति-पत्नीपरक सम्वाद है। फलतः सारा सूक्त पति-पत्नी सम्वादपरक है।

(२) पति ऐसा पुरुष है, जो सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ है। स्त्री सन्तान उत्पन्न कर सकती है, तो भी वह अपने पति से ही सन्तान पाने का

कई बार आग्रह करती है, और पति के ४ बार निषेध करने पर नियोग की आज्ञा को स्वीकार करती है।

(३) संवाद के पात्र भाई बहन नहीं हैं। क्योंकि भाई बहन होने में एक भी मन्त्रगत प्रमाण नहीं है।

(४) पुराणाभिमत या (सम्भवतः लुप्त) इतिहासाभिमत यम-यमी स्त्री-पुरुषविशेष का संवाद भी नहीं है।

(५) भ्राता और स्वसा शब्द का अर्थ भाई और बहन ही है, दूसरा कोई उन्नीत अर्थ नहीं है। भाष्यकारों ने अपने ग्राम्यपन को निभाने के लिये सूक्त का भाई-बहनपरक अर्थ किया है, जो नितरां असङ्गत है।

(६) यदि ७, ९, १३, १४ के मन्त्रों में आये यम-यमी शब्द से यम-यमी सम्बाद मानलें तो भी यम-यमी कोई पुरुष स्त्री नहीं, प्रत्युत् वे सर्वत्र समानभाव से, व्यष्टि समष्टिरूप से एवं अध्यात्म, आधिदैवत, आधिभौतिक अर्थों में रूपकानुसार परस्पराश्रित कोई सम्बद्ध पदार्थ है, जिनमें कारणविशेष से पुंव्यक्ति (पुरुष भाव) अनुत्पादक है।

(७) आधिभौतिक पक्ष में यम, यमी, शब्दों से अग्नि और पृथिवी अर्थ-शतपथ ने लिया है। और अथर्ववेद के ब्राह्मण गोपथ ने अग्नि पृथिवी का पति पत्नी भाव माना है। कोई विद्वान् यम यमी से दिन रात, का ग्रहण करते हैं कोई और लौकिक पदार्थों को भी लेते हैं जैसे प्राण और चेतना, आत्मा और प्रकृति आदि। इन में जो सम्बन्ध भी कवि कल्पना कर लेते हैं उसी प्रकार निर्वाह होजाता है। वस्तुतः वे न भाई बहिन और न पतिपत्नी होते हैं।

(८) इस में संदेह नहीं कि अग्नि और पृथ्वी पतिपत्नीभाव से बद्ध हैं। वैदिक एवं शास्त्रीयपरिभाषा से भी पुरुष अग्नि है और स्त्री क्षेत्र या पृथिवी है। वे दोनों परस्पर मिलकर पुत्र उत्पन्न करते हैं और पतिपत्नी बनते हैं।

(९) यदि पुरुष की प्रकृति 'अग्नि' न होकर जल की हो तो सन्तान न होगी और उन का सम्बन्ध विफल जायगा। क्योंकि यह उत्पन्न होने वाला संसार 'अग्नि षोमात्मक' है। यदि कारण अग्नि-सोम न हुए तो अगला कार्य उत्पन्न न होगा।

(१०) मैं वेदों के मन्त्रों को ऋषि की मानस भूमि में प्रत्यक्ष होती हुई ज्ञान धारा समझता हूं जो उन्होंने ईश्वर की प्रेरणा से साक्षात् की। और उन में

उन्होंने आध्यात्मिक आधिभौतिक,आधिदैविक लौकिक वैयक्तिक और सामाजिक सत्यों को अन्तर्दृष्टि से साक्षात् किया; और उचित शब्दों में निर्देश रूप में प्रकट किया।

ये १० स्थापनाएं मैं स्वतः मानता हूं। और इन की रक्षा करते हुए मैं यम यमी सूक्त को उसी प्रकार मानता हूं जैसे ऋषि ने दिग्दर्शन कराया है। उसी विचार से पाठकों के समक्ष इस सूक्त के १४ मन्त्रों की व्याख्या प्रकट करता हूं। साथ ही साथ अपने प्रति वादियों के विचारों और व्याख्याओं की त्रुटियां भी दिखाऊंगा। सम्भव है मेरे विचारों में भी पर्याप्त दूषण हों तो भी अगले विचारकों के लिए अवसर खुला हुआ है।

व्याख्या।

नत्वा श्रीमद् दयानन्दं गुरुं परमभास्वरम्।
यत् कृपालेशतः श्रीमद्दयानन्दो जगद् गुरुः ॥१॥
व्याख्यास्ये वैदिकं सूक्तं यमयम्योः सदर्थवत्।
दयानन्दर्षि निर्दिष्ट दिशा मोह निवृत्तये ॥२॥

सूक्त का प्रारम्भ—

ओ३म् ओचित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरूचिदर्णवे जगन्वान्।
पितुर्नपातमादधीतवेधाः अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥१॥

भाष्यकारों ने प्रथम एक यह बड़ी गलती की है कि इस सूक्त की अवतरणिका में ही उन्होंने इस सूक्त को यमयमी सम्वाद मानलिया है। और उसी भावना से इस मन्त्र को यमी की उक्ति माना है। और यही दोष पं० चन्द्रमणि जी ने भी किया है। हम इस दोष से मुक्त रहने के लिए मन्त्र की अभिधा लक्षणा और व्यंजना सभी पर विचार करेंगे। मन्त्र वह स्वयं कहेगा कि मैं किस का वर्णन करता हूं।

जिस प्रकार अन्य भाष्यकारों ने माना है उस से तो प्रतीत होता है कि यम यमी ने कहा कि इधर मन्त्र कर्त्ता ने गांठ लिया। पर वास्तव में मन्त्र तो न यमी ने कहा और न यम ने सुना। प्रत्युत मन्त्र द्रष्टा ने मन्त्र का (विचार का) दर्शन किया और इस रूप में दर्शन किया। इस मन्त्र का जो अपना अर्थ है वही

इस का देवता है। वही उस का प्रतिपाद्य है। इस पर दृष्टि रखकर मन्त्र के पद पद पर विचार कीजिये।

पदार्थ—(ओ चित्) अ+उ+चित्। आ इत्यस्य ववृत्या मित्यत्रान्वयः। उकारः पदपूरणः नि०। चित् पूजार्थः। सखांय समान ख्यातिं सख्यै सखिभावाय। आववृत्याम् वृणोमि क्रिया समभिहारेण। कोयं सखा यः? खलु तिरः तीर्णं। पुरु महत्। चित् उपमार्थः। अर्णवं समुद्रं। जगन्वान् गन्तुं प्रवृत्तः। अस्तीति शेषः। पितुरात्मनो जनकस्य नपातम् नप्तारम् आदधीत वपेत्। वेधाःआत्मनो भाग्य विधाता अधिक्षमि क्षमायां क्षेत्रे स्वकीये। तमेव प्रतरं भवार्णवतरणसाधनं। दीध्यानः ध्यायन्।

भावार्थ—हे! भद्र! तुम को मैं सखाभाव के लिये सखा रूप से वार २ चुनती हूं। तू बड़े भारी लम्बे चौड़े मानो समुद्र के समान इस संसार पर यात्रा कर रहा है। अपने पिता के नाती को तरने का साधन समझता हुआ अपने भाग्य का विधाता गृहस्थ अपने क्षेत्र में नाती का आधान करे।

यह शब्दार्थ है इस में कोई खेंचातानी नहीं। अब इस पर विचार कीजिये चित्! यह सम्बोधन है। और पूज्य व्यक्ति के प्रति कहने योग्य सम्बोधन है 'चित्'! 'नी! अनी!' हे महाशय! फलतः कोई अपने से भिन्न ऐसे व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर खेंचता है जिस के लिए हृदय में इज़्ज़त है। (सख्यै सखायं आववृत्यां) सखा के लिए सखा को बार २ वरती हूं। वार २ पसन्द करती हूं। किसी को बार २ मित्र रूप में इस लिए स्वीकार किया जा रहा है क्योंकि वह पहले से ही सखा है। ये नयी दोस्ती नहीं गांठी जा रही है। प्रत्युत पुरानी दोस्ती का सदुपयोग उठाया जा रहा है। क्यों सखा को वरा गया? क्योंकि वह सखा बड़े लम्बे चौड़े दूर तक फैले हुए (पुरु अर्णव चित् जगन्वान्) ऊपर तक (तिरः) भरे हुए उमड़ते हुए 'अर्णवं' सागर के समान भवसागर पर जा रहा है।

क्यों वरण करती हूं? क्योंकि मैं भी तो उसी के समान सागर में हूं। मुझे भी तो पार जाना है। तरने के लिए कोई जहाज़ या नाव नहीं है। सो नाव का साधन मेरे पास है। पर मेरे वस का नहीं है। मैं चाहती हूं कि वह साधन हम दोनों मिल कर तय्यार कर लें। और यह भी निश्चित है कि शिल्पी जो

अपने हाथों जहाज़ बनाना जानता है वह अवश्य नाव तय्यार कर सकेगा। नाव कैसी ?

(पितुर्नपात मादधीतवेधाः अधिक्षमि प्रतरं दीध्याना ?)

(पितुर्नपातं प्रतरं दीध्यानः वेधाः अधिक्षमि आदधीत) अपने पिता के पोते या नाती को ही जहाज़ समझता हुआ वेधा-अपने हाथों अपना भावी भाग्य बनाने वाला पुरुष 'अधिक्षमि' अपने भूमि-या क्षेत्र में उसका आधान करे।

नपात्—उपमार्थक उपपद पा धातु से शतृ नपात् "पालयन्ति" जो सन्तति या वंश की रक्षा करने वाले के समान है। पिता अपना सर्वस्व अपने ज्येष्ठ पुत्र पर रख कर चला गया। वह पिता की सम्पत्ति की रक्षा करता है। परन्तु बूढ़ा पिता चिता के रास्ते स्वर्ग में गया। अब ज्येष्ठ पुत्र अपनी भी गति वैसी ही देखता है तो जो सम्पत्ति पिता ने दी उस की रक्षा कौन करेगा ? वह नपात्—नाती। यद्यपि वह बालक है तो भी कानून की दृष्टि से वही (नाती) उसका रक्षक है।

प्रतर=उत्कृष्टतरण साधन। कहां अर्णव में।

अर्णवः अर्णवान्। अर्णः जलम्। तद्वान्। ऋणवान्।

पितृ-ऋण रूप जल से भरा समुद्र उसको तैरने का साधन या उतारने का साधन, सिवाय नाती के दूसरा नहीं। इस कारण गृहस्थ अपने को पितृऋण के समुद्र से पार जाने के लिये अपने क्षेत्र में नपात (नाती) का आधान करे। क्या सोच कर ? कि यही ऋण मुक्त होने का यही उत्तम साधन है। यही समुद्र पार जाने के लिये अच्छीनाव (किश्ती) है।

पितुर्नपातम्। पिता के नपात् को। पिता किसका ? अपना और आधान कौन करे ? वेधा अपने गृहस्थ को रचने वाला या अपने भाग्य को बनाने वाला जिसने धनसम्पत्ति भूमि, क्षेत्र भृत्य आदि सभी सुख साधनों का सम्पादन किया। कहां पैदा करें ? 'अधिक्षमि'। क्षमा पर क्षेत्र पर। भूमि पर। अपनी धर्मपत्नी में।

'अधिभूमि'=क्षमा पर, क्षमा=पृथिवी, क्षमा=सहनशीला, क्षमा=समर्था, क्षमा=शक्ति मती। जो स्त्री गृहस्थ का भार उठाने में शक्तिमती है वही क्षमा कहाती है।

टिप्पणी—पं० चन्द्रमणि जीने तिरः का अर्थ 'प्राप्त' किया है। परन्तु निरुक्त ही में तिरःका अर्थ तीर्ण भी है जिसका अर्थ दूरमध्वानं (लम्बा रास्ता)।

समीक्षा—यह उक्ति किसी स्त्री की है जो इस चिन्ता में है कि मैं अपना पुत्र पाऊं। और मेरा पति या भाग्य विधाता ही मुझमें सन्तान को प्राप्त करे यह समझकर कि इससे हम पितृऋण स्वरूप समुद्र को तर सकेंगे। यह चिन्ता नव यौवन में नहीं उठा करती, प्रत्युत निःसन्तान गृहस्थों के उतरते काल में उठा करती है। फलतः यह वक्ता स्त्री उतरती उमर के प्रारम्भ में है। वह अपने सखा को सखित्व निभाने के लिये वार वार बुलाती है। कौन कहता? यह हम अभी नहीं कहते। जो कह रही है वह स्पष्ट है वही इस मन्त्र का देवता और वही ऋषि है। यह एक विचार मन्त्रद्रष्टा के हृदय में "समस्यारूप में उठा कि ढलती उमर में यदि किसी स्त्री को पुत्र न हो। और वह वार २ पितृ ऋण उतारने के निमित्त अपने पिता का नाती पैदा करने का अपने पति (सखा) से आग्रह को तो पति क्या करे। इस प्रसङ्ग में दूसरे पक्ष का विचार भी उठेगा। सो इस प्रकार कि—

नते सखा सख्यं वष्टयेतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवोधर्त्तार उर्विया परिख्यन् ॥

न ते सखा सख्यं वष्टि एतत् ? यत् सलक्ष्मा विषुरूपा भवातिभवतु। कुतो न? अवश्यं वष्टि इति भावः। कुतः यतः महो महतो असुरस्य शक्तिमतः वीराः वीरः पुत्रासः दिवः धर्त्तारः उर्विया परिख्यन् परिदृश्यन्ते।

अर्थ—(क्या?) तेरा सखा इस सख्य को नहीं चाहता कि समान लक्ष्म वाली विषुरूपा होजाय? अवश्य चाहता है। क्योंकि बड़े शक्तिवाले पुरुष के वीर पुत्र, द्यौ को धारण करने वाले खूब चारों ओर दीख रहे हैं।"

सलक्ष्मा—(समान चिन्ह वाली?) लक्ष्म=शोभा "लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।" लक्ष्म शब्द का अर्थ शोभा कीर्त्ति सम्पत्ति है। इसी से लक्ष्मी शब्द बना है। लक्ष्म का अर्थ चिन्ह भी है। स्त्री पुरुषों के शारीरिक चिन्ह बराबर नहीं होते इस लिये उनको समान चिन्ह कहना असंगत है। उनको विलक्ष्म कहा जाता तो ठीक था। परन्तु वेद को लक्ष्म शब्द से चिन्ह अभिप्रेत नहीं उसका अभिप्राय सम्पत्ति, कीर्त्ति, नाम, शोभा आदि से हैं जो सवसमानार्थक हैं। पतिपत्नी को समान सम्पत्ति, समान कीर्त्ति समान नाम और विवाह होजानेके उपरान्त गोत्र भी एक ही होजाता है। इसी से वह 'सखा' समानख्याति हो जाते हैं। पूर्व मन्त्र में जो स्त्री (वाचिका) के मुख से निकले 'सखा' शब्द से कहा गया है उत्तर मन्त्र में वही 'सलक्ष्मा' शब्द से कहा गया है। भिन्न वस्तु नहीं।

विषुरूपा=बहुरूपा, पुत्रवती, विषमरूपा । बिना पुत्र के दोनों बराबर हैं। पुत्र होजाने पर वह दो हृदयवाली हो जायेंगी दो के तीन हो जायेंगे । यही विषम रूपता या बहुरूपता है । पुत्रवती माता का अधिकार बहुत बढ़ जाता है । पिता से सौ गुणा आचार्य उससे सौ गुणा माता का अधिकार हो जाता है ।

अपुत्र के हृदय में, दूसरे समर्थ पुरुषों के पुत्रों को देख कर यह भाव आना स्वाभाविक है कि मेरा भी पुत्र हो । इसी लिये अपनी आन्तरिक अभिलाषा की पुष्टि में वक्ता हेतु देता है कि बड़े समर्थ पुरुष के वीरपुत्र द्यौ को धारण करने वाले दीख रहे हैं । तब मैं क्यों न चाहूं कि मेरे भी पुत्र हों ? मैं भी चाहता हूं ।

वीराः का अर्थ है वीर्य से उत्पन्न हुए पुत्र । 'वीराः' यह पुत्रासः का विशेषण है । शक्तिमान् वीर्यवान् पुरुष के अपने ही वीर्य से उत्पन्न हुए पुत्र द्यौ को धारण करते हैं । अर्थात् अच्छे उच्च अधिकार पाये हुए दिखाई दे रहे हैं ।

द्यौ=उच्च दिव्यअधिकारः—उच्चस्थिति । सामाजिक क्षेत्र में उच्च अधिकारी 'द्यौः' का अर्थ है । दिवः ज्ञानस्य वा । अर्थात् वे पढ़ लिख कर विद्वान् भी होगये । और हा ! मेरे पुत्र पैदा भी नहीं हुआ । पर चाहता हूं कि पैदा हों । पं० चन्द्रमणिजी ने 'परिख्यन्' का अर्थ किया है, प्रत्याख्यान करते हैं । किस बात का प्रत्याख्यान करते हैं ? कि भाई बहन का सम्बन्ध हो, इस बात का प्रत्याख्यान करते हैं । कहता कौन है, कि भाई बहिन का विवाह हो ? यमी कहती है । यमी कौन है ? ब्रह्मचारिणी यम-नियम पालन करने वाली । भला बतलाइये तो सही, क्या असंगत बात कही जा रही है ? आपकी एक ब्रह्मचारिणी ऐसी भ्रष्ट बातों का प्रकरण वेदमन्त्रों का ऋषि होकर कहेगी, और उसका भाई उसको वैसा कहने से रोकने के लिये ऋषियों का प्रमाण ढूंढ कर उसका जवाब दे । यदि सचमुच कोई विदुषी ऋषि कन्या अपने सगे या सगोत्र भाई से ऐसा उलटा सीधा कह तो उसके उत्तर में एक वार 'सिश्' कह देना काफ़ी है । भाई वहन का संवाद मानने वालों ने यह भी विचार नहीं किया कि हम अपने ऋषियों के मुख से ऐसे २ वेद मन्त्रों के अर्थों को करके उनकी क्या शोभा

टि०—लक्ष धातु का प्रयोग कतिपय शब्दों में शोभार्थक ही है । जैसे पञ्चतन्त्र में 'लक्षण' शब्द 'तमगा' 'पदक' अर्थ में प्रयोग हुआ ।

साधुमातुलगीतेन यया प्रोक्तोऽपि नस्थितः । अपूर्वो यं मणिर्वद्धः सप्राप्तं गीत लक्षणम् ।

करेंगे ? हां जिनको भाई बहन की ऐसी ठठोली हंसी मज़ाक करा लेने का उद्देश्य था उन वाम मार्गियों ने क्या नहीं किया ? सो महीधर के भाष्य को देख कर सभी जानते हैं। खेद है आर्य्य विद्वान् भी उसी गंदे प्रवाह में वहते हैं।

प्रत्याख्यान की पुष्टि में पं० चन्द्रमणि जी ने एक पाणिनि के सूत्रको गवाह बनाया। "अपपरी वर्जने" इससे परि वर्जनार्थ में भी आता है। आता है तो क्या हुआ ? अधिपरी अनर्थकौ यह भी पाणिनि ने कहा है। अधिपरि अनर्थकभी होता है। अब बोलिये ?

आपके वर्जनार्थक 'परि' का प्रयोग कैसे होता है सो समझ लीजिये। क्या आप भी भानुमती का पिटारा खोल कर देखेंगे। वर्जनार्थ परि का प्रयोग होता है परिहरेः संसारः। यहां "पञ्चम्याङ्परिभिः" इस सूत्र से पञ्चमी होती है परि के योग में। तो कहिये आपका कर्म प्रवचनीय 'परि' किसके साथ जुड़ता है। क्यों दिवः के साथ ? यदि यह परि अस्मान् के साथ जुड़ गयी तो प्रत्याख्यान का मामला बिगड़ता है। अब अनर्थक उदाहरण भी लीजिये परि कुतः पर्यागच्छति। परिका यहां कोई अर्थ नहीं। फलतः अनर्थक मानना होगा। या गति है तो कर्म प्रवचनीय न मानकर गति-उपसर्ग संज्ञक मानो तो परिपश्यन्ति यह अर्थ सायण के सम्मत है।

यहां भी प्रश्न यह है कि वे क्या देखते हैं ? सायण तो चाहते हैं यम कहदे "ना बहिन ! मैं ऐसी दोस्ती नहीं चाहता कि तू बहन मुझ से भोग करे क्योंकि रुद्र के बेटे आंख फाड़ २ कर देख रहे हैं। शायदि यदि न देख रहे होते तो वैदिक ऋषि यम कह जाते। फलतः सायण का परिपश्यन्ति यह अर्थ वैदिक ऋषियों पर कलंक लाने के और कुछ नहीं कहता। उसी प्रवाह में बह कर आगे सायन ने यमी की व्यक्ति को इतना नीचे गिराया है कि मानसिक आचार को रसातल तक पहुंचा दिया है। यह सायन के अर्थ वैसे ही प्रतीत होते हैं जैसे काशी के एक पण्डित ने रघुवंश की कथा को एक चोर की कथा पर लगा दिया था।

इसी प्रसंग में एक प्रश्न हम और करते हैं। वह यह कि भ्रातृ भगिनी संवाद मानने वाले विद्वान् अर्थ करते हैंः—

"तेरा सखा यह सख्य नहीं चाहता कि सलक्ष्मा बहिन विषुरूपा पुत्रवती

होजाय ।" इतने शब्दों में यह कहां से आया कि भाई के संयोग से ही विषुरूपा होना अभिप्रेत है। पहले मन्त्र में भी यमी ने कोई भाई वाचक शब्द नहीं कहा। बल्कि वेधा और सखा शब्द का प्रयोग किया है। फलतः भाई द्वारा विषुरूपा होने की कल्पना करनी तो मन्त्रों पर अत्याचार करना है।

यदि यह भी मानलें कि यमी नेस्वतः विवाह का प्रस्ताव पहले मन्त्र में किया तो उसमें भी तो यह कहीं नहीं दिखाया कि वह यह प्रस्ताव भाई से कर रही है। वह तो प्रस्ताव 'सखा' से करती है या उससे कर रही है जिसको वेधा मानती है। उसके प्रस्ताव के उत्तर में भी उत्तर देने वाला'सखा'ही है "मां सलक्ष्मा" समान कीर्त्ति सम्पत्ति और शोभा और नाम वाला है। विवाह के अनन्तर दोनों पतिपत्नियों का गोत्र एक होता है।

परन्तु मज़ा यह है कि "सखा" होने का प्रस्ताव यमी कर ही नहीं रही। वह तो पहले से ही बने हुए सखा से पुत्रका प्रस्ताव कर रही है। जब पहले ही वह "सखा" है तो विवाहित पहले ही है। इसी प्रकार गोत्र भी दोनों का एक हो चुका है। विवाह के बाद वधू का पति गोत्र ही हो जाता है। तब सलक्ष्मा शब्द पर कोई आपत्ति नहीं। फलतः उलटी सीधी कल्पनाएं गढ़ कर मन्त्र का अनर्थ किया गया है।

जब पहले मन्त्र में भाई से विवाह करने की प्रस्तावना ही नहीं तब उसकी पुत्रेषणा की अभिलाषा का विरोध करना रुद्र के पुत्रों से हौव की तरह डराना भी असंगत है। इनका कोई गूढ़ार्थ नहीं है।

अब हम मन्त्र की व्यंजना और लक्षणा पर विचार करते हैं।

व्यंजना में इस वचन के वक्ता ने अपनी तुलना असुर=शक्तिमान से कर के अपनी पुत्रोत्पादन में असमर्थता और इसी कारण से अपुत्रता भी बतला दी। इस पर वह कह सकता है, कि अच्छा रहने दो पुत्र न सही। हम असमर्थ हैं लाचार अपुत्र ही रह जायंगे। ऐसा निर्वेद उत्पन्न होने की सम्भावना पर उसको पुनः उत्साहित करने का भाव पुत्राभिलाषिणी स्त्री के हृदय में आना सम्भव है; और उचित भी है। यही विचार क्रान्त दर्शी मन्त्रद्रष्टा के हृदय में भी प्रकाशित हुआ है।

प० चन्द्रमणि जी ने इस मन्त्र में 'उर्विया' शब्द का अर्थ (उरुणा) किया है। और सङ्गति लगाई है कि 'उर्विया परिख्यन्' बड़े बल से प्रत्याख्यान करते हैं।

यदि 'उर्विया' को तृतीयान्त मान लें तो भी 'बल से' यह अध्याहार निराधार है।

वस्तुतः पण्डितजी की यह कल्पना अन्धपरम्परा के कारण हैं। कहीं आपने सिद्धान्त कौमुदी या काशिका में 'सुपांसुलुक्' पाणिनी के (७।१।३९) सूत्र की वार्त्तिक का उदाहरण लिखा देख लिया कि उर्विया, दार्विया उरुणा दारुणेति प्राप्ते।

और पट से पण्डित जी ने टीप लिया 'टा' की जगह 'इ यार्'। क्यों है कि नहीं अनर्थ ?। पण्डित जी कृपा कर ध्यान लगा कर सूत्र और वार्त्तिक दोनों पर दृष्टि करें तो सूत्र यह है। सुपां सु-लुक्-पूर्वसवर्ण आ-आत्-शे-या—। इस पर वार्तिक हैं डा-ड्याच्-इकाराणुपसंख्यानम् । आप ने पता नहीं 'इयाड्' कौन से नये आदेश का आविष्कार कर लिया। वार्त्तिक में इया और डियाच् और 'ई' ये तीन आदेश हैं। इन में उर्वी शब्द से डियाच् हो सकता है। और 'उर्विया' शब्द सिद्ध होगा। इस पर आप ने यह कल्पना कैसे कर ली कि उस से यहां 'ए' प्रत्यय (तृतीया कारक वचन) के स्थान पर ही यह आदेश हुआ है। यह आदेश सुप् प्रथमा एक वचन का भी तो होना सम्भव है। क्योंकि सूत्र में 'सुपां' यह सामान्य वचन है। यदि आप को विश्वास न हो तो लीजिये भाष्यकार सायण को उसी सूक्त के ७ मन्त्र में "उर्विया विभाति" में उर्वी शब्द से डियाच् प्रत्यय करके शब्द सिद्ध किया है।

तब मन्त्र का अर्थ होगा। उर्विया परिख्यन् उर्व्यां परिदृष्यन्ते इत्यर्थः। अर्थात् इस लोक में या इस पृथ्वी तल पर देखे जाते हैं। पण्डित जी वेदांग व्याकरण को भुला कर करके आप वेदार्थ को नहीं सुधार सकते।

मन्त्र ३—

उशन्ति घा ते अमृतास एतद् एकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य।
निते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पति स्तन्वमाविविश्या॥

ते अमृतासो ह एकस्य चित् मर्त्यस्य त्यजसं उशन्ति। ते मनो अस्मे मनसि निधायि। जन्युः पतिः। तन्वं आविविश्याः।

"वे जीवन्मुक्त अमृत ज्ञान योगी लोग भी यह बात चाहते हैं कि एक पुरुष का एक (त्यजस) अपत्य हो। मेरे मन में तुह्मारा मन (खा-जा चुका है। उत्पन्न करने वाली जाया का तू पति है। तू उस में प्रवेश कर।"

इस अर्थ में हम ने एक बात भी अपनी तरफ़ से नहीं मिलाई। पाठक स्वयं देखें इस से क्या टपकता है? साफ़ प्रकट है कि निःसन्तान पुत्राभिलाषिणी, स्त्री देव मार्ग (तपस्वी मार्ग) से गमन करने की सोचने वाले अपने, अपुत्र पति को कहती है कि "क्या करें हमारे वस का नहीं" ऐसा समझ कर निराश होना उचित नहीं क्योंकि देवमार्गी ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता अमृत लोग भी यही चाहते हैं कि हरेक मर्त्य (मर्द) का एक तो कम से कम पुत्र अवश्य हुआ करे। दूसरा तुम्हारा मन मेरे मन के भीतर रखा हुआ है। या "नितेमनसि अस्मे मनोधापि"। या तेरे मन में मेरा मन रक्खा है। अर्थात् तुम मुझे बहुत अधिक प्रेम करते हो। न केवल प्रेम बल्कि मैं तुम्हारी जाया हूं। और तुम धर्मपत्नी के पति हो। यह मेरा शरीर पुत्र को उत्पादन करने में समर्थ है आप के अर्पण है इस शरीर में आप ही स्वयं पुत्र के (जनि) रूप में प्रविष्ट होइये। मैं आप ही से पुत्र चाहती हूं। यह विस्तृत अर्थ उक्त मन्त्र से निकलता।

जन्युः पतिः—तू 'जनि' पति है। जनि जाया उत्पत्तिस्थान, मुख्यतः गर्भाशय उसीका पति होसकता है, दूसरा नहीं। उसका मालिक होनेमें प्रमाण? "निते मनो मनसि धायि" पति का हृदय पत्नी के हृदय में रक्खा हुआ है, इसी कारण "जन्युः पतिः" है। क्या भाई से बुद्धिमती बहन ऐसा कह सकेगी? इस स्थलपर एक किस्सा याद आता है,कि एक राजा के तीन लड़कियां थीं। राजा ने खूब धन आभूषण आदि देकर सबसे पूछा—तुम सबसे अधिक प्रेम किसको करती हो। तो उत्तर में दो ने तो पिता को कहा—"आपको"। परन्तु बुद्धिमती कन्या ने कहा कि, "अपने पति को"। फलतः यमी को हम मूर्ख कन्या नहीं समझते कि, वह अपने भाई के दिल को अपने दिल की डबिया में बन्द समझे, या अपने दिल को उसके दिल की डबिया में बन्द समझे। वह यदि बुद्धिमती है, तो अवश्य अपने पति के हृदय को अपने दिल की तह में और उसके दिल की तह में अपने को बैठा हुआ मानती है, और उसीको जनि का' पति भी कह सकती है। उसीको अपने शरीर में प्रविष्ट होनेका अधिकार देसकती है। और उसीके सामने वह यह युक्ति देसकती है, कि बड़े २ ब्रह्मज्ञानी भी कम से कम एक पुत्र की आकाङ्क्षा किया ही करते हैं।

क्या बहिन यमी कामार्त्ता होकर इतनी पगली होसकती है, कि वह एक पुत्र के लिये ही अन्धी होजाय? सम्भव नहीं। यदि कामान्धा होजाती, तो

फिर पुत्र-संसारतरणसाधन, फिर कम से कम एक पुत्र इत्यादि धर्म-शास्त्र छांटने न बैठती। वहां केवल एक ही युक्ति हुआ करती है "इच्छा"।

यहां तो एक पुत्र तो कम से कम हो, इस प्रकार केवल निःसन्तान गृहस्थ ही अपने सन्तोषार्थ ऐसा विचारा करते हैं।

अच्छा! अब पाठक विचार करें कि, अगला विचार इसके आगे क्या आसकता है। अपनी स्त्री की ऐसी उक्ति के प्रत्युत्तर में असमर्थ पति क्या कह सकता है। जो कहना उचित है, वही विचार मन्त्रद्रष्टा के दृष्टिपथ में भी है।

मन्त्र ४—

न यत्पुरा चकृम कद्दह नूनम् ऋता वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्सु अप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ॥

यत् पुरा कतद्दह चकृम? नूनं ऋता वदन्तः अनृतं रपेम। गन्धर्वो अप्सु अप्या च योषा, सा नौ नाभिः नौ तत् परमं जामि सदोषम्।

हमने पहिले जो कुछ भी यत्न किया, उसमें क्या नहीं किया? सभी कुछ किया। निश्चय से, सत्य बोलने वाले रहकर क्या अब हम असत्य कहेंगे। गन्धर्व अपों में और अप्मयी योषा है, हम दोनों की नाभि (नहन=शरीररचना) अप् है, हममें यही एक दोष है।

जो हमने पुत्र के उत्पादन करने के लिये पहले प्रयत्न किये, उनमें किस प्रकार का प्रयत्न नहीं किया गया? अर्थात् सभी प्रकार के यत्न किये गये हैं। परन्तु सभी प्रयत्न निष्फल गये हैं। हम सदा सत्य बोलते हैं, अब क्या इस बात में हम असत्य कहें? नहीं हम कभी असत्य नहीं कहेंगे। पुत्र के उत्पन्न न होनेमें कारण यह है कि, (गन्धर्वो अप्सु) अर्थात् पुरुष जलों में और योषा भी (अप्या) अप्मयी। अर्थात् पुरुष की प्रकृति भी जल-स्वभाव की है, और स्त्री का स्वभाव भी जलीय है। जब हम दोनों की एक ही प्रकृति (The natur of both being watery) है, तब सन्तान क्योंकर हो? हम दोनों की वही नाभि है। एक ही स्वभाव है। अर्थात् दोनों के शरीरों की एक ही रचना (नाभिः नहनम्=शरीरसंहतिः। देहरचनेति यावत्) और गृहस्थ के कार्यों में तथा पुत्रोत्पादन में यही एक दोष है। मैं भी जल-प्रकृति का और तू भी जलप्रकृति की है। रूढि में पड़कर हमने अप् का अर्थ जल किया है। क्योंकि स्त्री को सोम प्रकृति का माना गया है। वह अप्सरा स्वभाव की होती है। पुरुष को अग्निस्वरूप माना है। परन्तु जब

पुरुष भी जलस्वभाव का होगा, तो पुत्रोत्पत्ति नहीं होगी। समस्त संसार अग्निषोमात्मक है। जब दोनों स्त्री पुरुष परस्पर एक दूसरे की अपेक्षिक शक्ति को पूरा करने वाले पूरक हों, तभी पुत्र हो सकता है। स्त्री स्वभाव पुरुष हो, तो वह कामार्त्त हो कर भी पुत्र नहीं पैदा कर सकेगा। यदि स्त्री पुम्प्रकृति की है, तो भी मैथुन व्यर्थ होगा। बहुत बार प्रायः देखा गया है कि, पतिपत्नी चिरकाल तक यत्न करने पर भी सफल नहीं होते, वे अपना जोड़ा बदल देने पर सफल होजाते हैं। अर्थात् पुरुष अन्य स्त्री से पुत्र पैदा कर लेता है और स्त्री अन्य पुरुष से। वही दोष इस स्थानपर भी विद्यमान है। दोनों का रज-वीर्य एक ही जल-प्रकृति का होने से Sperm और ovum परस्पर में inactive रहते हैं, उनमें आकर्षण नहीं। वे दोनों रयि हैं। चाहिये प्राण और रयि। यही समान-प्रकृतिकता ही पुत्रोत्पत्ति में रुकावट (जामि = दोष) है, यही सच्ची बात है। झूठमूठ अन्य बातों को दोष देना, भाग्य और विधाता को कोसना या पूजा, पाठ, वलि, पुरश्चरणादि में फंसना, यह सब अनृत है। मैथुन, औषधि, उपचार तथा वाजीकरणादि सब क्रिया-काण्ड अनृत हैं, उसमें कोई सत्य फल प्राप्त होने की आशा नहीं। उस सबको छोड़कर अब केवलमात्र यही तत्त्व सत्य है।

पं० चन्द्रमणिजी ने 'अप्सु' का अर्थ 'प्राप्त सम्बन्धों में' किया है, 'गन्धर्व' का अर्थ 'वेदज्ञ पिता' किया है और 'योषा = मेरी मां' 'अप्या = निकटसम्बन्धिनी' इस प्रकार किया हैं, जो सर्वथा निष्प्रमाण है।

अब हम अगले मन्त्र पर विचार करते हैं। पत्नी अपने पति के मुख से सन्तान न होनेका यह वैज्ञानिक कारण सुनकर शङ्कित हुई, और इस बात पर वल देती है कि, जब से भी हम अपनी २ मां के पेट में आये, तब से ही हमारे भाग्य में इस प्रकार से पति-पत्नी होकर संसार-यात्रा करनेका भाग्य था। यह तो भगवान् की करनी है। यदि पुत्र नहीं हुआ, तो इसमें भी भगवान् का हाथ है। उसके अटल-नियमों को कोई तोड़ नहीं सकता। वह सूर्य और यह पृथ्वी हमारे गृहस्थ के सम्बन्ध के साक्षी हैं। इसी अनुरूप-भाव को अगले मन्त्र के रूप में ऋषि ने देखा।

मन्त्र ५—

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कः देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उ उत द्यौः॥

जनिता परमात्मा नौ आवां द्वावपि गर्भे स्व स्व मातृगर्भे दम्पती कः करोति। सदेवः त्वष्टा सकल रूपाणि त्वक्षति। स सविता उत्पादयिता प्रेरकः सच विश्वरूपः नाना रूपेण शिल्पप्रकाशकः। अस्य परमेश्वरस्य व्रतानि कर्माणि नकिः न कोपि प्रमिनन्ति विंहिंसन्ति। तदिदमावयोर्भाग्यस्य दैव कृतस्य पृथिवी वेद द्यौश्चवेद।

जनिता परमात्मा हमें गर्भ में ही दम्पती बनाता है जब हम गर्भ में ही होते हैं तभी जिसको जिसकी स्त्री और जिस को जिसका पति बनाना होता है बना देता है। वह देव त्वष्टा है सब के शरीरों को गढ़ने वाला है। वह सविता है सब को उत्पन्न करता है वही विश्वरूप है वहीं स्वयं सबके प्रकार के पदार्थों में तन्मय होकर विराजता है। उसके (व्रत-) बनाये नियमों को कोई तोड़ नहीं सकता हमारे इस देवायत्त भाग्य (पतिपत्नीभाव) को वह पृथिवी और वह सूर्य दोनों जानते हैं क्यों? क्योंकि विवाह बन्धन में इन दोनों की साक्षी रहती है।

इस प्रकार अपनी पत्नी के मुख से अशक्त पति जब यह बात सुनता है है और देखता हैं कि स्त्री भाग्य या दैव पर अड़ बैठी है। और उसको अगली सन्तति भी दैव या विधाता के हाथ में ही मालूम होती है तो उसके उत्तर में पति किस स्वाभाविकता से कहता है कि:—

मन्त्र ६—

को अस्यवेद प्रथमस्य अह्नः कईं ददर्श, कइह प्रवोचत्।

बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कद् उब्रवः आहन्ते वोच्यानॄन्॥

कः पुरुषः, अस्य प्रथमस्य अन्हः गर्भे प्रविश्यस्थितस्य जीवात्मनः प्रथम दिवसस्य वेद? नकोपि। कश्च पुरुषः ईं गर्भे गर्भावस्थितं जीवं ददर्श पश्यति। पदयं जीवः स्त्री वा पुमान् वा, अमुकस्य पतिः पत्नी वा भविता इह गर्भाद् वहिरस्मिन् लोकेऽपिकः भविष्यज्ञः प्रवोचत् यथार्थ प्रबक्ति। नकोऽपि तद्वचनेऽपि व्यत्ययापत्तेः। यतः मित्रस्य सर्वस्यापि स्नेहानुरागिणः परमेश्वरस्य वरुणस्य कर्मफल व्यवस्थया दण्डधरस्य परमेश्वरस्य बृहदनन्तं धाम कर्म कर्मफलादि व्यवस्था जात मस्ति। हे आहनः हृदय हारिणि हृदयंगमे वचनमात्रेण हृत्कम्पकारिणि! प्रिये! कोपि नॄन् मनुष्यान् वीक्ष्य विविच्य कद् ब्रवः कथंमिव ब्रवीतु।

कौन इसके पहले दिन को जानता है? कौन गर्भ की दशा में देखता है?

और यहां कौन कहता है ? मित्र, वरुण परमात्मा का धाम (कर्म) बहुत बड़ा है। ऐ हृदय हारिणि प्रिये ! मनुष्यों का विवेक करके कैसे कोई कहे।

जब पत्नी ने यह कहा कि हमारा दाम्पत्य भाव विधाता ने तभी से निर्णय कर रखा था जब से गर्भों में जमे थे। उस पर पति कहता है इस जीवात्मा के गर्भ में प्रविष्ट होने के पहले दिन की बात कौन जाने ? और कौन उसको गर्भमें पड़े को देखता है कि कैसा है स्त्री है या पुरुष है ? या फलां का पति होगा पत्नी बनेगी ? कोई भी जाकर नहीं देखता ? और जब बाहर भी आजाता है तो यहांभी उसके भविष्य के विषय में कौन ठीक २ कह सकता है कि ये राजा होगा कि रंक ? पुत्रवान् होगा कि अपुत्र ? विवाहित होगा यकुआंरा ? उस सबके स्नेही और और सबकी दण्डव्यवस्था करने वाले वरुण की यह कर्म-कर्मफलकी व्यवस्था बड़ी भारी है। इसका कोई पार नहीं और सब मनुष्यों के बारे में उनको ठीक २ विवेचना करके कैसे कहा जा सकता है। पता नहीं क्यों हमारी यह अवस्था है कि पुत्र लाभ नहीं हुआ। और जब हम दम्पति भी बने थे सब हमारा भाग्य कोई कह नहीं सकता था कि पुत्र होगा कि नहीं। फलतः अपने वसकी यह बात नहीं।

गर्भ के प्रथम दिन से भाग्य नियम होने की बाततो कट गयी। और विवाहकाल में पुत्र होने न होने की परीक्षा किसी ने की नहीं। पति पुत्रोत्पादन में समर्थ नहीं तो क्या उपाय करें। उस पर पतिपरायण पत्नी विचार करती है कि माना, कि गर्भ के प्रथम दिन से तो हम पतिपत्नी न थे। गर्भ में भी नहीं थे। बाहर आकर भी नहीं बने। तो फिर बने कैसे ? यह विचार करते हुए उसको अपने विवाह के दिन यदि आगये। उनको स्मरण करके अगले मन्त्र के भाव कहती है। यह खयाल भी उसके चित्त में एक कारण से उठा। वह कारण यह कि पति ने सम्बोधन करते हुए कहा था'आहनः'! इसका अर्थ पं० चन्द्रमणि जी ने असभ्य भाषिणि ! किया है। यहां आपने निरुक्त पर बड़ा बल दिया है। परन्तु निरुक्तकार की निरुक्ति को बहुत दूर रख दिया। "आहनः आहंसीव भाषमाणा" स्त्री आहनस् इस लिये है कि बात करती २ भी छुरी सी चलाती है। मारती सी है। असभ्य भाषणादिव आहना इव भवति। मानो सभा में न कहने योग्य वचन कहने से स्त्री आहना सी हो जाती है। इसी कारण से तीव्र तर शब्दों के बोलने वाले को भी आहनाः कहा जाता है।" यह निरुक्त आपके सामने उद्धृत कर दिया।

इससे आहनः का अर्थ असभ्य भाषिणि कह कर पण्डित जी ने एक मन्त्रद्रष्ट्री ऋषि की क्या शोभा बढ़ाई? समझ में नहीं आता।

हमने 'हृदयंगमे!' ऐसा अर्थ किया है। क्यों?

हन हिंसागत्योः। आहनः हृदयंगमें! अच्छा पक्षान्तर में आप हन का अर्थ गति न मान कर यदि हिंसार्थ ही मानने पर आग्रह करते हैं सो भी भला है। क्योंकि प्रेम संसार में स्त्री का कटाक्ष मात्र ही निरुक्तकार के मत से "आहंसीय" मारे सा डालता है। यदि फारसी साहित्यर्थ का रसज्ञ ज़ौक या दाग़ की कविता में 'क़ातिल' सम्बोधन पढ़ले तो कहिये वह इसका क्या अर्थ करेगा।

जैसे—मैराज़ समझ ज़ौक तू क़ातिल कीसनां को।
चढ़ सरके वल इस ज़ीने से तावा में मुहब्बत॥

अर्थ—ऐ ज़ौक! कातिल की तलवार को तू अपना सहायक समझ! यह मुहब्बत का ज़ीना है। इस पर तू सिर के बल चढ़ जा।

मुनि यास्क ने तो उस की बात को ही तलवार सा मार करने वाली कहा पर यहां तो चक्षु निक्षेप तक छुरी की मार से कम नहीं, जैसे—

कुछ राज निहां दिल का अयां हो नहीं सकता।
गूंगे का सा है ख्वाब बयां हो नहीं सकता॥
मसजिद में उस ने हम को आंखे दिखा के मारा।
काफ़िर की देखो शोख़ी घर में खुदा के मारा॥

और अधिक आहनः की व्याख्या करना अनावश्यक है पाठक गण इस 'आहनः' का मूल कारण भी अगले मन्त्र में पाइयेगा। इसी प्रेममय सम्बोधन को सुन कर पत्नी को अपना विवाह काल याद आता है। और कैसे विवाहित हुए इस का स्पष्ट वर्णन करती है।

मन्त्र ७—

यमस्य मा यम्यं काम आगन् समाने यो नौ सह शैष्याय।
जायेवपत्ये तन्वं रिरिच्याम् विचिद् वृहेव रथ्येव चक्रा॥

मां यमीं ब्रह्मचारिणी प्रति यमस्य कृते कामोऽभिलाषः आगन् आगतः। कस्मै प्रयोजनाय? समाने योनौ स्थाने सहशेष्याय परस्पर मेकत्र शयन कर्तुम्।

इतः पूर्वं तु कदापि ब्रह्माभ्यासकाले तादृशोऽवसरोनाभूत् । तयोः ब्रह्मचर्ये वर्त्तमान त्वात् । पूर्णविद्ययोस्तु तयोरयं मभिलाषोऽजनि गार्हस्थ्यसम्पादनाथम् तदेव ऋचा उच्यते । कथमिव सकामः इत्याह जायेव पत्नीव । यदस्यां जायते पुनः । मनुः । आत्मनः तन्वं शरीरं रिरिच्यां समर्पयेयम् । अन्यच्च न केवलं भोग सुख लाभाय अपितु यथाविधि शास्त्रीय गार्हस्थ्य मुद्वोढुम् । तदेवाह । चिद् विनिग्रहार्थः । विवृहेव वृह् उद्यमने तुदादिः । उदयच्छेव भारं । काविव रथ्ये चक्रे इव । रथयोग्ये रथ्ये । यथारथे नियुक्तं सुपुष्टं सुघटितं स्वरं सुनेमि सुनाभि च चक्रद्वयं रथभार मुद्यच्छति एवं नरश्चनारी च युवानौ यमो ब्रह्मचारी यमी ब्रह्मचारिणी च तावुभौ यमौ गृहस्थ रथ भारं उद्यस्यच्छतः । रथभारस्य उद्यमनादेव तावुभौ यमौ । आचार्यस्तयोर्ज्ञान प्रकाशकत्वात् विवस्वान् ब्रह्मचर्य वा साक्षा । वसन्तिहि ब्रह्मचर्यमाचार्ये वर्णितः । स च तान् गर्भेऽन्तः कुरते । यथा चाह श्रुतिः आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । अथर्व० कां० ११ सू० ५ ।

इति तयोः वैवस्वतत्वमविरुद्धम् । इतिदिक् ।

मुझ यमी को यम की अभिलाषा हुई कि समान (योनि) स्थान पर साथ ही सोयें । जाया के समान पति के शरीर को अर्पण करदूं । रथ के चक्रों के समान 'उद्वाह' करलें ।

भाष्य—इस मन्त्र में सभी शब्द गूढ़ाशय से भरे पड़े हैं । गृहस्थ के प्रवेश के पूर्व की दशा का वर्णन करता हुआ क्रान्तदर्शी कवि किस खूबी से यम-यमी का परिचय कराता है । स्त्री अपने मुख से स्वयं गृहस्थ में प्रवेश करने के समय का विवरण करती है कि मुझ को यम की अभिलाषा तब उत्पन्न हुई जब मैं यमी थी तब मुझे काम-आया किस के प्रति यम के प्रति । स्पष्ट है कि यम का अर्थ यम नियमों का पालक ब्रह्मचारी है और यमी का अर्थ ब्रह्मचारिणी है । ब्रह्मचारिणी के हृदय में यौवन के उदय के साथ २ अपने ही समान ब्रह्मचारी को वरण कर लेने की अभिलाषा उत्पन्न हुई । किस प्रयोजन के लिये समाने योनौ सहशेय्याय) समान योनि में साथ शयन करने के लिये । योनि=मिलने का स्थान । विस्तर और घर । सहशयन=सहवास । एक ही स्थान=पद=पति पत्नी भाव में दोनों रहें । किस प्रकार और क्या ? इच्छा हुई कि अपने (तन्वं) शरीर को जाया के समान अर्थात् विवाहित स्त्री के समान अपने पति=प्राण पति प्राणेश्वर के लिये (रिरिच्यां) अपने को त्याग दूं, आत्म समर्पण कर दूं । क्या

भाग के लिये, या शरीर सुख के लिए? बिना सामाजिक गांठ बन्धे? नहीं नहीं (विवृहव) दोनों हम विवर्हण करें। वृहू उद्यमने। दोनों हम खूब अच्छी प्रकार उठावें। क्या? ग्रहस्थ का भार। इस भारको उद्वहन करलें, उठाले चलें। विवाह, उद्वाह, परिणय, उपयम, आदि सभी शब्द विवाह वाचक हैं। भार किस प्रकार उठावें? जैसे रथ के चक्र रथ का भार उठाते हैं।

पाठकों ने स्पष्ट देख लिया कि यह पहला मन्त्र है कि जिस में यम यमी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन में भी यमी अपने लिए 'मा यम्यां' ऐसे कहती है 'मुझ यमी को'। परन्तु यमस्य के साथ कोई भी युष्मत् पद 'तव, ते' आदि नहीं है। वह अपने साथ यमी विशेषण लगाती है। यमी शब्द उस की विशेष अवस्था और विशेषता का द्योतक है। और वही विशेषता उस ने अपनी अभिलाषा के पात्र में भी पाकर उसको वरण किया। मूर्खता से या काम के वशीभूत होकर यमी ने यम को कामपाश में खेंचना नहीं चाहा था। वह खूब समझदार थी। वह बड़ी बुद्धिमत्ता पूर्वक विशेष उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए स्वतः ब्रह्मचारिणी हो कर अपने समान ब्रह्मचारी को विवाह में बांध कर गृहस्थ करना चाहती थी) और कितनी आदर्श युक्ति युक्त बात कह रही है। अस्तु। अब हम अपने पूर्व के सम्बद्ध विषय पर आते हैं।

जब इस प्रकार पत्नी ने अपने विवाह-बन्धन के प्रारम्भ काल का स्मरण कराया, और बतला दिया कि, हम इस प्रकार गृहस्थ में पति-पत्नी हुए थे। पहला विचार कि, गर्भ में ही हमें पति-पत्नी आपका भाग्य में बदा था, सो बात भूल है। तब पति कहता है कि, क्या उन दिनों की याद करते हैं, वे दिन तो किसीके लिये खड़े नहीं रहते, और न वे अगले दिन आने ही बन्द होजाते हैं। फलतः यह जीवन योंही शेष होजायगा, और कोई बाद में सन्तान भी हाथ न आयेगी, इसलिये हृदयङ्गमं। तू जितना शीघ्र होसके, मेरेसे अतिरिक्त पुरुष के साथ मिलकर रथ के चक्रों के समान गृहस्थ का भार उठा और सफल हो।

यही भाव अगले मन्त्र में विचारद्रष्टा के विचार-प्रवाह में है।

मन्त्र ८—

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन विवृह रथ्येव चक्रा॥

देवानां स्पशः य इह चरन्ति दिवसाः ते न तिष्ठन्ति गतिमत्वात्। न निमिषन्ति भविष्यत्यपि तदागमनात्। इत्यतः हे आहनः! हे प्रिये! हृदयहारिणि, मदन्येन पुरुषेण सह तूयं तूर्णं याहि सङ्गच्छ। तेन विवृह पुत्रान् गर्भे उद्यच्छ

यथा रथस्य चक्रद्वयं भारं वहति तथा उभावपि संगत्या पुत्रोत्पादनम् कुरुताम् गृहस्थधर्मं वा निर्वहतम्।

न ये खड़े ही रहते हैं, न झँपकते हैं, ये देवताओं के स्पश जो यहां विचरण कर रहे हैं। हे प्रिये! शीघ्र मेरेसे अतिरिक्त पुरुष से सङ्ग करो। रथ में लगे चक्रों की न्याईं मिलकर पुत्रोत्पादन के भार को वहन कर।

स्पशः=स्पाई, गुप्तचर या सिपाही। देवताओं के सिपाही, रात और दिन, ये मनुष्य के सब कामों को देखते हैं। यह कल्पना बहुत प्रचलित है। किंवन्दन्ती तक है—

अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मो हि जानाति नरस्य वृत्तम्।

इस विचार के बाद कहिये, अब कौनसा अनुरूप विचार अपरपक्ष से उठना चाहिये। देखिये, ८ वें मन्त्र में पति की पत्नी को यह दूसरी बार आज्ञा है। परन्तु पत्नी अभी अपना आग्रह छोड़ने को तैयार नहीं, अभी वह सब हृदय की शङ्काएं जब तक न मिटाले, तब तक अपने पति की परपुरुष से पुत्र प्राप्त करने की आज्ञा का पालन नहीं कर सकती। इसलिये वह अपना एक और विचार पति के सामने रखती है। हे सखे! तुम्हें अपना जीवन गुजरता दीखता है, और असमर्थता में आप मुझे परपुरुष से पुत्रोत्पन्न करने की आज्ञा देते हैं। परन्तु क्या आप उस दयामय परमात्मा को भूल गये। वह सबपर कृपालु सबको ज्ञान देने वाला और प्राण और जीवन का दाता हमपर अपनी कृपा-दृष्टि न करेगा? देखो।

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमी यमस्य बिभृयादजामि॥

रात्रीभिः कतिभिः अहभिः अहोभिः अस्मै अस्मभ्यं स परमात्मा दशस्येत् दद्याद् अभिलषितम्। तस्य सकलप्रेरयितुः सूर्यस्य परमात्मनः कृपामयं चक्षुः मुहुः पुनरपि उन्मिमीयात् विकसितं स्यात्। तस्य कृपादृष्टिः पुनरापतेत्, तर्हि द्यौलोकेन सूर्येण सह पृथिव्याः इव मिथुनौ आवां सबन्धू स्वः तदावयोरेव यमी पुनः यथाविधि नियमपालिका सती तवापि ब्रह्मचर्यसम्पन्नस्य यमिनः यमस्य वा अजामि दोषरहितं यथा स्यात् बिभृयाद् गर्भं धारयेत्। किमाश्चर्यं सति परमात्मन कृपालेशे। सोऽपि सम्भाव्यते।

(स्यात् ?) कुछ दिनों और कुछ रातों के बीतने पर वह (भगवान्) बख्श

दे। सबके प्रेरक प्रभु (सूर्य) की कृपामय आंख (चक्षुः) फिर हमपर खुलकर पड़े, और देखे कि, हम दोनों द्यौ के साथ पृथिवी के समान जोड़ा बनकर सबन्धू हैं। तब यमी ही यम के लिये विना किसी (शुक्र या रज के) दोष या कलङ्क या सङ्कोच के पुत्र उत्पन्न करदे।

मुहुः शब्द से प्रतीत होता है कि, इन पात्र या पात्री पर पहले भी सूर्य की चक्षु पड़ी थीं, और देखा था कि, ये दोनों दिवः-पृथिवी के समान जोड़ा हैं। वह पहली बार जब ग्रन्थि-बन्धन होकर सूर्य-दर्शन किया था, तभी का स्मरण किया गया है। यमी चाहती है कि, फिर उसी जोश और उत्साह से किसी कुलगुरु के अधीन एक बार फिर तपस्या करके * "यम-यमी" बनकर पुत्र पैदा करें।

परन्तु पति अभी भी, इतना उत्साह दिलाने पर भी अपने को असमर्थ पाता है, और वही विचार कहता है, जैसा एक आशा रहित पुरुष कहा करता है। अब हमसे नहीं होसकता, हमसे अगले आने वाले करेंगे इत्यादि। सो ही भाव अगले मन्त्र में मन्त्रद्रष्टा के दृष्टिपथ में उतरे हैं।

आघातागच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।

उपर्बृहि वृषभाय बाहुम् अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥

गतानि उत्तरा उत्तराणि एतदुत्तरकालेन प्राप्तव्यानि युगानि मिथुनानि द्वन्द्वानि आगच्छत् आगन्तारः। यत्र जामयः पुत्रवध्वः अस्मत्पुत्रिकाश्च, अजामि दोषरहितम् कृणवन् पुत्रोत्पादनं कर्त्तारः। आवयोर्जीवने एतदसम्भवमित्यर्थः। तत्। उपवर्बृहि उपधेहि वृषभाय, रेतः सेचनसमर्थाय पुरुषाय बाहुम् आत्मनो बाहुलताम्। हे सुभगे! तादृशमेव वीर्यसेचनसमर्थं मदन्यं निर्बलात् सन्तानोत्पादनेऽसमर्थात् निर्वीर्यादन्यं पुरुषं प्रतिमिच्छस्व कामय।

वे आगे आनेवाले जोड़े होंगे, जिनमें बहुएं और बेटियां निर्बाध होकर निर्दोष पुत्रोत्पादन करें, और तुम अब वीर्य-सचन में समर्थ नरपुङ्गव को अपनी बाहुलता का सुख (गलबहियां) दो। हे पति! मुझसे अन्यको अपना पति चाहो।

यह तीसरी बार आज्ञा है। इसमें अपने से अतिरिक्त 'वृषभ' वीर्य-सेचन करने में समर्थ पुरुष को महत्व देकर अपने को स्पष्टरूप से वक्ता ने सन्तानोत्पादन में असमर्थ स्वीकार किया है। यही बात ऋषि दयानन्द ने लिखी है।

---

* जैसे वसिष्ठ के अधीन दिलीप और सुदेष्णा ने किया था।

इस मन्त्र में 'जामि' 'अजामि' शब्द पर बड़ा विवाद है। निरुक्तकार ने इस शब्दपर अच्छा प्रकाश डाला है। उसने जामि शब्द के सब प्रयोगों को दर्शाया है।

"न जामये तान्वोरिक्थमारैक्"

इस मन्त्र का अर्थ करते हुए 'जामये' का अर्थ 'भगिन्यै' किया है। इसी अन्धपरम्परा से अगले भाष्यकारों ने भी जामि शब्द का अर्थ भगिनी ही करने का आग्रह किया, परन्तु यदि निरुक्तकार के उद्धृत मन्त्र पर विचार करते, तो 'जामये' का अर्थ 'भगिन्यै' करने का कारण भी स्पष्ट होजाता और यह भी पता लग जाता कि, 'जामये' का शब्दार्थ भगिनी नहीं है प्रत्युत 'कन्या' मात्र है।

आपही उस मन्त्र पर विचार करले। न जामये तान्वोरिक्थ मारैक् ताच जामिको धन नहीं देता। तान्व का अर्थ है 'तनूज' शरीर से पैदा होने वाला लड़का। जामिकौन जिसमें और अपत्य पैदा कर सकें। एक ही घर के दाय भाग के बांटने के अवसर पर यह कहना कि लड़का लड़की को धन नहीं देता। ऐसी दशा में लड़की का अभिप्राय 'वहन' होता है। इसी अभिप्राय से निरुक्तकार ने जामये' का अर्थ भगिनी किया है। वास्तव में 'जामि' की व्युत्पत्ति है 'जनयन्ति जाम् अस्यां' जिसमें अपत्य उत्पन्न किया जाये। तव आपही निर्णय कर सकते हैं कि अगले जोड़ों में 'जामि' का अर्थ पुत्र वधू और बेटियां होना उचित है या बहन। इसमें निरुक्तकार का दोष नहीं है। यह अन्धे का दोष है कि उसे आगे खड़ा ठूंठ नहीं दीखता। न कि ठूंठका। यह लकीर के फकीरों का दोष है जो प्रकरण को बिना देखे अर्थजान लेने की कोशिश करते हैं। प्रकृत अर्थ यही है कि "अगली जोड़ियों में वहू बेटियां दोष रहित सन्तान उत्पन्न करें। इत्यादि।

इस प्रकार जब तीसरीवार भी पति की वहीं आज्ञा होती है कि मैं असमर्थ हूं तुम समर्थ के पास से पुत्र प्राप्त करो। तो पत्नी क्या कहे? अपने सहज स्त्री स्वभाव-सुलभ संकोच की रक्षा करने के लिये वह फिर एक युक्ति दे सकती है। वह युक्ति अवश्य आक्षेप के समान होनी चाहिये। देखिये जैसे-वह कहेगी मैं तुमारी पत्नी हूं तुम मुझे दूसरे से पुत्र प्राप्त करने को कहते हो तो क्या तुम भाई हो कि तुम पति नहीं बनते? क्या मैं बहिन हूं कि बिना चारे के यहां से पराये के पास चली जाऊं? इतना कह कर वह चुप होजाती है। और कुछ सोच कर कि पति की आज्ञा टाली नहीं जा सकती ऐसे आक्षेप से इन्कार करना

गुस्ताखी होगी सो फिर बात पलटती है और कहती है कि "मैं तो पुत्रकी अभिलाषा से यह सब कुछ कह रही हूं कि तूही अपने शरीर से मेरे शरीर का संपर्क कर। फलतः मन्त्र इस प्रकार है:—

मन्त्र ११—

किं भ्राता सद् यदनाथं भवाति किमु स्वसायन्निर्ऋतिर्निगच्छात।
कामसूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मेतन्वंसंपिपृग्धि।

किं भवान् भ्राता? यदनाथं भवाति नाथो न भवति। नाथएव नभ्राते त्यर्थः। किमु इयमहं ते स्वसा यदियं निर्ऋतिः निर्गतिका सती निगच्छात् पुरुषान्तरं गच्छेत्। कामयता तवानुरागबद्धा एतद्रपामि यत् तन्वा यत् शरीरेण आत्मन स्तन्वः शरीरसाम्यं पृग्धि संगमय। नाहमनाज्ञा कारिणी तवनियोगमुल्लंघयामि अपितु तपानुरागबद्धासती आग्रहं कृतवती इतिभावः।

क्या आप भाई हैं कि आप नाथ नहीं बनते। क्या यह स्वसा है कि बिना चारे के होकर पर पुरुष के पास चली जाय। आपके अनुराग में बंधी मैं यह बहुत कुछ कह रही हूं कि मेरे शरीर से अपने शरीर को युक्त करो।

इस मन्त्र का अर्थ करते हुए सबने खेंचा तानी की है। भाई बहिन का पक्ष मान लेने पर बहिन का यह कहना कि "तुम भाई कैसे कि मैं अनाथ होरही हूं" यह एक बड़ी हास्य जनक बात है। इसी प्रकार अन्य चरणों का अनुवाद करते हुए भी उनको बहुत २ अध्याहार करना पड़ा है। सीधा अर्थ कोई नहीं करपाया। कोई २ स्मृतियों के प्रमाण ठोंस २ कर अपने अर्थ को चमकाते हैं। परन्तु यहां सांच को आंच नहीं। अच्छा अब आगे चलिये। १, ३, ९, ११ में पत्नी ने पति पर आग्रह किया कि तुम ही पुत्र पैदा करो। पर उत्तर में अभी तक दो बार वह कह चुका कि! मैं असमर्थ हूं। दूसरे से पुत्र पैदा करलो। पर वह देखता है कि पत्नी बहुत आग्रह करती है। और आक्षेप भी करती है। अब क्या कहे? आखिर अपना पीछा छुड़ाने के लिये वह भी कह देता है अच्छा हां हम भाई ही सही, तुम बहिन ही सही। मैं अपना शरीर तुमारे शरीर को न छुआऊँगा। इसको भी तो पाप ही कहा है कि बहिन के साथ संग करे। मुझ से दूसरे के साथ तू अपने पुत्र प्राप्ति के उत्कृष्ट प्रमोदों को पैदा करले। मैं तेरा भाई ही सही

मैं इस कार्य की कामना नहीं करता'। *

मन्त्र इस प्रकार है—

मन्त्र १२—

नवाउते तन्वा संपिपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारंनिगच्छात ।

अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व नते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत ॥

वेति वितर्के यदयं वितर्कः किंभ्रातासद् किमुस्वसा, इत्यादिरूपः। तेन वितर्केणापि तेनचा तन्वं न सम्पपृच्यां कुतः यतः तव वितर्कानुसारंतु पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् निगच्छति। अतोऽपि ब्रवीमि यत् अन्येन यत्, मदतिरिक्तेन करणेन सह प्रमुदः पुत्रोत्पादनरूपाः नवाभिलाषाः कल्पयस्व साधय। तथैव तवा क्षेपानुसारं यस्ते भ्राता स एतत्प्रमुदांसाधनं न वष्टि न कामयते।

वा इस मन्त्र में वितर्क अर्थ में आया है। पति पत्नी सम्बन्ध होने पर भी पत्नी ने आक्षेप में कहा क्या तू भाई है या क्या मैं बहिन हूं यह वितर्क है। अच्छा यही सही (वा) तो भी तेरे शरीर से अपने शरीर को मैं न छुआऊंगा क्योंकि जो बहिन के साथ भोग करे उसको बुरा गिना जाता है। मेरे से भिन्न दूसरे पुरुष से पुत्रोत्पादन रूप मन की अभिलाषाएं पूरी कर। (तेरे कथनानुसार) तेरा भाई हे सुभगे ! यह नहीं चाहता।

इस प्रकार कटाक्ष से कहने पर भी स्त्री का संकोच व लज्जाशील हृदय माना नहीं। पत्नी के हृदय ने अपने प्राणेश्वर के दिलकी टोह लगाने का और एकबार प्रयत्न किया और इसमें व्यतिरेक युक्ति से काम लिया। एक तो भाई होने का आक्षेप करके परखा अब दूसरा उससे भी आगे एक कदम बढ़ कर आक्षेप किया कि:—

मन्त्र १३—

वतो वतासि यम नैवतो मनो हृदयं चा विदाम ।

अन्याकिलत्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम ॥

हे यम ! वतो दुर्बलोऽसि वत ! नैवतो मनो हृदयं च अविदाम। प्रवीयते यत् अन्या काचित् कक्षगता बन्धनरज्जुरिव युक्तमश्वं त्वां परिष्वजाते आलिंगति। वृक्षं लिबुजालतेव। नचेदेवं कुत एतावान् विराग इत्याशङ्का हृदय परिज्ञानार्थम। किलेति सम्भावना।

* शरीर से सम्पर्क कराने का आग्रह पत्नी का यह वैसा ही है जैसा माद्री का पाण्डु से था। भोग के साथ ही कोई पतिपर था पत्नी पर अनिष्ट की भी आशंका है जो पति को वैसा करने से रोकती है। महर्षि ने भी यही दृष्टान्त दिया है।

हे यम ! तुम बड़े दुर्बल हो ? असमर्थ हो ? यम। तेरे मन और हृदय, को हम न जान पाये। जैसे जुते हुए घोड़े को कमर बंध और वृक्ष को लता आलिंगन करती है। उसी प्रकार क्या कोई और तुझ को भी आलिंगन करती है। नहीं तो ऐसा विराग क्यों ?

"मनः" जो विचारता और ऊहा वोह करता है। "हृदय" जो प्रेम और अनुराग का अनुभव करता है। दोनों हीं नहीं समझ आये। अर्थात् पता नहीं तू शास्त्रीय या वैज्ञानिक कारणों से मेरा परिहार करता है या हृदय में विराग हो गया है। क्या मुझ से दिल टूट कर दूसरे से लगा है। केवल सम्भावना है। भोग पराङ्-मुख देख कर ही यम (क्रूर हृदय) सम्बोधन भाव गर्भित है।

इस पर पति चुप होजाता है। और अपनी अन्तिम आज्ञा इस प्रकार देता है।

अन्यमूषत्वं यम्यन्य उत्वां परिष्वजातेति वुजेव वृक्षम्।

तस्य वात्वं मन इच्छा सवात वाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥

अन्यम् उ सु त्वं परिष्वजस्वेतिशेषः। हे यमि ! अन्यः उत्वां परिष्वजाते परिष्वजतु लिवुजेववृक्षम। अथवा, तस्य वात्वं मन इच्छा काम य सच तवैव मनः काममतु। अत्र एवं परस्पर वार्त्तालापे या इय मावयोः संवित् (निश्चयो) जाता तामेव सुभद्रां (संविदं) सुख कल्याण कारिणीं कृणुश्व कुरु।

हे यमि ! हे पतिव्रते ! मैं तुझे अब आज्ञा देता हूं कि तू वृक्ष की लता के समान निःशङ्क होकर दूसरे को आलिंगन कर और दूसरा पुरुष तुझे अङ्गस्पर्श करे। अथवा तू उस के मन को चाहे या वही तेरे मन को चाहे। तो भी मैं चाहता हूं कि तू अपने इस पुत्रोत्पादन रूप निश्चय को सुफल कर इस मति (निश्चय) को सुख और कल्याण करने योग्य बना।

यह यम का अन्तिम वचन है। इस पर यमी पत्नी आज्ञा को स्वीकार करती हुई मौन है।

मन्त्र के उत्तरार्ध में से स्वामी का वह भाव टपकता है कि नियोग दोनों प्रकार से हो सकता है। स्त्री पुत्रैषिणी हो और वह अपनी पुत्र कामना से पति की आज्ञा लेकर पुरुष के पास जाय या इसी प्रकार कोई पुरुष पुत्रैषी हो, पर उस की पत्नी निःसन्तान हो बन्ध्या हो दोष युक्त हो, पुत्र जनने में असमर्थ हो तो पुरुष की इच्छा को देख कर वह जासकती है। यहां परस्पर जाना भी—

'हताश्वरग्ध दग्धा न्याय' से ही सम्भव है।

हमारी समझ में इसी प्रकार सूक्त की सङ्गति लगती प्रतीत होती है और यही सब से सरल एवं भाव पूर्ण ढंग है।

इस में खेंचातानी करके शब्दों का अनर्थ भी नहीं होता और महर्षि के भाव की भी पूर्ण रूप से रक्षा एवं सङ्गति लगती है।

आगे विद्वान् स्वयं प्रमाण हैं; और आलोचना का क्षेत्र सब के लिये खुला है। मेरी व्याख्या जिन को सन्तोष देगी, उन ही की तुष्टि देखकर मैं अपना यत्न सफल समझता हूं। यदि इतने से भी तुष्टि न हो तो भी जिज्ञासु अधिक अनुशीलन करेंगे यह देख कर हृदय प्रसन्न होगा।

यदि स्त्री विधवा है तो ऐसी दशा में पति के स्थान पर जो भी उस का गार्जियन, संरक्षक या अभिभावक हो वह पति की तरफ़ से तत्स्थानापन्न होकर पुत्राभिलाषिणी स्त्री को आज्ञा दे सकता है कि वह नियोग द्वारा सन्तान पैदा करके अपने पति का वंश चलावे। जैसे भीष्म और माता सत्यवती, के आदेश से विचित्र वीर्य के क्षेत्र में व्यास देव से पुत्र पैदा कराये गए थे।

समुद्र

(श्रीयुत पं० चमूपति जी "आर्य सम्पादक" अफ्रीका)

यह अनन्त निस्तल अधीरता, व्याकुलता का पारावार।
क्या है, क्यों है, दौड़ा जाता, कौन किसलिये किसके द्वार।
ऊँची नीची लहरें उठतीं—पटक रहीं सिर, किसकी खोज?
झाग उगलतीं दाँत पीसतीं, क्या यह मतवालों की मौज?
झंझा कब की मार रही पर, फड़क रहा सन्तप्त हृदय।
व्योम-व्यापिनी पीडा! तुझको, आ थामेगा कौन सदय?
कौतुक है? नाटक है? क्या है? सूत्रधार लीला का कौन?
हा! असीम अविरत-कोलाहल! साध लिया क्यों तूने मौन?
यही समस्या मन की मेरे, यही हृदय का मेरे सार—
यह अनन्त निस्तल अधीरता, व्याकुलता का पारावार।

कारागोला ३१—७—१९२५

यह कविता भारत से अफ्रीका जाते हुए मार्ग में समुद्र के वक्षस्थल पर जहाज़ में लिखी गई है। "उप सम्पादक"

साहित्य-समीक्षा।

हिन्दी पुष्करः सचित्र मासिक पत्र। सम्पादक गंगासहाय पाराशरी जी वार्षिक मूल्य २॥) प्रबन्धक हिन्दी पुष्कर बरेली से प्राप्तव्य लेख तथा कविताएं और छोटी २ कहानियां पढ़ने लायक हैं—

विचित्र ब्रह्मचारी—ले० श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती मूल्य =)। इस पुस्तक में बातचीत के मनोरञ्जक ढंग से ब्रह्मचारी का आदर्श जीवन कैसा होना चाहिए इस विषय पर प्रकाश डाला है। कहानी मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है—

गीताप्रवचनामृत मूल्य ≡) लेखक पण्डित विष्णुमित्र जी आर्य्योपदेशक। इस पुस्तक में गीता के श्लोकों की विषय वार सरल हिन्दी में श्लोकों के साथ व्याख्या की गई है। गीता के एक विषय के श्लोक इकट्ठे कर दिए हैं। गीता का प्रारम्भिक अभ्यास करने वालों के लिए पुस्तक उपयोगी है। यह दोनों पुस्तकें प्रकाशक वजीरचन्द्र शर्म्मा अध्यक्ष वैदिक पुस्तकालय मोहनलाल रोड लाहौर के पास से प्राप्त हो सकती हैं—

पं० वजीरचन्द्र जी के यहां से बालकों के लिए धर्म की पहिली पुस्तक भी छपी है मूल्य -)॥ है। लेखक अध्यापक हंसराज जी उपप्रधान आर्य्य कुमार सभा भेरा शाहपुर है। वैदिक मन्त्र तथा स्मरणीय धर्म वाक्य और भजनों का अच्छा संग्रह है—

आर्य्योद्देश्य रत्नमाला का अंगरेज़ी अनुवाद भी इसी पुस्तकालय से मिलता है कीमत -) अनुवादक बाबा अर्जुनसिंह आर्य्य-पत्रिका के भूतपूर्व सम्पादक हैं—

ॐ की नीली सुनहरी तसवीर गायत्री मन्त्रों के साथ शिरोमणि पुस्तकालय लाहौर से मिलती है। १०० तसवीरें २॥) में मिलती हैं। तसवीर गायत्री मन्त्र याद कराने में उत्तम साधन बन सकती है—

सम्पादकीय विचार ।

आर्य्य समाज और सत्याग्रह—

मसूरी में आर्य समाज का वार्षिकोत्सव २८, २९ अगस्त को होना निश्चित हुआ था। परन्तु मसूरी के डिस्ट्रिक्ट कलक्टर ने मसूरी शहर के कुछेक मुसलमानों के एतराज़ करने पर,नगरकीर्तन बन्द कर दिया। डिस्ट्रिक्ट कलक्टर ने आर्य समाजियों के डेपुटेशन ले जाने तथा आज्ञा लौटाने की प्रार्थना करने पर आज्ञा बदलने में असमर्थता प्रकट की। मसूरी में एकत्रित आर्य भाइयों ने सार्वजनिक सभा में प्रतिवाद कर वार्षिकोत्सव बन्द कर दिया है। यू०पी प्रांतीय सरकार के पास इस आज्ञा को रद्द करने की प्रार्थना भी की गई है। यू० पी सरकार क्या जवाब देगी कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु युक्तप्रांत के अन्य शहरों तथा देहातों में(मुराद नगर आदि में) प्रान्तीय सरकार ने आर्यसमाज के साथ जो व्यवहार किया है उससे तो यही अनुमान करना चाहिए कि यू०पी सरकार इस आज्ञा को नहीं बदलेगी। हमारी राय में इस समय वह अवस्था आगई है जब कि यू०पी आर्य प्रतिनिधि सभाको दिन रात इस प्रकार आने वाली अड़चनों को दूर करने के लिए,कानूनी रास्तों के बन्द होने पर अहिंसात्मक धार्मिक सत्याग्रह की तय्यारी करनी चाहिए। आर्य समाज जैसी धार्मिक सस्थाओं के पास लाचारी हालत में और कोई साधन नहीं है। प्रांतीय सरकार को चाहिए कि वह इस विषय में उचित हस्ताक्षेप कर मामले को बढ़ने मत दे।

ऋषि दयानन्द और गुरुकुल शिक्षा प्रणाली—

पिछले दो तीन सप्ताहों से गुरुकुल वृन्दावन तथा गुरुकुल ज्वालापुर के सम्बन्ध में आर्यमित्र तथा पं० नरदेवजी द्वारा सम्पादित शंकर में कई तरह के विचार प्रकाशित किए गए हैं। शंकर में गुरुकुल ज्वालापुर सम्बन्धी विचार धारा इस समाचार के साथ समाप्त हो गई कि म० हंसराज जी बी०ए० (भूतपूर्व प्रथम प्रिन्सिपल डी० ए० वी कालेज ज्वालापुर गुरुकुल की प्रबन्ध समिति के प्रतिष्ठित सभासद् चुने गए हैं।

गुरुकुल वृन्दावन के सम्बन्ध में जो लेख प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं उनसे पता लगता है कि वहां दो तरह के विचार काम कर रहे एक तो वह जो ऋषि दयानन्द प्रतिपादित शिक्षा प्रणाली का अक्षरशः पालन करना चाहते हैं और दूसरे वहजो ऋषि दयानन्द की इस स्पिरिट को मानते हैं हमें कि:—हमें आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन

विशेषतः ज़ारी रखते हुए समयानुसार आवश्यकतानुसार अन्य आवश्यक बातों की भी साथ२ शिक्षा देनी चाहिये। ऋषि दयानन्द रूढि को नष्ट करने आए थे वह आत्मदर्शी थे इस बात को ख्याल में रखते हुए हमारी राय में गुरुकुल वृन्दावन के सञ्चालकों को मिल कर बीच का रास्ता निकालना चाहिए। इसी में आर्य समाज का भला है।

आसाम में वैदिक धर्म की गूंज—

पं०—यशःपाल जी सिद्धान्तालङ्कार पंजाब प्रतिनिधि सभा के प्रसिद्ध आर्योपदेशक कुछ मास के लिए श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी की ओर से आसाम वैदिक धर्म प्रचार करने गए थे। ३ मास तक पं० यशपाल जी ने आसाम में रह कर वहां आर्य समाज के विषय में लोगों को परिचय कराया। आसाम का प्रांत किसी समय भारतीय वैदिक सभ्यता का केन्द्र था यहां से चीन वर्मा में वैदिक धर्म का प्रचार होता था, परन्तु आज वहां ईसाई तथा मुसलमान भाई अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे हैं। इस समय आसाम निवासियों को वैदिक धर्म का सन्देश सुनाने का कोई उत्तम साधन नहीं है। पं० यशपाल जी कारण वश बीच में ही लौट आए। अभी कलकत्ता तथा विहार के आर्य सज्जनों ने आसाम में वैदिक धर्म प्रचार की विशेष आवश्यकता बताई है। यह कार्य विना धन के नहीं हो सकते। धर्म प्रेमी आर्य सज्जनों को चाहिए कि वह आसाम में वैदिक धर्म प्रचार के लिए विशेष दान कर वहां प्रचारकों को भेजने की सहूलियतें पैदा करें। आसाम में वैदिक धर्म की जो गूंज पैदा हो गई है उसे ज़ारी रखना आर्य जनता के हाथ में है।

यम-यमी सूक्तः—

आर्य्य में यमयमी सूक्त के सम्बन्ध में पं० चमूपति जी का जो लेख प्रकाशित हुआ था उसके कारण आर्य्य विद्वानों के दिमागों में—इस सूक्त के सम्बन्ध में काफी चर्चा हो गई है। उसलेख पर शङ्का समाधान करने के लिए कई लेख समाचार पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं और कई सज्जन हमारे पास अपने विस्तृत लेख छपने के लिए भेज रहे हैं। वैदिक धर्म में पं० सातवलेकर जी ने मूल लेख पर जो आपत्तियां की थीं उन पर आर्य्य में विचार प्रकट किया जा चुका है। इसके वाद गुरूकुल के वेदोपाध्याय पं० चन्द्रमणि जी ने अलंकार में यम-यमी-सूक्त पर समालोचनात्मक लेख प्रकाशित किया है। पं० चन्द्रमणि

जी के लेख में प्रायः पं० सातवलेकर जी के लेख की छाया में ही विचार किया गया है, इसकी झलक "विभेत्यल्प श्रुताद्वेदः" लेख की ध्वनि से दिखती है । आर्य्य के प्रस्तुत अङ्क में पं० जयदेव जी शर्मा विद्यालङ्कार का लेख प्रकाशित किया गया है-इसमें पं० चन्द्रमणि जी के लेखकी परस्पर विरुद्ध बातों का दिग्दर्शन करा दिया गया है। पं० जयदेव जी के लेख के सम्बन्ध में हम अपने विचार अगले अङ्क में प्रकाशित करेंगे । हम यम-यमी सूक्त पर विचार करने वाले तथा लेख लिखने वाले विद्वानों से निवेदन कर देना चाहते हैं कि वह अपने विचार संक्षेप से पुनरावृत्ति दोष को दूर कर के ही प्रकट करें तो इसमें हमें तथा अन्य विचारकों को सहूलियत होगी, और उनका समय भी बचेगा ।

आर्य्य-समाज और देवनागरी लिपिः—

देव नागरी लिपि भारतीयता की लिखित मूर्ति है। ऋषि दयानन्द ने प्राचीन वैदिक सभ्यता को जागृत करने के लिए जहां ब्रह्मचर्य्य व्यवस्था तथा आर्ष ग्रन्थ के अध्यापन पर विशेष बल दिया था वहां उन्होंने आर्य्य भाषा के प्रचार के साथ २ देवनागरी लिपि के विस्तार के लिए भी पर्याप्त जोर दिया था। आर्य्य समाज ने इस समय तक आर्य्यभाषा प्रचार के लिए थोडा बहुत यत्न किया है। परन्तु देवनागरी लिपि के विस्तार के लिए नाम मात्र का उद्योग किया है, ऋषि दयानन्द गुजराती थे गुजराती होते हुए भी उन्होंने प्रान्तीय-लिपि को छोड़कर देवनागरी लिपि को अपनाया था। ऋषि दयानन्द के इस सिद्धान्त को भारत के बड़े २ विद्वान् स्वीकार कर रहे हैं । २९ अगस्त के नव जीवन में महात्मागांधी लिखते हैं:—

गुजरात में———देवनागरी को अनिवार्य करना तय किया है । इसलिए वहां हरेक गुजराती लड़का या लड़की जिसने किसी मदरसे में तालीम पाई है; देवनागरी और गुजराती दोनो लिपियों को जानता है । यदि उन्होंने सिर्फ देवनागरी लिपि ही तय की होती तो और भी अच्छा होता। ऋषि दयानन्द के कड़े समालोचक भी उसके सिद्धान्तों को अपने जीवन में स्वीकार कर रहे हैं । क्या ऋषि दयानन्द के शिष्य आर्य्य समाज के प्रतिष्ठित तथा साधारण सभासद् वैयक्तिक तकलीफों को सह कर घर-बाहर देवनागरी के प्रचार में अग्रसर नहीं होंगे ?

…आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन ला…

ब्यौरा आय—व्यय बाबत मास श्रावण संवत् १९८२ विक्रमी।

…निधि	बजट आय	इस मासकी आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय
…य सभा					६५३॥)
		४९।-)	६७०-)॥।		
।					३८)
			१५०)		
…र्थ प्रकाश आज्ञा			१२५)		
…पसेज़ आफ					
स्वा० दयानन्द			६०)		
योग		४६।-)	१००५-)॥।		६६१॥)
…ालय वेद प्रचार					६६)
…वैदिक पुस्तकालय		४०)	१८८)		३६४॥-)।
…र्ग		८८।≡)	२९॥-)।		३१२॥≡)
…आना निधि		३॥)	३०॥-)		
			२८।≡)		
…उपदेशक					६७४-)
…व्यय					५३४-)
…जीवन					२२-)॥
…कोष					९०॥=)
योग		१३१॥≡)	५६७॥-)॥		२०६४।-)…
…प्रचार		७५०॥=)४	३९०?॥=)१०		
…राम स्मारक निधि		१५॥)	८७॥)		
…तन् उपदेशक					२।)
…र्ग व्यय					
…ारा विधवा पं०					
,, तुलसी राम					१०)
,, पं०वज़ीरचंद					८)
योग		१५॥)	८७॥)		२०।)
…बैंक		२२७॥≡)।	१४९५१॥=)१०		॥≡)
…र्जा			७४॥)		
…आय व्यय		८६)	२१६॥-)		२५।-…
…रा मकान		२)	८)		
वार्षि… योग		३२५॥≡)।	१५२५३॥≡)१०		२६)…
…त अन्य संस्था		१४८)	३२६॥-)		१०३…
आर्य समाजें		१५०॥=)॥	८८॥≡)॥		२२…
…वैदिक पुस्तकालय		४०)	५०)		
विद्यार्थी आश्रम					१४…
अम्बालाल					
दामोदरदास					
		३४६॥=)॥	१३२७॥)॥		

र्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन लाहौर

व्यौरा आय-व्यय बाबत मास श्रावण संवत् १९८२ विक्रमी ।

	बजट आय	इस मास की आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस
देवी						
दाराम			४४५५)			२१॥
द्यानन्द						
बाई			५००)			१८॥)
न्द					४०)	१६०)
राम					२५)	१००)
दास			१०००)			
			५९५५)		६५)	३००)॥
		२७=)॥	२११॥-॥		७२७॥=)॥।	२५२६
					२३५)।	९३१)
		८८॥≡)।	३२२≡)११			५४॥)
ालय		३२७२)	११७७१≡)॥।		४६९॥≡)।	२१८७५
ाम		५८३)	१८२०॥=)		१६२=)	७८५॥
		३८८)	१३११।-)		६४३॥)	१०३
		८)	८०।)		२६।-)	२॥≡)
			५४२१॥≡)			
ेश्वर						
ष			२००००)			
			६५॥=)।			१८॥)
			५)			
						६७॥)
		३०)	४०)		१८॥)	१८॥)
		५००)	१११०)			
					९०)	९०)
					५३॥=)	५३॥=)
		४८७७)॥।	४२१६०-)५		२४२५॥≡)॥।	२७४६९)
			३०६०३॥=)॥			३७१८२
			३०)			
			१६३०)			
			५८४०५)॥			
			३६७८=)।			६५६८।
स			६०७८४-)।			४३७५०॥-
अंग्रे		६४९७।)१०	१६१०१३।)१०		५६२६-)	८९५२१॥
	१	१२७८९७≡)७	१०५६२७६॥=	१०		
		१३३३९४॥)७	१२१७२९०)८	१०		
		५६२६-)	८०५२१॥)३			

किया गया
है । आर्य्य
शात किया
दिग्दर्शन
ते विचार
ाले तथा
विचार
था अन्य
नन्द ने
तथा
भाषा
दिया
बहुत
उद्योग
-िय-
स
तब
ोम
न्होंने
नन्द
कर
ारण
में

[Regi]stered. No. L. 1424. रजिस्टर्ड नं० एल १४२[४]

* ओ३म् *

[भ]ाग ६ सितम्बर १९२५
[अ]ङ्क ४ भाद्रपद १९८२

आर्य्य

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना ।

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृणवन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्णः.

ऋग्वेद ।

हे प्रभु ! हम तुम से वर पावें ।
विश्व जगत् को आर्य बनावें ॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें ।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें ॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें ।
प्रीति-नीति की रीति चलावें ॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

[...]चन्द्र लखनपाल प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से बाम्बे मैशीन प्रेस मोहनला[ल रोड]
लाहौर में छप कर प्रकाशित हुवा ।

विषय

विषय सूची ।

"आर्य्य" के नियम ।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है । (डाक सूचना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है) ।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है । सभा ने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है ।

३—इस पत्र में धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभा की सूचनाएं दर्ज होती हैं ।

४—पत्र में प्रकाशित होने के लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख़ के पूर्व आजाने चाहियें ।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के भीतर सूचना देने से वह अङ्क भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात् मंगवाने पर प्रति अङ्क ।≥) देने पड़ेंगे ।

* ओ३म् *

आर्य्य

भाग ६] लाहौर—भाद्रपद १९८२ सितम्बर १९२५ [अंक ४

[दयानन्दाब्द १०१]

विक्षुब्ध

(ले०—पं० चमूपति जी "सम्पादक आर्य" अफ्रीका)

तू क्यों है विक्षुब्ध ? हृदय !

शान्त सिन्धु है, शान्त पवन है । निर्मल निश्चल शान्त गगन है ।
विमल दिशाओंकी चितवन है । देख तुझे होता विस्मय । तू क्यों ? ॥१॥

मस्त मछलियां उड़ने वाली । फिरतीं इधर उधर मतवाली ।
अपनी उछल कूदकी जाली । उड़ीं ! उड़ीं !! गिर रहीं अभय । तू क्यों ?॥२॥

तुझे स्मरण किसका आता है ? किसे ढूंढता, नहिं पाता है ।
कौन झांककर छिप जाता है ? मुस्काता हा ! हा !! निर्दय । तू क्यों ? ॥३॥

शान्ति कहां ? माया है, छल है । सजा शून्य सा देवस्थल है ।
सूनी निश्चलता चञ्चल है । दीखो देव ! सुनूं जय ! जय !! तू क्यों ? ॥४॥

कारागोला २८ जुलाई १९२५,

यह कविता भारत से अफ्रीका जाते हुए मार्ग में समुद्र के वक्ष स्थल पर लिखी गई है । "उपसम्पादक"

यम-यमी सूक्तपर नया विचार।

(ले०—पं० जयदेव जी शर्मा विद्यालङ्कार, सम्पादक आर्य्य-जीवन कलकत्ता)

कुछ एक दिनों से आर्य्य-साहित्य-संसार में यम-यमी सूक्त पर बहुत चर्चा छिड़ी हुई है। सबसे प्रथम इसकी चर्चा पण्डित गुरुदत्तजी ने अपने वैदिक मैगज़ीन में की थी। पर वहां केवल पादरी टी० विलसन की समालोचना में प्रत्युत्तरमात्र लिखा था। वर्त्तमान में पं० चमूपतिजी ने "आर्य्य" (लाहौर) पत्र में यम-यमी सूक्त पर एक खोजपूर्ण लेख लिखा। जिस में समस्त सूक्त की व्याख्या स्वतन्त्र नियोगपरक करने का प्रयत्न किया है। परन्तु उसमें परिश्रम के अनुसार फल प्राप्त नहीं हुआ। उन्होंने कतिपय शब्दों के अर्थ करनेमें बहुत खचा-तानी की, जिससे वैदिक-अनुशीलकों को वह व्याख्या रुचिकर नहीं हुई। उसके विरुद्ध प्रथम आवाज़ पं० सातवलेकरजी ने अपने "वैदिक-धर्म" में की। वह आलोचना अपने पक्ष में पर्याप्त पुष्ट थी। परन्तु पूर्व लेखक ने अपने प्रतिवाद का प्रत्युत्तर भी योग्यता से लिखकर "आर्य्य" पत्र में दिया; और कुछ एक नवीन प्रमाण भी उद्धृत करके अपने पक्ष को स्पष्ट कर दिया। तो भी उनकी व्याख्या में से वह दोष नहीं गये। विश्वविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी के योग्य स्नातक पं० चन्द्रमणिजी विद्यालङ्कार ने पं० चमूपतिजी एम. ए. के दोनों लेखों की आलोचना करते हुए एक अच्छा अनुशीलन-पूर्ण लेख वहांसे निकलने वाले मासिक "अलङ्कार" में प्रकाशित कराया। हमने समस्त लेख साद्यन्त पढ़ा, परन्तु उसमें भी वह मनोरथ सिद्ध न हुआ, जो आर्य्य-विद्वानों की लेखनी से होना चाहिये था। आपने भी अपनी स्थापना में अद्भुत २ विचारों को स्थान देकर उनके अनुसार ऋषि दयानन्द के लेख की मरम्मत करने की कोशिश की। परन्तु उनका यत्न भी केवल सीधी रेखा के दोनों छोर मिलाने के यत्न की तरह व्यर्थ ही सिद्ध हुआ।

ऋषि दयानन्द के मन्तव्य के अनुसार यम-यमी सूक्त में "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" यह मन्त्रांश पुत्रोत्पत्ति करने में असमर्थ पति का अपनी समर्थ पत्नी के प्रति 'नियोग'परक वाक्य है। इसके विरुद्ध पं० चन्द्रमणिजी ने अपने पुराने अभिभावक भाष्यकारों के अनुसार इस सूक्त को भाई बहन का संवाद ही माना।

आपकी स्थापना है कि—

(१) यम-यमी सूक्त भाई बहन के बीच संवाद है, और महर्षि दयानन्द उनके पक्ष का पोषण करते हैं।

(२) वे दोनों सहजात भाई बहिन नहीं, पर सगोत्र भाई बहन हैं।

(३) यम पूर्ण संन्यासी है।

(४) नियोग पक्ष में यमी का पति जीवित है, परन्तु निःसन्तान है। यम भी अपनी पत्नी से निःसन्तान है, परन्तु यमी उससे नियोग करना चाहती है, वह यम उसको प्रत्याख्यान करता है।

इन स्थापनाओं को देखकर हमें बहुत हंसी आती है। क्योंकि ये स्थापना ही परस्पर विरोधी हैं।

(१) वे सगोत्र भाई बहन हैं, और नियोग चाहते हैं। दूसरा यम पूर्ण सन्यासी है। यदि यम संन्यासी है, तो फिर सन्तान की अभिलाषा कैसी, और नियोग कैसा?

(२) क्या सगोत्र भाई बहिन होना, यमी को नियोग के लिये सङ्कोच नहीं पैदा करेगा। प्रथम तो सगोत्रता, द्वितीय उसका संन्यासीपन, ये दोनों ही यमी को अपनी काम-वासना परित्याग करने के पर्याप्त कारण थे। यदि उसपर भी उसने प्रस्ताव कर ही दिया, तो ऋषि यमी और देवी यमी दोनों पद उसकी इस स्थिति के अनुरूप नहीं। पौराणिकों पर जो दोष हम दिया करते हैं कि उन्होंने पूर्वजोंपर ऐसी २ कथाएं गढ़कर कलङ्क लगाया, वही दोष आपपर भी लग रहा है।

इतने पर भी आप ऋषि दयानन्द को अपने पक्ष में मानते हैं, सो आश्चर्य है। ऋषि लिखते हैं:—

"जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवें, कि—अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्। हे सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री! तू (मत्) तुझसे (अन्यं) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर। क्योंकि अब मुझसे सन्तानोत्पत्ति न होसकेगी। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे।" इत्यादि।

अर्थात् ऋषि तो इस वचन को सगोत्र भाई या पूर्ण संन्यासी का वचन नहीं मानते, प्रत्युत् सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ (शक्तिरहित) पति का अपनी पत्नी

के प्रति वचन मानते हैं। इधर पण्डित चन्द्रमणिजी पूर्ण संन्यासियों में नियोग की चर्चा चला रहे हैं। क्या शोभा लगी, जब कि पूर्ण संन्यासी पूर्ण संन्यासिन को और किसी गृहस्थ या रण्डुए से नियोग के लिये कहें ? क्या कभी सगोत्र भाई का अपनी सगोत्र बहन को नियोग का आदेश करना नियोग कहा सकता है ? पण्डितजी ! पति के जीते जी स्त्री को नियोग की आज्ञा भाई नहीं दिया करता, प्रत्युत पति दिया करता है। 'नियोग' का अर्थ ही है, कि पति की असमर्थता में पति की आज्ञा से पर-पुरुष से सन्तान की उत्पत्ति करना, और अपने पति के तन्तु को चलाना। न कि भाई की आज्ञा से।

पण्डितजी ! आप अपने लिखे पर बार २ विचार करें। पाठकगण ! प्रतिपक्ष का दोष दिखाकर अब मैं अपने पक्ष की स्थापना पर आपका ध्यान आकर्षण करता हूं।

(१) यम-यमी सूक्त में किसी का भी संवाद नहीं, न भाई बहिन का और न पति पत्नी का। यह केवल एक मन्त्रद्रष्टा के दर्शन में मन्त्र (मनन) का एक क्रममात्र है। इस सूक्त के कुछ मन्त्रों के द्रष्टा यम, कुछ के द्रष्टा ऋषि यमी है। पर मेरा कहना उस द्रष्टा से है, जिसने ऋक् संहिता का दर्शन किया। मन्त्र के अर्थों पर विचार करने से वह एक संवाद के समान जान पड़ता है। जैसे कवि के हृदय में पात्रों का संवाद विचारक्रम से उत्पन्न होता है, और पात्रों के नाम उनके वचनों में आये, सम्बोधनों से पता लगाते हैं, उसी प्रकार इस विचारक्रम में भी सम्वाद की ध्वनि है, और परस्पर सम्बोधन से व्याख्याकारों ने यम-यमी पात्रों का निर्णय किया। फलतः मैं भी इस सूक्त को संवादमय विचार दर्शन मानता हूं। इसमें मन्त्रद्रष्टा के हृदय में क्या पात्र थे, मैं नहीं कह सकता। १, २, ३, ४, ५, ६ इन मन्त्रों में पात्र कोई सखा हैं, जो गृहस्थ धर्म से बद्ध हैं। उनके पुत्र नहीं है, पर दोनों पुत्र चाहते हैं। ७, ९, १३, १४, इन मन्त्रों में यम-यमी पात्र प्रतीत होते हैं, परन्तु आपस का यम यमी नाम का सम्बोधन भी विशेष अभिप्राय से है, वह उनका निज नाम नहीं है। अपि तु गुण-द्योतक नाम है। शेष ८, १०, ११, १२ में भी पति-पत्नीपरक सम्वाद है। फलतः सारा सूक्त पति-पत्नी सम्वादपरक है।

(२) पति ऐसा पुरुष है, जो सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ है। स्त्री सन्तान उत्पन्न कर सकती है, तो भी वह अपने पति से ही सन्तान पाने का

कई बार आग्रह करती है, और पति के ४ बार निषेध करने पर नियोग की आज्ञा को स्वीकार करती है।

(३) संवाद के पात्र भाई बहन नहीं हैं। क्योंकि भाई बहन होने में एक भी मन्त्रगत प्रमाण नहीं है।

(४) पुराणाभिमत या (सम्भवतः लुप्त) इतिहासाभिमत यम-यमी स्त्री-पुरुषविशेष का संवाद भी नहीं है।

(५) भ्राता और स्वसा शब्द का अर्थ भाई और बहन ही है, दूसरा कोई उन्नीत अर्थ नहीं है। भाष्यकारों ने अपने ग्राम्यपन को निभाने के लिये सूक्त का भाई-बहनपरक अर्थ किया है, जो नितरां असङ्गत है।

(६) यदि ७, ९, १३, १४ के मन्त्रों में आये यम-यमी शब्द से यम-यमी सम्बाद मानलें तो भी यम-यमी कोई पुरुष स्त्री नहीं, प्रत्युत् वे सर्वत्र समानभाव से, व्यष्टि समष्टिरूप से एवं अध्यात्म, आधिदैवत, आधिभौतिक अर्थों में रूपकानुसार परस्पराश्रित कोई सम्बद्ध पदार्थ है, जिनमें कारणविशेष से पुंव्यक्ति (पुरुष भाव) अनुत्पादक है।

(७) आधिभौतिक पक्ष में यम, यमी, शब्दों से अग्नि और पृथिवी अर्थ-शतपथ ने लिया है। और अथर्ववेद के ब्राह्मण गोपथ ने अग्नि पृथिवी का पति पत्नी भाव माना है। कोई विद्वान् यम यमी से दिन रात, का ग्रहण करते हैं कोई और लौकिक पदार्थों को भी लेते हैं जैसे प्राण और चेतना, आत्मा और प्रकृति आदि। इन में जो सम्बन्ध भी कवि कल्पना कर लेते हैं उसी प्रकार निर्वाह होजाता है। वस्तुतः वे न भाई बहिन और न पतिपत्नी होते हैं।

(८) इस में संदेह नहीं कि अग्नि और पृथ्वी पतिपत्नीभाव से बद्ध हैं। वैदिक एवं शास्त्रीयपरिभाषा से भी पुरुष अग्नि है और स्त्री क्षेत्र या पृथिवी है। वे दोनों परस्पर मिलकर पुत्र उत्पन्न करते हैं और पतिपत्नी बनते हैं।

(९) यदि पुरुष की प्रकृति 'अग्नि' न होकर जल की हो तो सन्तान न होगी और उन का सम्बन्ध विफल जायगा। क्योंकि यह उत्पन्न होने वाला संसार 'अग्नि षोमात्मक' है। यदि कारण अग्नि-सोम न हुए तो अगला कार्य उत्पन्न न होगा।

(१०) मैं वेदों के मन्त्रों को ऋषि की मानस भूमि में प्रत्यक्ष होती हुई ज्ञान धारा समझता हूं जो उन्होंने ईश्वर की प्रेरणा से साक्षात् की। और उन में

उन्होंने आध्यात्मिक आधिभौतिक,आधिदैविक लौकिक वैयक्तिक और सामाजिक सत्यों को अन्तर्दृष्टि से साक्षात् किया; और उचित शब्दों में निर्देश रूप में प्रकट किया।

ये १० स्थापनाएं मैं स्वतः मानता हूं। और इन की रक्षा करते हुए मैं यम यमी सूक्त को उसी प्रकार मानता हूं जैसे ऋषि ने दिग्दर्शन कराया है। उसी विचार से पाठकों के समक्ष इस सूक्त के १४ मन्त्रों की व्याख्या प्रकट करता हूं। साथ ही साथ अपने प्रति वादियों के विचारों और व्याख्याओं की त्रुटियां भी दिखाऊंगा। सम्भव है मेरे विचारों में भी पर्याप्त दूषण हों तो भी अगले विचारकों के लिए अवसर खुला हुआ है।

व्याख्या।

नत्वा श्रीमद् दयानन्दं गुरुं परमभास्वरम्।
यत् कृपालेशतः श्रीमद्दयानन्दो जगद् गुरुः ॥१॥
व्याख्यास्ये वैदिकं सूक्तं यमयम्योः सदर्थवत्।
दयानन्दर्षि निर्दिष्ट दिशा मोह निवृत्तये ॥२॥

सूक्त का प्रारम्भ—

ओ३म् ओचित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरूचिदर्णवे जगन्वान्।
पितुर्नपातमादधीतवेधाः अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥१॥

भाष्यकारों ने प्रथम एक यह बड़ी गलती की है कि इस सूक्त की अवतरणिका में ही उन्होंने इस सूक्त को यमयमी सम्वाद मानलिया है। और उसी भावना से इस मन्त्र को यमी की उक्ति माना है। और यही दोष पं० चन्द्रमणि जी ने भी किया है। हम इस दोष से मुक्त रहने के लिए मन्त्र की अभिधा लक्षणा और व्यंजना सभी पर विचार करेंगे। मन्त्र वह स्वयं कहेगा कि मैं किस का वर्णन करता हूं।

जिस प्रकार अन्य भाष्यकारों ने माना है उस से तो प्रतीत होता है कि यम यमी ने कहा कि इधर मन्त्र कर्त्ता ने गांठ लिया। पर वास्तव में मन्त्र तो न यमी ने कहा और न यम ने सुना। प्रत्युत मन्त्र द्रष्टा ने मन्त्र का (विचार का) दर्शन किया और इस रूप में दर्शन किया। इस मन्त्र का जो अपना अर्थ है वही

इस का देवता है । वही उस का प्रतिपाद्य है । इस पर दृष्टि रखकर मन्त्र के पद पद पर विचार कीजिये ।

पदार्थ—(ओ चित्) अ+उ+चित् । आ इत्यस्य ववृत्या मित्यत्रान्वयः । उकारः पदपूरणः नि० । चित् पूजार्थः । सखांय समान ख्यातिं सख्यै सखिभावाय । आववृत्याम् वृणोमि क्रिया समभिहारेण । कोयं सखा यः ? खलु तिरः तीर्णं । पुरु महत् । चित् उपमार्थः । अर्णवं समुद्रं । जगन्वान् गन्तुं प्रवृत्तः । अस्तीति शेषः । पितुरात्मनो जनकस्य नपातम् नप्तारम् आदधीत वपेत् । वेधाःआत्मनो भाग्य विधाता अधिक्षमि क्षमायां क्षेत्रे स्वकीये । तमेव प्रतरं भवार्णवतरणसाधनं । दीध्यानः ध्यायन् ।

भावार्थ—हे ! भद्र ! तुम को मैं सखाभाव के लिये सखा रूप से बार २ चुनती हूं । तू बड़े भारी लम्बे चौड़े मानो समुद्र के समान इस संसार पर यात्रा कर रहा है । अपने पिता के नाती को तरने का साधन समझता हुआ अपने भाग्य का विधाता गृहस्थ अपने क्षेत्र में नाती का आधान करे ।

यह शब्दार्थ है इस में कोई खेंचातानी नहीं । अब इस पर विचार कीजिये चित् ! यह सम्बोधन है । और पूज्य व्यक्ति के प्रति कहने योग्य सम्बोधन है 'चित्' ! 'नी ! अनी !' हे महाशय ! फलतः कोई अपने से भिन्न ऐसे व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर खेंचता है जिस के लिए हृदय में इज़्ज़त है। (सख्यै सखायं आववृत्यां) सखा के लिए सखा को बार २ वरती हूं। बार २ पसन्द करती हूं । किसी को बार २ मित्र रूप में इस लिए स्वीकार किया जा रहा है क्योंकि वह पहले से ही सखा है । ये नयी दोस्ती नहीं गांठी जा रही है । प्रत्युत पुरानी दोस्ती का सदुपयोग उठाया जा रहा है। क्यों सखा को वरा गया ? क्योंकि वह सखा बड़े लम्बे चौड़े दूर तक फैले हुए (पुरु अर्णव चित् जगन्वान्) ऊपर तक (तिरः) भरे हुए उमड़ते हुए 'अर्णवं' सागर के समान भवसागर पर जा रहा है ।

क्यों वरण करती हूं ? क्योंकि मैं भी तो उसी के समान सागर में हूं । मुझे भी तो पार जाना है । तरने के लिए कोई जहाज़ या नाव नहीं है। सो नाव का साधन मेरे पास है । पर मेरे वस का नहीं है । मैं चाहती हूं कि वह साधन हम दोनों मिल कर तय्यार कर लें। और यह भी निश्चित है कि शिल्पी जो

अपने हाथों जहाज़ बनाना जानता है वह अवश्य नाव तय्यार कर सकेगा। नाव कैसी ?

(पितुर्नपात मादधीतवेधाः अधिक्षमि प्रतरं दीध्याना ?)

(पितुंर्नपातं प्रतरं दीध्यानः वेधाः अधिक्षमि आदधीत) अपने पिता के पोते या नाती को ही जहाज़ समझता हुआ वेधा-अपने हाथों अपना भावी भाग्य बनाने वाला पुरुष 'अधिक्षमि' अपने भूमि-या क्षेत्र में उसका आधान करे ।

नपात्—उपमार्थक उपपद पा धातु से शतृ नपात् "पालयन्ति" जो सन्तति या वंश की रक्षा करने वाले के समान है। पिता अपना सर्वस्व अपने ज्येष्ठ पुत्र पर रख कर चला गया। वह पिता की सम्पत्ति की रक्षा करता है। परन्तु बूढ़ा पिता चिता के रास्ते स्वर्ग में गया। अब ज्येष्ठ पुत्र अपनी भी गति वैसी ही देखता है तो जो सम्पत्ति पिता ने दी उस की रक्षा कौन करेगा ? वह नपान्—नाती। यद्यपि वह बालक है तो भी कानून की दृष्टि से वही (नाती) उसका रक्षक है।

प्रतर=उत्कृष्टतरण साधन। कहां अर्णव में।

अर्णवः अर्णवान्। अर्णः जलम्। तद्वान्। ऋणवांन्।

पितृ-ऋण रूप जल से भरा समुद्र उसको तैरने का साधन या उतारने का साधन, सिवाय नाती के दूसरा नहीं। इस कारण गृहस्थ अपने को पितृऋण के समुद्र से पार जाने के लिये अपने क्षेत्र में नपात (नाती) का आधान करे। क्या सोच कर ? कि यही ऋण मुक्त होने का यंही उत्तम साधन है। यही समुद्र पार जाने के लिये अच्छीनाव (किश्ती) है।

पितुर्नपातम्। पिता के नपात् को। पिता किसका ? अपना और आधान कौन करे ? वेधा अपने गृहस्थ को रचने वाला या अपने भाग्य को बनाने वाला जिसने धनसम्पत्ति भूमि, क्षेत्र भृत्य आदि सभी सुख साधनों का सम्पादन किया। कहां पैदा करें ? 'अधिक्षमि'। क्षमा पर क्षेत्र पर। भूमि पर। अपनी धर्मपत्नी में।

'अधिभूमि'=क्षमा पर, क्षमा=पृथिवी, क्षमा=सहनशीला, क्षमा=समर्था, क्षमा=शक्ति मती। जो स्त्री गृहस्थ का भार उठाने में शक्तिमती है वही क्षमा कहाती है।

टिप्पणी—पं० चन्द्रमणि जीने तिरः का अर्थ 'प्राप्त' किया है। परन्तु निरुक्त ही में तिरःका अर्थ तीर्ण भी है जिसका अर्थ दूरमध्वानं (लम्बा रास्ता)।

समीक्षा—यह उक्ति किसी स्त्री की है जो इस चिन्ता में है कि मैं अपना पुत्र पाऊं। और मेरा पति या भाग्य विधाता ही मुझमें सन्तान को प्राप्त करे यह समझकर कि इससे हम पितृऋण स्वरूप समुद्र को तर सकेंगे। यह चिन्ता नव यौवन में नहीं उठा करती, प्रत्युत निःसन्तान गृहस्थों के उतरते काल में उठा करती है। फलतः यह वक्तास्त्री उतरती उमर के प्रारम्भ में हैं। वह अपने सखा को सखित्व निभाने के लिये वार वार बुलाती है। कौन कहता? यह हम अभी नहीं कहते। जो कह रही है वह स्पष्ट है वही इस मन्त्र का देवता और वही ऋषि है। यह एक विचार मन्त्रद्रष्टा के हृदय में "समस्यारूप में उठा कि ढलती उमर में यदि किसी स्त्री को पुत्र न हो। और वह वार २ पितृ ऋण उतारने के निमित्त अपने पिता का नाती पैदा करने का अपने पति (सखा) से आग्रह को तो पति क्या करे। इस प्रसङ्ग-में दूसरे पक्ष का विचार भी उठेगा। सो इस प्रकार कि—

नते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति ।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवोधर्त्तार उर्विया परिख्यन् ॥

न ते सखा सख्यं वष्टि एतत्? यत् सलक्ष्मा विषुरूपा भवातिभवतु। कुतो न? अवश्यं वष्टि इति भावः। कुतः यतः महो महतो असुरस्य शक्तिमतः वीराः वीरः पुत्रासः दिवः धर्त्तारः उर्विया परिख्यन् परिदृश्यन्ते।

अर्थ—(क्या?) तेरा सखा इस सख्य को नहीं चाहता कि समान लक्ष्म वाली विषुरूपा होजाय? अवश्य चाहता है। क्योंकि बड़े शक्तिवाले पुरुष के वीर पुत्र, द्यौ को धारण करने वाले खूब चारों ओर दीख रहे हैं।"

सलक्ष्मा—(समान चिन्ह वाली?) लक्ष्म=शोभा "लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।" लक्ष्म शब्द का अर्थ शोभा कीर्त्ति सम्पत्ति है। इसी से लक्ष्मी शब्द बना है। लक्ष्म का अर्थ चिन्ह भी है। स्त्री पुरुषों के शारीरिक चिन्ह बराबर नहीं होते इस लिये उनको समान चिन्ह कहना असंगत है। उनको विलक्ष्म कहा जाता तो ठीक था। परन्तु वेद को लक्ष्म शब्द से चिन्ह अभिप्रेत नहीं उसका अभिप्राय सम्पत्ति, कीर्त्ति, नाम, शोभा आदि से हैं जो सवसमानार्थक हैं। पतिपत्नी को समान सम्पत्ति, समान कीर्त्ति समान नाम और विवाह होजानेके उपरान्त गोत्र भी एक ही होजाता है। इसी से वह 'सखा' समानख्याति हो जाते हैं। पूर्व मन्त्र में जो स्त्री (वाचिका) के मुख से निकले 'सखा' शब्द से कहा गया है उत्तर मन्त्र में वही 'सलक्ष्मा' शब्द से कहा गया है। भिन्न वस्तु नहीं।

विषुरूपा=बहुरूपा, पुत्रवती, विषमरूपा। बिना पुत्र के दोनों बराबर हैं। पुत्र होजाने पर वह दो हृदयवाली हो जायेगी दो के तीन हो जायेंगें। यही विषम रूपता या बहुरूपता है। पुत्रवती माता का अधिकार बहुत बढ़ जाता है। पिता से सौ गुणा आचार्य उससे सौ गुणा माता का अधिकार हो जाता है।

अपुत्र के हृदय में, दूसरे समर्थ पुरुषों के पुत्रों को देख कर यह भाव आना स्वाभाविक है कि मेरा भी पुत्र हो। इसी लिये अपनी आन्तरिक अभिलाषा की पुष्टि में वक्ता हेतु देता है कि बड़े समर्थ पुरुष के वीरपुत्र द्यौ को धारण करने वाले दीख रहे हैं। तब मैं क्यों न चाहूं कि मेरे भी पुत्र हों? मैं भी चाहता हूं।

वीराः का अर्थ है वीर्य से उत्पन्न हुए पुत्र। 'वीराः' यह पुत्रासः का विशेषण है। शक्तिमान् वीर्यवान् पुरुष के अपने ही वीर्य से उत्पन्न हुए पुत्र द्यौ को धारण करते हैं। अर्थात् अच्छे उच्च अधिकार पाये हुए दिखाई दे रहे हैं।

द्यौ=उच्च दिव्यअधिकारः—उच्चस्थिति। सामाजिक क्षेत्र में उच्च अधिकारी 'द्यौः' का अर्थ है। दिवः ज्ञानस्य वा। अर्थात् वे पढ़ लिख कर विद्वान् भी होगये। और हा! मेरे पुत्र पैदा भी नहीं हुआ। पर चाहता हूं कि पैदा हों। पं० चन्द्रमणिजी ने 'परिख्यन्' का अर्थ किया है, प्रत्याख्यान करते हैं। किस बात का प्रत्याख्यान करते हैं? कि भाई बहन का सम्बन्ध हो, इस बात का प्रत्याख्यान करते हैं। कहता कौन है, कि भाई बहिन का विवाह हो? यमी कहती है। यमी कौन है? ब्रह्मचारिणी यम-नियम पालन करने वाली। भला बतलाइये तो सही, क्या असंगत बात कही जा रही है? आपकी एक ब्रह्मचारिणी ऐसी भ्रष्ट बातों का प्रकरण वेदमन्त्रों का ऋषि होकर कहेगी, और उसका भाई उसको वैसा कहने से रोकने के लिये ऋषियों का प्रमाण ढूंढ कर उसका जवाब दे। यदि सचमुच कोई विदुषी ऋषि कन्या अपने सगे या सगोत्र भाई से ऐसा उलटा सीधा कहे तो उसके उत्तर में एक वार 'सिश्' कह देना काफ़ी है। भाई बहन का संवाद मानने वालों ने यह भी विचार नहीं किया कि हम अपने ऋषियों के मुख से ऐसे २ वेद मन्त्रों के अर्थों को करके उनकी क्या शोभा

टि०—लक्ष धातु का प्रयोग कतिपय शब्दों में शोभार्थक ही है। जैसे पञ्चतन्त्र में 'लक्षण' शब्द 'तमगा' 'पदक' अर्थ में प्रयोग हुआ।

साधुमातुलगीतेन यथाप्रोक्तोऽपिनस्थितः। अपूर्वो यंमणिर्बद्धः सम्प्राप्तं गीत लक्षणम्।

करेंगे ? हां जिनको भाई बहन की ऐसी ठठोली हंसी मज़ाक करा लेने का उद्देश्य था उन वाम मार्गियों ने क्या नहीं किया ? सो महीधर के भाष्य को देख कर सभी जानते हैं। खेद है आर्य्य विद्वान् भी उसी गंदे प्रवाह में बहते हैं।

प्रत्याख्यान की पुष्टि में पं० चन्द्रमणि जी ने एक पाणिनि के सूत्रको गवाह बनाया। "अपपरी वर्जने" इससे परि वर्जनार्थ में भी आता है। आता है तो क्या हुआ ? अधिपरी अनर्थकौ यह भी पाणिनि ने कहा है। अधिपरि अनर्थकभी होता है। अब बोलिये ?

आपके वर्जनार्थक 'परि' का प्रयोग कैसे होता है सो समझ लीजिये। क्या आप भी भानुमती का पिटारा खोल कर देखेंगे। वर्जनार्थ परि का प्रयोग होता है परिहरेः संसारः। यहां "पञ्चम्याङ्परिभिः" इस सूत्र से पञ्चमी होती है परि के योग में। तो कहिये आपका कर्म प्रवचनीय 'परि' किसके साथ जुड़ता है। क्यों दिवः के साथ ? यदि यह परि अस्मान् के साथ जुड़ गयी तो प्रत्याख्यान का मामला बिगड़ता है। अब अनर्थक उदाहरण भी लीजिये परि कुतः पर्यागच्छति। परिका यहां कोई अर्थ नहीं। फलतः अनर्थक मानना होगा। या गति है तो कर्म प्रवचनीय न मानकर गति-उपसर्ग संज्ञक मानो तो परिपश्यन्ति यह अर्थ सायण के सम्मत है।

यहां भी प्रश्न यह है कि वे क्या देखते हैं ? सायण तो चाहते हैं यम कहदे "ना बहिन ! मैं ऐसी दोस्ती नहीं चाहता कि तू बहन मुझ से भोग करे क्योंकि रुद्र के बेटे आंख फाड़ २ कर देख रहे हैं। शापदि यदि न देख रहे होते तो वैदिक ऋषि यम कह जाते। फलतः सायण का परिपश्यन्ति यह अर्थ वैदिक ऋषियों पर कलंक लाने के और कुछ नहीं कहता। उसी प्रवाह में बह कर आगे सायन ने यमी की व्यक्ति को इतना नीचे गिराया है कि मानसिक आचार को रसातल तक पहुंचा दिया है। यह सायन के अर्थ वैसे ही प्रतीत होते हैं जैसे काशी के एक पण्डित ने रघुवंश की कथा को एक चोर की कथा पर लगा दिया था।

इसी प्रसंग में एक प्रश्न हम और करते हैं। वह यह कि भ्रातृ भगिनी संवाद मानने वाले विद्वान् अर्थ करते हैं:—

"तेरा सखा यह सख्य नहीं चाहता कि सलक्ष्मा बहिन विषुरूपा पुत्रवती

होजाय ।" इतने शब्दों में यह कहां से आया कि भाई के संयोग से ही विषुरूपा होना अभिप्रेत है । पहले मन्त्र में भी यमी ने कोई भाई वाचक शब्द नहीं कहा। बलिक वेधा और सखा शब्द का प्रयोग किया है । फलतः भाई द्वारा विषुरूपा होने की कल्पना करनी तो मन्त्रों पर अत्याचार करना है ।

यदि यह भी मानलें कि यमी नेस्वतः विवाह का प्रस्ताव पहले मन्त्र में किया तो उसमें भी तो यह कहीं नहीं दिखाया कि वह यह प्रस्ताव भाई से कर रही है । वह तो प्रस्ताव 'सखा' से करती है या उससे कर रही है जिसको वेधा मानती है । उसके प्रस्ताव के उत्तर में भी उत्तर देने वाला'सखा'ही है "मां सलक्ष्मा" समान कीर्त्ति सम्पत्ति और शोभा और नाम वाला है । विवाह के अनन्तर दोनों पतिपत्नियों का गोत्र एक होता है ।

परन्तु मज़ा यह है कि "सखा" होने का प्रस्ताव यमी कर ही नहीं रही। वह तो पहले से ही बने हुए सखा से पुत्रका प्रस्ताव कर रही है। जब पहले ही वह "सखा" है तो विवाहित पहले ही है । इसी प्रकार गोत्र भी दोनों का एक हो चुका है। विवाह के बाद वधू का पति गोत्र ही हो जाता है। तब सलक्ष्मा शब्द पर कोई आपत्ति नहीं । फलतः उलटी सीधी कल्पनाएं गढ़ कर मन्त्र का अनर्थ किया गया है ।

जब पहले मन्त्र में भाई से विवाह करने की प्रस्तावना ही नहीं तब उसकी पुत्रेषणा की अभिलाषा का विरोध करना रुद्र के पुत्रों से हौव की तरह डराना भी असंगत है । इनका कोई गूढ़ार्थ नहीं है ।

अब हम मन्त्र की व्यंजना और लक्षणा पर विचार करते हैं ।

व्यंजना में इस वचन के वक्ता ने अपनी तुलना असुर=शक्तिमान से कर के अपनी पुत्रोत्पादन में असमर्थता और इसी कारण से अपुत्रता भी बतला दी। इस पर वह कह सकता है, कि अच्छा रहने दो पुत्र न सही । हम असमर्थ हैं लाचार अपुत्र ही रह जायंगे । ऐसा निर्वेद उत्पन्न होने की सम्भावना पर उसको पुनः उत्साहित करने का भाव पुत्राभिलाषिणी स्त्री के हृदय में आना सम्भव है; और उचित भी है । यही विचार क्रान्त दर्शी मन्त्रद्रष्टा के हृदय में भी प्रकाशित हुआ है ।

प० चन्द्रमणि जी ने इस मन्त्र में 'उर्विया' शब्द का अर्थ (उरुणा) किया है । और सङ्गति लगाई है कि 'उर्विया परिख्यन्' बड़े बल से प्रत्याख्यान करते हैं।

यदि 'उर्विया' को तृतीयान्त मान लें तो भी 'बल से' यह अध्याहार निराधार है।

वस्तुतः पण्डितजी की यह कल्पना अन्धपरम्परा के कारण हैं। कहीं आपने सिद्धान्त कौमुदीया काशिका में 'सुपांसुलुक्' पाणिनी के (७। १। ३९) सूत्र की वार्त्तिक का उदाहरण लिखा देख लिया कि उर्विया, दार्विया उरुणा दारुणेति प्राप्ते।

और पट से पण्डित जी ने टीप लिया 'टा' की जगह 'इ यार्'। क्यों है कि नहीं अनर्थ ?। पण्डित जी कृपा कर ध्यान लगा कर सूत्र और वार्त्तिक दोनों पर दृष्टि करें तो सूत्र यह है। सुपां सु-लुक्-पूर्वसवर्ण आ-आत्-शे-या—। इस पर वार्तिक हैं डा-ड्याच्-इकाराणुपसंख्यानम् । आप ने पता नहीं 'इयाड्' कौन से नये आदेश का आविष्कार कर लिया। वार्त्तिक में इया और डियाच् और 'ई' ये तीन आदेश हैं। इन में उर्वी शब्द से डियाच् हो सकता है। और 'उर्विया' शब्द सिद्ध होगा। इस पर आप ने यह कल्पना कैसे कर ली कि उस से यहां 'ए' प्रत्यय (तृतीया कारक वचन) के स्थान पर ही यह आदेश हुआ है। यह आदेश सुप् प्रथमा एक वचन का भी तो होना सम्भव है। क्योंकि सूत्र में 'सुपां' यह सामान्य वचन है। यदि आप को विश्वास न हो तो लीजिये भाष्यकार सायण को उसी सूक्त के ७ मन्त्र में "उर्विया विभाति" में उर्वी शब्द से डियाच् प्रत्यय करके शब्द सिद्ध किया है।

तब मन्त्र का अर्थ होगा। उर्विया परिख्यन् उर्व्यां परिदृष्यन्ते इत्यर्थः। अर्थात् इस लोक में या इस पृथ्वी तल पर देखे जाते हैं। पण्डित जी वेदांग व्याकरण को भुला कर करके आप वेदार्थ को नहीं सुधार सकते।

मन्त्र ३—

उशन्ति घा ते अमृतास एतद् एकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य।
निते मनो मनसि धाप्यस्मे जन्युः पति स्तन्वमाविविश्या ॥

ते अमृतासो ह एकस्य चित् मर्त्यस्य त्यजसं उशन्ति। ते मनो अस्मे मनसि निधायि। जन्युः पतिः। तन्वं आविविश्याः।

"वे जीवन्मुक्त अमृत ज्ञान योगी लोग भी यह बात चाहते हैं कि एक पुरुष का एक (त्यजस) अपत्य हो। मेरे मन में तुह्मारा मन (खा-जा चुका है। उत्पन्न करने वाली जाया का तू पति है। तू उस में प्रवेश कर।"

इस अर्थ में हम ने एक बात भी अपनी तरफ़ से नहीं मिलाई। पाठक स्वयं देखें इस से क्या टपकता है? साफ़ प्रकट है कि निःसन्तान पुत्राभिलाषिणी, स्त्री देव मार्ग (तपस्वी मार्ग) से गमन करने की सोचने वाले अपने, अपुत्र पति को कहती है कि "क्या करें हमारे वस का नहीं" ऐसा समझ कर निराश होना उचित नहीं क्योंकि देवमार्गी ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता अमृत लोग भी यही चाहते हैं कि हरेक मर्त्य (मर्द) का एक तो कम से कम पुत्र अवश्य हुआ करें। दूसरा तुम्हारा मन मेरे मन के भीतर रखा हुआ है। या "नितेमनसि अस्मे मनोधापि"। या तेरे मन में मेरा मन रक्खा है। अर्थात् तुम मुझे बहुत अधिक प्रेम करते हो। न केवल प्रेम बल्कि मैं तुम्हारी जाया हूं। और तुम धर्मपत्नी के पति हो। यह मेरा शरीर पुत्र को उत्पादन करने में समर्थ है आप के अर्पण है इस शरीर में आप ही स्वयं पुत्र के (जनि) रूप में प्रविष्ट होइये। मैं आप ही से पुत्र चाहती हूं। यह विस्तृत अर्थ उक्त मन्त्र से निकलता।

जन्युः पतिः—तू 'जनि' पति है। जनि जाया उत्पत्तिस्थान, मुख्यतः गर्भाशय उसीका पति होसकता है, दूसरा नहीं। उसका मालिक होनेमें प्रमाण? "निते मनो मनसि धायि" पति का हृदय पत्नी के हृदय में रक्खा हुआ है, इसी कारण "जन्युः पतिः" है। क्या भाई से बुद्धिमती बहन ऐसा कह सकेगी? इस स्थलपर एक किस्सा याद आता है, कि एक राजा के तीन लड़कियां थीं। राजा ने खूब धन आभूषण आदि देकर सबसे पूछा—तुम सबसे अधिक प्रेम किसको करती हो। तो उत्तर में दो ने तो पिता को कहा—"आपको"। परन्तु बुद्धिमती कन्या ने कहा कि, "अपने पति को"। फलतः यमी को हम मूर्ख कन्या नहीं समझते कि, वह अपने भाई के दिल को अपने दिल की डबिया में बन्द समझे, या अपने दिल को उसके दिल की डबिया में बन्द समझे। वह यदि बुद्धिमती है, तो अवश्य अपने पति के हृदय को अपने दिल की तह में और उसके दिल की तह में अपने को बैठा हुआ मानती है, और उसीको जनि का' पति भी कह सकती है। उसीको अपने शरीर में प्रविष्ट होनेका अधिकार देसकती है। और उसीके सामने वह यह युक्ति देसकती है, कि बड़े २ ब्रह्मज्ञानी भी कम से कम एक पुत्र की आकाङ्क्षा किया ही करते हैं।

क्या बहिन यमी कामार्त्ता होकर इतनी पगली होसकती है, कि वह एक पुत्र के लिये ही अन्धी होजाय? सम्भव नहीं। यदि कामान्धा होजाती, तो

फिर पुत्र-संसारतरणसाधन, फिर कम से कम एक पुत्र इत्यादि धर्म-शास्त्र छांटने न बैठती। वहां केवल एक ही युक्ति हुआ करती है "इच्छा"।

यहां तो एक पुत्र तो कम से कम हो, इस प्रकार केवल निःसन्तान गृहस्थ ही अपने सन्तोषार्थ ऐसा विचारा करते हैं।

अच्छा! अब पाठक विचार करें कि, अगला विचार इसके आगे क्या आसकता है। अपनी स्त्री की ऐसी उक्ति के प्रत्युत्तर में असमर्थ पति क्या कह सकता है। जो कहना उचित है, वही विचार मन्त्रद्रष्टा के दृष्टिपथ में भी है।

मन्त्र ४—

न यत्पुरा चकृम कद्दहन नूनम् ऋता वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्सु अप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ॥

यत् पुरा कत्नहन चकृम? नूनं ऋता वदन्तः अनृतं रपेम। गन्धर्वो अप्सु अप्या च योषा, सा नौ नाभिः नौ तत् परमं जामि सदोषम्।

हमने पहिले जो कुछ भी यत्न किया, उसमें क्या नहीं किया? सभी कुछ किया। निश्चय से, सत्य बोलने वाले रहकर क्या अब हम असत्य कहेंगे। गन्धर्व अपों में और अप्मयी योषा है, हम दोनों की नाभि (नहन=शरीररचना) अप् है, हममें यही एक दोष है।

जो हमने पुत्र के उत्पादन करने के लिये पहले प्रयत्न किये, उनमें किस प्रकार का प्रयत्न नहीं किया गया? अर्थात् सभी प्रकार के यत्न किये गये हैं। परन्तु सभी प्रयत्न निष्फल गये हैं। हम सदा सत्य बोलते हैं, अब क्या इस बात में हम असत्य कहें? नहीं हम कभी असत्य नहीं कहेंगे। पुत्र के उत्पन्न न होनेमें कारण यह है कि, (गन्धर्वो अप्सु) अर्थात् पुरुष जलों में और योषा भी (अप्या) अप्मयी। अर्थात् पुरुष की प्रकृति भी जल-स्वभाव की है, और स्त्री का स्वभाव भी जलीय है। जब हम दोनों की एक ही प्रकृति (The natur of both being watery) है,तब सन्तान क्योंकर हो? हम दोनों की वही नाभि है। एक ही स्वभाव है। अर्थात् दोनों के शरीरों की एक ही रचना (नाभिः नहनम्=शरीरसंहतिः। देहरचनेति यावत्) और गृहस्थ के कार्यों में तथा पुत्रोत्पादन में यही एक दोष है। मैं भी जल-प्रकृति का और तू भी जलप्रकृति की है। रूढि में पड़कर हमने अप् का अर्थ जल किया है। क्योंकि स्त्री को सोम प्रकृति का माना गया है। वह अप्सरा स्वभाव की होती है। पुरुष को अग्निस्वरूप माना है। परन्तु जब

पुरुष भी जलस्वभाव का होगा, तो पुत्रोत्पत्ति नहीं होगी। समस्त संसार अग्निषोमात्मक है। जब दोनों स्त्री पुरुष परस्पर एक दूसरे की अपेक्षिक शक्ति को पूरा करने वाले पूरक हों, तभी पुत्र हो सकता है। स्त्री स्वभाव पुरुष हो, तो वह कामार्त्त हो कर भी पुत्र नहीं पैदा कर सकेगा। यदि स्त्री पुम्प्रकृति की है, तो भी मैथुन व्यर्थ होगा। बहुत वार प्रायः देखा गया है कि, पतिपत्नी चिरकाल तक यत्न करने पर भी सफल नहीं होते, वे अपना जोड़ा बदल देने पर सफल होजाते हैं। अर्थात् पुरुष अन्य स्त्री से पुत्र पैदा कर लेता है और स्त्री अन्य पुरुष से। वही दोष इस स्थानपर भी विद्यमान है। दोनों का रज-वीर्य एक ही जल-प्रकृति का होने से Sperm और ovum परस्पर में inactive रहते हैं, उनमें आकर्षण नहीं। वे दोनों रयि हैं। चाहिये प्राण और रयि। यही समान-प्रकृतिकता ही पुत्रोत्पत्ति में रुकावट (जामि = दोष) है, यही सच्ची बात है। झूठमूठ अन्य बातों को दोष देना, भाग्य और विधाता को कोसना या पूजा, पाठ, वलि, पुरश्चरणादि में फंसना, यह सब अनृत है। मैथुन, औषधि, उपचार तथा वाजीकरणादि सब क्रिया-काण्ड अनृत हैं, उसमें कोई सत्य फल प्राप्त होने की आशा नहीं। उस सबको छोड़कर अब केवलमात्र यही तत्त्व सत्य है।

पं० चन्द्रमणिजी ने 'अप्सु' का अर्थ 'प्राप्त सम्बन्धों में' किया है, 'गन्धर्व' का अर्थ 'वेदज्ञ पिता' किया है और 'योषा = मेरी मां' 'अप्या = निकटसम्बन्धिनी' इस प्रकार किया हैं, जो सर्वथा निष्प्रमाण है।

अब हम अगले मन्त्र पर विचार करते हैं। पत्नी अपने पति के मुख से सन्तान न होनेका यह वैज्ञानिक कारण सुनकर शङ्कित हुई, और इस बात पर वल देती है कि, जब से भी हम अपनी २ मां के पेट में आये, तब से ही हमारे भाग्य में इस प्रकार से पति-पत्नी होकर संसार-यात्रा करनेका भाग्य था। यह तो भगवान् की करनी है। यदि पुत्र नहीं हुआ, तो इसमें भी भगवान् का हाथ है। उसके अटल-नियमों को कोई तोड़ नहीं सकता। वह सूर्य और यह पृथ्वी हमारे गृहस्थ के सम्बन्ध के साक्षी हैं। इसी अनुरूप-भाव को अगले मन्त्र के रूप में ऋषि ने देखा।

मन्त्र ५—

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कः देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उ उत द्यौः॥

जनिता परमात्मा नौ आवां द्वावपि गर्भे स्व स्व मातृगर्भे दम्पती कः करोति। सदेवः त्वष्टा सकल रूपाणि त्वक्षति। स सविता उत्पादयिता प्रेरकः सच विश्वरूपः नाना रूपेण शिल्पप्रकाशकः। अस्य परमेश्वरस्य व्रतानि कर्माणि नकिः न कोपि प्रमिनन्ति विहिंसन्ति। तदिदमावयोर्भाग्यस्य दैव कृतस्य पृथिवी वेद द्यौश्चवेद।

जनिता परमात्मा हमें गर्भ में ही दम्पती बनाता है जब हम गर्भ में ही होते हैं तभी जिसको जिसकी स्त्री और जिस को जिसका पति बनाना होता है बना देता है। वह देव त्वष्टा है सब के शरीरों को गढ़ने वाला है। वह सविता है सब को उत्पन्न करता है वही विश्वरूप है वहीं स्वयं सबके प्रकार के पदार्थों में तन्मय होकर विराजता है। उसके (व्रत-) बनाये नियमों को कोई तोड़ नहीं सकता हमारे इस दैवायत्त भाग्य (पतिपत्नीभाव) को वह पृथिवी और वह सूर्य दोनों जानते हैं क्यों? क्योंकि विवाह बन्धन में इन दोनों की साक्षी रहती है।

इस प्रकार अपनी पत्नी के मुख से अशक्त पति जब यह बात सुनता है है और देखता है कि स्त्री भाग्य या दैव पर अड़ बैठी है। और उसको अगली सन्तति भी दैव या विधाता के हाथ में ही मालूम होती है तो उसके उत्तर में पति किस स्वाभाविकता से कहता है कि:—

मन्त्र ६—

को अस्यवेद प्रथमस्य अह्नः कईं ददर्श, कइह प्रवोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कद् उब्रवः आहन्ते वोच्यानॄन्॥

कः पुरुषः, अस्य प्रथमस्य अन्हः गर्भे प्रविश्यस्थितस्य जीवात्मनः प्रथम दिवसस्य वेद? नकोपि। कश्च पुरुषः ईं गर्भे गर्भावस्थितं जीवं ददर्श पश्यति। पदयं जीवः स्त्री वा पुमान् वा, अमुकस्य पतिः पत्नी वा भविता इह गर्भाद् वहिरस्मिन् लोकेऽपिकः भविष्यज्ञः प्रवोचत् यथार्थं प्रवक्ति। नकोऽपि तद्वचनेऽपि व्यत्ययापत्तेः। यतः मित्रस्य सर्वस्यापि स्नेहानुरागिणः परमेश्वरस्य वरुणस्य कर्मफल व्यवस्थया दण्डधरस्य परमेश्वरस्य बृहदनन्तं धाम कर्म कर्मफलादि व्यवस्था जात मस्ति। हे आहनः हृदय हारिणि हृदयंगमे वचनमात्रेण हृत्कम्पकारिणि! प्रिये! कोपि नॄन् मनुष्यान् वीक्ष्य विविच्य कदु ब्रवः कथंमिव ब्रवीतु।

कौन इसके पहले दिन को जानता है? कौन गर्भ की दशा में देखता है?

और यहां कौन कहता है ? मित्र, वरुण परमात्मा का धाम (कर्म) बहुत बड़ा है। ऐ हृदय हारिणि प्रिये ! मनुष्यों का विवेक करके कैसे कोई कहे।

जब पत्नी ने यह कहा कि हमारा दाम्पत्य भाव विधाता ने तभी से निर्णय कर रखा था जब से गर्भों में जमे थे। उस पर पति कहता है इस जीवात्मा के गर्भ में प्रविष्ट होने के पहले दिन की बात कौन जाने ? और कौन उसको गर्भमें पड़े को देखता है कि कैसा है स्त्री है या पुरुष है ? या फलां का पति होगा पत्नी बनेगी ? कोई भी जाकर नहीं देखता ? और जब बाहर भी आजाता है तो यहांभी उसके भविष्य के विषय में कौन ठीक २ कह सकता है किये राजा होगा कि रंक ? पुत्रवान् होगा कि अपुत्र ? विवाहित होगा यकुआंरा ? उस सबके स्नेही और और सबकी दण्डव्यवस्था करने वाले वरुण की यह कर्म-कर्मफलकी व्यवस्था बड़ी भारी है। इसका कोई पार नहीं और सब मनुष्यों के बारे में उनको ठीक २ विवेचना करके कैसे कहा जा सकता है। पता नहीं क्यों हमारी यह अवस्था है कि पुत्र लाभ नहीं हुआ। और जब हम दम्पति भी बने थे सब हमारा भाग्य कोई कह नहीं सकता था कि पुत्र होगा कि नहीं। फलतः अपने वसकी यह बात नहीं।

गर्भ के प्रथम दिन से भाग्य नियम होने की बाततो कट गयी। और विवाहकाल में पुत्र होने न होने की परीक्षा किसी ने की नहीं। पति पुत्रोत्पादन में समर्थ नहीं तो क्या उपाय करें। उस पर पतिपरायण पत्नी विचार करती है कि माना, कि गर्भ के प्रथम दिन से तो हम पतिपत्नी न थे। गर्भ में भी नहीं थे। बाहर आकर भी नहीं बने। तो फिर बने कैसे ? यह विचार करते हुए उसको अपने विवाह के दिन यदि आगये। उनको स्मरण करके अगले मन्त्र के भाव कहती है। यह खयाल भी उसके चित्त में एक कारण से उठा। वह कारण यह कि पति ने सम्बोधन करते हुए कहा था'आहनः'! इसका अर्थ पं० चन्द्रमणि जी ने असभ्य भाषिणि ! किया है। यहां आपने निरुक्त पर बड़ा बल दिया है। परन्तु निरुक्तकार की निरुक्ति को बहुत दूर रख दिया। "आहनः आहंसीव भाषमाणा" स्त्री आहनस् इस लिये है कि बात करती २ भी छुरी सी चलाती है। मारती सी है। असभ्य भाषणादिव आहना इव भवति। मानो सभा में न कहने योग्य वचन कहने से स्त्री आहना सी हो जाती है। इसी कारण से तीव्र तर शब्दों के बोलने वाले को भी आहनाः कहा जाता है।" यह निरुक्त आपके सामने उद्धृत कर दिया।

इससे आहनः का अर्थ असभ्य भाषिणि कह कर पण्डित जी ने एक मन्त्रद्रष्ट्री ऋषि की क्या शोभा बढ़ाई ? समझ में नहीं आता।

हमने 'हृदयंगमे !' ऐसा अर्थ किया है। क्यों ?

हन हिंसागत्योः। आहनः हृदयंगमें ! अच्छा पक्षान्तर में आप हन का अर्थ गति न मान कर यदि हिंसार्थ ही मानने पर आग्रह करते हैं सो भी भला है। क्योंकि प्रेम संसार में स्त्री का कटाक्ष मात्र ही निरुक्तकार के मत से "आहंसीय" मारे सा डालता है। यदि फारसी साहित्यर्थ का रसज्ञ ज़ौक या दाग़ की कविता में 'क़ातिल' सम्बोधन पढ़ले तो कहिये वह इसका क्या अर्थ करेगा।

जैसे—मैराज़ समझ ज़ौक तू क़ातिल कीसनां को।
चढ़ सरके बल इस ज़ीने से तावा में मुहब्बत ॥

अर्थ—ऐ ज़ौक ! कातिल की तलवार को तू अपना सहायक समझ ! यह मुहब्बत का ज़ीना है। इस पर तू सिर के बल चढ़जा।

मुनि यास्क ने तो उस की बात को ही तलवार सा मार करने वाली कहा पर यहां तो चक्षु निक्षेप तक छुरी की मार से कम नहीं, जैसे—

कुछ राज निहां दिल का अयां हो नहीं सकता।
गूंगे का सा है ख्वाब बयां हो नहीं सकता ॥
मसजिद में उस ने हम को आंखे दिखा के मारा।
काफ़िर की देखो शोख़ी घर में खुदा के मारा ॥

और अधिक आहनः की व्याख्या करना अनावश्यक है पाठक गण इस 'आहनः' का मूल कारण भी अगले मन्त्र में पाइयेगा। इसी प्रेममय सम्बोधन को सुन कर पत्नी को अपना विवाह काल याद आता है। और कैसे विवाहित हुए इस का स्पष्ट वर्णन करती है।

मन्त्र ७—

यमस्य मा यम्यं काम आगन् समाने यो नौ सह शेप्याय।
जायेवपत्ये तन्वं रिरिच्याम् विचिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥

मां यमीं ब्रह्मचारिणी प्रति यमस्य कृते कामोऽभिलाषः आगन् आगतः। कस्मै प्रयोजनाय ? समाने योनौ स्थाने सहशेष्याय परस्पर मेकत्र शयन कर्तुम्।

इतः पूर्वं तु कदापि ब्रह्माभ्यासकाले तादृशोऽवसरोनाभूत् । तयोः ब्रह्मचर्ये वर्त्तमानत्वात् । पूर्णविद्ययोस्तु तयोरयं मभिलाषोऽजनि गार्हस्थ्यसम्पादनार्थम् तदेव ऋचा उच्यते। कथमिव सकामः इत्याह जायेव पत्नीव । यदस्यां जायते पुनः । मनुः । आत्मनः तन्वं शरीरं रिरिच्यां समर्पयेयम् । अन्यच्च न केवलं भोग सुख लाभाय अपितु यथाविधि शास्त्रीय गार्हस्थ्य मुद्वोढुम । तदेवाह! चिद् विनिग्रहार्थः । विवृहेव वृह् उद्यमने तुदादिः । उदयच्छेव भारं । काविव रथ्ये चक्रे इव । रथयोग्ये रथ्ये । यथारथे नियुक्तं सुपुष्टं सुघटितं स्वरं सुनेमि सुनाभि च चक्रद्वयं रथभार मुद्यच्छति एवं नरश्चनारी च युवानौ यमो ब्रह्मचारी यमी ब्रह्मचारिणी च तावुभौ यमौ गृहस्थ रथ भारं उद्यस्यच्छतः । रथभारस्य उद्यमनादेव तावुभौ यमौ । आचार्यस्तयोर्ज्ञान प्रकाशकत्वात् विवस्वान् ब्रह्मचर्य वा साद्वा । वसन्तिहि ब्रह्मचर्यमाचार्ये वर्णिनः । स च तान् गर्भेऽन्तः कुरुते । यथा चाह श्रुतिः आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । अथर्व० कां० ११ सू० ५ ।

इति तयोः वैवस्वतत्वमविरुद्धम् । इतिदिक् ।

मुझ यमी को यम की अभिलाषा हुई कि समान (योनि) स्थान पर साथ ही सोयें । जाया के समान पति के शरीर को अर्पण करदूं । रथ के चक्रों के समान 'उद्वाह' करलें ।

भाष्य—इस मन्त्र में सभी शब्द गूढ़ाशय से भरे पड़े हैं । गृहस्थ के प्रवेश के पूर्व की दशा का वर्णन करता हुआ क्रान्तदर्शी कवि किस खूबी से यम-यमी का परिचय कराता है । स्त्री अपने मुख से स्वयं गृहस्थ में प्रवेश करने के समय का विवरण करती है कि मुझ को यम की अभिलाषा तब उत्पन्न हुई जब मैं यमी थी तब मुझे काम-आया किस के प्रति यम के प्रति । स्पष्ट है कि यम का अर्थ यम नियमों का पालक ब्रह्मचारी है और यमी का अर्थ ब्रह्मचारिणी है । ब्रह्मचारिणी के हृदय में यौवन के उदय के साथ २ अपने ही समान ब्रह्मचारी को वरण कर लेने की अभिलाषा उत्पन्न हुई । किस प्रयोजन के लिये समाने योनौ सहशेय्याय) समान योनि में साथ शयन करने के लिये । योनि=मिलने का स्थान । विस्तर और घर । सहशयन=सहवास । एक ही स्थान=पद=पति पत्नी भाव में दोनों रहें । किस प्रकार और क्या ? इच्छा हुई कि अपने (तन्वं) शरीर को जाया के समान अर्थात् विवाहित स्त्री के समान अपने पति=प्राण पति प्राणेश्वर के लिये (रिरिच्यां) अपने को त्याग दूं, आत्म समर्पण कर दूं । क्या

भाग के लिये, या शरीर सुख के लिए? विना सामाजिक गांठ बन्धे? नहीं नहीं (विबृहव) दोनों हम विवर्हण करें। वृह् उद्यमने। दोनों हम खूब अच्छी प्रकार उठावें। क्या? ग्रहस्थ का भार। इस भारको उद्वहन करलें, उठाले चलें। विवाह, उद्वाह, परिणय, उपयम, आदि सभी शब्द विवाह वाचक हैं। भार किस प्रकार उठावें? जैसे रथ के चक्र रथ का भार उठाते हैं।

पाठकों ने स्पष्ट देख लिया कि यह पहला मन्त्र है कि जिस में यम यमी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन में भी यमी अपने लिए 'मा यम्यां' ऐसे कहती है 'मुझ यमी को'। परन्तु यमहय के साथ कोई भी युष्मत् पद 'तव, ते' आदि नहीं है। वह अपने साथ यमी विशेषण लगाती है। यमी शब्द उस की विशेष अवस्था और विशेषता का द्योतक है। और वही विशेषता उस ने अपनी अभिलाषा के पात्र में भी पाकर उसको वरण किया। मूर्खता से या काम के वशीभूत होकर यमी ने यम को कामपाश में खेंचना नहीं चाहा था। वह खूब समझदार थी। वह बड़ी बुद्धिमत्ता पूर्वक विशेष उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए स्वतः ब्रह्मचारिणी हो कर अपने समान ब्रह्मचारी को विवाह में बांध कर गृहस्थ करना चाहती थी) और कितनी आदर्श युक्ति युक्त बात कह रही है। अस्तु। अब हम अपने पूर्व के सम्बद्ध विषय पर आते हैं।

जब इस प्रकार पत्नी ने अपने विवाह-बन्धन के प्रारम्भ काल का स्मरण कराया, और बतला दिया कि, हम इस प्रकार गृहस्थ में पति-पत्नी हुए थे। पहला विचार कि, गर्भ में ही हमें पति-पत्नी आपका भाग्य में बदा था, सो बात भूल है। तब पति कहता है कि, क्या उन दिनों की याद करते हैं, वे दिन तो किसीके लिये खड़े नहीं रहते, और न वे अगले दिन आने ही बन्द होजाते हैं। फलतः यह जीवन योंही शेष होजायगा, और कोई बाद में सन्तान भी हाथ न आयेगी, इसलिये हृदयङ्गमे। तू जितना शीघ्र होसके, मेरेसे अतिरिक्त पुरुष के साथ मिलकर रथ के चक्रों के समान गृहस्थ का भार उठा और सफल हो।

यही भाव अगले मन्त्र में विचारद्रष्टा के विचार-प्रवाह में है।

मन्त्र ८—

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन विवृह रथ्येव चक्रा॥

देवानां स्पशः य इह चरन्ति दिवसाः ते न तिष्ठन्ति गतिमत्वात्। न निमिषन्ति भविष्यत्यपि तदागमनात्। इत्यतः हे आहनः! हे प्रिये! हृदयहारिणि, मदन्येन पुरुषेण सह तूयं तूर्णं याहि सङ्गच्छ। तेन विवृह पुत्रान् गर्भे उद्यच्छ

यथा रथस्य चक्रद्वयं भारं वहति तथा उभावपि संगत्या पुत्रोत्पादनम् कुरुताम् गृहस्थधर्मं वा निर्वहतम्।

न ये खड़े ही रहते हैं, न झँपकते हैं, ये देवताओं के स्पश जो यहां विचरण कर रहे हैं। हे प्रिये! शीघ्र मेरेसे अतिरिक्त पुरुष से सङ्ग करो। रथ में लगे चक्रों की न्याईं मिलकर पुत्रोत्पादन के भार को वहन कर।

स्पशः=स्पाई, गुप्तचर या सिपाही। देवताओं के सिपाही, रात और दिन, ये मनुष्य के सब कामों को देखते हैं। यह कल्पना बहुत प्रचलित है। किंवदन्ती तक है—

अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मो हि जानाति नरस्य वृत्तम्।

इस विचार के बाद कहिये, अब कौनसा अनुरूप विचार अपरपक्ष से उठना चाहिये। देखिये, ८ वें मन्त्र में पति की पत्नी को यह दूसरी बार आज्ञा है। परन्तु पत्नी अभी अपना आग्रह छोड़ने को तैयार नहीं, अभी वह सब हृदय की शङ्काएं जब तक न मिटाले, तब तक अपने पति की परपुरुष से पुत्र प्राप्त करने की आज्ञा का पालन नहीं कर सकती। इसलिये वह अपना एक और विचार पति के सामने रखती है। हे सखे! तुम्हें अपना जीवन गुजरता दीखता है, और असमर्थता में आप मुझे परपुरुष से पुत्रोत्पन्न करने की आज्ञा देते हैं। परन्तु क्या आप उस दयामय परमात्मा को भूल गये। वह सबपर कृपालु सबको ज्ञान देने वाला और प्राण और जीवन का दाता हमपर अपनी कृपा-दृष्टि न करेगा? देखो।

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमी यमस्य बिभृयादजामि॥

रात्रीभिः कतिभिः अहभिः अहोभिः अस्मै अस्मभ्यं स परमात्मा दशस्येत् दद्यात् अभिलषितम्। तस्य सकलप्रेरयितुः सूर्यस्य परमात्मनः कृपामयं चक्षुः मुहुः पुनरपि उन्मिमीयात् विकासितं स्यात्। तस्य कृपादृष्टिः पुनरापतेत्, तर्हि द्यौलोकेन सूर्येण सह पृथिव्याः इव मिथुनौ आवां सबन्धू स्वः तदावयोरेव यमी पुनः यथाविधि नियमपालिका सती तत्रापि ब्रह्मचर्यसम्पन्नस्य यमिनः यमस्य वा अजामि दोषरहितं यथा स्यात् बिभृयात् गर्भं धारयेत्। किमाश्चर्यं सति परमात्मन कृपालेशे। सोऽपि सम्भाव्यते।

(स्यात्?) कुछ दिनों और कुछ रातों के बीतने पर वह (भगवान्) बख्श

दे। सबके प्रेरक प्रभु (सूर्य) की कृपामय आंख (चक्षुः) फिर हमपर खुलकर पड़े, और देखे कि, हम दोनों द्यौ के साथ पृथिवी के समान जोड़ा बनकर सबन्धू हैं। तब यमी ही यम के लिये बिना किसी (शुक्र या रज के) दोष या कलङ्क या सङ्कोच के पुत्र उत्पन्न करदे।

मुहुः शब्द से प्रतीत होता है कि, इन पात्र या पात्री पर पहले भी सूर्य की चक्षु पड़ी थीं, और देखा था कि, ये दोनों दिवः-पृथिवी के समान जोड़ा है। वह पहली बार जब ग्रन्थि-बन्धन होकर सूर्य-दर्शन किया था, तभी का स्मरण किया गया है। यमी चाहती है कि, फिर उसी जोश और उत्साह से किसी कुलगुरु के अधीन एक बार फिर तपस्या करके * "यम-यमी" बनकर पुत्र पैदा करें।

परन्तु पति अभी भी, इतना उत्साह दिलाने पर भी अपने को असमर्थ पाता है, और वही विचार कहता है, जैसा एक आशा रहित पुरुष कहा करता है। अब हमसे नहीं होसकता, हमसे अगले आने वाले करेंगे इत्यादि। सो ही भाव अगले मन्त्र में मन्त्रद्रष्टा के दृष्टिपथ में उतरे हैं।

आघाता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उपबर्बृहि वृषभाय बाहुम् अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥

गतानि उत्तरा उत्तराणि एतदुत्तरकालेन प्राप्तव्यानि युगानि मिथुनानि द्वन्द्वानि आगच्छत् आगन्तारः। यत्र जामयः पुत्रवध्वः अस्मत्पुत्रिकाश्च, अजामि दोषरहितम् कृणवन् पुत्रोत्पादनं कर्त्तारः। आवयोर्जीवने एतदसम्भवमित्यर्थः। तत्। उपबर्बृहि उपधेहि वृषभाय, रेतः सेचनसमर्थाय पुरुषाय बाहुम् आत्मनो बाहुलताम्। हे सुभगे! तादृशमेव वीर्यसेचनसमर्थं मदन्यं निर्बलात् सन्तानोत्पादनेऽसमर्थात् निर्वीर्यादन्यं पुरुषं प्रतिमिच्छस्व कामय।

वे आगे आनेवाले जोड़े होंगे, जिनमें बहुएं और बेटियां निर्बाध होकर निर्दोष पुत्रोत्पादन करें, और तुम अब वीर्य-सचन में समर्थ नरपुङ्गव को अपनी बाहुलता का सुख (गलवहियां) दो। हे पति! मुझसे अन्यको अपना पति चाहो।

यह तीसरी बार आज्ञा है। इसमें अपने से अतिरिक्त 'वृषभ' वीर्य-सेचन करने में समर्थ पुरुष को महत्व देकर अपने को स्पष्टरूप से वक्ता ने सन्तानोत्पादन में असमर्थ स्वीकार किया है। यही बात ऋषि दयानन्द ने लिखी है।

---

* जैसे वसिष्ठ के अधीन दिलीप और सुदेष्णा ने किया था।

इस मन्त्र में 'जामि' 'अजामि' शब्द पर बड़ा विवाद है। निरुक्तकार ने इस शब्दपर अच्छा प्रकाश डाला है। उसने जामि शब्द के सब प्रयोगों को दर्शाया है।

"न जामये तान्वोरिक्थमारैक्"

इस मन्त्र का अर्थ करते हुए 'जामये' का अर्थ 'भगिन्यै' किया है। इसी अन्धपरम्परा से अगले भाष्यकारों ने भी जामि शब्द का अर्थ भगिनी ही करने का आग्रह किया, परन्तु यदि निरुक्तकार के उद्धृत मन्त्र पर विचार करते, तो 'जामये' का अर्थ 'भगिन्यै' करने का कारण भी स्पष्ट होजाता और यह भी पता लग जाता कि, 'जामये' का शब्दार्थ भगिनी नहीं है प्रत्युत् 'कन्या' मात्र है।

आपही उस मन्त्र पर विचार करले। न जामये तान्वोरिक्थ मारैक् ताच जामिको धन नहीं देता। तान्व का अर्थ है 'तनूज' शरीर से पैदा होने वाला लड़का। जामिकौन जिसमें और अपत्य पैदा कर सकें। एक ही घर के दाय भाग के बांटने के अवसर पर यह कहना कि लड़का लड़की को धन नहीं देता। ऐसी दशा में लड़की का अभिप्राय 'वहन' होता है। इसी अभिप्राय से निरुक्तकार ने जामये' का अर्थ भगिनी किया है। वास्तव में 'जामि' की व्युत्पत्ति है 'जनयन्ति जाम अत्यां' जिसमें अपत्य उत्पन्न किया जाये। तव आपही निर्णय कर सकते हैं कि अगले जोड़ों में 'जामि' का अर्थ पुत्र वधू और बेटियां होना उचित है या वहन। इसमें निरुक्तकार का दोष नहीं है। यह अन्धे का दोष है कि उसे आगे खड़ा ठूंठ नहीं दीखता। न कि ठूंठका। यह लकीर के फकीरों का दोष है जो प्रकरण को बिना देखे अर्थजान लेने की कोशिश करते हैं। प्रकृत अर्थ यही है कि "अगली जोड़ियों में बहू बेटियां दोष रहित सन्तान उत्पन्न करें। इत्यादि।

इस प्रकार जब तीसरीवार भी पति की वहीं आज्ञा होती है कि मैं असमर्थ हूं तुम समर्थ के पास से पुत्र प्राप्त करो। तो पत्नी क्या कहे? अपने सहज स्त्री स्वभाव-सुलभ संकोच की रक्षा करने के लिये वह फिर एक युक्ति दे सकती है। वह युक्ति अवश्य आक्षेप के समान होनी चाहिये। देखिये जैसे-वह कहेगी मैं तुमारी पत्नी हूं तुम मुझे दूसरे से पुत्र प्राप्त करने को कहते हो तो क्या तुम भाई हो कि तुम पति नहीं बनते? क्या मैं वहिन हूं कि बिना चारे के यहां से पराये के पास चली जाऊं? इतना कह कर वह चुप होजाती है। और कुछ सोच कर कि पति की आज्ञा टाली नहीं जा सकती ऐसे आक्षेप से इन्कार करना

गुस्ताखी होगी सो फिर बात पलटती है और कहती है कि "मैं तो पुत्रकी अभिलाषा से यह सब कुछ कह रही हूं कि तूही अपने शरीर से मेरे शरीर का संपर्क कर। फलतः मन्त्र इस प्रकार है:—

मन्त्र ११—

कि भ्राता सद् यदनाथं भवाति किमु स्वसायन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मेतन्वंसंपिपृग्धि।

किं भवान् भ्राता? यदनाथं भवाति नाथो न भवति। नाथएव नभ्रातेत्यर्थः। किमु इयमहं ते स्वसा यदियं निर्ऋतिः निर्गतिका सती निगच्छात् पुरुषान्तरं गच्छेत्। कामयता तवानुरागबद्धा एतद्रपामि यत् तन्वा यत् शरीरेण आत्मनस्तन्वः शरीरसाम्यं पृग्धि संगमय। नाहमनाज्ञा कारिणी तवनियोगमुलंघयामि अपितु तवानुरागबद्धासती आग्रहं कृतवती इतिभावः।

क्या आप भाई हैं कि आप नाथ नहीं बनते। क्या यह स्वसा है कि बिना चारे के होकर पर पुरुष के पास चली जाय। आपके अनुराग में बंधी मैं यह बहुत कुछ कह रही हूं कि मेरे शरीर से अपने शरीर को युक्त करो।

इस मन्त्र का अर्थ करते हुए सबने खेंचा तानी की है। भाई बहिन का पक्ष मान लेने पर बहिन का यह कहना कि "तुम भाई कैसे कि मैं अनाथ होरही हूं" यह एक बड़ी हास्य जनक बात है। इसी प्रकार अन्य चरणों का अनुवाद करते हुए भी उनको बहुत २ अध्याहार करना पड़ा है। सीधा अर्थ कोई नहीं करपाया। कोई २ स्मृतियों के प्रमाण ठोंस २ कर अपने अर्थ को चमकाते हैं। परन्तु यहां सांच को आंच नहीं। अच्छा अब आगे चलिये। १, ३, ९, ११ में पत्नी ने पति पर आग्रह किया कि तुम ही पुत्र पैदा करो। पर उत्तर में अभी तक दो वार वह कह चुका कि! मैं असमर्थ हूं। दूसरे से पुत्र पैदा करलो। पर वह देखता है कि पत्नी बहुत आग्रह करती है। और आक्षेप भी करती है। अब क्या कहे? आखिर अपना पीछा छुड़ाने के लिये वह भी कह देता है अच्छा हां हम भाई ही सही, तुम बहिन ही सही। मैं अपना शरीर तुमारे शरीर को न छुआऊँगा। इसको भी तो पाप ही कहा है कि बहिन के साथ संग करे। मुझ से दूसरे के साथ तू अपने पुत्र प्राप्ति के उत्कृष्ट प्रमोदों को पैदा करले। मैं तेरा भाई ही सही

मैं इस कार्य की कामना नहीं करता। *

मन्त्र इस प्रकार है—

मन्त्र १२—

नवाउते तन्वा संपिपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारंनिगच्छात ।

अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व नते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत ॥

वेति वितर्के यदयं वितर्कः किंभ्रातासद् किमुस्वसा, इत्यादिरूपः। तेन वितर्केणापि नेनवा तन्वं न सम्पपृच्यां कुतः यतः तव वितर्कानुसारंतु पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् निगच्छति। अतोऽपि ब्रवीमि यत् अन्येन यत्, मदतिरिक्तेन करणेन सह प्रमुदः पुत्रोत्पादनरूपाः नवाभिलाषाः कल्पयस्व साधय। तथैव तवा क्षेपानुसारं यस्ते भ्राता स एतत्प्रमुदांसाधनं न वष्टि न कामयते।

वा इस मन्त्र में वितर्क अर्थ में आया है। पति पत्नी सम्बन्ध होने पर भी पत्नी ने आक्षेप में कहा क्या तू भाई है या क्या मैं बहिन हूं यह वितर्क है। अच्छा यही सही (वा) तो भी तेरे शरीर से अपने शरीर को मैं न छुआऊंगा क्योंकि जो बहिन के साथ भोग करे उसको बुरा गिना जाता है। मेरे से भिन्न दूसरे पुरुष से पुत्रोत्पादन रूप मन की अभिलाषाएं पूरी कर। (तेरे कथनानुसार) तेरा भाई हे सुभगे! यह नहीं चाहता।

इस प्रकार कटाक्ष से कहने पर भी स्त्री का संकोच व लज्जाशील हृदय माना नहीं। पत्नी के हृदय ने अपने प्राणेश्वर के दिलकी टोह लगाने का और एकबार प्रयत्न किया और इसमें व्यतिरेक युक्ति से काम लिया। एक तो भाई होने का आक्षेप करके परखा अब दूसरा उससे भी आगे एक कदम बढ़ कर आक्षेप किया कि:—

मन्त्र १३—

वतो वतासि यम नैवतो मनो हृदयं चा विदाम।

अन्याकिलत्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥

हे यम! वतो दुर्बलोऽसि वत! नैवतो मनो हृदयं च अविदाम। प्रतीयते यत् अन्या काचित् कक्षगता बन्धनरज्जुरिव युक्तमश्वं त्वां परिष्वजाते आलिंगति। वृक्षं लिबुजालतेव। नचेदेवं कुत एतावान् विराग इत्याशङ्का हृदय परिज्ञानार्थम्। किलेति सम्भावना।

* शरीर से सम्पर्क कराने का आग्रह पत्नी का यह वैसा ही है जैसा माद्री का पाण्डु से था। भोग के साथ ही कोई पतिपर था पत्नी पर अनिष्ट की भी आशंका है जो पति को वैसा करने से रोकती है। महर्षि ने भी यही दृष्टान्त दिया है।

हे यम ! तुम बड़े दुर्बल हो ? असमर्थ हो ? यम । तेरे मन और हृदय, को हम न जान पाये । जैसे जुते हुए घोड़े को कमर बंध और वृक्ष को लता आलिंगन करती है । उसी प्रकार क्या कोई और तुझ को भी आलिंगन करती है । नहीं तो ऐसा विराग क्यों ?

"मनः" जो विचारता और ऊहा वोह करता हैं । "हृदय" जो प्रेम और अनुराग का अनुभव करता है । दोनों हीं नहीं समझ आये । अर्थात् पता नहीं तू शास्त्रीय या वैज्ञानिक कारणों से मेरा परिहार करता है या हृदय में विराग हो गया है । क्या मुझ से दिल टूट कर दूसरे से लगा है । केवल सम्भावना है । भोग पराङ्मुख देख कर ही यम (क्रूर हृदय) सम्बोधन भाव गर्भित है ।

इस पर पति चुप होजाता है । और अपनी अन्तिम आज्ञा इस प्रकार देता है ।

अन्यमूषत्वं यम्यन्य उत्वां परिष्वजातेति वुजेव वृक्षम् ।

तस्य वात्वं मन इच्छा सवात याधा कृणुश्व संविदं सुभद्राम् ॥

अन्यम् उ सु त्वं परिष्वजस्वेतिशेषः । हे यमि ! अन्यः उत्वां परिष्वजाते परिष्वजतु लिवुजेववृक्षम । अथवा, तस्य वात्वं मन इच्छा काम य सच तवैव मनः काममतु । अत्र एवं परस्पर वार्त्तालापे या इय मावयोः संवित् (निश्चयो) जाता तामेव सुभद्रां (संविदं) सुख कल्याण कारिणीं कृणुश्व कुरु ।

हे यमि ! हे पतिव्रते ! मैं तुझे अब आज्ञा देता हूं कि तू वृक्ष की लता के समान निःशङ्क होकर दूसरे को आलिंगन कर और दूसरा पुरुष तुझे अङ्गस्पर्श करे । अथवा तू उस के मन को चाहे या वही तेरे मन को चाहे । तो भी मैं चाहता हूं कि तू अपने इस पुत्रोत्पादन रूप निश्चय को सुफल कर इस मति (निश्चय) को सुख और कल्याण करने योग्य बना ।

यह यम का अन्तिम वचन है । इस पर यमी पत्नी आज्ञा को स्वीकार करती हुई मौन है ।

मन्त्र के उत्तरार्ध में से स्वामी का वह भाव टपकता है कि नियोग दोनों प्रकार से हो सकता है । स्त्री पुत्रैषिणी हो और वह अपनी पुत्र कामना से पति की आज्ञा लेकर पुरुष के पास जाय या इसी प्रकार कोई पुरुष पुत्रैषी हो, पर उस की पत्नी निःसन्तान हो बन्ध्या हो दोष युक्त हो, पुत्र जनने में असमर्थ हो तो पुरुष की इच्छा को देख कर वह जासकती है । यहां परस्पर जाना भी—

'हताश्वरग्ध दग्धा न्याय' से ही सम्भव है ।

हमारी समझ में इसी प्रकार सूक्त की सङ्गति लगती प्रतीत होती है और यही सब से सरल एवं भाव पूर्ण ढंग है ।

इस में खैंचातानी करके शब्दों का अनर्थ भी नहीं होता और महर्षि के भाव की भी पूर्ण रूप से रक्षा एवं सङ्गति लगती है।

आगे विद्वान् स्वयं प्रमाण हैं: और आलोचना का क्षेत्र सब के लिये खुला है। मेरी व्याख्या जिन को सन्तोष देगी,उन ही की तुष्टि देखकर मैं अपना यत्न सफल समझता हूं। यदि इतने से भी तुष्टि न हो तो भी जिज्ञासु अधिक अनुशीलन करेंगे यह देख कर हृदय प्रसन्न होगा।

यदि स्त्री विधवा है तो ऐसी दशा में पति के स्थान पर जो भी उस का गार्जियन, संरक्षक या अभिभावक हो वह पति की तरफ़ से तत्स्थानापन्न होकर पुत्राभिलाषिणी स्त्री को आज्ञा दे सकता है कि वह नियोग द्वारा सन्तान पैदा करके अपने पति का वंश चलावे। जैसे भीष्म और माता सत्यवती, के आदेश से विचित्र वीर्य के क्षेत्र में व्यास देव से पुत्र पैदा कराये गए थे।

समुद्र

(श्रीयुत पं० चमूपति जी "आर्य सम्पादक" अफ्रीका)

यह अनन्त निस्तल अधीरता, व्याकुलता का पारावार।
क्या है, क्यों है, दौड़ा जाता, कौन किसलिये किसके द्वार।
ऊँची नीची लहरें उठतीं—पटक रहीं सिर, किसकी खोज ?
झाग उगलतीं दाँत पीसतीं, क्या यह मतवालों की मौज ?
झंझा कब की मार रही पर, फड़क रहा सन्तप्त हृदय।
व्योम-व्यापिनी पीडा ! तुझको, आ थामेगा कौन सदय ?
कौतुक है ? नाटक है ? क्या है ? सूत्रधार लीला का कौन ?
हा ! असीम अविरत-कोलाहल ! साध लिया क्यों तूने मौन ?
यही समस्या मन की मेरे, यही हृदय का मेरे सार—
यह अनन्त निस्तल अधीरता, व्याकुलता का पारावार।

कारागोला ३१—७—१९२५

यह कविता भारत से अफ्रीका जाते हुए मार्ग में समुद्र के वक्षस्थल पर जहाज़ में लिखी गई है। 'उप सम्पादक"

साहित्य-समीक्षा।

हिन्दी पुष्कर: सचित्र मासिक पत्र। सम्पादक गंगासहीय पाराशरी जी वार्षिक मूल्य २॥) प्रबन्धक हिन्दी पुष्कर बरेली से प्राप्तव्य लेख तथा कविताएं और छोटी २ कहानियां पढने लायक हैं—

विचित्र ब्रह्मचारी—ले० श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती मूल्य =)। इस पुस्तक में बातचीत के मनोरञ्जक ढंग से ब्रह्मचारी का आदर्श जीवन कैसा होना चाहिए इस विषय पर प्रकाश डाला है। कहानी मनोरञ्जक और शिक्षा प्रद है—

गीतावचनामृत मूल्य ≡) लेखक पण्डित विष्णुमित्र जी आर्य्योपदेशक। इस पुस्तक में गीता के श्लोकों की विषय वार सरल हिन्दी में श्लोकों के साथ व्याख्या की गई है। गीता के एक विषय के श्लोक इकट्ठे कर दिए हैं। गीता का प्रारम्भिक अभ्यास करने वालों के लिए पुस्तक उपयोगी है। यह दोनों पुस्तकें प्रकाशक वजीरचन्द्र शर्मा अध्यक्ष वैदिक पुस्तकालय मोहनलाल रोड लाहौर के पास से प्राप्त हो सकती हैं—

पं० वजीरचन्द्र जी के यहां से बालकों के लिए धर्म की पहिली पुस्तक भी छपी है मूल्य -)॥ है। लेखक अध्यापक हंसराज जी उपप्रधान आर्य्य कुमार सभा भेरा शाहपुर है। वैदिक मन्त्र तथा स्मरणीय धर्म वाक्य और भजनों का अच्छा संग्रह है—

आर्य्योद्देश्य रत्नमाला का अंगरेजी अनुवाद भी इसी पुस्तकालय से मिलता है कीमत -) अनुवादक बाबा अर्जुनसिंह आर्य्य-पत्रिका के भूतपूर्व सम्पादक हैं—

ॐ की नीली सुनहरी तसवीर गायत्री मन्त्रों के साथ शिरोमणि पुस्तकालय लाहौर से मिलती है। १०० तसवीरें २॥) में मिलती है। तसवीर गायत्री मन्त्र याद कराने में उत्तम साधन बन सकती है—

सम्पादकीय विचार ।

आर्य्य समाज और सत्याग्रह—

मसूरी में आर्य समाज का वार्षिकोत्सव २८, २९ अगस्त को होना निश्चित हुआ था। परन्तु मसूरी के डिस्ट्रिक कलक्टर ने मसूरी शहर के कुछेक मुसलमानों के एतराज़ करने पर,नगरकीर्तन बन्द कर दिया। डिस्ट्रिक्ट कलक्टर ने आर्य समाजियों के डेपुटेशन ले जाने तथा आज्ञा लौटाने की प्रार्थना करने पर आज्ञा बदलने में असमर्थता प्रकट की। मसूरी में एकत्रित आर्य भाइयों ने सार्वजनिक सभा में प्रतिवाद कर वार्षिकोत्सव बन्द कर दिया है। यू०पी प्रांतीय सरकार के पास इस आज्ञा को रद्द करने की प्रार्थना भी की गई है। यू० पी सरकार क्या जवाब देगी कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु युक्तप्रांत के अन्य शहरों तथा देहातों में(मुराद नगर आदि में) प्रान्तीय सरकार ने आर्यसमाज के साथ जो व्यवहार किया है उससे तो यही अनुमान करना चाहिए कि यू०पी सरकार इस आज्ञा को नहीं बदलेगी। हमारी राय में इस समय वह अवस्था आगई है जब कि यू०पी आर्य प्रतिनिधि सभा को दिन रात इस प्रकार आने वाली अड़चनों को दूर करने के लिए,कानूनी रास्तों के बन्द होने पर अहिंसात्मक धार्मिक सत्याग्रह को तय्यारी करनी चाहिए। आर्य समाज जैसी धार्मिक संस्थाओं के पास लाचारी हालत में और कोई साधन नहीं है। प्रांतीय सरकार को चाहिए कि वह इस विषय में उचित हस्ताक्षेप कर मामले को बढ़ने मत दे।

ऋषि दयानन्द और गुरुकुल शिक्षा प्रणाली—

पिछले दो तीन सप्ताहों से गुरुकुल वृन्दावन तथा गुरुकुल ज्वालापुर के सम्बन्ध में आर्यमित्र तथा पं० नरदेवजी द्वारा सम्पादित शंकर में कई तरह के विचार प्रकाशित किए गए हैं। शंकर में गुरुकुल ज्वालापुर सम्बन्धी विचार धारा इस समाचार के साथ समाप्त हो गई कि म० हंसराज जी बी०ए० (भूतपूर्व प्रथम प्रिन्सिपल डी० ए० वी कालेज ज्वालापुर गुरुकुल की प्रबन्ध समिति के प्रतिष्ठित सभासद् चुने गए हैं।

गुरुकुल वृन्दावन के सम्बन्ध में जो लेख प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं उनसे पता लगता है कि वहां दो तरह के विचार काम कर रहे एक तो वह जो ऋषि दयानन्द प्रतिपादित शिक्षा प्रणाली का अक्षरशः पालन करना चाहते हैं और दूसरे वहजो ऋषि दयानन्द की इस स्पिरिट को मानते हैं हमें किः—हमें आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन

भाद्रपद

विशेषत की भी आत्मद के सञ्चा समाज आर्यो वैदिक कर किय धर्ग सि का में वें सं के अ वे प्रव सम्याग क अ जी जा में य

...ब्यौरा आय-व्यय बाबत मास श्रावण संवत् १९८२ विक्रमी।

	बजट आय	इस मासकी आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष ... व्यय
...ा					६५३॥)	१९४३।-)...
		४९।-)	६७०-)॥।			
					३८)	२२९=)॥
			१५०)			
...श आश्रा			१२५)			
आफ						
दयानन्द			६०)			
		४९।-)	१००५-)॥।		६६१॥)	२१७२...
...द प्रचार					६६)	२६०॥...
...स्तकालय		४०)	१८८)		३६४॥-)।	८०२।...
		८८।≡)	२९॥-)।		३१२।॥≡)	६३६...
...निधि		३॥)	३०॥-)			
			२८।≡)			
...देशक					६७४-)	३६४...
...य					५३४-)	२१०...
...वन					२२-)॥	४५...
...कोष					९०॥=)	२६...
योग		१३१।॥≡)	५६७॥-)॥		२०६४।-)॥।	७७५८...
...र		७५०॥=)४	३९०१॥=)१०			
...स्मारक निधि		१५॥)	८७॥)			
...पदेशक					२।)	४१...
...य						४७॥...
विधवा पं० तुलसी राम					१०)	४०)
,, पं०वज़ीरचंद					८)	३०)
योग		१५॥)	८७॥)		२०।)	५३८...
...क		२२७॥≡)।	१४९५१॥=)१०		॥≡)	३॥...
...ज़ी			७४।॥)			
...य व्यय		८६)	२१६॥-)		२५।-)	७६...
...मकान		२)	८)			
...योग		३२५॥≡)।	१५२५३॥≡)१०		२६)	८३...
अन्य संस्था		१४८)	३९६॥-)		१०३॥)	४४८...
आर्य समाजें		१५८॥=)॥	८८॥≡)॥		२२९।≡)॥	४५९...
...क पुस्तकालय		४०)	५०)			१०)
...द्यार्थी आश्रम					१४)	३४...
...ालाल दामोदरदास						६...
		३४६॥=॥	१३२७॥)॥		३३५॥≡॥	

निधि	बजट आय	इस मास की आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	
...निहालदेवी जींदाराम			४४५६)			
...स्वामी विद्यानन्द जानकी बाई			५००)			
... पं० पूर्णानन्द					४०)	
...हाशय ओर्चीराम					२५)	
,, रामशरणदास			१०००)			
...ोग			५९५५)		६५)	
...द्धार		२७:-)॥	२११॥-)॥		७२७॥=)॥।	
...तोद्धार					२३५);	
...ट		८८॥≡)।	३२२≡)११			
महाविद्यालय		३२७२)	११७७१≡)॥।		४६९॥≡)।	
...द्यार्थी आश्रम		५८१)	१८२०॥=)		१६२=)	
		३:८)	१३११।-)		६४३॥)	
		८)	८०।)		२६।-)	
			५४२१॥≡)			
...लय स्थिर कोष			२००००)			
...र			६५॥=)।			
...चार			५)			
सेवकों की सहायता						
...मिति		३०)	४०)		१८॥)	१८...
विद्यालयशाला		५००)	१११०)			
...मकरण भंडार					९०)	९...
प्रचार					५३॥=)	५३
...ग		४८७७)॥।	४२१६०-)५		२४२५॥≡)॥।	२७४६
महा निधि			२०६०३॥=)॥			३७१
...स्थर छात्र वृत्ति			३०)			
...स्थिर ,,			१६३०)			
...ध्याय वृत्ति			५८४०५)॥			
...कुल इन्द्रप्रस्थ			३६७%=)।			६५...
...ग			६०७८४-)।			४३...
		६४९७।)१०	१६१०१३।)१०		५६२६-)	८९...
	१	१२७८९७≡)७	१०५६२७६॥=	१०		
योग		११३३३९४॥)७	१२१७२९०)८	१०		
व्यय		५६२६-)	८९५२१॥)३			
		११२७७६८॥≡)५	११२७७...			

निश्चित
मानों के
...ाजियों
...मर्थता
...द कर
को रद
...कहा
...ें)
...न
स
र
क
...फ़
...े
द
वि
न

विशेषतः ज़ारी रखते हुए समयानुसार आवश्यकतानुसार अन्य आवश्यक बातों की भी साथ२ शिक्षा देनी चाहिये । ऋषि दयानन्द रूढि को नष्ट करने आए थे वह आत्मदर्शी थे इस बात को ख्याल में रखते हुए हमारी राय में गुरुकुल वृन्दावन के सञ्चालकों को मिल कर बीच का रास्ता निकालना चाहिए । इसी में आर्य समाज का भला है ।

आसाम में वैदिक धर्म की गूंज—

पं०—यशःपाल जी सिद्धान्तालङ्कार पंजाब प्रतिनिधि सभा के प्रसिद्ध आर्योपदेशक कुछ मास के लिए श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी की ओर से आसाम वैदिक धर्म प्रचार करने गए थे । ३ मास तक पं० यशपाल जी ने आसाम में रह कर वहां आर्य समाज के विषय में लोगों को परिचय कराया । आसाम का प्रांत किसी समय भारतीय वैदिक सभ्यता का केन्द्र था यहां से चीन वर्मा में वैदिक धर्म का प्रचार होता था, परन्तु आज वहां ईसाई तथा मुसलमान भाई अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे हैं । इस समय आसाम निवासियों को वैदिक धर्म का सन्देश सुनाने का कोई उत्तम साधन नहीं है । पं० यशपाल जी कारण वश बीच में ही लौट आए । अभी कलकत्ता तथा विहार के आर्य सज्जनों ने आसाम में वैदिक धर्म प्रचार की विशेष आवश्यकता बताई है । यह कार्य विना धन के नहीं हो सकते । धर्म प्रेमी आर्य सज्जनों को चाहिए कि वह आसाम में वैदिक धर्म प्रचार के लिए विशेष दान कर वहां प्रचारकों को भेजने की सहूलियतें पैदा करें । आसाम में वैदिक धर्म की जो गूंज पैदा हो गई है उसे ज़ारी रखना आर्य जनता के हाथ में है ।

यम-यमी सूक्तः—

आर्य्य में यमयमी सूक्त के सम्बन्ध में पं० चमूपति जी का जो लेख प्रकाशित हुआ था उसके कारण आर्य्य विद्वानों के दिमागों में-इस सूक्त के सम्बन्ध में काफी चर्चा हो गई है । उसलेख पर शङ्का समाधान करने के लिए कई लेख समाचार पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं और कई सज्जन हमारे पास अपने विस्तृत लेख छपने के लिए भेज रहे है । वैदिक धर्म में पं० सातवलेकर जी ने मूल लेख पर जो आपत्तियां की थीं उन पर आर्य्य में विचार प्रकट किया जा चुका हैं । इसके वाद गुरूकुल के वेदोपाध्याय पं० चन्द्रमणि जी ने अलंकार में यम–यमी–सूक्त पर समालोचनात्मक लेख प्रकाशित किया है । पं० चन्द्रमणि

जी के लेख में प्रायः पं० सातवलेकर जी के लेख की छाया में ही विचार किया गया है, इसकी झलक "विभेत्यल्प श्रुताद्वेदः" लेख की ध्वनि से दिखती है। आर्य्य के प्रस्तुत अङ्क में पं० जयदेव जी शर्मा विद्यालङ्कार का लेख प्रकाशित किया गया है—इसमें पं० चन्द्रमणि जी के लेखकी परस्पर विरुद्ध बातों का दिग्दर्शन करा दिया गया है। पं० जयदेव जी के लेख के सम्बन्ध में हम अपने विचार अगले अङ्क में प्रकाशित करेंगे। हम यम-यमी सूक्त पर विचार करने वाले तथा लेख लिखने वाले विद्वानों से निवेदन कर देना चाहते हैं कि वह अपने विचार संक्षेप से पुनरावृत्ति दोष को दूर कर के ही प्रकट करें तो इससे हमें तथा अन्य विचारकों को सहूलियत होगी, और उनका समय भी बचेगा।

आर्य्य-समाज और देवनागरी लिपिः—

देव नागरी लिपि भारतीयता की लिखित मूर्ति है। ऋषि दयानन्द ने प्राचीन वैदिक सभ्यता को जागृत करने के लिए जहां ब्रह्मचर्य्य व्यवस्था तथा आर्ष ग्रन्थ के अध्यापन पर विशेष बल दिया था वहां उन्होंने आर्य्य भाषा के प्रचार के साथ २ देवनागरी लिपि के विस्तार के लिए भी पर्याप्त जोर दिया था। आर्य्य समाज ने इस समय तक आर्य्यभाषा प्रचार के लिए थोड़ा बहुत यत्न किया है। परन्तु देवनागरी लिपि के विस्तार के लिए नाम मात्र का उद्योग किया है, ऋषि दयानन्द गुजराती थे गुजराती होते हुए भी उन्होंने प्रान्तीय-लिपि को छोड़कर देवनागरी लिपि को अपनाया था। ऋषि दयानन्द के इस सिद्धान्त को भारत के बड़े २ विद्वान् स्वीकार कर रहे हैं। २६ अगस्त के नव जीवन में महात्मागांधी लिखते हैं:—

गुजरात में———देवनागरी को अनिवार्य करना तय किया है। इसलिए वहां हरेक गुजराती लड़का या लड़की जिसने किसी मदरसे में तालीम पाई है; देवनागरी और गुजराती दोनों लिपियों को जानता है। यदि उन्होंने सिर्फ देवनागरी लिपि ही तय की होती तो और भी अच्छा होता। ऋषि दयानन्द के कड़े समालोचक भी उसके सिद्धान्तों को अपने जीवन में स्वीकार कर रहे हैं। क्या ऋषि दयानन्द के शिष्य आर्य्य समाज के प्रतिष्ठित तथा साधारण सभासद् वैयक्तिक तकलीफों को सह कर घर-बाहर देवनागरी के प्रचार में अग्रसर नहीं होंगे?

Registered. No. L. 1424. रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

* ओ३म् *

भाग ६ सितम्बर १९२५

अङ्क ८ भाद्रपद १९८२

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना ।

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरःकृणवन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्णः

ऋग्वेद ।

हे प्रभु ! हम तुम से वर पावें ।
विश्व जगत् को आर्य बनावें ॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें ।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें ॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें ।
प्रीति-नीति की रीति चलावें ॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

ईश्वरचन्द्र लखनपाल प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से बाम्बे मैशीन प्रेस मोहनलाल रोड लाहौर में छप कर प्रकाशित हुवा ।

विषय

विषय सूची ।

"आर्य्य" के नियम ।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है। (डाक ख़ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है)।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है। सभा ने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है।

३—इस पत्र में धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभा की सूचनाएं दर्ज होती हैं।

४—पत्र में प्रकाशित होने के लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख़ के पूर्व आजाने चाहियें।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के भीतर सूचना देने से वह अङ्क भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात् मंगवाने पर प्रति अङ्क ।≈) देने पड़ेंगे।

* ओ३म् *

आर्य्य

भाग ६] लाहौर—भाद्रपद १९८२ सितम्बर १९२५ [अंक ४

[दयानन्दाब्द १०१]

विक्षुब्ध

(ले०—पं० चमूपति जी "सम्पादक आर्य" अफ्रीका)

तू क्यों है विक्षुब्ध ? हृदय !

शान्त सिन्धु है, शान्त पवन है। निर्मल निश्चल शान्त गगन है।
विमल दिशाओंकी चितवन है। देख तुझे होता विस्मय। तू क्यों ? ॥१॥

मस्त मछलियां उड़ने वाली। फिरतीं इधर उधर मतवाली।
अपनी उछल कूदकी जाली। उड़ीं ! उड़ीं !! गिर रहीं अभय। तू क्यों ?॥२॥

तुझे स्मरण किसका आता है ? किसे ढूंढता, नहिं पाता है।
कौन झांककर छिप जाता है ? मुस्काता हा ! हा !! निर्दय। तू क्यों ? ॥३॥

शान्ति कहां ? माया है, छल है। सजा शून्य सा देवस्थल है।
सूनी निश्चलता चञ्चल है। दीखो देव ! सुनूं जय ! जय !! तू क्यों ? ॥४॥

कारागोला २८ जुलाई १९२५,

यह कविता भारत से अफ्रीका जाते हुए मार्ग में समुद्र के वक्ष स्थल पर लिखी गई है। "उपसम्पादक"

यम-यमी सूक्तपर नया विचार।

(ले०—पं० जयदेव जी शर्मा विद्यालङ्कार, सम्पादक आर्य्य-जीवन कलकत्ता)

कुछ एक दिनों से आर्य्य-साहित्य-संसार में यम-यमी सूक्त पर बहुत चर्चा छिड़ी हुई है। सबसे प्रथम इसकी चर्चा पण्डित गुरुदत्तजी ने अपने वैदिक मैगज़ीन में की थी। पर वहां केवल पादरी टी० विलसन की समालोचना में प्रत्युत्तरमात्र लिखा था। वर्त्तमान में पं० चमूपतिजी ने "आर्य्य" (लाहौर) पत्र में यम-यमी सूक्त पर एक खोजपूर्ण लेख लिखा। जिस में समस्त सूक्त की व्याख्या स्वतन्त्र नियोगपरक करने का प्रयत्न किया है। परन्तु उसमें परिश्रम के अनुसार फल प्राप्त नहीं हुआ। उन्होंने कतिपय शब्दों के अर्थ करनेमें बहुत खचा-तानी की, जिससे वैदिक-अनुशीलकों को वह व्याख्या रुचिकर नहीं हुई। उसके विरुद्ध प्रथम आवाज़ पं० सातवलेकरजी ने अपने "वैदिक-धर्म" में की। वह आलोचना अपने पक्ष में पर्याप्त पुष्ट थी। परन्तु पूर्व लेखक ने अपने प्रतिवाद का प्रत्युत्तर भी योग्यता से लिखकर "आर्य्य" पत्र में दिया; और कुछ एक नवीन प्रमाण भी उद्धृत करके अपने पक्ष को स्पष्ट कर दिया। तो भी उनकी व्याख्या में से वह दोष नहीं गये। विश्वविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी के योग्य स्नातक पं० चन्द्रमणिजी विद्यालङ्कार ने पं० चमूपतिजी एम. ए. के दोनों लेखों की आलोचना करते हुए एक अच्छा अनुशीलन-पूर्ण लेख वहांसे निकलने वाले मासिक "अलङ्कार" में प्रकाशित कराया। हमने समस्त लेख साद्यन्त पढ़ा, परन्तु उसमें भी वह मनोरथ सिद्ध न हुआ, जो आर्य्य-विद्वानों की लेखनी से होना चाहिये था। आपने भी अपनी स्थापना में अद्भुत २ विचारों को स्थान देकर उनके अनुसार ऋषि दयानन्द के लेख की मरम्मत करने की कोशिश की। परन्तु उनका यत्न भी केवल सीधी रेखा के दोनों छोर मिलाने के यत्न की तरह व्यर्थ ही सिद्ध हुआ।

ऋषि दयानन्द के मन्तव्य के अनुसार यम-यमी सूक्त में "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" यह मन्त्रांश पुत्रोत्पत्ति करने में असमर्थ पति का अपनी समर्थ पत्नी के प्रति 'नियोग'परक वाक्य है। इसके विरुद्ध पं० चन्द्रमणिजी ने अपने पुराने अभिभावक भाष्यकारों के अनुसार इस सूक्त को भाई बहन का संवाद ही माना।

आपकी स्थापना है कि—

(१) यम-यमी सूक्त भाई बहन के बीच संवाद है, और महर्षि दयानन्द उनके पक्ष का पोषण करते हैं।

(२) वे दोनों सहजात भाई बहिन नहीं, पर सगोत्र भाई बहन हैं।

(३) यम पूर्ण संन्यासी है।

(४) नियोग पक्ष में यमी का पति जीवित है, परन्तु निःसन्तान है। यम भी अपनी पत्नी से निःसन्तान है, परन्तु यमी उससे नियोग करना चाहती है, वह यम उसको प्रत्याख्यान करता है।

इन स्थापनाओं को देखकर हमें बहुत हंसी आती है। क्योंकि ये स्थापना ही परस्पर विरोधी हैं।

(१) वे सगोत्र भाई बहन हैं, और नियोग चाहते हैं। दूसरा यम पूर्ण सन्यासी है। यदि यम संन्यासी हैं, तो फिर सन्तान की अभिलाषा कैसी, और नियोग कैसा?

(२) क्या सगोत्र भाई बहिन होना, यमी को नियोग के लिये सङ्कोच नहीं पैदा करेगा। प्रथम तो सगोत्रता, द्वितीय उसका संन्यासीपन, ये दोनों ही यमी को अपनी काम-वासना परित्याग करने के पर्याप्त कारण थे। यदि उसपर भी उसने प्रस्ताव कर ही दिया, तो ऋषि यमी और देवी यमी दोनों पद उसकी इस स्थिति के अनुरूप नहीं। पौराणिकों पर जो दोष हम दिया करते हैं कि उन्होंने पूर्वजोंपर ऐसी २ कथाएं गढ़कर कलङ्क लगाया, वही दोष आपपर भी लग रहा है।

इतने पर भी आप ऋषि दयानन्द को अपने पक्ष में मानते हैं, सो आश्चर्य है। ऋषि लिखते हैं:—

"जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवें, कि—अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्। हे सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री! तू (मत्) तुझसे (अन्यं) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर। क्योंकि अब मुझसे सन्तानोत्पत्ति न होसकेगी। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे।" इत्यादि।

अर्थात् ऋषि तो इस वचन को सगोत्र भाई या पूर्ण संन्यासी का वचन नहीं मानते, प्रत्युत् सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ (शक्तिरहित) पति का अपनी पत्नी

के प्रति वचन मानते हैं। इधर पण्डित चन्द्रमणिजी पूर्ण संन्यासियों में नियोग की चर्चा चला रहे हैं। क्या शोभा लगी, जब कि पूर्ण संन्यासी पूर्ण संन्यासिन को और किसी गृहस्थ या रण्डुए से नियोग के लिये कहें ? क्या कभी सगोत्र भाई का अपनी सगोत्र बहन को नियोग का आदेश करना नियोग कहा सकता है ? पण्डितजी ! पति के जीते जी स्त्री को नियोग की आज्ञा भाई नहीं दिया करता, प्रत्युत पति दिया करता है। 'नियोग' का अर्थ ही है, कि पति की असमर्थता में पति की आज्ञा से पर-पुरुष से सन्तान की उत्पत्ति करना, और अपने पति के तन्तु को चलाना। न कि भाई की आज्ञा से।

पण्डितजी ! आप अपने लिखे पर बार २ विचार करें। पाठकगण ! प्रतिपक्ष का दोष दिखाकर अब मैं अपने पक्ष की स्थापना पर आपका ध्यान आकर्षण करता हूं।

(१) यम-यमी सूक्त में किसी का भी संवाद नहीं, न भाई बहिन का और न पति पत्नी का। यह केवल एक मन्त्रद्रष्टा के दर्शन में मन्त्र (मनन) का एक क्रममात्र है। इस सूक्त के कुछ मन्त्रों के द्रष्टा यम, कुछ के द्रष्टा ऋषि यमी है। पर मेरा कहना उस द्रष्टा से है, जिसने ऋक् संहिता का दर्शन किया। मन्त्र के अर्थों पर विचार करने से वह एक संवाद के समान जान पड़ता है। जैसे कवि के हृदय में पात्रों का संवाद विचारक्रम से उत्पन्न होता है, और पात्रों के नाम उनके वचनों में आये, सम्बोधनों से पता लगाते हैं, उसी प्रकार इस विचारक्रम में भी सम्वाद की ध्वनि है, और परस्पर सम्बोधन से व्याख्याकारों ने यम-यमी पात्रों का निर्णय किया। फलतः मैं भी इस सूक्त को संवादमय विचार दर्शन मानता हूं। इसमें मन्त्रद्रष्टा के हृदय में क्या पात्र थे, मैं नहीं कह सकता। १, २, ३, ४, ५, ६ इन मन्त्रों में पात्र कोई सखा हैं, जो गृहस्थ धर्म से बद्ध हैं। उनके पुत्र नहीं है, पर दोनों पुत्र चाहते हैं। ७, ९, १३, १४, इन मन्त्रों में यम-यमी पात्र प्रतीत होते हैं, परन्तु आपस का यम यमी नाम का सम्बोधन भी विशेष अभिप्राय से है, वह उनका निज नाम नहीं है। अपि तु गुण-द्योतक नाम है। शेष ८, १०, ११, १२ में भी पति-पत्नीपरक सम्वाद है। फलतः सारा सूक्त पति-पत्नी सम्वादपरक है।

(२) पति ऐसा पुरुष है, जो सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ है। स्त्री सन्तान उत्पन्न कर सकती है, तो भी वह अपने पति से ही सन्तान पाने का

कई बार आग्रह करती है, और पति के ४ बार निषेध करने पर नियोग की आज्ञा को स्वीकार करती है।

(३) संवाद के पात्र भाई बहन नहीं हैं। क्योंकि भाई बहन होने में एक भी मन्त्रगत प्रमाण नहीं है।

(४) पुराणाभिमत या (सम्भवतः लुप्त) इतिहासाभिमत यम-यमी स्त्री-पुरुषविशेष का संवाद भी नहीं है।

(५) भ्राता और स्वसा शब्द का अर्थ भाई और बहन ही है, दूसरा कोई उन्नीत अर्थ नहीं है। भाष्यकारों ने अपने ग्राम्यपन को निभाने के लिये सूक्त का भाई-बहनपरक अर्थ किया है, जो नितरां असङ्गत है।

(६) यदि ७, ९, १३, १४ के मन्त्रों में आये यम-यमी शब्द से यम-यमी सम्बाद मानलें तो भी यम-यमी कोई पुरुष स्त्री नहीं, प्रत्युत वे सर्वत्र समानभाव से, व्यष्टि समष्टिरूप से एवं अध्यात्म, आधिदैवत, आधिभौतिक अर्थों में रूपकानुसार परस्पराश्रित कोई सम्बद्ध पदार्थ है, जिनमें कारणविशेष से पुंव्यक्ति (पुरुष भाव) अनुत्पादक है।

(७) आधिभौतिक पक्ष में यम, यमी, शब्दों से अग्नि और पृथिवी अर्थ-शतपथ ने लिया है। और अथर्ववेद के ब्राह्मण गोपथ ने अग्नि पृथिवी का पति पत्नी भाव माना है। कोई विद्वान् यम यमी से दिन रात, का ग्रहण करते हैं कोई और लौकिक पदार्थों को भी लेते हैं जैसे प्राण और चेतना, आत्मा और प्रकृति आदि। इन में जो सम्बन्ध भी कवि कल्पना कर लेते हैं उसी प्रकार निर्वाह होजाता है। वस्तुतः वे न भाई बहिन और न पतिपत्नी होते हैं।

(८) इस में संदेह नहीं कि अग्नि और पृथ्वी पतिपत्नीभाव से बद्ध हैं। वैदिक एवं शास्त्रीयपरिभाषा से भी पुरुष अग्नि है और स्त्री क्षेत्र या पृथिवी है। वे दोनों परस्पर मिलकर पुत्र उत्पन्न करते हैं और पतिपत्नी बनते हैं।

(९) यदि पुरुष की प्रकृति 'अग्नि' न होकर जल की हो तो सन्तान न होगी और उन का सम्बन्ध विफल जायगा। क्योंकि यह उत्पन्न होने वाला संसार 'अग्नि षोमात्मक' है। यदि कारण अग्नि-सोम न हुए तो अगला कार्य उत्पन्न न होगा।

(१०) मैं वेदों के मन्त्रों को ऋषि की मानस भूमि में प्रत्यक्ष होती हुई ज्ञान धारा समझता हूं जो उन्होंने ईश्वर की प्रेरणा से साक्षात् की। और उन में

उन्होंने आध्यात्मिक आधिभौतिक,आधिदैविक लौकिक वैयक्तिक और सामाजिक सत्यों को अन्तर्दृष्टि से साक्षात् किया; और उचित शब्दों में निर्देश रूप में प्रकट किया ।

ये १० स्थापनाएं मैं स्वतः मानता हूं । और इन की रक्षा करते हुए मैं यम यमी सूक्त को उसी प्रकार मानता हूं जैसे ऋषि ने दिग्दर्शन कराया है । उसी विचार से पाठकों के समक्ष इस सूक्त के १४ मन्त्रों की व्याख्या प्रकट करता हूं । साथ ही साथ अपने प्रति वादियों के विचारों और व्याख्याओं की त्रुटियां भी दिखाऊंगा । सम्भव है मेरे विचारों में भी पर्याप्त दूषण हों तो भी अगले विचारकों के लिए अवसर खुला हुआ है ।

व्याख्या ।

नत्वा श्रीमद् दयानन्दं गुरुं परमभास्वरम् ।
यत् कृपालेशतः श्रीमद्दयानन्दो जगद् गुरुः ॥१॥
व्याख्यास्ये वैदिकं सूक्तं यमयम्योः सदर्थवत् ।
दयानन्दर्षि निर्दिष्ट दिशा मोह निवृत्तये ॥२॥

सूक्त का प्रारम्भ—

ओ३म् ओचित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरूचिदर्णवे जगन्वान् ।
पितुर्नपातमादधीतवेधाः अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥१॥

भाष्यकारों ने प्रथम एक यह बड़ी गलती की है कि इस सूक्त की अवतरणिका में ही उन्होंने इस सूक्त को यमयमी सम्वाद मानलिया है । और उसी भावना से इस मन्त्र को यमी की उक्ति माना है । और यही दोष पं० चन्द्रमणि जी ने भी किया है । हम इस दोष से मुक्त रहने के लिए मन्त्र की अभिधा लक्षणा और व्यंजना सभी पर विचार करेंगे । मन्त्र वह स्वयं कहेगा कि मैं किस का वर्णन करता हूं ।

जिस प्रकार अन्य भाष्यकारों ने माना है उस से तो प्रतीत होता है कि यम यमी ने कहा कि इधर मन्त्र कर्त्ता ने गांठ लिया । पर वास्तव में मन्त्र तो न यमी ने कहा और न यम ने सुना । प्रत्युत मन्त्र द्रष्टा ने मन्त्र का (विचार का) दर्शन किया और इस रूप में दर्शन किया । इस मन्त्र का जो अपना अर्थ है वही

इस का देवता है। वही उस का प्रतिपाद्य है। इस पर दृष्टि रखकर मन्त्र के पद पद पर विचार कीजिये।

पदार्थ—(ओ चित्) अ+उ+चित्। आ इत्यस्य ववृत्या मित्यत्रान्वयः। उकारः पदपूरणः नि०। चित् पूजार्थः। सखांय समान ख्यातिं सख्यै सखिभावाय। आववृत्याम् वृणोमि क्रिया समभिहारेण। कोयं सखा यः? खलु तिरः तीर्णे। पुरु महत्। चित् उपमार्थः। अर्णवं समुद्रं। जगन्वान् गन्तुं प्रवृत्तः। अस्तीति शेषः। पितुरात्मनो जनकस्य नपातम् नप्तारम् आदधीत वपेत्। वेधाःआत्मनो भाग्य विधाता अधिक्षमि क्षमायां क्षेत्रे स्वकीये। तमेव प्रतरं भवार्णवतरणसाधनं। दीध्यानः ध्यायन्।

भावार्थ—हे! भद्र! तुम को मैं सखाभाव के लिये सखा रूप से वार २ चुनती हूं। तू बड़े भारी लम्बे चौड़े मानो समुद्र के समान इस संसार पर यात्रा कर रहा है। अपने पिता के नाती को तरने का साधन समझता हुआ अपने भाग्य का विधाता गृहस्थ अपने क्षेत्र में नाती का आधान करे।

यह शब्दार्थ है इस में कोई खेंचातानी नहीं। अब इस पर विचार कीजिये चित्! यह सम्बोधन है। और पूज्य व्यक्ति के प्रति कहने योग्य सम्बोधन है 'चित्'! 'नी! अनी!' हे महाशय! फलतः कोई अपने से भिन्न ऐसे व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर खैंचता है जिस के लिए हृदय में इज़्ज़त है। (सख्यै सखायं आववृत्यां) सखा के लिए सखा को वार २ वरती हूं। वार २ पसन्द करती हूं। किसी को वार २ मित्र रूप में इस लिए स्वीकार किया जा रहा है क्योंकि वह पहले से ही सखा है। ये नयी दोस्ती नहीं गांठी जा रही है। प्रत्युत पुरानी दोस्ती का सदुपयोग उठाया जा रहा है। क्यों सखा को वरा गया? क्योंकि वह सखा बड़े लम्बे चौड़े दूर तक फैले हुए (पुरु अर्णव चित् जगन्वान्) ऊपर तक (तिरः) भरे हुए उमड़ते हुए 'अर्णवं' सागर के समान भवसागर पर जा रहा है।

क्यों वरण करती हूं? क्योंकि मैं भी तो उसी के समान सागर में हूं। मुझे भी तो पार जाना है। तरने के लिए कोई जहाज़ या नाव नहीं है। सो नाव का साधन मेरे पास है। पर मेरे वस का नहीं है। मैं चाहती हूं कि वह साधन हम दोनों मिल कर तय्यार कर लें। और यह भी निश्चित है कि शिल्पी जो

अपने हाथों जहाज़ बनाना जानता है वह अवश्य नाव तय्यार कर सकेगा। नाव कैसी ?

(पितुर्नपात मादधीतवेधाः अधिक्षमि प्रतरं दीध्याना ?)

(पितुर्नपातं प्रतरं दीध्यानः वेधाः अधिक्षमि आदधीत) अपने पिता के पोते या नाती को ही जहाज़ समझता हुआ वेधा-अपने हाथों अपना भावी भाग्य बनाने वाला पुरुष 'अधिक्षमि' अपने भूमि-या क्षेत्र में उसका आधान करे।

नपात्—उपमार्थक उपपद पा धातु से शतृ नपात् "पालयन्ति" जो सन्तति या वंश की रक्षा करने वाले के समान है। पिता अपना सर्वस्व अपने ज्येष्ठ पुत्र पर रख कर चला गया। वह पिता की सम्पत्ति की रक्षा करता है। परन्तु बूढ़ा पिता चिता के रास्ते स्वर्ग में गया। अब ज्येष्ठ पुत्र अपनी भी गति वैसी ही देखता है तो जो सम्पत्ति पिता ने दी उस की रक्षा कौन करेगा ? वह नपात्—नाती। यद्यपि वह बालक है तो भी कानून की दृष्टि से वही (नाती) उसका रक्षक है।

प्रतर=उत्कृष्टतरण साधन। कहां अर्णव में।

अर्णवः अर्णवान्। अर्णः जलम्। तद्वान्। ऋणवान्।

पितृ-ऋण रूप जल से भरा समुद्र उसको तैरने का साधन या उतारने का साधन, सिवाय नाती के दूसरा नहीं। इस कारण गृहस्थ अपने को पितृऋण के समुद्र से पार जाने के लिये अपने क्षेत्र में नपात (नाती) का आधान करे। क्या सोच कर ? कि यही ऋण मुक्त होने का यही उत्तम साधन है। यही समुद्र पार जाने के लिये अच्छीनाव (किश्ती) है।

पितुर्नपातम्। पिता के नपात् को। पिता किसका ? अपना और आधान कौन करे ? वेधा अपने गृहस्थ को रचने वाला या अपने भाग्य को बनाने वाला जिसने धनसम्पत्ति भूमि, क्षेत्र भृत्य आदि सभी सुख साधनों का सम्पादन किया। कहां पैदा करें ? 'अधिक्षमि'। क्षमा पर क्षेत्र पर। भूमि पर। अपनी धर्मपत्नी में।

'अधिभूमि'=क्षमा पर, क्षमा=पृथिवी, क्षमा=सहनशीला, क्षमा=समर्था, क्षमा=शक्ति मती। जो स्त्री गृहस्थ का भार उठाने में शक्तिमती है वही क्षमा कहाती है।

टिप्पणी—पं० चन्द्रमणि जीने तिरः का अर्थ 'प्राप्त' किया है। परन्तु निरुक्त ही में तिरःका अर्थ तीर्ण भी है जिसका अर्थ दूरमध्वानं (लम्बा रास्ता)।

समीक्षा—यह उक्ति किसी स्त्री की है जो इस चिन्ता में है कि मैं अपना पुत्र पाऊं। और मेरा पति या भाग्य विधाता ही मुझमें सन्तान को प्राप्त करे यह समझकर कि इससे हम पितृऋण स्वरूप समुद्र को तर सकेंगे। यह चिन्ता नव यौवन में नहीं उठा करती, प्रत्युत निःसन्तान गृहस्थों के उतरते काल में उठा करती है। फलतः यह वक्तास्त्री उतरती उमर के प्रारम्भ में हैं। वह अपने सखा को सखित्व निभाने के लिये वार वार बुलाती है। कौन कहता? यह हम अभी नहीं कहते। जो कह रही है वह स्पष्ट है वही इस मन्त्र का देवता और वही ऋषि है। यह एक विचार मन्त्रद्रष्टा के हृदय में "समस्यारूप में उठा कि ढलती उमर में यदि किसी स्त्री को पुत्र न हो। और वह वार २ पितृ ऋण उतारने के निमित्त अपने पिता का नाती पैदा करने का अपने पति (सखा) से आग्रह को तो पति क्या करे। इस प्रसङ्ग-में दूसरे पक्ष का विचार भी उठेगा। सो इस प्रकार कि—

नते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवोधर्त्तार उर्विया परिख्यन् ॥

न ते सखा सख्यं वष्टि एतत्? यत् सलक्ष्मा विषुरूपा भवातिभवतु। कुतो न? अवश्यं वष्टि इति भावः। कुतः यतः महो महतो असुरस्य शक्तिमतः वीराः वीरः पुत्रासः दिवः धर्त्तारः उर्विया परिख्यन् परिदृश्यन्ते।

अर्थ—(क्या?) तेरा सखा इस सख्य को नहीं चाहता कि समान लक्ष्म वाली विषुरूपा होजाय? अवश्य चाहता है। क्योंकि बड़े शक्तिवाले पुरुष के वीर पुत्र, द्यौ को धारण करने वाले खूब चारों ओर दीख रहे हैं।"

सलक्ष्मा—(समान चिन्ह वाली?) लक्ष्म=शोभा "लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।" लक्ष्म शब्द का अर्थ शोभा कीर्त्ति सम्पत्ति है। इसी से लक्ष्मी शब्द बना है। लक्ष्म का अर्थ चिन्ह भी है। स्त्री पुरुषों के शारीरिक चिन्ह बराबर नहीं होते इस लिये उनको समान चिन्ह कहना असंगत है। उनको विलक्ष्म कहा जाता तो ठीक था। परन्तु वेद को लक्ष्म शब्द से चिन्ह अभिप्रेत नहीं उसका अभिप्राय सम्पत्ति, कीर्त्ति, नाम, शोभा आदि से हैं जो सवसमानार्थक हैं। पतिपत्नी को समान सम्पत्ति, समान कीर्त्ति समान नाम और विवाह होजानेके उपरान्त गोत्र भी एक ही होजाता है। इसी से वह 'सखा' समानख्याति हो जाते हैं। पूर्व मन्त्र में जो स्त्री (वाचिका) के मुख से निकले 'सखा' शब्द से कहा गया है उत्तर मन्त्र में वही 'सलक्ष्मा' शब्द से कहा गया है। भिन्न वस्तु नहीं।

विषुरूपा=बहुरूपा, पुत्रवती, विषमरूपा। बिना पुत्र के दोनों बराबर हैं। पुत्र होजाने पर वह दो हृदयवाली हो जायेगी दो के तीन हो जायेगें। यही विषम रूपता या बहुरूपता है। पुत्रवती माता का अधिकार बहुत बढ़ जाता है। पिता से सौ गुणा आचार्य उससे सौ गुणा माता का अधिकार हो जाता है।

अपुत्र के हृदय में, दूसरे समर्थ पुरुषों के पुत्रों को देख कर यह भाव आना स्वाभाविक है कि मेरा भी पुत्र हो। इसी लिये अपनी आन्तरिक अभिलाषा की पुष्टि में वक्ता हेतु देता है कि बड़े समर्थ पुरुष के वीरपुत्र द्यौ को धारण करने वाले दीख रहे हैं। तब मैं क्यों न चाहूं कि मेरे भी पुत्र हों? मैं भी चाहता हूं।

वीराः का अर्थ है वीर्य से उत्पन्न हुए पुत्र। 'वीराः' यह पुत्रासः का विशेषण है। शक्तिमान् वीर्यवान् पुरुष के अपने ही वीर्य से उत्पन्न हुए पुत्र द्यौ को धारण करते हैं। अर्थात् अच्छे उच्च अधिकार पाये हुए दिखाई दे रहे हैं।

द्यौ=उच्च दिव्यअधिकारः—उच्चस्थिति। सामाजिक क्षेत्र में उच्च अधिकारी 'द्यौः' का अर्थ है। दिवः ज्ञानस्य वा। अर्थात् वे पढ़ लिख कर विद्वान् भी होगये। और हा! मेरे पुत्र पैदा भी नहीं हुआ। पर चाहता हूं कि पैदा हों। पं० चन्द्रमणिजी ने 'परिख्यन्' का अर्थ किया है, प्रत्याख्यान करते हैं। किस बात का प्रत्याख्यान करते हैं? कि भाई बहन का सम्बन्ध हो, इस बात का प्रत्याख्यान करते हैं। कहता कौन है, कि भाई बहिन का विवाह हो? यमी कहती है। यमी कौन है? ब्रह्मचारिणी यम-नियम पालन करने वाली। भला बतलाइये तो सही, क्या असंगत बात कही जा रही है? आपकी एक ब्रह्मचारिणी ऐसी भ्रष्ट बातों का प्रकरण वेदमन्त्रों का ऋषि होकर कहेगी, और उसका भाई उसको वैसा कहने से रोकने के लिये ऋषियों का प्रमाण ढूंढ कर उसका जवाब दे। यदि सचमुच कोई विदुषी ऋषि कन्या अपने सगे या सगोत्र भाई से ऐसा उलटा सीधा कहे तो उसके उत्तर में एक वार 'सिश्' कह देना काफ़ी है। भाई बहन का संवाद मानने वालों ने यह भी विचार नहीं किया कि हम अपने ऋषियों के मुख से ऐसे २ वेद मन्त्रों के अर्थों को करके उनकी क्या शोभा

टि०—लक्ष धातु का प्रयोग कतिपय शब्दों में शोभार्थक ही है। जैसे पञ्चतन्त्र में 'लक्षण' शब्द 'तमगा' 'पदक' अर्थ में प्रयोग हुआ।

साधुमातुलगीतेन यया प्रोक्तोऽपि नस्थितः। अपूर्वो यं मणिर्बद्धः सम्प्राप्तं गीत लक्षणम्।

करेंगे ? हां जिनको भाई बहन की ऐसी ठठोली हंसी मज़ाक करा लेने का उद्देश्य था उन वाम मार्गियों ने क्या नहीं किया ? सो महीधर के भाष्य को देख कर सभी जानते हैं। खेद है आर्य्य विद्वान् भी उसी गंदे प्रवाह में बहते हैं।

प्रत्याख्यान की पुष्टि में पं० चन्द्रमणि जी ने एक पाणिनि के सूत्रको गवाह बनाया। "अपपरी वर्जने" इससे परि वर्जनार्थ में भी आता है। आता है तो क्या हुआ ? अधिपरी अनर्थकौ यह भी पाणिनि ने कहा है। अधिपरि अनर्थकभी होता है। अब बोलिये ?

आपके वर्जनार्थक 'परि' का प्रयोग कैसे होता है सो समझ लीजिये। क्या आप भी भानुमती का पिटारा खोल कर देखेंगे। वर्जनार्थ परि का प्रयोग होता है परिहरेः संसारः। यहां "पञ्चम्याङ्परिभिः" इस सूत्र से पञ्चमी होती है परि के योग में। तो कहिये आपका कर्म प्रवचनीय 'परि' किसके साथ जुड़ता है। क्यों दिवः के साथ ? यदि यह परि अस्मान् के साथ जुड़ गयी तो प्रत्याख्यान का मामला बिगड़ता है। अब अनर्थक उदाहरण भी लीजिये परि कुतः पर्यागच्छति। परिका यहां कोई अर्थ नहीं। फलतः अनर्थक मानना होगा। या गति है तो कर्म प्रवचनीय न मानकर गति-उपसर्ग संज्ञक मानो तो परिपश्यन्ति यह अर्थ सायण के सम्मत है।

यहां भी प्रश्न यह है कि वे क्या देखते हैं ? सायण तो चाहते हैं यम कहदे "ना बहिन ! मैं ऐसी दोस्ती नहीं चाहता कि तू बहन मुझ से भोग करे क्योंकि रुद्र के बेटे आंख फाड़ २ कर देख रहे हैं। शापदि यदि न देख रहे होते तो वैदिक ऋषि यम कह जाते। फलतः सायण का परिपश्यन्ति यह अर्थ वैदिक ऋषियों पर कलंक लाने के और कुछ नहीं कहता। उसी प्रवाह में बह कर आगे सायन ने यमी की व्यक्ति को इतना नीचे गिराया है कि मानसिक आचार को रसातल तक पहुंचा दिया है। यह सायन के अर्थ वैसे ही प्रतीत होते हैं जैसे काशी के एक पण्डित ने रघुवंश की कथा को एक चोर की कथा पर लगा दिया था।

इसी प्रसंग में एक प्रश्न हम और करते हैं। वह यह कि भ्रातृ भगिनी संवाद मानने वाले विद्वान् अर्थ करते हैं:—

"तेरा सखा यह सख्य नहीं चाहता कि सलक्ष्मा बहिन विषुरूपा पुत्रवती

होजाय।" इतने शब्दों में यह कहां से आया कि भाई के संयोग से ही विषुरूपा होना अभिप्रेत है। पहले मन्त्र में भी यमी ने कोई भाई वाचक शब्द नहीं कहा। बल्कि वेधा और सखा शब्द का प्रयोग किया है। फलतः भाई द्वारा विषुरूपा होने की कल्पना करनी तो मन्त्रों पर अत्याचार करना है।

यदि यह भी मानलें कि यमी नेस्वतः विवाह का प्रस्ताव पहले मन्त्र में किया तो उसमें भी तो यह कहीं नहीं दिखाया कि वह यह प्रस्ताव भाई से कर रही है। वह तो प्रस्ताव 'सखा' से करती है या उससे कर रही है जिसको वेधा मानती है। उसके प्रस्ताव के उत्तर में भी उत्तर देने वाला'सखा'ही है "यां सलक्ष्मा" समान कीर्त्ति सम्पत्ति और शोभा और नाम वाला है। विवाह के अनन्तर दोनों पतिपत्नियों का गोत्र एक होता है।

परन्तु मज़ा यह है कि "सखा" होने का प्रस्ताव यमी कर ही नहीं रही। वह तो पहले से ही बने हुए सखा से पुत्रका प्रस्ताव कर रही है। जब पहले ही वह "सखा" है तो विवाहित पहले ही है। इसी प्रकार गोत्र भी दोनों का एक हो चुका है। विवाह के बाद वधू का पति गोत्र ही हो जाता है। तब सलक्ष्मा शब्द पर कोई आपत्ति नहीं। फलतः उलटी सीधी कल्पनाएं गढ़ कर मन्त्र का अनर्थ किया गया है।

जब पहले मन्त्र में भाई से विवाह करने की प्रस्तावना ही नहीं तब उसकी पुत्रैषणा की अभिलाषा का विरोध करना रुद्र के पुत्रों से हौव की तरह डराना भी असंगत है। इनका कोई गूढ़ार्थ नहीं है।

अब हम मन्त्र की व्यंजना और लक्षणा पर विचार करते हैं।

व्यंजना में इस वचन के वक्ता ने अपनी तुलना असुर=शक्तिमान से कर के अपनी पुत्रोत्पादन में असमर्थता और इसी कारण से अपुत्रता भी बतला दी। इस पर वह कह सकता है, कि अच्छा रहने दो पुत्र न सही। हम असमर्थ हैं लाचार अपुत्र ही रह जायंगे। ऐसा निर्वेद उत्पन्न होने की सम्भावना पर उसको पुनः उत्साहित करने का भाव पुत्राभिलाषिणी स्त्री के हृदय में आना सम्भव है; और उचित भी है। यही विचार क्रान्त दर्शी मन्त्रद्रष्टा के हृदय में भी प्रकाशित हुआ है।

प० चन्द्रमणि जी ने इस मन्त्र में 'उर्विया' शब्द का अर्थ (उरुणा) किया है। और सङ्गति लगाई है कि 'उर्विया परिख्यन्' बड़े बल से प्रत्याख्यान करते हैं।

यदि 'उर्विया' को तृतीयान्त मान लें तो भी 'बल से' यह अध्याहार निराधार है।

वस्तुतः पण्डितजी की यह कल्पना अन्धपरम्परा के कारण हैं। कहीं आपने सिद्धान्त कौमुदी या काशिका में 'सुपांसुलुक्' पाणिनी के (७। १। ३९) सूत्र की वार्त्तिक का उदाहरण लिखा देख लिया कि उर्विया, दार्विया उरुणा दारुणेति प्राप्ते।

और पट से पण्डित जी ने टीप लिया 'टा' की जगह 'इ यार्'। क्यों है कि नहीं अनर्थ ?। पण्डित जी कृपा कर ध्यान लगा कर सूत्र और वार्त्तिक दोनों पर दृष्टि करें तो सूत्र यह है। सुपां सु-लुक्-पूर्वसवर्ण आ-आत्-शे-या—। इस पर वार्तिक हैं डा-ड्याच्-इकाराणुपसंख्यानम्। आप ने पता नहीं 'इयाड्' कौन से नये आदेश का आविष्कार कर लिया। वार्त्तिक में इया और डियाच् और 'ई' ये तीन आदेश हैं। इन में उर्वी शब्द से डियाच् हो सकता है। और 'उर्विया' शब्द सिद्ध होगा। इस पर आप ने यह कल्पना कैसे कर ली कि उस से यहां 'ए' प्रत्यय (तृतीया कारक वचन) के स्थान पर ही यह आदेश हुआ है। यह आदेश सुप् प्रथमा एक वचन का भी तो होना सम्भव है। क्योंकि सूत्र में 'सुपां' यह सामान्य वचन है। यदि आप को विश्वास न हो तो लीजिये भाष्यकार सायण को उसी सूक्त के ७ मन्त्र में "उर्विया विभाति" में उर्वी शब्द से डियाच् प्रत्यय करके शब्द सिद्ध किया है।

तब मन्त्र का अर्थ होगा। उर्विया परिख्यन् उर्व्यां परिदृष्यन्ते इत्यर्थः। अर्थात् इस लोक में या इस पृथ्वी तल पर देखे जाते हैं। पण्डित जी वेदांग व्याकरण को भुला कर करके आप वेदार्थ को नहीं सुधार सकते।

मन्त्र ३—

उशन्ति घा ते अमृतास एतदू एकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य।
निते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पति स्तन्वमाविविश्या॥

ते अमृतासो ह एकस्य चित् मर्त्यस्य त्यजसं उशन्ति। ते मनो अस्मे मनसि निधायि। जन्युः पतिः। तन्वं आविविश्याः।

"वे जीवन्मुक्त अमृत ज्ञान योगी लोग भी यह बात चाहते हैं कि एक पुरुष का एक (त्यजस) अपत्य हो। मेरे मन में तुह्मारा मन (खा-जा चुका है। उत्पन्न करने वाली जाया का तू पति है। तू उस में प्रवेश कर।"

इस अर्थ में हम ने एक बात भी अपनी तरफ़ से नहीं मिलाई। पाठक स्वयं देखें इस से क्या टपकता है? साफ़ प्रकट है कि निःसन्तान पुत्राभिलाषिणी, स्त्री देव मार्ग (तपस्वी मार्ग) से गमन करने की सोचने वाले अपने, अपुत्र पति को कहती है कि "क्या करें हमारे वस का नहीं" ऐसा समझ कर निराश होना उचित नहीं क्योंकि देवमार्गी ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता अमृत लोग भी यही चाहते हैं कि हरेक मर्त्य (मर्द) का एक तो कम से कम पुत्र अवश्य हुआ करें। दूसरा तुम्हारा मन मेरे मन के भीतर रखा हुआ है। या "नितेमनसि अस्मे मनोधापि"। या तेरे मन में मेरा मन रक्खा है। अर्थात् तुम मुझे बहुत अधिक प्रेम करते हो। न केवल प्रेम बल्कि मैं तुम्हारी जाया हूं। और तुम धर्मपत्नी के पति हो। यह मेरा शरीर पुत्र को उत्पादन करने में समर्थ है आप के अर्पण है इस शरीर में आप ही स्वयं पुत्र के (जनि) रूप में प्रविष्ट होइये। मैं आप ही से पुत्र चाहती हूं। यह विस्तृत अर्थ उक्त मन्त्र से निकलता।

जन्युः पतिः—तू 'जनि' पति है। जनि जाया उत्पत्तिस्थान, मुख्यतः गर्भाशय उसीका पति होसकता है, दूसरा नहीं। उसका मालिक होनेमें प्रमाण? "निते मनो मनसि धायि" पति का हृदय पत्नी के हृदय में रक्खा हुआ है, इसी कारण "जन्युः पतिः" है। क्या भाई से बुद्धिमती बहन ऐसा कह सकेगी? इस स्थलपर एक किस्सा याद आता है,कि एक राजा के तीन लड़कियां थीं। राजा ने खूब धन आभूषण आदि देकर सबसे पूछा—तुम सबसे अधिक प्रेम किसको करती हो। तो उत्तर में दो ने तो पिता को कहा—"आपको"। परन्तु बुद्धिमती कन्या ने कहा कि, "अपने पति को"। फलतः यमी को हम मूर्ख कन्या नहीं समझते कि, वह अपने भाई के दिल को अपने दिल की डबिया में बन्द समझे, या अपने दिल को उसके दिल की डबिया में बन्द समझे। वह यदि बुद्धिमती है, तो अवश्य अपने पति के हृदय को अपने दिल की तह में और उसके दिल की तह में अपने को बैठा हुआ मानती है, और उसीको जनि का' पति भी कह सकती है। उसीको अपने शरीर में प्रविष्ट होनेका अधिकार देसकती है। और उसीके सामने वह यह युक्ति देसकती है, कि बड़े २ ब्रह्मज्ञानी भी कम से कम एक पुत्र की आकाङ्क्षा किया ही करते हैं।

क्या बहिन यमी कामार्त्ता होकर इतनी पगली होसकती है, कि वह एक पुत्र के लिये ही अन्धी होजाय? सम्भव नहीं। यदि कामान्धा होजाती, तो

फिर पुत्र-संसारतरणसाधन, फिर कम से कम एक पुत्र इत्यादि धर्म-शास्त्र छांटने न बैठती। वहां केवल एक ही युक्ति हुआ करती है "इच्छा"।

यहां तो एक पुत्र तो कम से कम हो, इस प्रकार केवल निःसन्तान गृहस्थ ही अपने सन्तोषार्थ ऐसा विचारा करते हैं।

अच्छा! अब पाठक विचार करें कि, अगला विचार इसके आगे क्या आसकता है। अपनी स्त्री की ऐसी उक्ति के प्रत्युत्तर में असमर्थ पति क्या कह सकता है। जो कहना उचित है, वही विचार मन्त्रद्रष्टा के दृष्टिपथ में भी है।

मन्त्र ४—

न यत्पुरा चक्रम कद्‌हन नूनम् ऋता वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्सु अप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ॥

यत् पुरा कत्‌हन चक्रम? नूनं ऋता वदन्तः अनृतं रपेम। गन्धर्वो अप्सु अप्या च योषा, सा नौ नाभिः नौ तत् परमं जामि सदोषम्।

हमने पहले जो कुछ भी यत्न किया, उसमें क्या नहीं किया? सभी कुछ किया। निश्चय से, सत्य बोलने वाले रहकर क्या अब हम असत्य कहेंगे। गन्धर्व अपों में और अप्‌मयी योषा है, हम दोनों की नाभि (नहन=शरीररचना) अप् है, हममें यही एक दोष है।

जो हमने पुत्र के उत्पादन करने के लिये पहले प्रयत्न किये, उनमें किस प्रकार का प्रयत्न नहीं किया गया? अर्थात् सभी प्रकार के यत्न किये गये हैं। परन्तु सभी प्रयत्न निष्फल गये हैं। हम सदा सत्य बोलते हैं, अब क्या इस बात में हम असत्य कहें? नहीं हम कभी असत्य नहीं कहेंगे। पुत्र के उत्पन्न न होनेमें कारण यह है कि, (गन्धर्वो अप्सु) अर्थात् पुरुष जलों में और योषा भी (अप्या) अप्मयी। अर्थात् पुरुष की प्रकृति भी जल-स्वभाव की है, और स्त्री का स्वभाव भी जलीय है। जब हम दोनों की एक ही प्रकृति (The natur of both being watery) है, तब सन्तान क्योंकर हो? हम दोनों की वही नाभि है। एक ही स्वभाव है। अर्थात् दोनों के शरीरों की एक ही रचना (नाभिः नहनम्=शरीरसंहतिः। देहरचनेति यावत्) और गृहस्थ के कार्यों में तथा पुत्रोत्पादन में यही एक दोष है। मैं भी जल-प्रकृति का और तू भी जलप्रकृति की है। रूढि में पड़कर हमने अप् का अर्थ जल किया है। क्योंकि स्त्री को सोम प्रकृति का माना गया है। वह अप्सरा स्वभाव की होती है। पुरुष को अग्निस्वरूप माना है। परन्तु जब

पुरुष भी जलस्वभाव का होगा, तो पुत्रोत्पत्ति नहीं होगी। समस्त संसार अग्निषोमात्मक है। जब दोनों स्त्री पुरुष परस्पर एक दूसरे की अपेक्षिक शक्ति को पूरा करने वाले पूरक हों, तभी पुत्र हो सकता है। स्त्री स्वभाव पुरुष हो, तो वह कामार्त्त हो कर भी पुत्र नहीं पैदा कर सकेगा। यदि स्त्री पुम्प्रकृति की है, तो भी मैथुन व्यर्थ होगा। बहुल बार प्रायः देखा गया है कि, पतिपत्नी चिरकाल तक यत्न करने पर भी सफल नहीं होते, वे अपना जोड़ा बदल देने पर सफल होजाते हैं। अर्थात् पुरुष अन्य स्त्री से पुत्र पैदा कर लेता है और स्त्री अन्य पुरुष से। वही दोष इस स्थानपर भी विद्यमान है। दोनों का रज-वीर्य एक ही जल-प्रकृति का होने से Sperm और ovum परस्पर में inactive रहते हैं, उनमें आकर्षण नहीं। वे दोनों रयि हैं। चाहिये प्राण और रयि। यही समान-प्रकृतिकता ही पुत्रोत्पत्ति में रुकावट (जामि = दोष) है, यही सच्ची बात है। झूठमूठ अन्य बातों को दोष देना, भाग्य और विधाता को कोसना या पूजा, पाठ, वलि, पुरश्चरणादि में फंसना, यह सब अनृत है। मैथुन, औषधि, उपचार तथा वाजीकरणादि सब क्रिया-काण्ड अनृत हैं, उसमें कोई सत्य फल प्राप्त होने की आशा नहीं। उस सबको छोड़कर अब केवलमात्र यही तत्त्व सत्य है।

पं० चन्द्रमणिजी ने 'अप्सु' का अर्थ 'प्राप्त सम्बन्धों में' किया है, 'गन्धर्व' का अर्थ 'वेदज्ञ पिता' किया है और 'योषा = मेरी मां' 'अप्या = निकटसम्बन्धिनी' इस प्रकार किया हैं, जो सर्वथा निष्प्रमाण है।

अब हम अगले मन्त्र पर विचार करते हैं। पत्नी अपने पति के मुख से सन्तान न होनेका यह वैज्ञानिक कारण सुनकर शङ्कित हुई, और इस बात पर वल देती है कि, जब से भी हम अपनी २ मां के पेट में आये, तब से ही हमारे भाग्य में इस प्रकार से पति-पत्नी होकर संसार-यात्रा करनेका भाग्य था। यह तो भगवान् की करनी है। यदि पुत्र नहीं हुआ, तो इसमें भी भगवान् का हाथ है। उसके अटल-नियमों को कोई तोड़ नहीं सकता। वह सूर्य और यह पृथ्वी हमारे गृहस्थ के सम्बन्ध के साक्षी हैं। इसी अनुरूप-भाव को अगले मन्त्र के रूप में ऋषि ने देखा।

मन्त्र ५—

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कः देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उ उत द्यौः॥

जनिता परमात्मा नौ आवां द्वावपि गर्भे स्व स्व मातृगर्भे दम्पती कः करोति। सदेवः त्वष्टा सकल रूपाणि त्वक्षति। स सविता उत्पादयिता प्रेरकः सच विश्वरूपः नाना रूपेण शिल्पप्रकाशकः। अस्य परमेश्वरस्य व्रतानि कर्माणि नकिः न कोपि प्रमिनन्ति विहिंसन्ति। तदिदमावयोर्भाग्यस्य दैव कृतस्य पृथिवी वेद द्यौश्चवेद।

जनिता परमात्मा हमें गर्भ में ही दम्पती बनाता है जब हम गर्भ में ही होते हैं तभी जिसको जिसकी स्त्री और जिस को जिसका पति बनाना होता है बना देता है। वह देव त्वष्टा है सब के शरीरों को गढ़ने वाला है। वह सविता है सब को उत्पन्न करता है वही विश्वरूप है वहीं स्वयं सबके प्रकार के पदार्थों में तन्मय होकर विराजता है। उसके (व्रत-) बनाये नियमों को कोई तोड़ नहीं सकता हमारे इस देवायत्त भाग्य (पतिपत्नीभाव) को वह पृथिवी और वह सूर्य दोनों जानते हैं क्यों? क्योंकि विवाह बन्धन में इन दोनों की साक्षी रहती है।

इस प्रकार अपनी पत्नी के मुख से अशक्त पति जब यह बात सुनता है है और देखता है कि स्त्री भाग्य या दैव पर अड़ बैठी है। और उसको अगली सन्तति भी दैव या विधाता के हाथ में ही मालूम होती है तो उसके उत्तर में पति किस स्वाभाविकता से कहता है कि:—

मन्त्र ६—

को अस्यवेद प्रथमस्य अह्नः कई ददर्श, कइह प्रवोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कद् उब्रवः आहन्ते वोच्यानॄन्॥

कः पुरुषः, अस्य प्रथमस्य अन्हः गर्भे प्रविश्यस्थितस्य जीवात्मनः प्रथम दिवसस्य वेद? नकोपि। कश्च पुरुषः ई गर्भे गर्भावस्थितं जीवं ददर्श पश्यति। पदयं जीवः स्त्री वा पुमान् वा, अमुकस्य पतिः पत्नी वा भविता इह गर्भाद् वहिरस्मिन् लोकेऽपिकः भविष्यज्ञः प्रवोचत् यथार्थं प्रवक्ति। नकोऽपि तद्वचनेऽपि व्यत्ययापत्तेः। यतः मित्रस्य सर्वस्यापि स्नेहानुरागिणः परमेश्वरस्य वरुणस्य कर्मफल व्यवस्थया दण्डधरस्य परमेश्वरस्य बृहदनन्तं धाम कर्म कर्मफलादि व्यवस्था जात मस्ति। हे आहनः हृदय हारिणि हृदयंगमे वचनमात्रेण हृत्कम्पकारिणि! प्रिये! कोपि नॄन् मनुष्यान् वीक्ष्य विविच्य कद् ब्रवः कथंमिव ब्रवीतु।

कौन इसके पहले दिन को जानता है? कौन गर्भ की दशा में देखता है?

और यहां कौन कहता है ? मित्र, वरुण परमात्मा का धाम (कर्म) बहुत बड़ा है। ऐ हृदय हारिणि प्रिये ! मनुष्यों का विवेक करके कैसे कोई कहे।

जब पत्नी ने यह कहा कि हमारा दाम्पत्य भाव विधाता ने तभी से निर्णय कर रखा था जब से गर्भों में जमे थे। उस पर पति कहता है इस जीवात्मा के गर्भ में प्रविष्ट होने के पहले दिन की बात कौन जाने ? और कौन उसको गर्भमें पड़े को देखता है कि कैसा है स्त्री है या पुरुष है ? या फलां का पति होगा पत्नी बनेगी ? कोई भी जाकर नहीं देखता ? और जब बाहर भी आजाता है तो यहांभी उसके भविष्य के विषय में कौन ठीक २ कह सकता है किये राजा होगा कि रंक ? पुत्रवान् होगा कि अपुत्र ? विवाहित होगा यकुआंरा ? उस सबके स्नेही और और सबकी दण्डव्यवस्था करने वाले वरुण की यह कर्म-कर्मफलकी व्यवस्था बड़ी भारी है। इसका कोई पार नहीं और सब मनुष्यों के बारे में उनको ठीक २ विवेचना करके कैसे कहा जा सकता है। पता नहीं क्यों हमारी यह अवस्था है कि पुत्र लाभ नहीं हुआ। और जब हम दम्पति भी बने थे सब हमारा भाग्य कोई कह नहीं सकता था कि पुत्र होगा कि नहीं। फलतः अपने बसकी यह बात नहीं।

गर्भ के प्रथम दिन से भाग्य नियम होने की बाततो कट गयी। और विवाहकाल में पुत्र होने न होने की परीक्षा किसी ने की नहीं। पति पुत्रोत्पादन में समर्थ नहीं तो क्या उपाय करें। उस पर पतिपरायण पत्नी विचार करती है कि माना, कि गर्भ के प्रथम दिन से तो हम पतिपत्नी न थे। गर्भ में भी नहीं थे। बाहर आकर भी नहीं बने। तो फिर बने कैसे ? यह विचार करते हुए उसको अपने विवाह के दिन यदि आगये। उनको स्मरण करके अगले मन्त्र के भाव कहती है। यह खयाल भी उसके चित्त में एक कारण से उठा। वह कारण यह कि पति ने सम्बोधन करते हुए कहा था'आहनः'! इसका अर्थ पं० चन्द्रमणि जी ने असभ्य भाषिणि ! किया है। यहां आपने निरुक्त पर बड़ा बल दिया है। परन्तु निरुक्तकार की निरुक्ति को बहुत दूर रख दिया। "आहनः आहंसीव भाषमाणा" स्त्री आहनस् इस लिये है कि बात करती २ भी छुरी सी चलाती है। मारती सी है। असभ्य भाषणादिव आहना इव भवति। मानो सभा में न कहने योग्य वचन कहने से स्त्री आहना सी हो जाती है। इसी कारण से तीव्र तर शब्दों के बोलने वाले को भी आहनाः कहा जाता है।" यह निरुक्त आपके सामने उद्धृत कर दिया।

इससे आहनः का अर्थ असभ्य भाषिणि कह कर पण्डित जी ने एक मन्त्रद्रष्ट्री ऋषि की क्या शोभा बढ़ाई ? समझ में नहीं आता।

हमने 'हृदयंगमे !' ऐसा अर्थ किया है। क्यों ?

हन हिंसागत्योः। आहनः हृदयंगमे ! अच्छा पक्षान्तर में आप हन का अर्थ गति न मान कर यदि हिंसार्थ ही मानने पर आग्रह करते हैं सो भी भला है। क्योंकि प्रेम संसार में स्त्री का कटाक्ष मात्र ही निरुक्तकार के मत से "आहंसीय" मारे सा डालता है। यदि फारसी साहित्यर्थ का रसज्ञ ज़ौक या दाग़ की कविता में 'क़ातिल' सम्बोधन पढ़ले तो कहिये वह इसका क्या अर्थ करेगा।

जैसे—पैराज़ समझ ज़ौक तू क़ातिल कीसनां को।
चढ़ सरके बल इस ज़ीने से तावा में मुहब्बत ॥

अर्थ—ऐ ज़ौक ! कातिल की तलवार को तू अपना सहायक समझ ! यह मुहब्बत का ज़ीना है। इस पर तू सिर के बल चढ़जा।

मुनि यास्क ने तो उस की बात को ही तलवार सा मार करने वाली कहा पर यहां तो चक्षु निक्षेप तक छुरी की मार से कम नहीं, जैसे—

कुछ राज निहां दिल का अयां हो नहीं सकता।
गूंगे का सा है ख्वाब बयां हो नहीं सकता॥
मसजिद में उस ने हम को आंखे दिखा के मारा।
काफ़िर की देखो शोख़ी घर में खुदा के मारा॥

और अधिक आहनः की व्याख्या करना अनावश्यक है पाठक गण इस 'आहनः' का मूल कारण भी अगले मन्त्र में पाइयेगा। इसी प्रेममय सम्बोधन को सुन कर पत्नी को अपना विवाह काल याद आता है। और कैसे विवाहित हुए इस का स्पष्ट वर्णन करती है।

मन्त्र ७—

यमस्य मा यम्यं काम आगन् समाने यो नौ सह शैय्याय।
जायेवपत्ये तन्वं रिरिच्याम् विचिद्‌ वृहेव रथ्येव चक्रा॥

मां यमीं ब्रह्मचारिणी प्रति यमस्य कृते कामोऽभिलाषः आगन् आगतः। कस्मै प्रयोजनाय ? समाने योनौ स्थाने सहशेष्याय परस्पर मेकत्र शयन कर्तुम्।

इतः पूर्वं तु कदापि ब्रह्माभ्यासकाले तादृशोऽवसरोनाभूत् । तयोः ब्रह्मचर्ये वर्त्तमान त्वात् । पूर्णविद्ययोस्तु तयोरयं सभिलाषोऽजनि गार्हस्थ्यसम्पादनाथम् तदेव ऋचा उच्यते। कथमिव सकामः इत्याह जायेव पत्नीव। यद्दस्यां जायते पुनः। मनुः । आत्मनः तन्वं शरीरं रिरिच्यां समर्पयेयम् । अन्यच्च न केवलं भोग सुख लाभाय अपितु यथाविधि शास्त्रीय गार्हस्थ्य मुद्वोढुम्। तदेवाह। चिद् विनिग्रहार्थः। विवृहेव वृह् उद्यमने तुदादिः । उद्यच्छेव भारं । काचिव रथ्ये चक्रे इव । रथयोग्ये रथ्ये । यथारथे नियुक्तं सुपुष्टं सुघटितं स्वरं सुनेमि सुनाभि च चक्रद्वयं रथभार मुद्यच्छति एवं नरश्चनारी च युवानौ यमो ब्रह्मचारी यमी ब्रह्मचारिणी च तावुभौ यमौ गृहस्थ रथ भारं उद्यस्यच्छतः। रथभारस्य उद्यमनादेव तावुभौ यमौ। आचार्यस्तयोर्ज्ञान प्रकाशकत्वात् विवस्वान् ब्रह्मचर्यं वा साक्षा। वसन्तिहि ब्रह्म-चर्यमाचार्ये वर्णिनः। स च तान् गर्भेऽन्तः कुरुते। यथा चाह श्रुतिः आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। अथर्व० कां० ११ सू० ५।

इति तयोः वैवस्वतत्वमविरुद्धम् । इतिदिक् ।

मुझ यमी को यम की अभिलाषा हुई कि समान (योनि) स्थान पर साथ ही सोयें। जाया के समान पति के शरीर को अर्पण करदूं। रथ के चक्रों के समान 'उद्वाह' करलें।

भाष्य—इस मन्त्र में सभी शब्द गूढ़ाशय से भरे पड़े हैं। गृहस्थ के प्रवेश के पूर्व की दशा का वर्णन करता हुआ क्रान्तदर्शी कवि किस खूबी से यम-यमी का परिचय कराता है। स्त्री अपने मुख से स्वयं गृहस्थ में प्रवेश करने के समय का विवरण करती है कि मुझ को यम की अभिलाषा तब उत्पन्न हुई जब मैं यमी थी तब मुझे काम-आया किस के प्रति यम के प्रति। स्पष्ट है कि यम का अर्थ यम नियमों का पालक ब्रह्मचारी है और यमी का अर्थ ब्रह्मचारिणी है। ब्रह्मचारिणी के हृदय में यौवन के उदय के साथ २ अपने ही समान ब्रह्मचारी को वरण कर लेने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। किस प्रयोजन के लिये समाने यो नौ सहशेय्याय) समान योनि में साथ शयन करने के लिये। योनि=मिलने का स्थान। विस्तर और घर। सहशयन=सहवास। एक ही स्थान=पद=पति पत्नी भाव में दोनों रहें। किस प्रकार और क्या? इच्छा हुई कि अपने (तन्वं) शरीर को जाया के समान अर्थात् विवाहित स्त्री के समान अपने पति=प्राण पति प्राणेश्वर के लिये (रिरिच्यां) अपने को त्याग दूं, आत्म समर्पण कर दूं। क्या

भाग के लिये, या शरीर सुख के लिए? बिना सामाजिक गांठ बन्धे? नहीं नहीं (विव्रूहव) दोनों हम विवर्हण करें। वृह् उद्यमने। दोनों हम खूब अच्छी प्रकार उठावें। क्या? ग्रहस्थ का भार। इस भारको उद्वहन करलें, उठाले चलें। विवाह, उद्वाह, परिणय, उपयम, आदि सभी शब्द विवाह वाचक हैं। भार किस प्रकार उठावें? जैसे रथ के चक्र रथ का भार उठाते हैं।

पाठकों ने स्पष्ट देख लिया कि यह पहला मन्त्र है कि जिस में यम यमी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन में भी यमी अपने लिए 'मा यम्यां' ऐसे कहती है 'मुझ यमी को'। परन्तु यमशब्द के साथ कोई भी युष्मत् पद 'तव, ते' आदि नहीं है। वह अपने साथ यमी विशेषण लगाती है। यमी शब्द उस की विशेष अवस्था और विशेषता का द्योतक है। और वही विशेषता उस ने अपनी अभिलाषा के पात्र में भी पाकर उसको वरण किया। मूर्खता से या काम के वशीभूत होकर यमी ने यम को कामपाश में खेंचना नहीं चाहा था। वह खूब समझदार थी। वह बड़ी बुद्धिमत्ता पूर्वक विशेष उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए स्वतः ब्रह्मचारिणी हो कर अपने समान ब्रह्मचारी को विवाह में बांध कर गृहस्थ करना चाहती थी) और कितनी आदर्श युक्ति युक्त बात कह रही है। अस्तु। अब हम अपने पूर्व के सम्बद्ध विषय पर आते हैं।

जब इस प्रकार पत्नी ने अपने विवाह-बन्धन के प्रारम्भ काल का स्मरण कराया, और बतला दिया कि, हम इस प्रकार गृहस्थ में पति-पत्नी हुए थे। पहला विचार कि, गर्भ में ही हमें पति-पत्नी आपका भाग्य में बदा था, सो बात भूल है। तब पति कहता है कि, क्या उन दिनों की याद करते हैं, वे दिन तो किसीके लिये खड़े नहीं रहते, और न वे अगले दिन आने ही बन्द होजाते हैं। फलतः यह जीवन योंही शेष होजायगा, और कोई बाद में सन्तान भी हाथ न आयेगी, इसलिये हृदयङ्गमं। तू जितना शीघ्र होसके, मेरेसे अतिरिक्त पुरुष के साथ मिलकर रथ के चक्रों के समान गृहस्थ का भार उठा और सफल हो।

यही भाव अगले मन्त्र में विचारद्रष्टा के विचार-प्रवाह में है।

मन्त्र ८—

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन विवृह रथ्येव चक्रा॥

देवानां स्पशः य इह चरन्ति दिवसाः ते न तिष्ठन्ति गतिमत्वात्। न निमिषन्ति भविष्यत्यपि तदागमनात्। इत्यतः हे आहनः! हे प्रिये! हृदयहारिणि, मदन्येन पुरुषेण सह तूयं तूर्णं याहि सङ्गच्छ। तेन विवृह पुत्रान् गर्भे उद्यच्छ

यथा रथस्य चक्रद्वयं भारं वहति तथा उभावपि संगत्या पुत्रोत्पादनम् कुरुताम् गृहस्थधर्मं वा निर्वहतम्।

न ये खड़े ही रहते हैं, न झँपकते हैं, ये देवताओं के स्पश जो यहां विचरण कर रहे हैं। हे प्रिये! शीघ्र मेरेसे अतिरिक्त पुरुष से सङ्ग करो। रथ में लगे चक्रों की न्याईं मिलकर पुत्रोत्पादन के भार को वहन कर।

स्पशः=स्पाइ, गुप्तचर या सिपाही। देवताओं के सिपाही, रात और दिन, ये मनुष्य के सब कामों को देखते हैं। यह कल्पना बहुत प्रचलित है। किंवदन्ती तक है—

अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मो हि जानाति नरस्य वृत्तम्।

इस विचार के बाद कहिये, अब कौनसा अनुरूप विचार अपरपक्ष से उठना चाहिये। देखिये, ८ वें मन्त्र में पति की पत्नी को यह दूसरी बार आज्ञा है। परन्तु पत्नी अभी अपना आग्रह छोड़ने को तैयार नहीं, अभी वह सब हृदय की शङ्काएं जब तक न मिटाले, तब तक अपने पति की परपुरुष से पुत्र प्राप्त करने की आज्ञा का पालन नहीं कर सकती। इसलिये वह अपना एक और विचार पति के सामने रखती है। हे सखे! तुम्हें अपना जीवन गुजरता दीखता है, और असमर्थता में आप मुझे परपुरुष से पुत्रोत्पन्न करने की आज्ञा देते हैं। परन्तु क्या आप उस दयामय परमात्मा को भूल गये। वह सबपर कृपालु सबको ज्ञान देने वाला और प्राण और जीवन का दाता हमपर अपनी कृपा-दृष्टि न करेगा? देखो।

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमी यमस्य बिभृयादजामि॥

रात्रीभिः कतिभिः अहभिः अहोभिः अस्मै अस्मभ्यं स परमात्मा दशस्येत् दद्याद् अभिलषितम्। तस्य सकलप्रेरयितुः सूर्यस्य परमात्मनः कृपामयं चक्षुः मुहुः पुनरपि उन्मिमीयात् विकसितं स्यात्। तस्य कृपादृष्टिः पुनरापतेत्, तर्हि द्यौलोकेन सूर्येण सह पृथिव्याः इव मिथुनौ आवां सबन्धू स्वः तदावयोरेव यमी पुनः यथाविधि नियमपालिका सती तत्रापि ब्रह्मचर्यसम्पन्नस्य यमिनः यमस्य वा अजामि दोषरहितं यथा स्यात् बिभृयाद् गर्भं धारयेत्। किमाश्चर्यं सति परमात्मन कृपालेशे। सोऽपि सम्भाव्यते।

(स्यात्?) कुछ दिनों और कुछ रातों के वीतने पर वह (भगवान्) वश्श

दे। सबके प्रेरक प्रभु (सूर्य) की कृपामय आंख (चक्षुः) फिर हमपर खुलकर पड़े, और देखे कि, हम दोनों द्यौ के साथ पृथिवी के समान जोड़ा बनकर सबन्धू हैं। तब यमी ही यम के लिये बिना किसी (शुक्र या रज के) दोष या कलङ्क या सङ्कोच के पुत्र उत्पन्न करदे।

मुहुः शब्द से प्रतीत होता है कि, इन पात्र या पात्री पर पहले भी सूर्य की चक्षु पड़ी थीं, और देखा था कि, ये दोनों दिवः-पृथिवी के समान जोड़ा है। वह पहली बार जब ग्रन्थि-बन्धन होकर सूर्य-दर्शन किया था, तभी का स्मरण किया गया है। यमी चाहती है कि, फिर उसी जोश और उत्साह से किसी कुलगुरु के अधीन एक बार फिर तपस्या करके * "यम-यमी" बनकर पुत्र पैदा करें।

परन्तु पति अभी भी, इतना उत्साह दिलाने पर भी अपने को असमर्थ पाता है, और वही विचार कहता है, जैसा एक आशा रहित पुरुष कहा करता है। अब हमसे नहीं होसकता, हमसे अगले आने वाले करेंगे इत्यादि। सो ही भाव अगले मन्त्र में मन्त्रद्रष्टा के दृष्टिपथ में उतरे हैं।

आघातागच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उपर्बृहि वृषभाय बाहुम् अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥

गतानि उत्तरा उत्तराणि एतदुत्तरकालेन प्राप्तव्यानि युगानि मिथुनानि द्वन्द्वानि आगच्छन् आगन्तारः। यत्र जामयः पुत्रवध्वः अस्मत्पुत्रिकाश्च, अजामि दोषरहितम् कृणवन् पुत्रोत्पादनं कर्त्तारः। आवयोर्जीवने एतदसम्भवमित्यर्थः। तत्। उपबर्बृहि उपधेहि वृषभाय, रेतः सेचनसमर्थाय पुरुषाय बाहुम् आत्मनो बाहुलताम्। हे सुभगे! तादृशमेव वीर्यसेचनसमर्थं मदन्यं निर्बलात् सन्तानोत्पादनेऽसमर्थात् निर्वीर्यादन्यं पुरुषं प्रतिमिच्छस्व कामय।

वे आगे आनेवाले जोड़े होंगे, जिनमें बहुएं और बेटियां निर्बाध होकर निर्दोष पुत्रोत्पादन करें, और तुम अब वीर्य-सचन में समर्थ नरपुङ्गव को अपनी बाहुलता का सुख (गलबहियां) दो। हे पति! मुझसे अन्यको अपना पति चाहो।

यह तीसरी बार आज्ञा है। इसमें अपने से अतिरिक्त 'वृषभ' वीर्य-सेचन करने में समर्थ पुरुष को महत्व देकर अपने को स्पष्टरूप से वक्ता ने सन्तानोत्पादन में असमर्थ स्वीकार किया है। यही बात ऋषि दयानन्द ने लिखी है।

---

* जैसे वसिष्ठ के अधीन दिलीप और सुदेष्णा ने किया था।

इस मन्त्र में 'जामि' 'अजामि' शब्द पर बड़ा विवाद है। निरुक्तकार ने इस शब्दपर अच्छा प्रकाश डाला है। उसने जामि शब्द के सब प्रयोगों को दर्शाया है।

"न जामये तान्वोरिक्थमारैक्"

इस मन्त्र का अर्थ करते हुए 'जामये' का अर्थ 'भगिन्यै' किया है। इसी अन्धपरम्परा से अगले भाष्यकारों ने भी जामि शब्द का अर्थ भगिनी ही करने का आग्रह किया, परन्तु यदि निरुक्तकार के उद्धृत मन्त्र पर विचार करते, तो 'जामये' का अर्थ 'भगिन्यै' करने का कारण भी स्पष्ट होजाता और यह भी पता लग जाता कि, 'जामये' का शब्दार्थ भगिनी नहीं है प्रत्युत 'कन्या' मात्र है।

आपही उस मन्त्र पर विचार करले। न जामये तान्वोरिक्थ मारैक् तान्व जामिको धन नहीं देता। तान्व का अर्थ है 'तनूज' शरीर से पैदा होने वाला लड़का। जामिकौन जिसमें और अपत्य पैदा कर सकें। एक ही घर के दाय भाग के बांटने के अवसर पर यह कहना कि लड़का लड़की को धन नहीं देता। ऐसी दशा में लड़की का अभिप्राय 'बहन' होता है। इसी अभिप्राय से निरुक्तकार ने जामये' का अर्थ भगिनी किया है। वास्तव में 'जामि' की व्युत्पत्ति है 'जनयन्ति जाम् अस्यां' जिसमें अपत्य उत्पन्न किया जाये। तब आपही निर्णय कर सकते हैं कि अगले जोड़ों में 'जामि' का अर्थ पुत्र वधू और बेटियां होना उचित है या बहन। इसमें निरुक्तकार का दोष नहीं है। यह अन्धे का दोष है कि उसे आगे खड़ा ठूंठ नहीं दीखता। न कि ठूंठका। यह लकीर के फकीरों का दोष है जो प्रकरण को बिना देखे अर्थजान लेने की कोशिश करते हैं। प्रकृत अर्थ यही है कि "अगली जोड़ियों में बहू बेटियां दोष रहित सन्तान उत्पन्न करें। इत्यादि।

इस प्रकार जब तीसरीवार भी पति की वहीं आज्ञा होती है कि मैं असमर्थ हूं तुम समर्थ के पास से पुत्र प्राप्त करो। तो पत्नी क्या कहे? अपने सहज स्त्री स्वभाव-सुलभ संकोच की रक्षा करने के लिये वह फिर एक युक्ति दे सकती है। वह युक्ति अवश्य आक्षेप के समान होनी चाहिये। देखिये जैसे-वह कहेगी मैं तुमारी पत्नी हूं तुम मुझे दूसरे से पुत्र प्राप्त करने को कहते हो तो क्या तुम भाई हो कि तुम पति नहीं बनते? क्या मैं बहिन हूं कि बिना चारे के यहां से पराये के पास चली जाऊं? इतना कह कर वह चुप होजाती है। और कुछ सोच कर कि पति की आज्ञा टाली नहीं जा सकती ऐसे आक्षेप से इन्कार करना

गुस्ताखी होगी सो फिर बात पलटती है और कहती है कि "मैं तो पुत्रकी अभिलाषा से यह सब कुछ कह रही हूं कि तूही अपने शरीर से मेरे शरीर का संपर्क कर। फलतः मन्त्र इस प्रकार हैः—

मन्त्र ११—

किं भ्राता सद् यदनाथं भवाति किमु स्वसायन्निर्ऋतिर्निगच्छात।
काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मेतन्वंसंपिपृग्धि।

किं भवान् भ्राता? यदनाथं भवाति नाथो न भवति। नाथएव नभ्रातेत्यर्थः। किमु इयमहं ते स्वसा यदियं निर्ऋतिः निर्गतिका सती निगच्छात् पुरुषान्तरं गच्छेत्। कामयता तवानुरागबद्धा एतद्रपामि यत् तन्वा यत् शरीरेण आत्मनस्तन्वः शरीरसाम्यं पृग्धि संगमय। नाहमनाज्ञा कारिणी तवनियोगमुल्लंघयामि अपितु तपानुरागबद्धासती आग्रहं कृतवती इतिभावः।

क्या आप भाई हैं कि आप नाथ नहीं वनते। क्या यह स्वसा है कि बिना चारे के होकर पर पुरुष के पास चली जाय। आपके अनुराग में बंधी मैं यह बहुत कुछ कह रही हूं कि मेरे शरीर से अपने शरीर को युक्त करो।

इस मन्त्र का अर्थ करते हुए सबने खेंचा तानी की है। भाई बहिन का पक्ष मान लेने पर बहिन का यह कहना कि "तुम भाई कैसे कि मैं अनाथ होरही हूं" यह एक बड़ी हास्य जनक बात है। इसी प्रकार अन्य चरणों का अनुवाद करते हुए भी उनको बहुत २ अध्याहार करना पड़ा है। सीधा अर्थ कोई नहीं करपाया। कोई २ स्मृतियों के प्रमाण ठोंस २ कर अपने अर्थ को चमकाते हैं। परन्तु यहां सांच को आंच नहीं। अच्छा अब आगे चलिये। १, ३, ९, ११ में पत्नी ने पति पर आग्रह किया कि तुम ही पुत्र पैदा करो। पर उत्तर में अभी तक दो वार वह कह चुका कि! मैं असमर्थ हूं। दूसरे से पुत्र पैदा करलो। पर वह देखता है कि पत्नी बहुत आग्रह करती है। और आक्षेप भी करती है। अब क्या कहे? आखिर अपना पीछा छुड़ाने के लिये वह भी कह देता है अच्छा हां हम भाई ही सही, तुम बहिन ही सही। मैं अपना शरीर तुमारे शरीर को न छुआऊँगा। इसको भी तो पाप ही कहा है कि बहिन के साथ संग करे। मुझ से दूसरे के साथ तू अपने पुत्र प्राप्ति के उत्कृष्ट प्रमोदों को पैदा करले। मैं तेरा भाई ही सही

मैं इस कार्य की कामना नहीं करता। *

मन्त्र इस प्रकार है—

मन्त्र १२—

नवाउते तन्वा संपिपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारंनिगच्छात्।

अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व नते भ्राता सुभगे वष्टयेतत्॥

वेति वितर्के यदयं वितर्कः किंभ्रातासद् किमुस्वसा, इत्यादिरूपः। तेन वितर्केणापि तेनचा तन्वं न सम्पपृच्यां कुतः यतः तव वितर्कानुसारंतु पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् निगच्छति। अतोऽपि ब्रवीमि यत् अन्येन यत्, मदतिरिक्तेन करणेन सह प्रमुदः पुत्रोत्पादनरूपाः नवाभिलाषाः कल्पयस्व साधय। तथैव तवा क्षेपानुसारं यस्ते भ्राता स एतत्प्रमुदांसाधनं न वष्टि न कामयते।

वा इस मन्त्र में वितर्क अर्थ में आया है। पति पत्नी सम्बन्ध होने पर भी पत्नी ने आक्षेप में कहा क्या तू भाई है या क्या मैं बहिन हूं यह वितर्क है। अच्छा यही सही (वा) तो भी तेरे शरीर से अपने शरीर को मैं न छुआऊंगा क्योंकि जो बहिन के साथ भोग करे उसको बुरा गिना जाता है। मेरे से भिन्न दूसरे पुरुष से पुत्रोत्पादन रूप मन की अभिलाषाएं पूरी कर। (तेरे कथनानुसार) तेरा भाई हे सुभगे ! यह नहीं चाहता।

इस प्रकार कटाक्ष से कहने पर भी स्त्री का संकोच व लज्जाशील हृदय माना नहीं। पत्नी के हृदय ने अपने प्राणेश्वर के दिलकी टोह लगाने का और एकबार प्रयत्न किया और इसमें व्यतिरेक युक्ति से काम लिया। एक तो भाई होने का आक्षेप करके परखा अब दूसरा उससे भी आगे एक कदम बढ़ कर आक्षेप किया कि:—

मन्त्र १३—

वतो वतासि यम नैवतो मनो हृदयं चा विदाम।

अन्याकिलत्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्॥

हे यम ! वतो दुर्बलोऽसि वत ! नैवतो मनो हृदयं च अविदाम। प्रवीयते यत् अन्या काचित् कक्षगता वन्धनरज्जुरिव युक्तमश्वं त्वां परिष्वजाते आलिंगति। वृक्षं लिबुजालतेव। नचेदेवं कुत एतावान् विराग इत्याशङ्का हृदय परिज्ञानार्थम्। किलेति सम्भावना।

---

* शरीर से सम्पर्क कराने का आग्रह पत्नी का यह वैसा ही है जैसा माद्री का पाण्डु से था। भोग के साथ ही कोई पतिपर था पत्नी पर अनिष्ट की भी आशंका है जो पति को वैसा करने से रोकती है। महर्षि ने भी यही दृष्टान्त दिया है।

हे यम ! तुम बड़े दुर्बल हो ? असमर्थ हो ? यम । तेरे मन और हृदय, को हम न जान पाये । जैसे जुते हुए घोड़े को कमर बंध और वृक्ष को लता आलिंगन करती है । उसी प्रकार क्या कोई और तुझ को भी आलिंगन करती है । नहीं तो ऐसा विराग क्यों ?

"मनः" जो विचारता और ऊहा वोह करता है । "हृदय" जो प्रेम और अनुराग का अनुभव करता है । दोनों हीं नहीं समझ आये । अर्थात् पता नहीं तू शास्त्रीय या वैज्ञानिक कारणों से मेरा परिहार करता है या हृदय में विराग हो गया है । क्या मुझ से दिल टूट कर दूसरे से लगा है । केवल सम्भावना है । भोग पराङ्मुख देख कर ही यम (क्रूर हृदय) सम्बोधन भाव गर्भित है ।

इस पर पति चुप होजाता है । और अपनी अन्तिम आज्ञा इस प्रकार देता है ।

अन्यमूषत्वं यम्यन्य उत्वां परिष्वजातेति वुजेव वृक्षम् ।

तस्य वात्वं मन इच्छा सवात वाधा कृणुश्व संविदं सुभद्राम् ॥

अन्यम् उ सु त्वं परिष्वजस्वेतिशेषः । हे यमि ! अन्यः उत्वां परिष्वजाते परिष्वजतु लिवुजेववृक्षम । अथवा, तस्य वात्वं मन इच्छा काम य सच तवैव मनः काममतु । अत्र एवं परस्पर वार्त्तालापे या इय मावयोः संवित् (निश्चयो) जाता तामेव सुभद्रां (संविदं) सुख कल्याण कारिणीं कृणुश्व कुरु ।

हे यमि ! हे पतिव्रते ! मैं तुझे अब आज्ञा देता हूं कि तू वृक्ष की लता के समान निःशङ्क होकर दूसरे को आलिंगन कर और दूसरा पुरुष तुझे अङ्गस्पर्श करे । अथवा तू उस के मन को चाहे या वही तेरे मन को चाहे । तो भी मैं चाहता हूं कि तू अपने इस पुत्रोत्पादन रूप निश्चय को सुफल कर इस मति (निश्चय) को सुख और कल्याण करने योग्य बना ।

यह यम का अन्तिम वचन है । इस पर यमी पत्नी आज्ञा को स्वीकार करती हुई मौन है ।

मन्त्र के उत्तरार्ध में से स्वामी का वह भाव टपकता है कि नियोग दोनों प्रकार से हो सकता है । स्त्री पुत्रैषिणी हो और वह अपनी पुत्र कामना से पति की आज्ञा लेकर पुरुष के पास जाय या इसी प्रकार कोई पुरुष पुत्रैषी हो, पर उस की पत्नी निःसन्तान हो बन्ध्या हो दोष युक्त हो, पुत्र जनने में असमर्थ हो तो पुरुष की इच्छा को देख कर वह जासकती है । यहां परस्पर जाना भी—

'हताश्वरग्ध दग्धा न्याय' से ही सम्भव है ।

हमारी समझ में इसी प्रकार सूक्त की सङ्गति लगती प्रतीत होती है और यहीं सब से सरल एवं भाव पूर्ण ढंग है ।

इस में खैंचातानी करके शब्दों का अनर्थ भी नहीं होता और महर्षि के भाव की भी पूर्ण रूप से रक्षा एवं सङ्गति लगती है।

आगे विद्वान् स्वयं प्रमाण हैं; और आलोचना का क्षेत्र सब के लिये खुला है। मेरी व्याख्या जिन को सन्तोष देगी, उन ही की तुष्टि देखकर मैं अपना यत्न सफल समझता हूं। यदि इतने से भी तुष्टि न हो तो भी जिज्ञासु अधिक अनुशीलन करेंगे यह देख कर हृदय प्रसन्न होगा।

यदि स्त्री विधवा है तो ऐसी दशा में पति के स्थान पर जो भी उस का गार्जियन, संरक्षक या अभिभावक हो वह पति की तरफ़ से तत्स्थानापन्न होकर पुत्राभिलाषिणी स्त्री को आज्ञा दे सकता है कि वह नियोग द्वारा सन्तान पैदा करके अपने पति का वंश चलावे। जैसे भीष्म और माता सत्यवती, के आदेश से विचित्र वीर्य के क्षेत्र में व्यास देव से पुत्र पैदा कराये गए थे।

समुद्र

(श्रीयुत पं० चमूपति जी "आर्य सम्पादक" अफ्रीका)

यह अनन्त निस्तल अधीरता, व्याकुलता का पारावार।
क्या है, क्यों है, दौड़ा जाता, कौन किसलिये किसके द्वार।
ऊँची नीची लहरें उठतीं—पटक रहीं सिर, किसकी खोज ?
झाग उगलतीं दाँत पीसतीं, क्या यह मतवालों की मौज ?
झंझा कब की मार रही पर, फड़क रहा सन्तप्त हृदय।
व्योम-व्यापिनी पीडा ! तुझको, आ थामेगा कौन सदय ?
कौतुक है ? नाटक है ? क्या है ? सूत्रधार लीला का कौन ?
हा ! असीम अविरत-कोलाहल ! साध लिया क्यों तूने मौन ?
यही समस्या मन की मेरे, यही हृदय का मेरे सार—
यह अनन्त निस्तल अधीरता, व्याकुलता का पारावार।

कारागोला ३१—७—१९२५

यह कविता भारत से अफ्रीका जाते हुए मार्ग में समुद्र के वक्षस्थल पर जहाज़ में लिखी गई है। "उप सम्पादक"

साहित्य-समीक्षा।

हिन्दी पुष्करः सचित्र मासिक पत्र। सम्पादक गंगासहाय पाराशरी जी वार्षिक मूल्य २॥) प्रबन्धक हिन्दी पुष्कर बरेली से प्राप्तव्य लेख तथा कविताएं और छोटी २ कहानियां पढ़ने लायक हैं—

विचित्र ब्रह्मचारी—ले० श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती मूल्य =)। इस पुस्तक में बातचीत के मनोरञ्जक ढंग से ब्रह्मचारी का आदर्श जीवन कैसा होना चाहिए इस विषय पर प्रकाश डाला है। कहानी मनोरञ्जक और शिक्षा प्रद है—

गीतावचनामृत मूल्य ≥) लेखक पण्डित विष्णुमित्र जी आर्य्योपदेशक। इस पुस्तक में गीता के श्लोकों की विषय वार सरल हिन्दी में श्लोकों के साथ व्याख्या की गई है। गीता के एक विषय के श्लोक इकट्ठे कर दिए हैं। गीता का प्रारम्भिक अभ्यास करने वालों के लिए पुस्तक उपयोगी है। यह दोनों पुस्तकें प्रकाशक वज़ीरचन्द्र शर्म्मा अध्यक्ष वैदिक पुस्तकालय मोहनलाल रोड लाहौर के पास से प्राप्त हो सकती हैं—

पं० वज़ीरचन्द्र जी के यहां से बालकों के लिए धर्म की पहिली पुस्तक भी छपी है मूल्य -)॥ है। लेखक अध्यापक हंसराज जी उपप्रधान आर्य्य कुमार सभा भेरा शाहपुर है। वैदिक मन्त्र तथा स्मरणीय धर्म वाक्य और भजनों का अच्छा संग्रह है—

आर्य्योद्देश्य रत्नमाला का अंगरेजी अनुवाद भी इसी पुस्तकालय से मिलता है कीमत -) अनुवादक बाबा अर्जुनसिंह आर्य्य-पत्रिका के भूतपूर्व सम्पादक हैं—

ॐ की नीली सुनहरी तसवीर गायत्री मन्त्रों के साथ शिरोमणि पुस्तकालय लाहौर से मिलती है। १०० तसवीरें २॥) में मिलती है। तसवीर गायत्री मन्त्र याद कराने में उत्तम साधन बन सकती है—

सम्पादकीय विचार ।

आर्य्य समाज और सत्याग्रह—

मसूरी में आर्य समाज का वार्षिकोत्सव २८, २९ अगस्त को होना निश्चित हुआ था। परन्तु मसूरी के डिस्ट्रिक कलक्टर ने मसूरी शहर के कुछेक मुसलमानों के एतराज़ करने पर, नगरकीर्तन बन्द कर दिया। डिस्ट्रिक्ट कलक्टर ने आर्य समाजियों के डेपुटेशन ले जाने तथा आज्ञा लौटाने की प्रार्थना करने पर आज्ञा बदलने में असमर्थता प्रकट की। मसूरी में एकत्रित आर्य भाइयों ने सार्वजनिक सभा में प्रतिवाद कर वार्षिकोत्सव बन्द कर दिया है। यू०पी प्रांतीय सरकार के पास इस आज्ञा को रद्द करने की प्रार्थना भी की गई है। यू० पी सरकार क्या जवाब देगी कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु युक्तप्रांत के अन्य शहरों तथा देहातों में (मुराद नगर आदि में) प्रान्तीय सरकार ने आर्यसमाज के साथ जो व्यवहार किया है उससे तो यही अनुमान करना चाहिए कि यू०पी सरकार इस आज्ञा को नहीं बदलेगी। हमारी राय में इस समय वह अवस्था आगई है जब कि यू०पी आर्य प्रतिनिधि सभाको दिन रात इस प्रकार आने वाली अड़चनों को दूर करने के लिए, कानूनी रास्तों के बन्द होने पर अहिंसात्मक धार्मिक सत्याग्रह की तय्यारी करनी चाहिए। आर्य समाज जैसी धार्मिक संस्थाओं के पास लाचारी हालत में और कोई साधन नहीं है। प्रांतीय सरकार को चाहिए कि वह इस विषय में उचित हस्ताक्षेप कर मामले को बढ़ने मत दे।

ऋषि दयानन्द और गुरुकुल शिक्षा प्रणाली—

पिछले दो तीन सप्ताहों से गुरुकुल वृन्दावन तथा गुरुकुल ज्वालापुर के सम्बन्ध में आर्यमित्र तथा पं० नरदेवजी द्वारा सम्पादित शंकर में कई तरह के विचार प्रकाशित किए गए हैं। शंकर में गुरुकुल ज्वालापुर सम्बन्धी विचार धारा इस समाचार के साथ समाप्त हो गई कि म० हंसराज जी बी०ए० (भूतपूर्व प्रथम प्रिन्सिपल डी० ए० वी कालेज ज्वालापुर गुरुकुल की प्रबन्ध समिति के प्रतिष्ठित सभासद् चुने गए हैं।

गुरुकुल वृन्दावन के सम्बन्ध में जो लेख प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं उनसे पता लगता है कि वहां दो तरह के विचार काम कर रहे एक तो वह जो ऋषि दयानन्द प्रतिपादित शिक्षा प्रणाली का अक्षरशः पालन करना चाहते हैं और दूसरे वहजो ऋषि दयानन्द की इस स्पिरिट को मानते हैं हमें कि:—हमें आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन

विशेषतः ज़ारी रखते हुए समयानुसार आवश्यकतानुसार अन्य आवश्यक बातों की भी साथ२ शिक्षा देनी चाहिये। ऋषि दयानन्द रूढि को नष्ट करने आए थे वह आत्मदर्शी थे इस बात को ख्याल में रखते हुए हमारी राय में गुरुकुल वृन्दावन के सञ्चालकों को मिल कर बीच का रास्ता निकालना चाहिए। इसी में आर्य समाज का भला है।

आसाम में वैदिक धर्म की गूंज—

पं०—यशःपाल जी सिद्धान्तालङ्कार पंजाब प्रतिनिधि सभा के प्रसिद्ध आर्योपदेशक कुछ मास के लिए श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी की ओर से आसाम वैदिक धर्म प्रचार करने गए थे। ३ मास तक पं० यशपाल जी ने आसाम में रह कर वहां आर्य समाज के विषय में लोगों को परिचय कराया। आसाम का प्रांत किसी समय भारतीय वैदिक सभ्यता का केन्द्र था यहां से चीन वर्मा में वैदिक धर्म का प्रचार होता था, परन्तु आज वहां ईसाई तथा मुसलमान भाई अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे हैं। इस समय आसाम निवासियों को वैदिक धर्म का सन्देश सुनाने का कोई उत्तम साधन नहीं है। पं० यशपाल जी कारण वश बीच में ही लौट आए। अभी कलकत्ता तथा विहार के आर्य सज्जनों ने आसाम में वैदिक धर्म प्रचार की विशेष आवश्यकता बताई है। यह कार्य विना धन के नहीं हो सकते। धर्म प्रेमी आर्य सज्जनों को चाहिए कि वह आसाम में वैदिक धर्म प्रचार के लिए विशेष दान कर वहां प्रचारकों को भेजने की सहूलियतें पैदा करें। आसाम में वैदिक धर्म की जो गूंज पैदा हो गई है उसे ज़ारी रखना आर्य जनता के हाथ में है।

यम-यमी सूक्तः—

आर्य्य में यमयमी सूक्त के सम्बन्ध में पं० चमूपति जी का जो लेख प्रकाशित हुआ था उसके कारण आर्य्य विद्वानों के दिमागों में-इस सूक्त के सम्बन्ध में काफी चर्चा हो गई है। उसलेख पर शङ्का समाधान करने के लिए कई लेख समाचार पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं और कई सज्जन हमारे पास अपने विस्तृत लेख छपने के लिए भेज रहे हैं। वैदिक धर्म में पं० सातवलेकर जी ने मूल लेख पर जो आपत्तियां की थीं उन पर आर्य्य में विचार प्रकट किया जा चुका हैं। इसके बाद गुरूकुल के वेदोपाध्याय पं० चन्द्रमणि जी ने अलंकार में यम-यमी-सूक्त पर समालोचनात्मक लेख प्रकाशित किया है। पं० चन्द्रमणि

जी के लेख में प्रायः पं० सातवलेकर जी के लेख की छाया में ही विचार किया गया है, इसकी झलक "विभेत्यल्प श्रुताद्वेदः" लेख की ध्वनि से दिखती है। आर्य्य के प्रस्तुत अङ्क में पं० जयदेव जी शर्मा विद्यालङ्कार का लेख प्रकाशित किया गया है—इसमें पं० चन्द्रमणि जी के लेखकी परस्पर विरुद्ध बातों का दिग्दर्शन करा दिया गया है। पं० जयदेव जी के लेख के सम्बन्ध में हम अपने विचार अगले अङ्क में प्रकाशित करेंगे। हम यम-यमी सूक्त पर विचार करने वाले तथा लेख लिखने वाले विद्वानों से निवेदन कर देना चाहते है कि वह अपने विचार संक्षेप से पुनरावृत्ति दोष को दूर कर के ही प्रकट करें तो इससे हमें तथा अन्य विचारकों को सहूलियत होगी, और उनका समय भी बचेगा।

आर्य्य-समाज और देवनागरी लिपिः—

देव नागरी लिपि भारतीयता की लिखित मूर्ति है। ऋषि दयानन्द ने प्राचीन वैदिक सभ्यता को जागृत करने के लिए जहां ब्रह्मचर्य्य व्यवस्था तथा आर्ष ग्रन्थ के अध्यापन पर विशेष बल दिया था वहां उन्होंने आर्य्य भाषा के प्रचार के साथ २ देवनागरी लिपि के विस्तार के लिए भी पर्याप्त जोर दिया था। आर्य्य समाज ने इस समय तक आर्य्यभाषा प्रचार के लिए थोडा बहुत यत्न किया है। परन्तु देवनागरी लिपि के विस्तार के लिए नाम मात्र का उद्योग किया है, ऋषि दयानन्द गुजराती थे गुजराती होते हुए भी उन्होंने प्रान्तीय-लिपि को छोड़कर देवनागरी लिपि को अपनाया था। ऋषि दयानन्द के इस सिद्धान्त को भारत के बड़े २ विद्वान् स्वीकार कर रहे हैं। २६ अगस्त के नव जीवन में महात्मागांधी लिखते हैं:—

गुजरात में———देवनागरी को अनिवार्य करना तय किया है। इसलिए वहां हरेक गुजराती लड़का या लड़की जिसने किसी मदरसे में तालीम पाई है; देवनागरी और गुजराती दोनो लिपियों को जानता है। यदि उन्होंने सिर्फ देवनागरी लिपि ही तय की होती तो और भी अच्छा होता। ऋषि दयानन्द के कड़े समालोचक भी उसके सिद्धान्तों को अपने जीवन में स्वीकार कर रहे हैं। क्या ऋषि दयानन्द के शिष्य आर्य्य समाज के प्रतिष्ठित तथा साधारण सभासद् वैयक्तिक तकलीफों को सह कर घर-बाहर देवनागरी के प्रचार में अग्रसर नहीं होंगे?

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन लाहौर।

ब्यौरा आय—व्यय बाबत मास श्रावण संवत् १९८२ विक्रमी।

निधि	बजट आय	इस मासकी आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
...र्य्यालय सभा					६५३॥)	१९४३।-)४
...ांश		४९।-)	६७०-)॥।			
...याद्य					३८)	२२९=)॥।
...ार्थ			१५०)			
...ार्थ प्रकाश आज्ञा			१२५)			
...पसेज़ आफ						
... स्वा० दयानन्द			६०)			
योग		४९।-)	१००५-)॥।		६९१॥)	२१७२॥)१
...र्य्यालय वेद प्रचार					६६)	२६०॥)
...ब वैदिक पुस्तकालय		४०)	१८८)		३६४॥-)।	८०२।-)
...न्दर्य		८८।≡)	२९॥-)।		३१२॥।≡)	६३६॥≡)७
...र आना निधि		३॥)	३०॥-)			
...ाट			२८।≡)			
...तानी उपदेशक					६७४-)	३६४०।)
...र्ग व्यय					५३४-)	२१०७।≡)।
...ात्मा जीवन					२२-)॥	४५-)॥
...दिक कोष					९०॥=)	२६५॥)॥।
योग		१३१।॥≡)	५६७॥-)॥		२०६४।-)॥।	७७५८=)१
...द प्रचार		७५०॥।=)४	३९०॥।=)१०			
... स्मारक निधि		१५॥)	८७॥)			
...ानी उपदेशक					२।)	४१८॥।)
...र्ग व्यय						४७॥)
...गुज़ारा विधवा पं०						
,, तुलसी राम					१०)	४०)
,, ,, पं० नज़ीरचंद					८)	३०)
योग		१५॥)	८७॥)		२०।)	५३८)
...द बैंक		२२७॥।≡)।	१४९५१॥=)१०		॥≡)	३॥।≡)॥।
...द कर्ज़ा			७४॥)			
भूमि आय व्यय		८६)	२१६॥-)		२५।-)	७६≡)
...किराया मकान		२)	८)			
योग		३२५॥।≡)।	१५२५३॥≡)१०		२६)	८३=)॥।
...ान्त अन्य संस्था		१४८)	३९६॥-)		१०३॥)	६४८०≡)८
,, आर्य समाजें		१५८॥=)॥	८८॥।≡)॥		२२९।≡)॥	४५१-)
,, वैदिक पुस्तकालय		४०)	५०)			१०)
,, विद्यार्थी आश्रम					१४)	...ाड
,, अम्बाला ...ल						
,, दामोदरदास						
		३४६॥=)॥	१३२७॥।)॥		३...	

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन लाहौर।

व्यौरा आय-व्यय बाबत मास श्रावण संवत् १९८२ विक्रमी।

निधि	बजट आय	इस मास की आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
वसीयत निहालदेवी जींदाराम			४४५५)			२१॥)॥
,, स्वामी विद्यानन्द जानकी बाई			५००)			१८॥)
वसीयत पं० पूर्णानन्द					४०)	१६०)
,, महाशय ओत्तीराम					२५)	१०[illegible]
,, ,, रामशरणदास			१०००)			
योग			५९५५)		६५)	३००)॥
दलितोद्धार		२७।-)॥	२११॥-)॥		७२७॥≠)।॥	२५२६।-[illegible]
राजपूतोद्धार					२३५)।	९३१)।
प्रोवीडेण्ट		८८॥≡)।	३२२≡)११			५४॥)५
उपदेशक महाविद्यालय		३२७२)	११७७१≡)।॥		४६९।॥≡)।	२१८७५॥
आर्य्य विद्यार्थी आश्रम		५८३)	१८२०।॥≡)		१६२≠)	७८५॥=
अज्ञात		३६८)	१३११।-)		६४३॥)	१०३[illegible]
शताब्दी		८)	८०।)		२६।-)	५२।≡।
वेदामृत			५४२१।॥≡)			
उपदेशकविद्यालय स्थिर कोष			२००००)			
विदेश प्रचार			६५॥≠)।			१८॥)
मद्रास प्रचार			५)			
सभा के सेवकों की सहायता						६७॥)
शिक्षा समिति		३०)	४०)		१८॥)	१८॥)
उपदेशकविद्यालयशाला		५००)	१११०)			
प्रेमदेवीहोमकरण भंडार					९०)	९०)
आसाम प्रचार					५३॥≠)	५३॥[illegible]
योग		४८७७)।॥	४२१६०-)५		२४२५।॥≡)।॥	२७४६[illegible]
गुरुकुल महा निधि			३०६०३॥≠)॥			३७१[illegible]
,, स्थिर छात्र वृत्ति			३०)			
,, अस्थिर ,,			१६३०)			
,, उपाध्याय वृत्ति			५८४०५)॥			
कन्या गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ			३६७५=)।			६५६[illegible]
योग			६०७८४-)।			४३७[illegible]
सर्व योग		६४९७।)१०	१६१०१३।)१०		५६२६-)	८९५[illegible]
	१	१२७८९७≡)७	१०५६२७६।॥≠	१०		
अप्रै[illegible]		११३३३९४।॥)७ ५६२६-)	१२१७२२०)८ ८९५३॥)३	१०		
		११२७७६८॥≡)५	११२७७६८॥≡)५			

Registered. No. L. 1424. रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

* ओ३म् *

भाग ६ अक्तूबर १९२५
अङ्क ५ आश्विन १९८२

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना ।

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्णः

ऋग्वेद ।

हे प्रभु ! हम तुम से वर पावें ।
विश्व जगत् को आर्य बनावें ॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें ।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें ॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें ।
प्रीति-नीति की रीति चलावें ॥

...ल्य ३) रु० पेशगी

...पाल प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से बास्ते मैशोन प्रेस मोहनलाल रोड लाहौर में छप कर प्रकाशित हुवा ।

विषय | विषय सूची । | पृष्ठ

"आर्य्य" के नियम ।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है । (डाक ख़ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हि[illegible] रक्खा गया है) ।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है । सभा ने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचा[र] के लिये इसे जारी किया है ।

३—इस पत्र मे धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभा की सूच[ना] दर्ज होती हैं ।

४—पत्र में प्रकाशित होने के लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अं[ग्रेज़ी] मास की १ तारीख़ के पूर्व आजाने चाहियें ।

५—यदि डाक की गलती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के [अन्दर] सूचना देने से वह अङ्क भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के [बाद] मंगवाने पर पांच आने (=) देने पड़ेंगे ।

* ओ३म् *

आर्य्य

भाग ६] लाहौर–आश्विन १९८२ अक्तूबर १९२५ [अंक ५

[दयानन्दाब्द १०१]

हमारी उन्नति ।

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत। स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन्परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम्॥३२॥

अ० १२ । १ । ३२

हे (भूमि) मातृभूमि ! (नः) हमको (मा पश्चात्) न पीछे से, (मा पुरस्तात्) न आगे से, (मा उत्तरात्) न ऊपर से, (उत) और (न अधरात्) न नीचे से (नुदिष्ठाः) पीछे हटाओ। (नः स्वस्ति भव) हमारे लिये कल्याण कारिणी हो। (परिपंथिनः) बटमार चोर और दुष्ट हम को (मा विदन्) न मिलें और (वधं) मृत्यु को हम से (वरीयः) बहुत ही (यावय) दूर हटा दे।

हमें किसी भी स्थान से प्रतिबन्ध न हो, हम सब दिशाओं में अपनी प्रगति और उन्नति करते हुए आगे बढ़ें, कोई भी शत्रु हम पर हमला न करे, और किसी दुष्ट के कारण हमारा वध न हो। अर्थात् हमारी प्रगति होकर सब प्रकार हमारा कल्याण हो ! दिन प्रति दिन हमारी उन्नति होती रहे।

ऋग्वेद में बंधु संगठन ।

(लेखक—श्री० आत्माराम अमृतसरी, मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन)

स्वस्ति पन्थामनुरचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।

पुनर्ददताघ्नता जानता संगमे महि ॥ (ऋग्वेद मं० ५ सू० ५१ मंत्र १५)

अर्थ—(१) हम सब कल्याणकारी मार्ग के बंधन में रहें । (२) जिस प्रकार सूर्य्य पृथिवी और चंद्र चलते हैं । (३) परस्पर सहायता देते हुए । (४) बंधू भाव से । (५) जानते हुए । (६) संगठित हों ॥

व्याख्या—(१) युरोप के वे पंडित जिन्हों ने समाज शास्त्र लिखे हैं उनका प्रबलमत है कि आदर्श समाज, सभा, संघात् व्यवस्था अथवा संगठन का स्वरूप सार्वजनिक होता है और प्रत्येक व्यक्ति को उस समाज के सर्व हितकारी वा सार्वजनिक नियमों पर चलना जरूरी है । संगठन, सभा वा समाज के कोई भी नियम यदि तोड़े तो वह दंड का पात्र होता है । उत्तम समाज वा संगठन की उत्तमता इसी में है कि उसके नियमों पर चलने वाले सब हों । जिस प्रकार सृष्टि नियम अटल अखंड हैं उसी प्रकार समाज के नियम होने चाहियें ।

यही गूढ समाज शास्त्र का तत्व इस मंत्र में बताया गया है कि हम सब स्वस्ति पंथ के बंधनों में रहें । युरोप के अनेक पंडित जो कहा करते हैं कि ईसाई दीन प्रेम वा शान्ति का अर्थ है और बुद्धदेव से पहिले कभी किसी ने संसार को कल्याणकारी मार्ग का उपदेश नहीं दिया वह जिज्ञासु जन वेद मंत्र के 'स्वस्ति' शब्द पर पूर्ण ध्यान देकर अपनी भ्रान्ति दूर कर सकते हैं । जिस कल्याण कारी मार्ग का उपदेश आर्य्य महात्मा बुद्धदेव जी ने दिया वह वेद के उक्त शब्दों में विद्यमान है । 'पन्थ' शब्द के अर्थ मार्ग के हैं । एक बालक से पंडित तक सब ही जानते हैं कि मार्ग सब का सांझा अर्थात् मिला हुआ वा सब के लिये समान होता है । सर्वहितकारी वा सार्वजनिक मार्ग होता है यह निर्विवाद सिद्ध है । उत्तम तथा सरल अलंकार द्वारा वेद ने बतलादिया कि समाज के प्रत्येक बंधु को सब हितकारी मार्ग के बंधन में रहना चाहिये । जहां जाररूस के समान व्यक्ति का शासन होता है वहां समाज का बंधन नहीं होता । पर वेद मंत्र कह रहा है कि हम समाज के पीछे चलें न कि समाज के नियम वा उद्देश्य हमारे पीछे चले ।

(२) समाज के नियम वा आदेश कैसे अटल हों इसको वेदने सूर्य्य चांद के दृष्टान्त से दर्शादिया। विदित रहे कि वेद में चंद्र शब्द अप्रकाशक लोक पृथिवी चन्द्र आदि सब का बोधक होता है।

पाताल देश के डाक्टर तथा योगी श्री डेविस जी अपनी एक पुस्तक में समाज शास्त्र का विषय लिखते हुए दर्शाते हैं कि पूर्ण समाज वा संगठन का आदर्श स्वरूप यही हो सकता है कि उसके सभ्यबंधु पृथिवी समान अपने व्यक्तिगत धर्म को पालें और समाज के सर्वहितकारी नियमों के गिर्द ऐसे बंधे हुए चलें जैसे पृथिवी सूर्य्य के गिर्द घूमा करती है। साथ ही वह कहते हैं कि सूर्य्य और पृथिवी अपने व्यक्ति गत धर्म को कभी छोड़ते नहीं।

(३) तीसरी बात जो मंत्र बतला रहा है वह परस्पर सहायता का नियम है। आर्य्य ऋषियों ने इस तत्व को इस उत्तमता से समझा हुआ था कि उनकी गुरुकुलों की उद्देश्य सूची मानों यह बात बन गई कारण कि एक कुलपति ऋषि सर्व छात्रों को कहता था कि 'सहनाऽववतु' अर्थात् हमें परस्पर रक्षा किया करें। आर्य्य काल में ब्राह्मण विद्यादान से क्षत्री अभ्यदान से वैश्य धन दान से और शूद्र सेवादान से इस महाव्रत को पालन किया करते थे। क्या कोई युरोप का समाज शास्त्री नेशन वा संगठन का परम उद्देश्य इससे बढ़ कर कुछ बता सकता है?

(४) चौथी बात मंत्र ने 'अघ्नता' शब्दों द्वारा बताई है। स्वसमाज, स्वजाति, स्वदेश, स्वगृह, आदि के सज्जन देवता तुल्य माने जाते हैं। भारत माता को वन्दे कहने वाले सचमुच भारतीय बंधुवों को ही नमस्कार वा नमस्ते प्रतिदिन गायन द्वारा करते हैं ईंगलैंड वाले जड़ टेम्स नदी को नमस्कार नहीं करते पर वहां की स्वदेशीय बंधुवों को। अघ्नता का भाव नाश न करने का है। जहां नाश नहीं वहां ही बंधुभाव है इस लिये समाज के प्रत्येक जन का धर्म है कि वह स्वसमाज के प्रत्येक जन को बंधु मान कर बंधुवत् उसका रक्षक बने। इसी बंधुभाव की जरुरत आजकल आर्य्य जाति में है।

(५) युरोप के गत संग्राम के पीछे लंडन के बड़े हस्पताल में भारतीय रोगी तथा घायल सैनिक कोई गुजराती कोई पंजाबी कोई नेपाली और कोई नागरी भाषा में अपने दुःखों को कहता था पर सब भारतीय सिपाही भाषा के भिन्न होने के कारण एक दूसरे के मनको नहीं जान सकते थे। इस लिये एक

भाषा बिना कभी किसी समाज के बंधु दूसरे के मन के भावों को जान ही नहीं सकते। जब नहीं जानेंगे तो परस्पर सहायता कैसे कर सकेंगे इस लिये जनता में एक लिपि और एक भाषा के प्रचार की जरुरत है। दुर्भाग्यवश पंजाब और मद्रास दो ऐसे प्रान्त हैं जहां देव नागरी लिपि और नागरी अथवा आर्य्य भाषा का बहुत कम प्रचार है संगठन का एक अंग एक भाषा का बहुत कम प्रचार है। संगठन का एक अंग एक भाषा का होना है। जिस समाज वा देश में एक भाषा होगी वहां ही लोग एक दुसरे के मन के भावों को जान सकेंगे। इस लिये समान ज्ञान और समान लिपि तथा भाषा के तत्व का ज्ञान कराने वाले शब्द मंत्र के हैं।

(६) छटी बात जो मंत्र ने जनाई वह यह है कि इन साधनों के होने पर संगठन हो सकता है। इस समय बंधु संगठन वा संघ की हमें जरुरत है। सनातनी, आर्य्य, बौद्ध जैन और सिख जो धर्म बंधु हैं उनको बंधु भाव में बांधना चाहिये। वेद ने बंधु संगठन का विधान उक्त मंत्र में कर दिया उस पर चलना प्रत्येक शिखाधारी वा धर्मबंधु का कर्त्तव्य है ॥ इति ॥

यम-यमी-सूक्त।

प्रत्यालोचन।

(२)

श्री पं० सातवलेकर जी के पश्चात् श्री पं० चन्द्रमणि जी ने मेरे यम-यमी-सूक्त के व्याख्यान पर समालोचना की है। उस से श्रावण मास का 'अलङ्कार' अलङ्कृत हुआ है। श्री पण्डित जी ने भी मेरे पक्ष को अयुक्त सिद्ध करने की अपेक्षा अधिक वल उसे अयुक्तादि कहने में ही लगाया है। आप वेदोपाध्याय हैं। इस लिये आपके लेख का हमें विशेष मान है, यद्यपि उनके अयुक्त कह देने से कोई बात अयुक्त हो जाती है ऐसा मानने में हमें जरासा संकोच है। यह और बात है कि उनका लेख अपने ऊपर आप हँस रहा है। हम उस पर हँसने की धृष्टता न कर ज़रासा मुस्क्या दें तो आशा है, वेदोपाध्याय जी बुरा न मानेंगे।

वेदोपाध्याय जी लिखते हैं:—"मेरे पक्ष में ब्राह्मण, यास्काचार्य, ऋषि दयानन्द, व्याकरण, सायणाचार्य, वृहद्देवता आदि सभी है।" (अलंकार पृष्ट ५७)

यदि वेदापाध्याय जी इन सब के पीछे अपना नाम भी लिख देते तो पूरा सप्तक हो जाता। हम इस लेख में यह देखने का यत्न करेंगे कि इस मणि सप्तक का कौन मोती वेदोपाध्याय जी का साथ देता है।

वेदोपाध्याय जी का पक्ष उनके अपने मोटे छपे अक्षरों में यह है कि 'यम और यमी सगोत्र भाई बहिन हैं, सगे नहीं।" (पृ० ५९) और उनमें विवाह और नियोग का एक साथ या विकल्प से प्रस्ताव चलता है। एक साथ विवाह और नियोग की कल्पना अपूर्व है और इस के लिये वेदोपाध्याय जी दोहरी प्रशंसा के पात्र हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ ।

वेदोपाध्याव जी ने सब से पूर्व तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।११४) के 'अग्नि पृथिवी पते' इस प्रमाण को लिया है। इस में सन्देह नहीं कि इसी प्रकरण में और पतियों का उल्लेख हुआ है जो प्रजननकर्ता नहीं, परन्तु 'तस्मिन् योनौ प्रजनौ प्रजायेय' पाठ के साथ आने के कारण जो पति प्रजनेन कर्ता होसक्ते हैं, उन्हें इसी अर्थ में लेना सुसंगत है, विशेषतया जब कि गोपथ (उ० २।९) में 'पृथिव्यग्नेः पत्नी'—इस पाठ ने स्पष्ट पृथिवी और अग्नि में दम्पती संबन्ध स्थापित कर दिया है। उपाध्याय महाराज ने पहिले प्रमाण पर तो खुली गर्जना की है परन्तु इस शेषोक्त उद्धरण पर झिझक से गए हैं। लिखते हैं:—'मैं इसकी व्याख्या पंडित जी (चमूपति) पर ही छोड़ता हूं'। (पृ० ४८) मुझ 'अल्पश्रुत' पर यह भार काहे को डालना था। 'पत्नी' शब्द तो 'पत्युर्नोयज्ञ संयोगे' (अष्टाध्यायी ४।१ ३३) से विवाहिता पत्नी के सिवा किसी के लिये प्रयुक्त ही नहीं होता। फिर यहां समास भी नहीं कि आप अर्थ पलट सकें। महाराज ! हमारे विचार में ब्राह्मणों का वर्णन औपचारिक है। जैसे द्यौः और पृथिवी, तथा साम और ऋक् को विवाह संस्कार में पति पत्नी कहा जाता है, ब्राह्मण काल में अग्नि और पृथिवी को भी इसी प्रकार दम्पती समझा जाता था। शतपथ में यम-यमी को अग्नि और पृथिवी न कहा जाता, यदि उनका साहित्य सम्मत संबन्ध भाई बहिन का होता। राम और सीता पुरुष और स्त्री रूप में आदर्श व्यक्ति हुए हैं। परन्तु किसी भाई बहिन को इनसे एक साथ उपमा न दी जायगी। कारण कि उनका दम्पतीत्व पहिले से निश्चित है। यही साहित्यका नियम है। अर्थापत्ति से

यम-यमी में यदि कोई सम्बन्ध निश्चित होता है तो वह पति पत्नी का है।

हम चकित हैं कि वेदोपाध्याय जी के पक्ष में ब्राह्मण कैसे हुए? उन्हों ने कौनसा उद्धरण ऐसा दिया जिस में यम यमी को सगोत्र भाई बहिन बताया गया हो। या 'पत्नी' का अनर्थ ही श्री वेदोपाध्याय जी के मत में 'सगोत्रा बहिन' है?

यास्काचार्य।

यास्क पर पंडित जी ने 'वेदार्थ दीपक भाष्य' लिखा है। वहां इनके मुंह आना हमारी शक्ति से बाहर है। आपने 'जामि' शब्द के अर्थरूप 'असमान जाती यस्य वोपजनः' इस पाठ से भेद प्रकट किया है। आपने देवराज यज्वा का 'समान जातीय' पाठ स्वीकार कर उसका अर्थ 'सगोत्र' कर दिया है। प्रचलित पाठ 'असमान जातीय' है और हमने उसका अर्थ किया था 'असमान लिङ्ग युक्त' अर्थात् स्त्री पुरुष। यही आशय दुर्गाचार्य का है। आप इस अर्थ में 'जामि' शब्द का निर्वचन चाहते हैं। 'जा' स्त्री को इस लिये कहते हैं कि 'अस्यां जायते', पुरुष को इस लिये कि 'अस्माज्जायते'। दोनों को इस लिये कि 'अनयोः (असमान लिङ्गयोः) जायते'। प्रचलित पाठ से मत भेद का कोई हेतु होना चाहिये, जो आपने नहीं दिया। यदि यास्क को यहां 'जामि' शब्द का 'भगिनी' अर्थ स्वीकार होता तो वह अपनी प्रथा के अनुसार कह देता कि इस शब्द की व्याख्या ( ) होचुकी है, यहां नई व्याख्या न करता। क्योंकि 'भगिनी' अर्थ तो वह पूर्व कर चुके हैं। अब और अर्थ अभीष्ट है! हां! यदि यास्क आप के पाठ भेद को स्वीकार करे और अपनी भूल मानले कि नए अर्थ का आडंबर व्यर्थ किया है तो वह आपके साथ सहमत है।

ऋषि-दयानन्द।

इन दो के पीछे आपने ऋषि दयानन्द को स्थान दिया है। उनका लेख भी मोटे शब्दों में छापा है। दूरबीन लगा कर देखने से भी उस लेख में 'सगोत्र' शब्द दिखाई नहीं दिया। ऋषि ने 'यम यमी संवाद' का 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' यह मंत्र ही असमर्थ पति के अपनी सन्तानेच्छुका पत्नी के प्रति संबोधन में लगाया है। हमारे मत में उसी मंत्र में पड़े 'आघाता गच्छानुत्तरा युगानि' अर्थात् 'विवाहोत्तर अनेक ऐसे काल आते हैं' 'यत्र जामयः कृणवन्नजामि'

जब पति पत्नी 'जो' अर्थात् जननकर्ता पतिपत्नी नहीं रहते, अजामि व्यवहार करते हैं—इस पंक्ति से कोई आपदग्रस्तपति वा पत्नी एक दूसरे को 'अन्य मिच्छस्व' इत्यादि वाक्य कह सकते हैं। सगोत्र भाई बहिन के विवाह तथा नियोग विषयक वार्त्तालाप में असमर्थ पति का अकस्मात् आ कूदना अकाण्ड ताण्डव नहीं तो क्या है! यदि किसी प्रकार सारा विवाह तथा नियोग का प्रसंग असमर्थ पति पत्नी पर घट सके तो आपका यह तीसरा विकल्प भी सुसंगत हो जायगा। तब आप तिगुनी प्रशंसा के पात्र होंगे तभी ऋषि दयानन्द वेदोपाध्याय जी के प्रमाण-सप्तक में स्थान पासकेंगे। आपकी ऋषि-भक्ति सराहणीय है परन्तु वे ठौर ठिकाने के प्रकट होने से 'अलङ्कार' के पत्रों में भी मारवाड़ी शृगार सी प्रतीत होती है। वेदोपाध्याय जी ने ऋषि को 'नमस्ते' कहा सही परन्तु बहुत दूर से।

व्याकरण।

अब आया व्याकरण का नम्बर। आप 'पुंयोगादाख्यायाम्' (पा० ५.१.४८) पर टिप्पणी करते हुए कौमुदीकार का प्रमाण देते हैं:—'योगः सम्बन्धः। सचेह दम्पती भाव एवेति नाग्रहः। संकोचे मानाभावात्।' (पृष्ठ ५४) कौमुदीकार की तो दस पीढ़ियों ने यह पाठ नहीं पढ़ा। वह सीधा सादा पुरुष लिखता है:— 'या पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते, न तो ङीष् भवति। गोपस्य स्त्री गोपी'। आपने जो पाठ उद्धृत किया है वह तत्वबोधिनिकार का है। पुस्तक के मुखपत्र पर 'कौमुदी' नाम होगा परन्तु उस में टिप्पणरूप में लिखे सूक्ष्म अक्षर टीकाकारके हैं। यह टीका सब कौमुदियों में नहीं होती। पाठक भ्रम में पड़ सक्ता है कि वेदोपाध्याम जी ने कौनसी कौमुदी की कमनीय कला अपने ललित लेख में झलकाई।

श्रीमान्! महाभाष्यकार तथा काशिका कार और कौमुदीकार के समय तक तो इस सूत्र का यही अर्थ हुआ कि इस सूत्र में पुंयोग दंपती-संयोग है। भट्टिकाव्य में अशुद्ध प्रयोग हुआ:—केकयी । संभव है जनपद-सम्बध से कैकयी प्रयोग हो और लेखक के प्रमाद से वह केकयी पाठ हो गया हो।

पद मञ्जरीकार इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं:—यस्त्वया धर्मश्चरितव्यः सोऽनया सहेति भार्यायाः शास्त्रसिद्धं साहचर्यमिति तस्यामेवै तन्ङीष्विधाममिति, भट्टिकाव्ये तु दुहितृष्वपि दृष्टिः प्रयोगः। 'कौसल्ययाऽसावि

सुखेन रामः प्राक्कैकयीतो भरतस्ततोऽभूत्' इति केकयस्य दुहिता केकयी।"
अर्थात् 'जिस धर्म का आचरण तू करता है वह इस (भार्या) के साथ, इस लिये भार्या का शास्त्र सिद्ध साहचर्य है। इसलिये यह ङीष् का विधान उसी (भार्या) में है। इसके विरुद्ध भट्टिकाव्य में दुहिताओं में भी प्रयोग देखा जाता है। इसके आगे केकयी का उदाहरण दिया है। उपरिलिखित उद्धरण में एव (भार्या में) ही यह शब्द ध्यान देने योग्य है। पदमञ्जरीकार और उन से पूर्व वर्ती वैयाकरणों को पुंयोग के दम्पतीभाव तक परिमिति होने में आग्रह है। भट्टिकाव्य का प्रयोग उन्हें अरुचिकर है। वह उसे तु (अर्थात् इसके विपरीतं) कहकर नियम का अपवाद समझते हैं। तत्वबोधिनीकार ने भूल से इसे नियम बना दिया। भट्टिकाव्य तो पाणिनि के पीछे रचा गया। अतः उसका प्रयोग पाणिनि के नियमका अपवाद है। क्या वेद भी पाणिनि के पीछे हुए कि उन में आया 'मयी' शब्द भी वैसे ही अपवाद मान लिया जाए। पाणिनि से प्रमाद हुआ हो, कात्यायन और पतञ्जलि ने भी आंखें मीचली हों। कौमुदीकार, काशिका कार, पदमंजरीकार सब को आग्रह रहा कि इस ङीष् में दम्पतीभाव है। तत्व-बोधिनीकार तथा वेदोपाध्याय श्रीचन्द्रमणि जी ने इस आग्रह को हटाया। उदार-चेतालोग ऐसे महान् कार्य करते हैं। उन्हीं को यह घोषणा शोभा देती है कि व्याकरण हमारे साथ है, क्योंकि वह कारण के साथ नहीं होते।

सायण और शौनक।

रहे सायण और बृहद्देवताकार शौनक। महाराज? वह तो यमयमी को यमज मानते हैं। बृहद्देवताकार का लेख है:—

सरण्वां जज्ञाजे यमयम्यौ विवस्वतः।
तौ चाप्युभौ यमावेव ज्यायांस्ताभ्यांतु वै यमः ॥ बृ० ७० १६३ ॥

अर्थात् सरण्यू से विवस्वान् के यमयमी (पुत्र पुत्री) पैदा हुए। वह दोनों यमज थे। उन में से बड़ा यम था।

आपने तो कहा, वह सगे भाई बहिन ही नहीं। क्या यमज सगे भाई बहिन नहीं होते?

सायण का पक्ष भी यह है। आप उदाहरण की अपेक्षा रख मुझ 'अल्पश्रुत' की यह स्वल्प विनती मान ही लेंगे।

वेदोपाध्याय जी।

इस प्रकार यह छः प्रमाण तो सारे आपके पक्ष में हो ही गए। हाथ जोड़ कर हो गए। अब सातवें रहे स्वयं आप। ४र्थ मन्त्र का अर्थ करते हुए आप लिखते हैं:-(सा नः नाभिः) वह मेरी (यम की) माता और वह मेरे पिता हम सब भाई बहिनों के सनाभि हैं—सगोत्र हैं।' (पृष्ठ ६१) बाप सगोत्र है या मां भी ? उपाध्याय जी महाराज ! आप के लेखानुसार तो सगोत्र विवाह पहिले से ही रचाया जा चुका है, आप निषेध किसका करने चले ? यदि यमी यम की माता की सगोत्र है तो यम यमी सगोत्र नहीं। यदि मां बाप दोनों सगोत्र हैं तो उनका ही गोत्र एक होगया। तो क्या आपका पक्ष यह है कि यम यमी भी सगोत्र थे और उनके मां बाप भी सगोत्र। वह कुल ही सारा सगोत्रों का था ? और उन में सगोत्र विवाह, सगोत्र-नियोग, असमर्थ नियोग आदि के प्रस्ताव चला करते थे ?

भगवन् ! अब समझ में आया कि आप ने कौमुदीकार—यदि आप मान लें तो तत्वबोधिनीकार—का आश्रय क्यों लिया ? आप ने पुंयोग का अर्थ 'पिता पुत्री' भाई बहिन भी माना है। कृपया यह भी तो बता दीजिये कि 'उपाध्यायी' शब्द भी तो इसी पुंयोग से बना है। उसका अर्थ क्या होगा ? और फिर माता पुत्र का सम्बन्ध भी पुंयोग है कि नहीं ? हो जाए और फिर पुंयोग का अर्थ कर दिया जाए गोत्र सम्बन्ध तो आपका पूर्वापर लेख सारा सम्बद्ध हो जाएगा और 'गोपी' का अर्थ होगा 'गोप की सगोत्र स्त्री'। ऐसे ही 'आचार्याणी' आदि।

आधुनिक साहित्य।

आपके इस लेख से पहिली वार ज्ञान हुआ कि आप आधुनिक साहित्य से भी अत्यन्त अभिज्ञ हैं—अर्थात् उस साहित्य के अन्त से आगे का ज्ञान रखते हैं। वेद का अर्थ अमरकोष और शब्दकल्पद्रुम के प्रमाण से वेदोपाध्यायजी द्वारा ही किया जाना चाहिये। इतना अच्छा किया है कि कोष को साधारण साहित्यज्ञों के ढंग से नहीं देखा, उनसे ठीक विपरीत देखा है। आप लिखते हैं:—

"कोषकार 'यमपत्नी' का अर्थ यमुना तथा यम भगिनी करता है" (पृष्ठ ५४) छापे की भूल होगी। नहीं तो पत्नी का भगिनी अर्थ किस कोषकार को सूझा ?

यमुना नदी-विशेष का नाम है। पौराणिक कथानुसार वह यम की बहिन है। लौकिक साहित्य के कोष पौराणिक समय के हैं। वह विशेष वाची नामों का उल्लेख कर उनका संज्ञी पौराणिक देवता आदिको बताते हैं। संज्ञी अर्थ नहीं होता। वेदोपाध्याय जी वेदवत् इन कोषों में भी इतिहास न मान अपनी 'अत्यन्त' अर्थात् साहित्य के उस पारकी—अभिज्ञता से उस संज्ञि-निर्देश को अर्थ समझ रहे हैं। तो क्या 'धूर्मांणा और विजया' 'यम भार्या' शब्द का अर्थ हैं? वेदोपाध्याय को तो 'हां' ही कहते बनेगी। पौराणिकों ने वेद में पुराण घुसेड़ा है तो यह पुराण में वैदिक शैली घुसेड़ के रहेंगे। अब यदि कहीं राम का 'अर्थ' दाशरथि या दशरथस्य पुत्रः मिलगया तो यह प्रत्येक राम को दशरथ का पुत्र बना के रहेंगे, क्योंकि कोष में ऐसा लिखा है।

भ्राता और स्वसा।

मेरे किये भ्राता और स्वसा शब्दों के अर्थ पर वेदोपाध्याय जी को भी उपहास सूझे हैं। आप लिखते हैं:-"माता" का अर्थ मां, परमेश्वर, प्रकृति है अतः उत्तमोत्तम भोज्य पदार्थों के बनाने से पुत्री भी माता है" (पृ० ५०) पुत्री तो क्या सुभाषित में पत्नी को 'भोज्येषु माता' कहा है। रामायण में दशरथ कौशल्या को माता कहते हैं। वेदोपाध्याय जी ने इसी यमयमी सूक्त के मंत्र ४ में 'योषा' का अर्थ किया है 'मेरी माता'। इनसे कोई पूछे—यह किस कोष के आधार पर? 'वेदार्थ दीपक भाष्य' में 'दुहिता' का अर्थ किया है 'माता' (वेदार्थ दीपक निरुक्त भाष्य पृ० २८४) इस में प्रमाण? जैसे ब्राह्मण, निरुक्त, ऋषिदयानन्द, व्याकरण, सायणाचार्य, बृहद्देवता, कोष सब वेदोपाध्याय जी की हां में हां मिलाते हैं, वैसे ही सारे वाङ्मय के शब्द और अर्थ इनके आगे हाथ जोड़े इनके आदेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि महाराज जहां हमें संगत करें हम संगत ही नहीं, सुसंगत हो जाएं। नियोग तथा परिणय का विकल्प उन्हें स्वीकार है। नहीं, युगपत् होना उन्हें स्वीकार है। सारे लेख में तो महाराज ने स्पष्ट आज्ञा नहीं की कि क्या विकल्प अभीष्ट है या युगपत् होना। अब जिस प्रथा का भाग्योदय होना होगा, सिर हिलाने की देर है, वही वैदिक हो जाएगी। वाङ्मय अपना है।

सार्गल व्याख्या।

वेदोपाध्याय जी ने मेरे लेख की आलोचना कर अन्त में यमयमी सूक्त की

अपनी व्याख्या प्रकाशित कराई है । उसका एक नमूना माता पिता के सगोत्र होने के प्रकरण में हम देचुके हैं, एक दो नमूने और देकर हम लेखनी को विराम देंगे ।

(१) मन्त्र ५ की व्याख्या में लिखा है:—"(नौ गर्भे नु दम्पतीकः) हमारे कई भाई बहिनों को गर्भ में दम्पती बनाया है।" (पृ० ६१) 'हमारे कई भाई बहिनों को' किन शब्दों का अर्थ है। वेदोपाध्याय जी मेरी व्याख्या को 'अनर्गल' कहते हैं । तो क्या यह पांच शब्दों का अर्गल है जो श्री चन्द्रमणि जी की व्याख्या को सार्गल बना रहा है ?

(२) मन्त्र ८ में 'देवानां स्पशः' का अर्थ किया है 'ईश्वरीय नियमों के गुप्त चर' । संस्कृत में 'रूपी' अर्थ में षष्ठी का प्रयोग कब से होने लगा है ? तत्व-बोधिनीकार के समय से या श्री वेदोपाध्य जी की अपूर्व कलपना-कला के चमत्कार से ?

(३) मन्त्र १३ में 'बत' शब्द दो बार आया है । निरुक्तकार लिखते हैं:–'बत इति निपातः खेदानुकम्पयोः' नि० ६।२८।१ । श्री वेदोपाध्याय जी इसका अर्थ करते हैं:—'मुझे बड़ा सन्तोष है । फिर मज़ा यह है कि निरुक्तकार भी इसी मन्त्र में 'बत' का पूर्वोक्त अर्थ करते हैं और वेदोपाध्याय जी भी इसी मन्त्र में पूर्वोक्त अर्थ कहते हैं । दूसरे 'बत' का अर्थ निरुक्त में तो किया है:—'बतो बलादतीतो भवति दुर्बलः ।' श्री चन्द्रमणि इस में 'धर्म' शब्द और जोड़ अर्थ करते हैं:–'धर्म-दुर्बल धर्म-भीरु' । धर्म-दुर्बल और धर्म-भीरु को पर्याय ठैराना 'वेदार्थ दीपक' के अतिरिक्त और किस की शक्ति में है । 'निरुक्त' पर 'दीपक' ऐसा जगमगाया है कि विचारे यास्क की आंखें चुँधिया गई हैं ।

(४) मन्त्र ११ में 'काममूता' का पद पाठ किया है 'कामम् ऊता' । जब कि विद्यमान पदपाठ है 'काम-मूता' । अर्थ का इससे केवल वैपरीत्य हुआ है ।

(५) मन्त्र ६ में 'वीच्या' शब्द आता है । पदपाठ में भी 'वीच्या' है । आप ने उसे 'वीच्य' कर दिया है । यह किस नियम से ? अर्थ करते हुए कोई व्याकरण का सूत्र ही पढ़ा होता ।

वेदोपाध्यायजी ने अपनी समालोचना के आदि में मुझसे पूछा है 'इस प्रकार की व्याख्याओं से वेद का उद्धार होगा या संहार ? हम यह प्रश्न उनसे करते, इतनी धृष्टता का साहस कहां ? उनका भाष्य तो वेद का उद्धारक ही है, यदि वह पसन्द करें तो 'समूल' शब्द और बढ़ादें अर्थात् समूलोद्धारक ॥

नैरोबी
अफ्रीका }

चमूपति ।

ऋषि के विचारों का विजय।

[ले० श्री० स्वामी वेदानन्द जी महाराज वेदतीर्थ]

ऋषि दयानन्द ने जिन बातों का प्रचार करना चाहा था, वे विचार उनके जीवन काल में उतने न फैले जितने उन के परलोक गमन के पश्चात्। हां, एक बात आवश्य है कि लोग उन बातों को मानते चले जाते हैं किन्तु ऋषि का नाम नहीं लेते। यह सर्व विदित है कि स्वराज्य तथा उस की आवश्यकता, एवं उस के स्पष्ट लक्षण ऋषि दयानन्द ने ही सब से पहले बतलाए, किन्तु कांग्रेस वाले जब कभी अवसर आता है तो कहते हैं कि "स्वराज्य" का शब्द सब से पहले श्रीदादाभाई नौरोजी ने उच्चारण किया। इसी प्रकार अन्य कार्य्य क्षेत्रों में भी समझ लीजिये।

यह कहा जाता है कि दयानन्द के सिद्धान्त अङ्गरेज़ी पढ़े लिखे लोगों को खींचते हैं। आज मैं आप के सामने यह रखना चाहता हूं, कि स्वामी के सिद्धान्त संस्कृतज्ञ पण्डितों को किस प्रकार मोहित कर रहे हैं।

काशी में राजकीय संस्कृत कालिज नाम का एक बड़ा भारी संस्कृत विद्यालय है, उस से संबद्ध एक बृहत्संस्कृत पुस्तकालय है। चिरकाल तक महामहोपाध्याय पं० विन्ध्येश्वरीप्रसादजी द्विवेदी उस के पुस्तकाध्यक्ष रहे हैं। इस समय आप परलोकस्थ हैं। आप संस्कृत के भारी विद्वान हुए हैं। आप ने अनेक अमूल्य संस्कृत ग्रन्थों की खोज की और सैंकड़ों ग्रन्थों का संशोधन कर मुद्रण कराया। आप ने 'न्यायवार्तिक' ग्रन्थ की एक विस्तृत भूमिका लिखी है, वह काशी की चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय में प्रकाशित हुई है उस के पृष्ठ ४२ पर महामहोपाध्याय जी लिखते हैं:—

"न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्म मीमांसा, भक्तिमीमांसा, ब्रह्ममीमांसा, शास्त्रसूत्राणामार्षत्वादाप्तोक्तत्वादसमानं प्रामाण्यमित्यत्र संदेह एव नास्ति। इदं तु व्याख्याकाराणां व्याख्यान कौशलं यत् स्वशास्त्रोत्कर्ष स्थापनायेतरमत खण्डनेन स्वमत व्यवस्थापनम्। सर्वाण्येव शास्त्राणि अनेकात्मप्रतिपादकानि, ब्रह्ममीमांसा-शास्त्रे (वेदान्ते) विवादो व्याख्याकारमूलक एवेतिनैव तिरोहितमस्ति दार्शनिकानाम्। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इत्यादिना सूत्रेण २।१।११ 'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः' २।१।१२ इत्यादि सूत्रेण च नास्तिकानामुपनिषदुक्तानां निराकरणं न

तु न्यायादि दर्शनानां तत्र आर्षोक्तित्वात् शिष्टपरिग्रहात्। किन्तु शंकराचार्य्यादिभिर्हठादेव तथा व्याख्यातं सूत्रेषु तदभावादिति। यत्तु "एतेन योगः प्रत्युक्तः" तत्राप्यर्थान्तरसंभवादार्षं व्याख्यानमपेक्षते इति"।

अर्थः—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्ममीमांसा, भक्तिमीमांसा और ब्रह्ममीमांसा (वेदान्त) शास्त्रों के सूत्रों के आर्ष या आप्त वचन होने के कारण एक जैसी प्रामाणिकता है, इस में तो संदेह ही नहीं है। यह तो भाष्यकारों की व्याख्या की चतुराई है, कि अपने शास्त्र की श्रेष्ठता स्थापन करने के लिए दूसरे के मत का खण्डन कर के अपने मत को स्थिर करते हैं। सभी शास्त्र नानात्मावादी (अर्थात् जीव ब्रह्म का भेद मानने वाले हैं) ब्रह्ममीमांसा शास्त्र में झगड़ा व्याख्याकारों का उत्पन्न किया हुआ है।

यह दार्शनिकों से छिपा नहीं है। "तर्काप्रतिष्ठानात्" (वै० २। १। ११) "एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः" (वै० २। १। १२) इन सूत्रों से उपनिषदों में वर्णित नास्तिकों का खण्डन किया गया है न कि न्यायादि दर्शनों का, क्योंकि वे तो आप्तोक्त तथा शिष्ट लोगों से सम्मानित हैं। किन्तु शङ्कराचार्य्यादि ने हठ से ही वैसी व्याख्या की है। सूत्रों में वह (अर्थात् न्यायादि का खण्डन) नहीं है। यह जो 'एतेन योगः प्रत्युक्तः" वेदान्त दर्शन का सूत्र है उस का भी दूसरा व्याख्यान हो सकता है, उस पर भी आर्ष भाष्य की आवश्यकता है, इति।

पाठक! महामहोपाध्याय जी के लेख पर मैं कुछ न कह कर इतना ही कहूंगा, कि इसे ध्यान से पढ़िए।

एक समय था पं० नीलकण्ठ गोरे (काशी के धुरन्धर पण्डित जो ललकार कर ईसाई हुए थे) षड्दर्शन और दर्पण लिखते हैं और दर्शनों में परस्पर विरोध दिखाते हैं। काशी के किसी पण्डित का साहस न हुआ कि उस का उत्तर लिखे किन्तु समय आता है, दयानन्द उस लहर को बदल देते हैं। जम्मू में काशी का प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ पादरी जानसन जाता है, पण्डितों को ललकारता है और काश्मीर मण्डल के गर्वित पण्डित उस के सामने नतमुख हो जाते हैं किन्तु वहीं दयानन्द का भक्त स्वर्गस्थ विद्वन्मूर्धन्य पं० गणपति शर्म्मा जानसन के आक्षेपों का सप्रमाण खण्डन कर देता है। जानसन को रियासत से भाग आने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं सूझता।

सनातनी बुव इस विषय पर आर्य्यसमाजियों से बहुत विवाद करते हैं, वे ज़रा सनातन धर्मी महामहोपाध्याय के उपर्युक्त वचनों को पढ़ें ।

पाठक ! एक छोटी सी बात है और फिर बस । वेही महामहोपाध्याय जी उसी ग्रन्थ के पृष्ठ ४५ पर न्याय की निन्दा (जो पौराणिकों ने अनेक स्थलों पर लिख रखी हैं) का निराकरण करते हुए लिखते हैं—

"यत्तु सांख्य प्रवचन भाष्ये पराशरोपपुराणनाम्ना
अक्षपाद प्रणीते च काणोद च सांख्य योगयोः ।
त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोंशः श्रुत्येक शरणैर्नृभिः ॥
जैमिनीये च वैयासे विरुद्धांशो न कश्चन ।
श्रुत्या वेदार्थ विज्ञाने श्रुतिपारं गतौही तौ" ॥

इति वचनं समुद्धृतं, तत्सर्वं पूर्वोक्त न्याय प्रशंसा प्रतिपादक श्रुतिस्मृति पुराणेतिहासादि विरुद्धत्वादेकदेशीयत्वादुपपुराणोक्तत्वाच्चोपेक्षणीयम् ।

अर्थः—यह जो सांख्य प्रवचन भाष्य (सांख्यदर्शन पर विज्ञानभिक्षु कृत भाष्य) में परामर्श उपपुराण के नाम से 'गौतम और कणाद के बनाए शास्त्रों तथा सांख्य और योग में श्रुति को मानने वाले मनुष्य श्रुति विरुद्ध अंश को छोड़ दें । जैमिनि और व्यास प्रणीत शास्त्रों में श्रुति विरुद्ध कोई भी अंश नहीं क्योंकि वे दोनों वेदार्थ विज्ञान में श्रुति पारगामी हैं ।

यह जो वचन कहा है वह सारा वचन पूर्वोक्त न्याय शास्त्र की प्रशंसा करने वाले श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास के विरुद्ध होने के कारण तथा उपपुराण का वचन होने के कारण उपेक्षा करने योग्य है ।"

महामहोपाध्याय जी यदि कुछ काल और जीवित रहते तो सम्भवतः पुराणों को भी धत्ता बता जाते । ओं शम् ॥
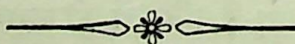
चौपटानन्द की पुनरुक्ति ।

पण्डित जी की पाठशाला में विद्यार्थी तो बहुत आते थे पर चौपटानन्द अपने ढंग के एक ही थे । चौपटानन्द के पाठशाला में पधारते ही किताबी कीड़े नाक सिकोड़ने लगते थे, पण्डित जी मुस्कराने लगते थे और मस्खरों की तो बन आती थी ।

कहते हैं कि संसार के बड़े से बड़े से आविष्कार प्रायः अचानक हुए हैं । चौपटानन्द ने मानो इस सिद्धान्त को अपने जीवन का मूलमन्त्र बनाया था । वह किसी काम को भी उस ढंग से न करते थे जिससे लोग करते हैं । वह नाक की सीध में चले जाते थे कदाचित् अचानक किसी से भिड़ जांय तो क्या परिणाम हो ? पढ़ने के लिए पुस्तक का पृष्ठ भी अचानक खोला करते थे और प्रश्न भी अचानक ही कर आते थे । कभी कभी तो पण्डित जी किसी सिद्धान्त की मार्मिक व्याख्या करके और सन्तोष से विद्यार्थियों की ओर देखते थे कि अब उन्होंने उसे सर्वथा निर्मल कर दिया है और उसमें सन्देह का अवकाश किञ्चित् भी नहीं रह गया है तो चौपटानन्द अचानक कोई प्रश्न ऐसा कर देते थे कि पण्डित जी हक्के बक्के से रह जाते थे । एक दिन पण्डित जी काव्य-प्रकाश पढ़ाते थे, दोषों का प्रकरण चल रहा था पुनरुक्त की भी बारी आई । पाठ को चौपटानन्द ने भी बड़े ध्यान से सुना । उस समय चौपटानन्द के हृदय में अचानक कोई सन्देह आखड़ा हुआ पर वह सन्देह क्या था यह कुछ भली प्रकार निश्चय न कर पाए । घर आए तो वहां भी पुनरुक्त ने पीछा न छोड़ा । पड़ोस में कोई महाशय वैदिक मुनि का ग्रन्थ उठाकर कह रहे थे कि देखो वेदों की कलई खुलगई । इस में कितने मन्त्र बार बार आए हैं। सामवेद तो मानो है ही पुनरुक्त का नमूना । चौपटानन्द मन ही मन झुंझला उठे । इस पुनरुक्त ने यहां भी पीछा न छोड़ा । अन्त में चौपटानन्द ने खटिया की शरण ली । खटिया पर पड़े २ वह सोचने लगे कि रोज़ तो यहीं आता हूं, यहीं सोता हूं, नींद भी मुझ को रोज़ ही भली आती है, पड़ोस में मन्दिर है परन्तु मुझे शपथ है जो कभी प्रातःकाल का घंटा सुना हो । वही शयनागार, वही शय्या, और वही शयन की आवृत्ति । इतने दिन हो गए पर मुझे तो इसमें कहीं पुनरुक्त दोष दिखाई नहीं दिया । उस दिन चौपटानन्द इसी मीमांसा में पड़कर सो रहे । काल की गति अनिवार्य है बहुतेरा मना किया पर सम्बन्धियों ने एक न सुनी, घेर घार कर चौपटानन्द शर्म्मा का

विवाह कर ही डाला। हिन्दू के लिये विवाह मौत की तरह अनिवार्य है पर चौपटानन्द के लिए वह आया भी मौत की तरह अचानक ही। चौपटानन्द विवाह तो कर बैठे पर उस समस्या ने पीछा न छोड़ा। एक दिन रात को अचानक जो काव्य-प्रकाश खोला तो वही दोष का प्रकरण फिर सामने आ खड़ा हो गया। चौपटानन्द फिर उसी उलझन में सो गए। उस दिन गृहिणी से बात भी न की। प्रातःकाल चौपटानन्द ज्यों माला लेकर जपने को बैठे तो फिर पुनरुक्त की उलझन ने गला आदबाया। चौपटानन्द बोले कि माला में इतने मनके हैं और सब एक ही से हैं, जप भी बार बार वही है तब क्या इस में पुनरुक्त दोष नहीं होगा? अन्त को बड़े विचार के पश्चात् चौपटानन्द ने कई रंग लेकर माला के प्रत्येक मनके को बारी २ से एक २ रंग में डुबोया। सारा मनका न डुबोते थे अचानक जो भाग सामने आजाता उसे डुबो लेते। थोड़ी देर के पश्चात् माला के सब मनके रंग बिरंगे हो गए। इस प्रकार पुनरुक्त की पहली उलझन से तो किसी प्रकार छुटकारा पा गए पर अब जप की बारी आई। चौपटानन्द सोचने लगे कि जप का मन्त्र भी न बिगड़े और पुनरुक्त दोष भी न हो। अन्त को बड़ी उलझन के पश्चात् निश्चय हुआ कि प्रत्येक आवृत्ति पर मुख की आकृति नए प्रकार से बदल दी जाय। इस प्रकार ज्यों त्यों करके चौपटानन्द शर्म्मा का जप समाप्त हुआ। जप समाप्त करके चौपटानन्द बिगड़े हुए पुराण बगल में दबाए भागे भागे पाठशाला में पण्डित जी के पास पहुंचे। विवाह के पश्चात् चौपटानन्द शर्मा का यह पहिला प्रवेश था, इसलिये उनकी बड़ी आवभगत हुई। थोडी देर में ही कहकहाओं के फुव्वारे छुटने लगे। खैर, फिर पाठ आरम्भ हुआ। दैवयोग से आज भी घंटा काव्य-प्रकाश का था और प्रकरण भी वही। अब तो चौपटानन्द से न रहा गया। प्रत्येक दो मिन्ट के बाद स्थान बदलने लगे अब यहां बैठते, दो पल पीछे दूसरे कोने में, दो पल पीछे तीसरे कोने में, यह लीला देख कर पण्डित जी बोले—"चौपटानन्द ! यह आज क्या नई लीला ले आए हो ?"। चौपटानन्द बोले "पण्डितजी महाराज ! यह आप का आदेश पालन कर रहा हूं। भला एक ही स्थान पर बैठे रहने से आसन की पुनरुक्ति न होगी ? इस पर लात घूंसे और थप्पड़ों की पुनरुक्ति की बारी आने वाली ही थी कि चौपटानन्द लम्बे २ डगोंकी तीव्र पुनरुक्ति करते हुए घर आ पहुंचे। हिन्दू आख्यायिकाओं की नायिका सदा ही पति परायणा होती है। इसीलिये पुनरुक्त दोष का शिकार होने पर भी हम सच से बाज नहीं आ सकते। चौपटानन्द शर्मा की

पत्नी भी पति परायणा थीं। यथा समय नाना विध व्यञ्जनों का थाल परोस कर वह पति देव को भोजन कराने बैठीं। पर चौपटानन्द पर तो आज पुनरुक्त दोष का भूत सवार था। पहले तो सोचने लगे कि सृष्टि की आदि से यह गेहूं की रोटी ऐसी ही गोल गोल और ऐसी ही कहीं कहीं से काले दाग़ वाली चली आती हैं। भला इन्हें कैसे खाना होगा? अन्त को प्रतिदिन की गालियों के पुनरावर्तन के भय से पत्नी को कुछ न कह कर ब्राह्मण देवता ने माला की भांति इस समस्या को भी यथा कथञ्चित् सुलझा ही डालने का निश्चय किया। अब लगी थाली की परिक्रमा होने और ग्रास चबाते समय मुखाकृति भी प्रतिक्षण बदलती जाती थी। यदि किसी सिनेमा कम्पनी के मालिक को यह खबर लग जाती तो उनके हाथ खूब गहरे रंगते। आप की पत्नी से न रह गया। उस ने झुंझलाकर पूछा 'आज क्या खा आए हो? कहीं आज फिर भांग की गोष्ठी में तो नहीं चले गए थे?" चौपटानन्द बिगड़कर बोले "मैं वहां फिर क्यों जाता? फिर जाने से तो पुनरुक्ति होती।" मामला बढ़ता देखकर पण्डित जी के देवर भी उठकर अन्दर चले आए। आते ही अन्नपूर्णा बोलीं "अरे शंकर! आज तुम्हारे भैया क्या खा आए हैं? जब से देखती हूं थाली की परिक्रमा कर रहे हैं और कहे जारहे हैं पुनरुक्त, पुनरुक्त। चौपटानन्द बीच में बात काट कर बोले "मैंने दोबार नहीं कहा था।" वह अनसुनी करके बोली "अरे शंकर! क्या होता है पुनरुक्त? शंकर ने कहा कुछ नहीं भौजी। पुनरुक्त तो एक बात के बार २ रटने को कहते हैं। यह अलङ्कार शास्त्र में एक प्रकार का दोष बताया गया है। अन्नपूर्णा कातर होकर बोली ' भैया! इन्हे समझा यह अपना अलङ्कार शास्त्र मेरी पाठशाला से बाहर रख कर आया करें नहीं तो किसी दिन इनको जीना भी भारी हो जायगा। क्योंकि उस में भी सांस की पुनरुक्ति होती है। पत्नी के मुख से यह युक्तिपूर्ण व्यङ्ग्योक्ति सुन कर चौपटानन्द और भी घबराए और उन्हें कुछ २ भासने लगा कि इस पुनरुक्ति दोष के झमेले में कुछ गड़बड़ है ज़रूर। पर पत्नी के सामने हार मानने के डर से वह बाहर निकल पड़े। सामने ही मन्दिर में पुजारी सीतलदास मीराबाई के पद बड़े ही भक्ति रस में मग्न होकर गा रहे थे। सीतलबाबा का कण्ठ अति मधुर था और संगीत-ज्ञान अगाध। इसी के प्रताप से मन्दिर में प्रति वर्ष एक रागियों का मेला भी लगा करता था। मीरा का यह पद चौपटानन्द सीतलदास के मुख से न जाने कितनी बार सुन

चुके होंगे। आज भी वही पद छिड़ाहुआ था—"पग घुंघरु बांध कर नाची रे!" यह गाना चौपटानन्द का विशेष प्यारा था। अब चौपटानन्द और भी उलझन में पड़े। वही बचपन का प्यारा मन्दिर और वही पुराना गाना। कान मन्दिर की ओर खींचे ले जाते थे और खोपड़ी में अलङ्कार शास्त्र की हंडिया उबल रही थी। अन्त में कानों की जीत हुई। मन ही मन मम्मटाचार्य पर बिगड़ते हुए चौपटानन्द शर्म्मा भी अपनी पुरानी जगह जा बैठे। एक आध वार यहां भी जी में आई कि मृदङ्ग की परिक्रमा करूं पर पत्नी की युक्ति ने चौपटानन्द का किला तोड़ दिया था। जैसे तैसे बैठे ही रहे। बावा जी के पीछे गोपालगिर का गाना शुरू हुआ। इनका गाना बावा जी से चढ़ा हुआ था। उन्होंने भी सूरदास का एक पद इस मधुरता से गाया कि चौपटानन्द अपनी सब चौकड़ी भूल गए। सांझ की आरती तक मन्त्र मुग्ध से बने वहीं बैठे रहे। वहां से उठे तो भूख सता रही थी। दोपहर की परिक्रमा में कुछ खाया नहीं गया था। जैसे तैसे नित्यकर्म समाप्त करके पाकशाला की ओर झपटे। पत्नी ने भी ताड़ लिया कि अब कुछ राह पर आए हुए हैं। भोजन में अन्नपूर्णा थीं ही अन्नपूर्णा। चौपटानन्द ने भी खूब रस मग्न होकर खाया। एक एक ग्रास खाते जाते थे और अलङ्कार शास्त्र के सिर पर मानों एक २ गठरी का बोझ पड़ता जाता था। भोजन के पीछे फिर परिवार के गाने की बैठक हुई। आधीरात के लगभग शर्म्मा जी ने शयनागार की ओर पदार्पण किया। यहां की कथा क्या सुनाएं? पाठकगण स्वानुभव से क्या नहीं जानते? वही मधुर हंसी थी, वही कुटिल कटाक्ष थे। प्रेमोन्मत्त हो अधर रस का पान करने के लिए शर्म्मा जी ने हाथ बढाया तो पत्नी काटक्ष करके बोली 'रहने दो, इसमें भी तो पुनरुक्ति होगी।" अब तो चौपटानन्द की रही सही कमर भी टूट रही। बोले—"भाड़ में जाय मम्मट और उसका पुनरुक्त दोष।" बस, आगे की राम जाने। हां इतना अवश्य स्मरण है कि अगले दिन वह काव्यप्रकाश की पोथी उठाकर पण्डित जी की पाठशाला में ठीक छात्र मण्डली के बीच में पटक कर बिना कुछ उत्तर दिये और बिना कुछ प्रश्नों की प्रतीक्षा किये एकदम घर भाग आए थे। यह मर्म की कथा एक दिन उन्होंने मन्दिर की आरती से लौटते हुए मुझे सुनाई थी सो मैंने भी 'आर्य' के पाठकों को वञ्चित रखना उचित न समझा।

—फुंकटमिश्र

———

वेद में सूर्य्य का गर्भाधान।

[ले० श्री० परमानन्द बी० ए० गुरुकुल मुलतान]

वेदानुयाइयों और वेदविरोधियों को वेद में वह स्थल बहुत अखरते हैं जहां प्रजापति और द्यु का अपनी दुहिता में गर्भाधान लिखा है। साधारण विचार से यह अलङ्कार और यह वर्णन बड़े अश्लील जान पड़ते हैं। संसार का कोई धर्म्म अथवा मत ऐसे घिनौने कर्म्म की आज्ञा नहीं देता। संस्कृतज्ञ पुरुष की बुद्धि विद्रोह कर बैठती है और आत्मा उपरत हो जाती है। आज हम वेद के दो ऐसे मंत्रों का विचार करेंगे जिन में यह अलंकार और यह कथा वर्णन की गई है।

द्यौर्मेपिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥
ऋ० १। १६४। ३३॥

इस मंत्र पर निरुक्त का निम्न भाष्य है:—

"द्यौर्मेपिता पाता वा पालयिता वा जनयिता, नाभिरत्र, बन्धुर्मेमाता पृथिवी महतीयम्, बन्धुः संबन्धनात्। नाभिः सन्नहनात्, नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुः·········उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तः उत्तताने ऊर्ध्वतानो वा,तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्ज्जन्यः पृथिव्याः।"

ईश्वर भक्त कहता है:—सूर्य्य (का प्रकाश) मेरा रक्षक वा पालक वा उत्पादक होने के कारण मेरा पिता है, यहां (मेरी) नाभि (गर्भावस्था में माता की नाभि से जुड़ी हुई) है। मेरी माता (जिस के साथ मेरा यह नाभि सम्बन्ध है) यह विशाल पृथिवी है, उसी (पृथिवी) में पिता पर्ज्जन्य दुहिता पृथिवी का गर्भधारण करता है।

अब दुहिता शब्द के अर्थ जो निरुक्तकार ने अन्यत्र किये हैं वह निम्न लिखित हैं:—

दुहिता दुर्हिता दूरेहिता दोग्धेर्वा॥

निरुक्त की यौगिक प्रधान शैली के अनुसार सब दुःख में पड़े हुए पदार्थ दुहिता कहलाएंगे।

ii सब दूर भेजी हुई वस्तुएं और मनुष्य भी यही नाम पायेंगे
iii जो २ दूसरों को दोहने वाले होंगे उन्हें भी दुहिता कहा जायगा॥

टिप्पणी:—इन वस्तुओं और मनुष्यों के वाचक शब्द सब स्त्रीलिंग में होंगे। महर्षि दयानन्द (ii) को तनिक और खोलते हैं कि जिसका दूर ही भेजना (या रहना) हितकारी हो वह दुहिता है।

वर्षा ऋतु में वर्षा के अभाव में झुलसी हुई सारी पृथिवी दुःख में पड़ जाती है और पर्जन्य की सहायता के विना अपना उर्वरापन खो बैठती है, इस लिये पृथिवी 'दुर्हिता' है।

पृथिवी सूर्य्य से 'दूर रक्खी या रही हुई' भी है, यह उस का 'दूरेहिता' वाला भाव है। तीसरा अर्थ कुमार सम्भव के इस श्लोकांश से प्रकट होता है।

'भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्'

सारे पर्वतों ने पर्वतराज हिमालय को बछड़ा और मरु को दोग्धा बनाकर राजा पृथु के उपदेशानुसार पृथिवी से चमकते रत्न और महौषधियां दोहलीं।

यह तीनों ही अर्थ कन्या पर भी चरितार्थ होते हैं। कन्या दुर्हिता होती है क्योंकि जिस समय से वह होश संभालती है पहले उसे मासिक धर्म्म का कष्ट रहता है फिर प्रसव-वेदनाएं उसे समय २ पर आ घेरती हैं। कन्या का जन्म भी पुत्र की अपेक्षा अधिक कष्ट से होता है (कदाचित् यह भी एक कारण है कि उस की जाति पूज्य गिनी गई है और पिता, श्वशुर, देवर और पति को आज्ञा है कि उसे भूषण और आच्छादनादि से सदा प्रसन्न रक्खें।

कन्या दूरेहिता है। इस का दूर व्याहना ही हितकारी होता है। (इस विषय में मुलतान कमिश्नरी के आर्य्य लोग विशेष कर के, और पञ्जाब के लोग सामान्यतः—जो ग्राम का ग्राम में ही विवाह कर लेते और परस्पर-परिवर्तनादि द्वारा एक दूसरे के सम्बन्धी बन जाते हैं—सत्यार्थप्रकाश के ४र्थ समुल्लास का दूसरा पृष्ठ सम्पूर्ण पढ डालें)।

कन्या दोग्ध्री होती है। गोपालन उसी का विशेष कर्त्तव्य है। (२) पितृकुल को भी समय २ पर विवाह के पश्चात् दोहती रहती है। महर्षि दयानन्द की उपर्युक्त स्थापना में सातवीं युक्ति ही यह है कि 'कन्या के पितृकुल में दारिद्रय होने का भी सम्भव है क्योंकि जब २ कन्या पितृकुल में आवेगी तब २ इस को कुछ न कुछ देना ही होगा'।

दुहितृ शब्द के उपर्युक्त सब अर्थों को दृष्टि में रखते हुए हमें महर्षि कास्य

के अनुसार पृथिवी को ही दुहिता मानना है। पिता द्युस्थानी सूर्य्य है ही, इन दोनों में जो सम्बन्ध हुआ वह स्पष्ट है, और वेद ने पहले मंत्रार्ध में ही यह पति-पत्नी सम्बन्ध स्पष्ट कर दिया जब भक्त के मुख में यह शब्द डाल दिये कि सूर्य्य मेरा पिता और पृथिवी मेरी माता है। पृथिवी दुहिता कैसे है यह ऊपर दिखाया जा चुका है।

महर्षि दयानन्द इस मन्त्र का निम्न अर्थ करते हैं:—

"प्रकाशो मम पिता पालयितास्ति सर्वव्यवहाराणामुत्पादकः। अत्र द्वयोः सम्बन्धत्वात्। तत्रेयं पृथिवी माता मानकर्त्री द्वयोश्चम्वोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोरुर्ध्वतानयोरुत्तानस्थितयोः अलङ्कारः। अत्र पिता पर्जन्यो दुहितुः पृथिव्या गर्भं जलसमूहमाधात्। आ समन्ताद्धारयतीति रूपकालङ्कारो मन्तव्यः।"

स्वामी का भावार्थ इस से भी अधिक सुन्दर है अतः वह भी यहां दिया जाता है:—द्यौ जो सूर्य्य का प्रकाश है सो सब का हेतु होने से मेरे पिता के समान और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी माता के तुल्य है। जैसे ऊपर नीचे वस्त्र की दो चांदनी तान देते हैं अथवा आमने सामने दो सेना होती हैं इसी प्रकार सूर्य्य और पृथिवी अर्थात् ऊपर की चांदनी के अनुसार सूर्य्य और नीचे के नि-(बि ?) छौने के समान पृथिवी है तथा जैसे दो सेना आमने सामने खड़ी हों इसी प्रकार सब लोगों का परस्पर सम्बन्ध है इस में योनि अर्थात् गर्भस्थापन का स्थान पृथिवी और गर्भाधान करने वाला पति के समान मेघ है। वह अपने बिन्दुरूप वीर्य्य के स्थापन से उसको गर्भधारण कराने से ओषध्यादि अनेक सन्तान उत्पन्न करता है कि जिन से सब जगत् का पालन होता है।

इस भाष्य में (१) यास्क की पद्धति को यास्क से भी आगे चलाया गया है। 'माता' शब्द की निरुक्ति भी कर डाली गई और संस्कृत में उसका अर्थ 'मानकर्त्री' और भाषा में "मान्य का हेतु" कर दिया गया है। यहां 'उत्तानयोश्चम्वोरंतः' में लुप्तोपमा स्वीकार की गई है। और 'जैसे' इत्यादि से अर्थ किया गया है। इन दो विशेषताओं के कारण अर्थ कितना सुन्दर बन गया है इसका पाठक स्वयं अनुभव कर सक्ते हैं। (३) माता शब्द का अर्थ यदि निर् उपसर्ग पूर्व लगा कर निर्म्माण कर्त्री मान लिया जाय तो यह अधिक युक्त संगत हो जायगा।

एक और अवान्तर बात निरुक्त के इस मंत्र पर के भाष्य से सरल हो जाती है और वह यह है कि यदि 'दुहिता' शब्द का निरुक्तकार इस मंत्र में 'माता' शब्द के साथ समन्वय कर सकते हैं तो उन्हें यम-यमी सूक्त में भी प्रकरणानुसार 'भ्राता' शब्द का (भर्त्ता) पति अर्थ लेने में कोई लम्बी आपत्ति नहीं हो सकती और भ्राता और भर्त्ता में तो सौभाग्य से धातु भी एक ही है। महर्षि दयानन्द इस दुहितृ गर्भाधान प्रकरण में ऐतरेय ब्राह्मण का भी प्रमाण देते हैं जो निम्न प्रकार है:—

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्, तस्य यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्यो भवत्। ऐ० ३। ३३। ४५।

इस पर उनका निम्न भाष्य है:—

सविता सूर्य्यः सूर्य्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोस्ति तस्य दुहिता कन्यावद्यौरुषा चास्ति। ......स......तां रोहितां किंचिद्रक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैर्ऋष्यवच्छीघ्रमभ्यध्यात् प्राप्नोति। एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजनदुत्पादयति, अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत्सूर्य्यश्च।

......प्रजापति कहते हैं सूर्य्य को जिसकी दो कन्या एक प्रकाश और दूसरी उषा......उन में से उषा के सन्मुख जो प्रथम सूर्य्य की किरण जा के पड़ती है वही वीर्य्य स्थापन के समान है उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि ऐसा अश्लील अलंकार वेद में रक्खा ही क्यों गया? इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि वेद के अलंकार, उपमाएं तथा शब्दार्थ संबन्ध लोक से प्रायः बहुत भिन्न हैं, और इसी भिन्नता को न समझने के कारण यह प्रश्न उठते हैं और यह अलंकार अश्लील प्रतीत होते हैं। उदाहरणतया वेद में एक हीनोपमा है जिसका लोक में कोई दृष्टान्त नहीं दुहितृ शब्द का माता अर्थ तो निरुक्तकार को सम्मत है ही, इसी प्रकार भिन्न शब्दार्थ संबन्ध के सैंकड़ों और भी दृष्टान्त दिये जा सक्ते हैं। अब अलंकारों को सुनिये। वेद में एक अलंकार है जिसका नाम असंभवालंकार है। वही असंभवालंकार यहां घटित होता है। साधारणतया गर्भाधान समीपस्थ प्राणियों में होता है परन्तु यहां

सूर्य्य और पृथिवी परस्पर बहुत दूर २ स्थित हैं। और दुहिता शब्द का निर्वचन 'दूरेहिता' किया ही गया है। तथापि उसका गर्भाधान वर्णन कर दिया गया है। यह असंभवालंकार का एक उदाहरण है। एक वेद-विद्वान् से जब सम्मति ली गई तो उन्हों ने यह भी लिखा कि वेद के शब्द जान बूझ कर भ्रामक रक्खे गये हैं।

हीनोपमा का एक उदाहरणः—

"कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्य्यं न योषा कृणुते सधस्थआ" । ऋ० १०।४०.२।

यहां अपने राज्य में आए परदेशी स्त्री पुरुषों को राजकर्म्मचारी-विशेष इस प्रकार के प्रश्न पूछते हैं कि 'तुमने कहां रात बिताई, दिन को कहां रहे। कहां साधन-सामग्री प्राप्त की, कहां के रहने वाले हो।' यहां तक तो साधारण भाषा है। आगे २ उपमाएं आरंभ होती हैं। जैसे कोई विधवा अपने द्वितीय (नियुक्त) पति, अथवा युवती कन्या अपने पति के साथ समान शय्या में एकत्र होती है इस प्रकार तुम्हारा इस नगर में किस से घनिष्ट संबन्ध है।'

इस से भी अधिक स्पष्ट हीनोपमा का उदाहरण १०।११।६ में है जहां गृहस्थ में आए हुए पुरुष को संबोधन करके कहा गया है कि जैसे व्यभिचारी पुरुष सदा भग को ही उठाता रहता है वैसे ही तू अपनी भक्ति पूर्ण सेवा से माता पिता को सदा उठाए रख (उनको सुख पहुंचा)।

वास्तव में न हीनोपमा बुरी है, न ऐसे अलंकार अथवा शब्द स्वतः बुरे हैं। वेद ने थोड़े से आकार में संसार भर का ज्ञान देना है जिस में बुरी बातों का सांकेतिक निराकरण पूर्वक शुभोपदेश कभी हानिकारक नहीं हो सक्ता। ब्रह्मचर्य्य का लाभ बताते हुए यति माता पिता बालक को उसकी मूत्रेन्द्रिय के संबन्ध में बुरे अभ्यासों का स्मरण करा कर यदि उसका सदुपयोग बता दिया करें तो यह उनका उस पर महान् उपकार है और माता को तो ऐसा अवश्य करना ही चाहिये। इसी प्रकार यदि विवाह के समय कन्या को आपद्धर्म्म नियोग का कुछ ज्ञान करा दिया जाता है तो इस में भी कुछ बुराई नहीं। कौन कह सक्ता है कि किस पर कब विपत्ति पड़ जाय और आपद्धर्म्म का हर समय ज्ञान न होने के कारण वह अपनी सदाचार-मर्य्यादा कब खो बैठे ? आज कल भी संसार में बीमा कम्पनियां, राष्ट्रों के दुर्ग, छावनियां आदि, विवाह के समय

में भी राजपूतों की शस्त्र-सज्जित छातियां इसी बात का परिचय देती हैं। जब वेद ने समुद्र को घट में बन्द करना है तो उसे भाषा और भाव की अधिक स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिये। भाषा की स्वतंत्रता तो प्रायः यौगिक शैली का अनुसरण करने से ही प्राप्त हो सकती थी जिसका आश्रय लेने से एक एक भाव के वाचक अनेक शब्द और अनेक भावों के वाचक एक एक शब्द प्रयोग में आ सकते हैं। श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यालंकार के शब्दों में इस शैली के अनुसार विशेषणों से विशेष्य तक हम पहुंच जाते हैं। यदि विशेष्य को निश्चत करके विशेषणों की ओर चलना हो तो अर्थ-संकोच का संकट सामने ही रहता है।

भाषा की नांई भाव-प्रतिपादन के अन्य उपायों में भी वेद औदार्य्य की अपेक्षा रखता है। यदि संसार में उच्च उपमाएं काम दे जाती हैं तो उपमा की स्थिति में हीनोपमाओं से क्यों न काम लिया जाय, जिस से बुरी बातों को बुरे ही शब्दों में वर्णन करके उनका खण्डन भी साथ साथ होता चला जाय।

श्री पं० विश्वनाथ जी के उपर्युक्त संकेत को सामने रख रख कर ही मैंने दुहिता शब्द के तीनों निर्वचनों को पृथिवी पक्ष और कन्या पक्ष में घटाने का यत्न किया है।

लेख बहुत लम्बा होगया है अतः दूसरे मंत्र की व्याख्या को किसी और समय पर छोड़ता हुआ आशा करता हूं कि पाठक वेद में अश्लीलता के दोष की असलियत समझ कर उसे अपने दिल से दूर कर देंगे।

प्रकृत मन्त्र के शेष भाग में जो कविता और भक्ति की ऊंची छलांग लगाई गई है उसकी महिमा तो पाठक समझ ही जायंगे।

मृतक श्राद्ध और अकृताभ्यागम दोष।

[ले० श्री० विश्वनाथ आर्योपदेशक]

करे कोई भरे कोई।

गरुड़ पुराणादि के देखने से ज्ञात होता है कि मृतक श्राद्ध का उद्देश्य मृत प्राणी को पुत्रादि की ओर से एक प्रकार की सहायता देना है। पुत्रादि के इस कार्य का फल पितादि को मिलता है जिससे उनकी सद्गति हो जाती है। पुराणों में ऐसी कथाएं भी आती हैं जिनका तात्पर्य यह बतलाया गया है कि

चाहे कोई कितना भी दान पुण्य जप तपादि करे जब तक पुत्र न हो और उस की तरफ़ से श्राद्धादि कर्म न कराया जावे, सद्गति नहीं होती। एवं श्राद्ध में दान दिये हुए पदार्थों का मृत को जो कुछ फल मिलता है, सब का उल्लेख किया गया है। अतएव मृतक श्राद्ध के अवैदिक होने का यह भी एक प्रमाण है कि इस पर शास्त्र लिखित अकृताभ्यागम दोष उपपन्न होता है।

यद्यपि वक्ष्यमाण प्रमाणों से सिद्ध है कि शास्त्र दृष्टि से भी मृतकश्राद्ध पर उपर्युक्त दोष उपस्थित होता है परन्तु प्रथम उन तर्कों की परीक्षा आवश्यक है जो पौराणिकों की ओर से इस विषय मे उपस्थित किये जाते हैं।

पहिला तर्क।

एक पुरुष ऋण लेकर मर गया। उसका पुत्र भी यदि ऋण न चुकावे तो पिता को परलोक में दण्ड का भागी बनना पड़ेगा। यदि पुत्र ऋण चुकादे तो पिता को इस दण्ड से मुक्त हो जाना चाहिये अन्यथा दण्ड का मिलना अन्यथासिद्ध होगा। इससे सिद्ध होगया कि पुत्र के कर्म का प्रभाव पिता पर परलोक में अवश्य पड़ता है। क्योंकि पिता को दण्ड मिलना पुत्र के ऋण चुकाने न चुकाने पर अवलम्बित है।

समीक्षा।

जो पुरुष ऋण उठाकर मर जाता है। उसका पुत्र ऋण चुकावे वा न चुकावे ऋण न चुकाने में जो उस पुरुष का भाव था उसके अनुकूल उसको दण्ड मिलेगा। पिता के ऋण का चुकाना पुत्र का धर्म है। यदि वह ऐसा करता है तो अपने कर्तव्य का पालन करता है नहीं चुकाता तो दण्डनीय होगा। अतएव अन्यथासिद्धि की यहां कोई बात नहीं और इस प्रकार पुत्र के कर्मों का मृत पिता पर परलोक में कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

दूसरा तर्क।

तुम्हारे अनुपस्थित माता पिता को कोई कठोर वचन कहे तो बुरा कर्म मनाते हो। इससे सिद्ध है कि उनको गाली पहुंच जाती है।

समीक्षा

यदि ऐसा होता, तो अनुपस्थित जीवित माता पिता को इन कठोर वचनों का अनुभव अवश्य हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं होता अतएव ऐसा कहना केवल

प्रमाद है । हां यह कहना चाहिये कि कटु वचनों का कहना सुनने वाले के हृदय पर बुरा प्रभाव उत्पन्न करता है अतएव वह बुरा मनाता है ।

तीसरा तर्क ।

क्यों जी ! गाली देवदत्त ने निकाली क्षोभ यज्ञदत्त के हृदय में उत्पन्न हुआ । दण्ड राम ने मारा कष्ट गोपाल को हुआ । एक के कर्म का फल दूसरे को मिलता है वा नहीं ?

समीक्षा ।

ऐसा समझना कर्म-फल के स्वरूप से अनभिज्ञता प्रकट करना है । यदि ऐसा होता तो थप्पड़ मारने वाले अथवा गाली देने वाले पर अभियोग चलकर दण्ड न मिलता । क्योंकि कर्म का फल होगया शेष क्या रहा ? अब कान खोल कर कर्म फल के स्वरूप को सुनो । देवदत्त कर्त्ता के कर्म कटु वचन का परिणाम यज्ञदत्त के हृदय का क्षुभित होना है । इस प्रकार यहां तक कर्म संज्ञा ही होगी । यथा देवदत्त ने यज्ञदत्त को गाली देकर उसका हृदय क्षुभित किया इत्यादि । अब इस कर्म का फल राजदंडादि देवदत्त ही को मिलेगा किसी अन्य को नहीं । और यदि दुर्जन-तोष न्याय से आपकी बात को ही मानलें तो भी मृतक श्राद्ध में पुत्र के कर्म का फल पिता को नहीं मिल सकता । क्योंकि आपके सिद्धान्तानुसार पुत्र के भोजनादि का फल ब्राह्मणों का पेट भरणादि मिल गया अब पितरों के लिये क्या रह गया ?

चौथा तर्क ।

जब किसी का पितादि किसी अभियोग में ग्रस्त हो जाता है, तो पुत्रादि उसके छुड़ाने का हर प्रकार का यत्न करते हैं और यह उचित ही समझा जाता है । इससे परलोक में भी मृतक श्राद्ध द्वारा पितरों की सहायता अनुचित नहीं ।

समीक्षा ।

संसार में किसी अभियुक्त की उसके सम्बन्धियों की ओर से जो सहायता की जाती है वह केवल उसके निर्दोष सिद्ध करने के लिये होती है । और अल्पज्ञ न्यायाधीष को साक्षी वकील आदि की आवश्यकता भी होती है, परन्तु जब वह अपराधी सिद्ध होजावे तो उसको दण्ड अवश्य मिलता है । इस विषय

में उसकी सहायता नहीं की जासकती । परलोक में सर्वज्ञ परमात्मा को अपराधी का स्वयं ज्ञान होता है, इस विषय में कोई सहायता वृथा है । और अपराधी सिद्ध हो जाने पर जब संसार में सहायता नहीं होसकती तो परलोक में कैसे होसकेगी ?

प्रमाण भाग

वेद

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छत ँ समः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यजुर्वेद ४०—२

अर्थ—मनुष्य कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे । इस के अतिरिक्त नहीं । इस प्रकार तुझ पुरुष में कर्म लेप नहीं करता है । इस मन्त्र के "नान्यथेतोऽस्ति" पद से स्पष्ट कर दिया कि अपने कर्म करने के अतिरिक्त किसी दूसरे पर भरोसा नहीं करना चाहिये ।

मनुस्मृति

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदार न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥

मनु० ४—२३९

अर्थ—परलोक में सहायता के लिये माता, पिता, पुत्र, स्त्री, सम्बन्धी कोई नहीं सहायता कर सकता । केवल धर्म ही काम आता है ।

मेधातिथि का साक्ष्य

यावतो ग्रसते पिंडान् हव्य कव्येष्वमन्त्रवित् ।
तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तान् शूलान् त्वयोगुडान् ॥

मनु ३—१३३

अर्थ—देव तथा पितृ कर्म में अपठित ब्राह्मण जितने ग्रास खाता है मरने के पीछे उतने ही प्रदीप्त लोहे के गोलों को खाता है । इस श्लोक के भाष्य में इस बात का निश्चय करते हुए कि यह फल किस को मिलता है मेधातिथि लिखते हैं ।

व्यास दर्शनात्तु भोजयितुरयं दोषः । न भोक्तुर्न पितॄणाम् । न ताव-न्मृतानामन्यकृतेन प्रतिषेधाति क्रमेणदोष सम्बन्धोऽयुक्तः । अकृताभ्यागमा-

दिदोषापत्तेः। यदि हि पुत्रेण तादृशो ब्राह्मणो भोजितः कोऽपराधोमृतानाम्? न तु चोपकारोपि पुत्रकृतः पितॄणामनेन न्यायेन न प्राप्नोति। न प्राप्नुयाद्यदि तादर्थ्येन श्राद्धादि नोदितं स्यात्। इह तु नास्ति चोदना॥

अर्थ—व्यास जी के कथनानुसार भोजन कराने वाले को ही यह दोष लगता है न कि भोजन करने वाले ब्राह्मण को। पितरों को दूसरे के किये कर्म फल का निषेध होने से दोष नहीं लगता। क्योंकि इस से अकृताभ्यागम दोष आयेगा। यदि कहा जावे कि भोजन कराने वाले पुत्र का दोष मृत पितादि को क्यों लगे तो पुत्र का उपकार भी न लगना चाहिये। तो इस का उत्तर यह है कि श्राद्ध यदि मृत पितरों के अर्थ किया जावे तो नहीं लगता परन्तु यह विधि नहीं (अर्थात् श्राद्ध मृतपितरों के लिये नहीं किया जाता)।

महाभारत

महाभारत में व्यास जी ने इस को सर्वथा स्पष्ट कर दिया है कि एक के कर्म का फल दूसरे को कदापि नहीं मिल सकता।

अन्योहि नाश्नाति कृतं हि कर्म मनुष्यलोके मनुजस्य कश्चित्।
यत्तेन किञ्चिद्धि कृतं हि कर्म तदश्नुते नास्ति कृतस्यनाशः॥

वन पर्व अध्याय २०९—२७

अर्थ—इस संसार में मनुष्य जो कर्म करता है उस का फल कोई दूसरा नहीं भोगता। जो इस ने कर्म किया है उसी को भोगता है। और किए हुए कर्म का नाश नहीं होता।

इन सब प्रमाणों से अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया गया है कि मृतक श्राद्ध अकृताभ्यागम दोष से युक्त होने से शास्त्र विरुद्ध तथा तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतर सकता है। अतएव वेद शास्त्र सम्मत जीवित माता पितादि वृद्धों की सेवा रूप नित्य श्राद्ध ही समीचीन और उत्तम फलदायक कर्तव्य कर्म है॥

दयानन्द और नानक ।

(ले०—श्री० स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज)

सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास में मतमतांतरों का खंडन करते समय ऋषि दयानन्द ने गुरु नानक जी के विषय में पृष्ठ ३७८ पर लिखा है :—

"उनके ग्रन्थ में जहां तहां वेदों की निन्दा और स्तुति भी है" इस लेख में मैं केवल इसी बात को दिखाना चाहता हूं कि किस भांति गुरु जी ने स्तुति का है और जो निन्दा है उसका क्या भाव है ।

ग्रन्थ में अनेक महानुभावों के पद्य हैं परन्तु मैं इस लेख में गुरु नानक जी के ही वाक्य लिखूंगा ।

(१) वेदस्तुति—ओंकार वेद निरमये । रामकली ओंकार १

(२) वेदोत्पत्ति ईश्वर—चउथ उपाए चारे वेदा। विलावल थिति घर १० जति

(३) वेद पढ़ो—गुरुमुख परचे वेद वीचारी । सिद्ध गोष्ट २८

(४) वेद न पढ़ने से हानि—वाचे बाद न वेद वीचारे ।
आप डुबे क्यों पितरां तारे ॥ रामकली अष्ट पदीयां ॥ ४ । ४ ।

(५) वेद में भक्ति—रैण अंधारी निरमल जोत । नाम विना झूठे कुचल कछोंत ॥ वेद पुकारे भक्ति सरोत । सुणर माने वेखे जोत ॥ विलावल अष्टपदीयां घर १०

(६) वेद न मानने वाले—शासत (शास्त्र) वेद न माने कोई ।
आपो आपे पूजा होई ॥ काजी होय के वहे नियोप । फेरे तसवी करे खुदाय ॥ वढी लैके हक गवाय जे को पुछे तांपढ़ सुणाए । तुरक मंत्र कन रिदे समाहि । लोक मुहावहि चाड़ा खाहि ॥ रामकलीवार ११

(७) वेद नित्य—केते कहहि वखान कह २ जावणा ।
वेद कहहि वखियान अंत न पावणा ॥ वार माझ २१ ॥

(८) वेदपाठी को सत्य बोलना चाहिंये—वेदां गढ बोले सच कोई । मुइया गढ नेकी सत होई ॥ वार माझ १२

गुरु जी ने जहां जहां वेद की निन्दा की है वहां वहां यही भाव प्रतीत होता है कि जो वेद को पढ़ंते हैं और आचारवान् नहीं बनते हैं उन्हें वेद कुछ फल नहीं देता । इस विषय में वेद स्वयं सहमत है । "यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति" इस में भी मैं केवल गुरु नानक जी के वाक्य उद्धृत करूंगा ।

(१) केते पंडित जोतकी वेदाँ करहि वीचार। वाद विरोध सलाहणे वादे आवण जाण। विन गुर कर्न न छुटसी कह सुण आख वखाण॥ सिरी राग ५।

जो पढ़ कर वाद विवाद में मस्त है इसमें उन्हीं की निंदा है।

(२) वेद पढ़हि हर रस नहीं आया। वाद वखाणाह मोहे माया॥

(३) पढ़ २ पोथी स्मृति पाठा। वेद पुराण पढे सुण थाटा।
बिन रस राते मन बहु नाटा॥ गउडी अष्ट पदीया।

(४) पंडित पडत वखाणहि वेद। अंतर वस्त न जाणहि भेद।
गुर बिन सोझी बूझ न होइ। साचा रव राहिया प्रभ सोइ। आसा चौपदे।

(५) नाभि कमलते ब्रह्मा उपजे वेद पनाह मुख कंठ सवार।
ताको अंत न जाई लखणा आवत जात रहे गंवार॥

गुजरी चौपदे घर १।

इन शब्दों का भाव साफ़ है। ब्रह्मा वेद पढ़ता है ईश्वर को नहीं समझता। उसका वेद पाठ भार रूप है। जैसा कि निरुक्त में भी लिखा है:—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूत पाप्मा॥

उसी भाव से गुरु नानक जी ने लिखा है। यही निर्णीत है।

——:०:——

पाणि-ग्रहण।

(१)

'छोटा मुंह बड़ी बात'—हरिश्चन्द्र ने पत्र पढ़ते हुए कहा। हरिश्चन्द्र की धर्म पत्नी वहां बैठी थीं। पति के शब्द सुने तो कौतूहल से सिर ऊपर कर लिया। हरिश्चन्द्र ने पत्र पत्नी के हाथ में देदिया।—'ब्राह्मण का लड़का, जिसकी सात पीढ़ियां भीख मांगती रहीं, हम सूद खत्रियों की लड़की चाहता है। न धन है, न रूप है, न कुल है। न जाने गुणकर्मस्वभाव को लोगों ने क्या समझा है?'

पत्नी ने इतने में पत्र पढ़ लिया था। बोलीं:—यह सब तो उसने अपने पत्र में स्वीकार किया है। वह अपना धन केवल प्रेम को बताता है। यदि मानिनी का इस दाय में हिस्सा हो तब?

इतने में मानिनी कमरे में आगई। माता ने उसे देखते ही कहा:—'बेटी!

यह पत्र लेलेना ।' उसी लिफाफ़े में एक और लिफाफ़ा था, वह बिना खोले मानिनी के हाथ में दे दिया गया ।

मानिनी द्वार से निकली और दूसरे कमरे में जा बैठी । पत्र खोला और उस पर घण्टों विचार करती रही । अब वह पत्र न्यायालय में पेश किया जा चुका है, इसलिये गुप्त रखने की कोई बात नहीं रही । उस में लिखा था:—

देवि ! आर्य्य-समाज के उत्सव में आप के कलकण्ठ से प्रभुभक्ति के भजन सुने पश्चात् आप को हृदय-सिंहासन से उतार नहीं सका हूं । उत्सव हुए तीन मास हो गए परन्तु आप सितार लिये अभी वहां विराज मान हो । मेरा हरि-भक्ति का तार टूटा नहीं । आप को परमात्मा के और अपने बीच में की अपावृत दिव्यद्वारिका पाता हूं । अगण्य गुणावलीके ज्ञान ने संकल्प और भी पक्का कर दिया है । धन-हीन हूं, रूप-हीन हूं, कुल-हीन हूं, परन्तु प्रेम हीन नहीं । यदि श्री पूज्य पिता जी आप को और मुझे पुत्र पुत्री समझ सकें तो यह तार अटूट हो जाए । विवाह धर्म की ऋद्धि के लिए होता है । मुझे आप से सम्बन्ध होने में योग की सिद्धि प्रतीत होती है ।

पिपासु-सागर ।

(२)

सागर ने अपने पत्र में अपना हुलिया ठीक दिया था । केवल दो विशेषण उसने लिखे नहीं, स्यात् इसलिए कि वह विख्यात थे या वह अपने मुंह मियां-मिट्ठू बनना नही चाहता था ! प्रेमधन के साथ २ उस के पास विद्या-धन था और उससे बढ़कर चरित्र-धन ।

मानिनी सागर को जानती थी । स्त्रीसुलभ लज्जा से वह कह न सकी थी कि उसके छोटे से हृदय में अथाह सागर हिलोड़े लेता था । पत्र ने सागर को छोटे २ कणों में परिवर्तित किया । उसे मानिनी के नेत्रों में स्थान मिला । विकल नेत्रों को सब ओर सागर ही सागर प्रतीत होने लगा । अब यदि सती मानिनी को अपने कमरे में घण्टो बीत गए हों तो दोष किसका ? सागर को पार करे तो बाहर आए ।

महीनों बीत गए । सागर को मानिनी के, मानिनी को सागर के दर्शन न हुए । हरिश्चन्द्र जात पात के पक्के हैं, वह अपनी लड़की एक निर्धन ब्राह्मण को नहीं देसक्ते । मानिनी ने सङ्केतों से इङ्गित किया है कि उसका

धर्म-धन सागर है। माता कभी २ उसका पक्ष लेती है परन्तु पिता की कठोरता के आगे किसी की नहीं चलती।

लो! मानिनी का वाग्दान हो गया। धनेश कुबेर अभी नए २ इंजिनीयर हुए हैं। १०.० शिलिङ्ग वेतन पातेहैं। मान है, प्रतिष्ठा है, रहन सहन यूरोपियन है, और विश्वास आर्य-समाजी है। इस सम्बन्ध पर कौन उंगलि उठासक्ता है। जात के भी सूद हैं।

मानिनी ने यह समाचार सुना और चुप रही। हरिश्चन्द्र समझे, मान गई। उन्होंने प्रीति-भोजन किया। योग्य वर पाने की प्रसन्नता क्या होती है, कोई कन्या का पिता ही बता सक्ता है।

(३)

जङ्गल को पार कर के हरे २ खेतों के बीचों बीच एक छोटा सा सुन्दर बङ्गला है। वहां विद्याव्यसनी सागर का निवास है। आज सायंकाल हरिश्चन्द्र मोटर में सवार पुलीस के सिपाही साथ लिये उस बङ्गले की ओर जारहे हैं। मोटर कुछ फासले पर छोड़ दी। चुपके से आहिस्ते २ पांव रखते द्वार पर पहुंचे। वहां सिपाही भी रुक गए। हरिश्चन्द्र ने अकेले प्रवेश किया। देखा मानिनी और सागर कुण्ड में आग जलाए विवाह पद्धति का पाठ कर रहे हैं। दोनों पलड़े बँधे हुए अञ्जलि में अञ्जलि लिए ईशान कोण की ओर पग उठाने लगे हैं। सागर ने कहा है—मा सव्येन दक्षिणमतिक्राम।

हरिश्चन्द्र—अभी सप्तपदी नहीं हुई। (ऊंचे स्वर से) आजाओ।

खट खट करते सिपाही अंदर आगए। सागर को हथकड़ी पहना दी। मानिनी को भी साथ लिया। दोनों को मोटर में सवार किया गया। हरिश्चन्द्र भी पास बैठे। सागर ने उन के पांव छूना चाहे परन्तु हा! दुष्ट! हत्यारा! बाला-चोर! कह कर तिरस्कार कर दिया गया।

थाने पहुंचते ही मानिनी की ज़मानत देकर हरिश्चन्द्र घर की ओर चले। सागर को कड़ी हवालात में डाल दिया गया। मानिनी ने जाते २ उसे नमस्कार किया और कहाः—शेष संस्कार परलोक में।

सागर मुस्करा दिया।

(४)

महीनों अभियोग चला। वकीलों में विवाद हुआ। न्यायाधीश ने निर्णय किया कि सागर और मानिनी दोनों पक्की आयु के थे। इस लिए बालापहरण

का दोष सागर पर नहीं आता। सप्तपदी न होने के कारण विवाह भी वैध नहीं। दोनों कुमार कुमारी हैं। इन का विवाह फिर हो सक्ता है।

सागर हवालात से मुक्त हुआ। उस की हथकड़ी उतार दी गई। क्या जाने किन विचारों में मटक २ कर घर जा रहा था। रास्ते में एक अट्टालिका की ओर दृष्टि उठाई तो मानिनी को झुक कर नमस्ते करते पाया। मानिनी लुप्त हो गई। यह कभी हँसता कभी म्लान मुख होता घर पहुंचा। वहां किसी ने एक गुप्त पत्र इस के हाथ में दिया और स्वयं गुम हो गया।

पत्र मानिनी का था। वह न्यायालय में आचुका है अतः प्रकट करने में हानि नहीं। लिखा था :—

प्राणनाथ ! तुम तो छूट गए और मैं बँध गई। आज कुबेर महाराज का विवाह संस्कार है। किस से ? कहते हैं, मानिनी तो आप की है। सप्तपदी नहीं हुई तो क्या ? यहां कई सप्तपदियां हो लीं। स्वांग आज रचाया जायगा। इस झूठ मूठ के विवाह में मैं तो मूक ही रहूंगी। पुरोहित लोग मंत्र पढ़ेंगे, वही प्रतिज्ञाएं पूरी करें। उच्छिष्ट भोजन के समय आप का सत्कार करना चाहती हूं। जो मुझे वहां खाना है, वही आप को इसी पत्र के साथ भेज रही हूं। यदि आप मुझ से पूर्व अंगीकार कर लें तो वह मेरे लिए उच्छिष्ट हो जाएगा। फिर हम प्राणमणि से बंधे हुए हृदय से हृदय मिलाए परलोक में होंगे। संस्कार अधूरा रह गया था, वहां पूरा करेंगे। वहां न हथकड़ी होगी, न जात पात का झूटा झंझट। कुबेर हमें अलग न कर सकेगा। हृदयों की साक्षि से हृदयों का विवाह होगा। फिर कौन कहेगा कि यह विवाह वैध नहीं।

लो ! प्राणपते ! नमस्ते ! अपनी वैध पत्नी का वैध भोजन स्वीकार कीजिये और शीघ्र परलोक में पाणिग्रहण को आइये। रात के नौ बजे ! देखना ! अकेला न छोड़ना।

सागर की मछली,
मानिनी।

(५)

हरिश्चन्द्र के घर धूम धाम थी, कुबेर के घर धूम धाम थी। अतिथियों में भारतीय यूरोपियन, नीग्रो सब थे। एक बड़े पण्डित जो अंग्रेज़ी के भी बहुपठित विद्वान् थे, संस्कार कराने को बुलाए गए थे। आर्य समाजी कहते थे आज का

संस्कार विशेष प्रभावशाली होगा। सागर और मानिनी की लीला भोले बालों का विनोद था।

मानिनी ने अपने साधारण व्यवहार के विरुद्ध आज घूंघट कर लिया था। सब समझे, लज्जा के कारण है। विवाह की पद्धति पूरी हुई परन्तु मानिनी ने पण्डितजी के कहने पर भी परदा न छोड़ा। चुप चाप जो कहा, करती गई।

सभा ने आशीर्वाद दिया और मानिनी मूर्च्छित हो गई। डाक्टर बुलाए गए। उन्होंने कहा, विष प्रयोग हुआ है। चिकित्सा की परन्तु आधे घण्टे में मानिनी ठण्डी होगई। मरते २ उस ने आंख खोलीं और मुस्कराई।

मानिनी—"पतिदेव! आओ भी" यह कहा और आगे हाथ बढ़ाया। ऐसा प्रतीत हुआ जैसे किसी ने उस हाथ को पकड़ा है।

दूसरे दिन एक नहीं, दो अर्थियां श्मशान भूमि में इकट्ठी पहुंचीं एक सागर की, दूसरी मानिनी की। लोग कहते थे—अग्नि ने अन्तिम पाणिग्रहण करा दिया।

"दर्शक"

——:०:——

वेदोद्धर्ता ब्रह्मर्षि श्रीविरजानन्द सरस्वती।

द्वितीय-सर्ग।

तरुण तपस्वी की ज्ञान पिपासा।

(जुलाई मास से आगे)

"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" गी० अ० ४।

२६—जब हरिद्वार समीप आए उस गहन को पार कर,
उन झाड़ियों-झंखाड़ियों को चीरते वे धीरवर।

---

* सूचना—"वेदोद्धता ब्रह्मर्षि विरजानन्द" काव्य आप की सेवा में "आर्य" द्वारा रक्खा जाता है। उसकी उपयोगिता देखकर इसे प्रकाशित कराने न कराने के विषय में पाठक अपनी सम्पतियां सकारण श्रीरमेश-औषधालय, लुधियाने के पते पर भेजें। स्वार्थियों द्वारा आर्य-सहित्य क्षेत्र में कूड़ा-करकट फेंका जा रहा है। यदि इसे प्रकाशित कराने की सम्मति पाठक देंगे तो ही प्रकाशित कराया जायगा।—लेखक।

'विज्ञान-तृष्णा' तीव्र उनको देरही उत्साह थी,
तब 'शास्त्र को विज्ञान-श्री की एक उत्कट चाह थी ! १

*   *   *   *

२७—यों ढूँढते तब थे उसे—'जिस से पिपासा शान्त हो,
जिस के अमित-आनन्द से सन्ताप-नाश नितान्त हो !'
उस काल 'पूर्णानन्द' स्वामी 'गौड़ (?)' रहते थे वहाँ—
पहले लिया श्रीमान ने सन्यास जा उनके यहाँ ! २

*   *   *   *

२८—जिस के 'अचल वैराग्य' का 'तप' आप परिचय दे रहा,
वैराग्य-जल से जो हृदय-ह्रद था हिलोरें ले रहा !,
जो पा चुका विश्वात्म-विभु के ध्यान में आनन्द था,
'सन्यास' ले उसने किया निज-नाम 'विरजानन्द' था ! ३

*   *   *   *

२९—जब थे अठारह वर्ष के, तब एक ब्राह्मण से वहीं—
ली 'कौमुदी' पढ़ 'मध्य' सो षड्-लिंग तक, आगे नहीं !
फिर आपने विद्यार्थियों को भी पढ़ाई, पर वही—
सारी पढ़ाई, बात यह अद्-भुत प्रथम की ही रही !! ४

*   *   *   *

३०—फिर वह प्रखर-प्रतिभा परम-प्रस्तार को पाने लगी,
विकसित स्वयं हो काव्य-संस्कृति साथ हो जानेलगी !
तब चारु-रचना राम जीवन की रची कुछ श्लोक से,
था जगमगाता जा रहा मानस-भवन आलोक से ! ५

*   *   *   *

३१—चिर-काल में श्रीमान ने 'कनखल' किया प्रस्थान था,
'सिद्धान्त' के पढ़ने-पढ़ाने में वहां सो ध्यान था !
महाराज फिर उस सुरसरित के स्रोत के अनुकूल ही—
'वेदान्त' और 'मीमांसा' के अर्थ जा, 'काशी' गही ! ६

*   *   *   *

३२—फिर वे तपस्वी वर्ष भर से कुछ अधिक शुभ-वास कर,
पढ़ते-पढ़ाते 'न्याय' और 'मनोरमा' भी थे इधर!
जब ख्याति सुन, पढ़ने लगे आ—छात्र नित्य नये नये—
तब 'ज्ञान-चक्षु—उपाधि' से महाराज राजित होगये !! ७

* * * *

३३—बाईसवें वे वर्ष में पैदल 'गया' को चल दिए—
सो घेर उन को मार्ग में आ, तस्करों ने तब लिए!
थे 'ग्वालियर के राज्य के सरदार' भी विधि-वश वहां,
कुछ भृत्य थे और एक 'पण्डित' संग उनके थे तहां! ८

* * * *

३४—जब चीख स्वामी की सुनी, ललकारने किंकर लगे,
फिर ताब क्या थी?—त्रास से वे चोर सब के सब भगे!
श्रीदेवने तब देव-वाणी में सुना सब कुछ दिया,
सरदारने तब पांच-दिन आतिथ्य भी उनका किया! ९

* * * *

३५—फिर वे छठे-दिन हो विदा स्वामी 'गया' को ही बढ़े,
जा कर पढ़ाते भी रहे 'वेदान्त' और स्वयं पढ़े!
चिर-काल में महाराज 'कलकत्ता' गए फिर लौट कर,
बहुकाल 'सोरों' ग्राम ठहरे सुर-सरित् के तीर पर! १०

* * * *

३६—रहते वहां महाराज कुछ सु-विचार में संलग्न थे,
कुछ स्वर्णदी[1] के तीर ब्रह्मानन्द-नद में मग्न थे!
स्नानाऽर्थ आए 'भूप अलवर के विनयसिंह' भी तभी—
उस सुर-सरित् के तीर पर, लो—भेंट होती है अभी:—११

* * * *

३७—"जब चांदनी-सी चांदनी थी 'चाँद' की ऊपर-तले,
और झिलमिलाती-सी उषा मिलती दिशाओं के गले,

१—स्वर्णदी-गङ्गा।

दर्शा रहे दृग झेंप उडु उन्निद्रता जब व्याज से,
औ थी इधर उपहास प्राची कर रही उडुराज से, १२

* * * *

३८—"जब शीत-तोया स्वर्णदी का शान्त, नीरव तीर था,
बहता सुखद-सञ्चार से जब शुद्ध शीत-समीर था,
तब जा रहे थे विष्णु का स्तव[1] मञ्जु-स्वर से मोद में-
बैठे हुए महाराज उस भागीरथी की गोद में! १३

* * * *

३९—श्रुति-प्रिय मनोहर पाठ सुन, नृप मत्त हो जाने लगे!
बह भूप के हृत्-स्रोत से श्रद्धा-सुमन आने लगे!!
महाराज के स्वर-सूर्य से हृत्-कञ्ज नृप का खिल गया!
तब तार तार नरेश की हृद्-वल्लकी[2] का हिल गया!!! १४

४०—"पीते रहे रस, मुग्ध चित्राङ्कित हुए-से नृप वहीं—
निकले सरित्-से दिव्य-द्वञ्चय पूर्ण कर जितने नहीं!
फिर शब्द यह जाकर निवेदित नम्र हो नृप ने किए:-
'चलिए, प्रभो! प्रस्थान मेरे संग 'अलवर' कीजिए!' १५

* * * *

४१—"श्रीमान ने निर्भीक हो, जो 'शब्द' उत्तर में कहे—
पाठक! उन्हें पढ़ लीजिएगा, हम यहाँ हैं लिख रहे:—
त्यागी स्वयं मैं, आप हैं नृप! भोगने वाले मही—
यों हो सकेगा आपका—मेरा नहीं सम्बन्ध ही!' १६

* * * *

४२—"महाराज को महाराज ने जब यों 'नकार' किया वहाँ,
उद्यान में महाराज के महाराज फिर आए तहाँ!
पठनार्थ नृप ने प्रार्थना श्रीपाद-पद्मों में करी,
पहले प्रतिज्ञाएँ हुईं, श्रीमान ने फिर 'हाँ' भरी! १७

* * * *

१—श्रीशङ्कराचार्य-कृत विष्णु-स्तोत्रः।
२—वल्लकीवीणा।

४३—"नृप ने कहा—प्रतिदिन पढूँगा तीन-घण्टे सर्वथा',
महाराज बोले—"हम न ठहरेंगे कभी फिर अन्यथा !'
इस ही नियम पर राजगुरु वे साथ नृप के हो लिए !
अलवर पढ़ाते भूप को यों चार-वर्ष बिता दिए ! १८

* * * *

४४—'करते रहे वैसे स्वयं 'स्वाध्याय' अन्तर-दृष्टि से,
वे मुक्त चिर के हो लिये थे बाह्य-विषयाऽऽकृष्टि से !
वे सृष्टि में रहते हुए निर्-लिप्त थे इस सृष्टि से,
'सम्राट्-से' स्वाधीन थे अभिषिक्त विद्या-वृष्टि से ! १९

* * * *

४५—"करते रहे श्रीमान का ध्रुव धर्म-प्रिय जन मान थे,
पर दुष्ट-जन बहु-कष्ट में आ, सुन रहे गुण-गान थे।
वे छिद्र-दर्शन-हेतु दुर्-जन स्वार्थ-वश तल्लीन थे,
पर शिर पटक कर वे रहे, श्रीमान दोष-विहीन थे ! २०

* * * *

४६—"गुरु-मान[1] का मानस-भवन पर भूप के अधिकार था,
हृत्-कञ्ज पर उस भक्ति-भ्रमरी के प्रगुण-गुञ्जार था !
पर 'काम होते हैं सभी संस्कार के ही साथ में !',
बिन दैव, देते फेंक नर 'पारस' पड़ा भी हाथ में ! २१

* * * *

४७—बस, एक दिन जब वे गए गुरु-देव से पढ़ने नहीं,
संयोग-वश ही भूल, अटके गान सुनने में कहीं,
औ, सूचना 'अप्राप्त होने की' न जब भेजी गई,
उस ओर जब गुरु-देव ने पूरी प्रतीक्षा कर लई। २२

* * * *

४८—"आचार्य्य के आचार्य्य-मन्दिर में चरण पर-दिन गहे,
तब शब्द यह श्रीमान को श्रीमान ने निर्भय कहे:—

१—मान—गौरव।

"राजन् ! प्रतिज्ञा आपने तो भंग अपनी की यहीं—
पर मैं प्रतिज्ञा भंग कर सकता कभी अपनी नहीं !" २३

* * * *

४९—"....'इस हेतु राजन् ! मैं रहूंगा अब नहीं इस स्थान पर !'
कह, चल दिए, सच, मुग्ध हो, रहते महान न मान पर !
श्रीमान को श्रीमान ने चाहा बहुत ही रोकना,
पर त्यागियों का है प्रलोभन से कठिन लेना मना ! २४

* * * *

५०—"मानो अमित-धन से वहां उस काल स्वामी थे धनी !
पर उस महात्मा की न आत्मा वह प्रलोभन में सनी !!
रह कर नियम में आप, फिर चलना बताते और को !
रहते हुए वे सत्य पर, रहना जताते और को !!! २५

* * * *

५१—"बस, एक दिन वे 'बिन दिए ही सूचना', फिर चलदिए,
पच्चीस-सौ रुपये उन्होंने संग व्यय को भी लिए !
नर-राज ने सोचा कि-हाम से हाय ! यह क्या होगया ?
आया हुआ भी हाथ 'पारस' फिर हमीं से खो गया !" २६

संतलाल दाधिमथ।

वर्तमान जातपात।

II.

(लेखक—श्री पण्डित जनमेजय विद्यालङ्कार)

गत एक अङ्क में हम ने दिखलाया था कि जब तक हिन्दू जाति में वर्तमान जातपातों का बखेड़ा मौजूद है तब तक हिन्दू सङ्गठन होना प्रायः असम्भव है। यह भी उस अङ्क में दिखाया जा चुका है कि इस जातपात के कल्पित भेद के कारण ही हिन्दुओं में परस्पर द्वेष, अभ्रातृभाव, असहानुभूति तथा मिथ्याभिमान आदि दोष घर कर चुके हैं और इन्हीं दोषों के कारण बहु संख्यक भी होते हुए हिन्दू जाति को वारम्बार विधर्मियों से हारना पड़ा है।

आज हम पाठकों का ध्यान उन सम्मतियों की ओर खींचना चाहते हैं जो विदेशी अथवा विधर्मी लोगों ने अत्यन्त विचार के पश्चात् इस कुप्रथा के सम्बन्ध में प्रकाशित की हैं। अमेरिका के प्रतिष्ठित विद्वान् डाक्टर ब्लूमफ़ील्ड (Doctor Bloomfield) अपनी पुस्तक रिलीजन आफ़ वेद् (Religion of Veda) के ४—८ पृष्ठों पर लिखते हैं।

"At the present time there are nearly 2000 castes of Brahmans alone. The Saraswat Brahmans of Panjab alone number 469 tribes, the kshatriyas asplit up into 590 castes, the vaishyes even into more. There is a Hindustani proverb, eight Brahmins and nine kitchens. In the matter of food and inter marriages all these castes are now completely shut off one from the other.

In Cuttak, the most southerly district of Bengal, there is no intercourse between potters who turn theirwheels a sitting and make smallpots and them who stand up to manufecture large pots. A certain class of dairyman who make butter from unboiled milk have been excluded from the caste and can not marry the daughters of milkman who follow the more orthodox principals. In certain parts of India fisher-folk who kint the mashes of their nets from right to left may not intermarry with those who kint left to right. Thus Hindoo society is split into infinitely small divisions, each holding itself aloof from other, each engaged in making its exclusiveness as complete as possible.

More over the laws or rather the vagaries of cases have taken largely the place of practical religion in the mind of the average Hindoo. The supreme law which really concerns him in his daily life, is, to eat correctly, to drink correctly, and to marry correctly. Over this hovess like a

black cloud, another institution, the system or rather the chaos of castes.

Its grotesque inconsistencies and bitter tyranny have gone far to make the Hindu what he is. The corrossive properties of this single institution more than anything else whatsoever, have checked the developement of India in to a nation. They have made possible the spectacle of a country of nearly 00 Millions of inhabitants governed by the skill of 60000 military and 60000 civilian foreigners."

"इस समय लगभग २००० विरादरियां तो ब्राह्मणों की ही हैं। पञ्जाब के केवल सारस्वत ब्राह्मण ही ४६९ विरादरियों में बंटे हुए हैं। क्षत्रिय लोग ५९० उपजातियों में फटे हुए हैं और बनियों में तो इस से भी अधिक छोटी २ विरादरियां हैं। इसी आधार पर हिन्दुस्तान में एक कहावत प्रचलित है कि आठ ब्राह्मण और नौ चूल्हे। यह सब जातियां और उपजातियां परस्पर भोजन अथवा विवाह कभी नहीं कर सकतीं किन्तु सदा एक दूसरे से पृथक् ही रहती हैं।

दक्षिण बङ्गाल में कटक नामी एक ज़िला है। वहां के कुछ कुम्हार तो छोटे वर्तन बनाते हैं और बैठ कर बनाते हैं, परन्तु कुछ कुम्हार खड़े होकर बड़े वर्तन बनाते हैं। बस सिर्फ इसी भेद के कारण उन कुम्हारों की दो पृथक् २ बिरादरियां बन गई हैं। एक बिरादरी वाले दूसरी विरादरी वालों के साथ रोटी बेटी का सम्बन्ध नहीं कर सकते। इसी प्रकार बहुत से ग्वाले जो कि कच्चे दूध से मक्खन निकालते हैं, वे उन ग्वालों के साथ भोजन विवाहादि का सम्बन्ध नहीं रख सकते जो कि पक्के दूध से मक्खन निकालते हैं। हिन्दुस्तान के अनेक स्थानों में मछियारों में दो बिरादरियां इस लिए हो गई हैं कि कुछ मछियारे तो जाल को दाहिनी ओर से फैंक कर मछली पकड़ते हैं और कुछ बांई ओर से। इन दो पृथक् बिरादरियों के मछियारे लोग भी आपस में रोटी बेटी का सम्बन्ध नहीं रख सकते। इस प्रकार से हिन्दू जाति अनगिनत छोटी २ विरादरियों में बंटी हुई हैं। हरेक जात, हरेक पांत और हरेक विरादरी अपने को शेष सब से पृथक् रखती हैं और सदैव ही इस पृथक्त्व को कायम रखने के लिए पूरी कोशिश किया करती हैं। मज़ा तो यह है कि इन बनावटी विरादरियों के इसी प्रकार के बेहूदा कायदों ने ही अब धर्म का रूप धारण कर लिया है। प्रायः हिन्दू लोग धर्म का तत्त्व यही समझते हैं कि एक खास ही तरीके से खाना, पीना, तथा विवाह करना। बस इन्हीं तरीकों का पालन करवाने के लिए यह बेहूदी विरादरियां सदा प्रत्येक हिन्दू को परेशान किए रखती हैं।

बेहूदा फ़ितूरी तथा मनमाने अत्याचार करने वाली इस जातपात की कुप्रथा को मानने के कारण ही हिन्दू जाति इस वर्तमान दुर्दशा को प्राप्त हो चुकी है। इसी एक कुप्रथा में वह घातक शक्ति है कि जो हिन्दोस्तान को "एक राष्ट्र" बनकर नहीं खड़ा होने देती। आज हिन्दू लोग "एक जाति" या "एक राष्ट्र" नहीं कहे जा सकते। ३० करोड़ मनुष्यों के ऊपर १२०००० विदेशी मनुष्य आकर राज्य करें, यह एक असम्भव सी बात प्रतीत होती है, परन्तु इस जात पात की कुप्रथा के कारण ही यह अनहोनी बात आज हिन्दुस्तान में प्रत्यक्षतया हो रही है।

निष्पक्ष तत्वदर्शी अमेरिकन विद्वान् की इस सम्मति पर टीका टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। यह बिलकुल सत्य है कि जब तक हिन्दू जाति इन अनगिनत भेदों और उपभेदों में बंटी रहेगी तथा एक दूसरे से घृणा द्वेष और मिथ्याभिमान करती रहेगी तब तक स्वराज्य प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि स्वराज्य प्राप्ति के दुर्गम मार्ग में चलते हुए हम इन अप्राकृतिक नियमों को तोड़ने के लिए बाधित हो जाते हैं। क्या यह छोटे बड़े का भेद, यह चौंके चूल्हे का पाखण्ड, तथा यह अपनी छोटी ही विरादरी के अतिरिक्त अन्य किसी का न खाना, आदि नियम जेल और युद्ध क्षेत्रों में भी पालन किए जासकते हैं? फिर इन नियमों को मानने वाले लोग कैसे स्वराज्य प्राप्ति का यत्न कर सकते हैं। यही कारण है कि हिन्दू युवकों की हालत पंख कटे पक्षी की तरह है जो उड़ना चाहता है और उड़ने का बल भी रखता है पर उड़ नहीं सकता। हिन्दू युवक अपने देश और जाति के लिए अपूर्व आत्मत्याग अपूर्व वीरता का परिचय देना चाहते हैं और दे भी देते हैं, परन्तु उन के आत्मत्याग का परिणाम कुछ भी नहीं होता, क्योंकि उन के गुण को अपनाने के लिये उन की छोटी सी विरादरी के अतिरिक्त और कोई तैयार नहीं होता। इन्हीं विरादरियों की कृपा है कि आज हिन्दू जाति की फ़िक़र करने वाला इस देश में कोई नहीं दिखाई देता। हिन्दू सभ्यता की रक्षा करने अथवा हिन्दू शास्त्र व हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा की वृद्धि करने की धुन में लगे हुए पुरुषों की संख्या अंगुलियों पर गिनने के ही योग्य रह गई है। हां मारवाड़ी हितकारी सभा, कान्यकुब्ज सम्मेलन, गौड़ सम्मेलन, अछूत सभा, अग्रवाल सभा, क्षत्रिय सभा, आदि अनेकानेक नवीन २ संघ तो प्रतिदिन बढ़ते जारहे हैं। इन सब का परिणाम भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है। जो ब्राह्मण कहे जाते हैं उनकी इच्छा सदा यही होगी कि कुल सरकारी अथवा वैयाक्तिक नौकरियां उन्हीं की विरादरी वालों को मिलें, यज्ञोपवीत भी केवल उन्हीं

की बिरादरी पहिने, दक्षिणा दान तो उनके सिवाए अन्य किसी को ग्रहण करने का अधिकार ही नहीं। अगर उनकी बिरादरी के बाहर किसी ने वेद पढ़ लिया तो वह पापी है, पर उनका पुत्र जन्म से ही चतुर्वेदी पैदा होता है। इसी प्रकार हरेक बिरादरी अपने २ ही हितचिन्तन तथा अन्य तमाम हिन्दू जाति मात्र के अहित सम्पादन में व्यग्र है। म्यूनिसिपल बोर्डों, सर्कारी दफ्तरों, स्कूल कालिज और यूनिवर्सिटी के अध्यापक पदों पर भी हरेक आदमी अपनी बिरादरी के ही आदमियों को नियुक्त करवाने की कोशिश में व्यग्र है। फिर भला हिन्दू जाति में पारस्परिक सहानुभूति और सङ्गठन कैसे पैदा हों? जिस जाति में दो चार ही पृथक् २ पार्टियां बन जाती हैं। उस की भी उन्नति रुक ही जाती है। जब कोई विदेशी किसी जाति को जीतना चाहता है तो पहिले उस जाति में परस्पर भेद भाव पैदा करने की कोशिश करता है ताकि जाति में अनेक पार्टियां पैदा हो जावें और परस्पर लड़लड़ा कर जाति को निर्बल कर दें। परन्तु सौभाग्य शाली अंग्रेजों को इस विषय में विशेष यत्न करने की ज़रूरत नहीं है। यहां तो जातपात, या बिरादरी के नाम से सैंकड़ों या हजारों नहीं परन्तु लाखों पार्टियां मौजूद हैं, जो कि एक दूसरे से सर्वथा अलग २ हैं, जिन में एक दूसरे का छुआ भोजन तक कोई नहीं कर सकता, जो सदा अपनी बिरादरी को सब से बड़ा और पवित्र तथा अन्य सबों को हीन तुच्छ और अपवित्र गिनती हैं, जिन में परस्पर सदैव ही लड़ाई झगड़ा द्वेष ईर्षा और दूसरे को गिराने का यत्न हुआ करता है, जो एक दूसरे से इतनी घृणा करती हैं कि उन्हें छूकर स्नान करना पड़ता है, और सारांश यह कि जिनके सुख दुःख हानि लाभ आदि सब पृथक् २ हो गए हैं। जो या तो परस्पर उपेक्षा करती हैं या एक दूसरे से इतना भीषण द्वेष करती हैं कि उन को छू नहीं सकतीं, उन के साथ बैठ कर बात चीत तक नहीं कर सकतीं, उन के साथ भोजन नहीं कर सकतीं, उन के साथ विवाह सम्बन्ध नहीं कर सकतीं; जो सदा एक दूसरे की अवनति तथा पतन करवाने का ही यत्न किया करती हैं।

अब पाठकगण सोचें कि कोई विदेशी जाति हज़ार यत्न करने पर भी क्या किसी जाति में इतनी फूट पैदा करवा सकती है जितनी हिन्दुओं में स्वयं ही पैदा हो चुकी है? जब यह हाल है तब तो अंग्रेज़ों को तोप या मैशीन गन प्रयोग करने की आवश्यकता ही क्या है, जब तक यह जातपातें और बिरादरियां ही सदा प्रति क्षण परस्पर तोप व मैशीन गन से भी अधिक भीषण शस्त्रास्त्रों का

प्रयोग किया करती हैं तब तक अंग्रेज चाहे टांग पसार कर मज़े में मस्त होकर सोवें, उन का साम्राज्य हिन्दुस्तान से हिल नहीं सकता। वह अक्षुण्ण अकीटकिट्ट और अजरामर बना रहेगा। सचमुच ही ३० करोड़ मनुष्यों पर १ लाख बीस हज़ार विदेशियों की हुकूमत एक अनहोनी सी बात थी परन्तु इस जातपात के भेद तथा विरादरियों की फूट तथा द्वेषमयी कुप्रथाओं के कारण ही यह अनहोनी बात आज हिन्दुस्तान में प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है।

इस लिए हिन्दु धर्म, हिन्दु सभ्यता और हिन्दुदेश का भला चाहने वाले आबालवृद्ध सब हिन्दू मात्र का परम धर्म है कि अपने आप को किसी भी छोटी सी बनावटी विरादरी में सीमित न समझें; अपने को दुबे, तिवारी, कायस्थ, खत्री, अग्रवाल, अरोड़ा, चतुर्वेदी, चौबे, खटीक, मेहतर आदि न समझ कर साधारणतया हिन्दू समाज का एक सभ्यमात्र समझें। ऐसा समझें, ऐसा मानें, और ऐसा ही उन के आचरणों से प्रकट होना चाहिये। स्वयं इन युक्ति-शून्य बखेड़ों से मुक्त होकर फिर अपने अन्य तमाम भाइयों को भी मुक्त करें। प्राचीन वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की रक्षा के लिए इन सब झंझटों से मुक्ति पाना आवश्यक है। इसी प्रकार से हिन्दू जाति का कल्याण हो सकता है और हिन्दू देश का भी कल्याण सम्भव है।

पुस्तक समीक्षा।

उर्वशी—(सचित्र उपन्यास) लेखक कविराज जयगोपाल। शिरोमणि पुस्तकालय मोहन लाल रोड, लाहौर से प्राप्य। मू० १)

आजकल रंगभूमि, प्रेमाश्रम आदि उपन्यासों की हिन्दी साहित्य में वृद्धि देखकर जहां एक ओर बड़ी प्रसन्नता होती है वहां दूसरी ओर 'उर्वशी' जैसे उपन्यास (?) की रचना को देखकर दिल में कुछ खेद होता है। इस पुस्तक को हमने अद्योपान्त पढ़ा किन्तु उसमें कुछ भी विशेषता प्रतीत नहीं हुई। भाषा, भाव, सौन्दर्य, साहित्य कला किसी भी अंश में यदि इसने हिन्दी साहित्य की सेवा की होती तो हम लेखक और प्रकाशक महोदय को अवश्य धन्यवाद देते।

यह पुस्तक कविकुलगुरु कालिदास की कृति विक्रमोर्वशी का भाषानुवाद (उपन्यास के ढंग पर) ही समझना चाहिये। लेखक ने अनेक स्थानों पर संस्कृत के भाव को हटाकर उन्हें पूर्णशः भाषा (हिन्दी) का रूप देना चाहा है किन्तु फिर भी उसमें से संस्कृत की गन्ध आही जाती है। जैसे—"देखो! चन्द्रमा के उदय होने पर अन्धकार से छोड़ी गई रात्रि के समान, धूएं के अंश से रहित हवन

		१८३४॥≡)१०
		१९३८७॥)१
=)॥		१९४३२॥=)॥
:)४		३०८२०≡'१०
		६५९८०॥≡)।

...ी देर पहिले किनारों के गिरने से जो गहरा हो ...न्त हो गई हो उस नदी के समान......" ...में यदि ऐसे स्थानों पर संस्कृत के शब्दों को ...ध्यान देते हुए अपने स्वतन्त्र शब्दों का प्रयोग ... इसी प्रकार कई स्थानों पर बीच २ में ग्राम्य दा... बहुत अखरता है। उसमें अश्लीलता का पर्याप्तमात्रा में समावेश हो गया है इससे यह पुस्तक बालिकाओं और स्त्रियों के हाथ में देने योग्य भी नहीं रही। जैसे "देख... ! जिस समय यह सांसलेती है, तो इसके दोनों स्तनों का मध्यभाग कि... कार ऊंचे नीचे होता है।" (पृ० ११) एवं हिन्दी में प्रचलित शब्दु ... भी उचित स्थान नहीं दिया गया। उदाहरणार्थ—"यदि ... मिठाई से तुम्हारा घर भर दूं।" यदि 'घर' के ...न (पृ० ३०)। एवं "वह गिरने के डर ... १:१५)।" यहां 'सट' के स्थान पर यदि ... उपयुक्त प्रतीत होता। एवं प्रूफ़ संशोधन ...या गया है। देश और जाति की वर्तमान अवस्था ...च कहा जा सकता है कि यदि यह उपन्यास प्रकाशित नहीं होता तो अ...क उत्तम था। इस समय तो शूरता वीरता-पूर्ण व सामाजिक एवं ओजयुक्त उपन्यासों की ही अधिक आवश्यकता है। मूल्य भी १) कुछ अधिक ही प्रतीत होता है।

गुरुकुल महा निधि		
" स्थिर छात्रवृत्ति		
" अस्थिर "		
" उपाध्याय वृत्ति		
कन्या गुरुकुल रत्नप्रस्थ		१३
योग		६
सर्व यो...		२३६
गत शेष		२९४१६।

तपस्वी भरत—यह पुस्तक भी शिरोमणि पुस्तकालय लाहौर से प्राप्त हो सकती है मूल्य ।-) जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है पुस्तक में तपस्वी भरत का भ्रातृप्रेम कथा के रूप में दर्शाया गया है। पुस्तक बच्चों के पढ़ने योग्य है।

सम्पादकीय

हमारे त्यौहार—

अभी पिछले दिनों २७ सितम्बर को भारतवर्ष में 'विजया दशमी' का त्यौहार था। कई स्थानों पर यह त्यौहार यथा पूर्व बड़े उत्साह और जोश से मनाया गया

प्रयोग किया करती हैं तब तक अंग्रेज चाहे टांग पसार कर मज़े में मस्त होकर सोवें, उन का साम्राज्य हिन्दुस्तान से हिल नहीं सकता। वह अक्षुण्ण अकीटकिट्ट और अजरामर बना रहेगा। सचमुच ... करोड़ मनुष्यों पर १ लाख बीस हज़ार विदेशियों की हुकूमत ... ी बात थी परन्तु इस जातपात के भेद तथा विरादरि ... प्रथाओं के कारण ही यह अनहोनी बात आज हिन्दु ... ।

इस ... हिन्दुदेश का भला चाहने वाले आबालवृद्ध ... क अपने आप को किसी भी छोटी सी बना ... झें ; अपने को दुबे, तिवारी, कायस्थ, ... ी. ... टीक, मेहतर आदि न समझ कर सा... रणतया हिन्दू समाज का एक सभ्यमात्र समझें। ऐसा समझें, ऐसा मानें, और ऐसा ही उन के आचरणों से प्रकट होना चाहिये। स्वयं इन युक्ति-शून्य बखेड़ों से म ... ाम भाइयों को भी मुक्त करें। प्राचीन वैदि ... न सब झंझटों से मुक्ति पाना आवश्यक ... ा हो सकता है और हिन्दू देश का भ ...

उर्वशी ... राज जयगोपाल । शिरोमणि पुस्तकालय मोहन लाल रोड, लाहौर से प्राप्य। मू० १)

आजकल रंगभूमि, प्रेमाश्रम आदि उपन्यासों की हिन्दी साहित्य में वृद्धि देखकर जहां एक ओर बड़ी प्रसन्नता होती है वहां दूसरी ओर 'उर्वशी' जैसे उपन्यास (?) की रचना को देखकर दिल में कुछ खेद होता है। इस पुस्तक को हमने अद्योपान्त पढ़ा किन्तु उसमें कुछ भी विशेषता प्रतीत नहीं हुई। भाषा, भाव, सौन्दर्य, साहित्य कला किसी भी अंश में यदि इसने हिन्दी साहित्य की सेवा की होती तो हम लेखक और प्रकाशक महोदय को अवश्य धन्यवाद देते।

यह पुस्तक कविकुलगुरु कालिदास की कृति विक्रमोर्वशी का भाषानुवाद (उपन्यास के ढंग पर) ही समझना चाहिये। लेखक ने अनेक स्थानों पर संस्कृत के भाव को हटाकर उन्हें पूर्णशः भाषा (हिन्दी) का रूप देना चाहा है किन्तु फिर भी उसमें से संस्कृत की गन्ध आही जाती है। जैसे—"देखो! चन्द्रमा के उदय होने पर अन्धकार से छोड़ी गई रात्रि के समान, धूएं के अंश से रहित हवन

की अग्नि के समान अथवा थोड़ी देर पहिले किनारों के गिरने से जो गहरा हो गई हो परन्तु फिर स्वच्छ और शान्त हो गई हो उस नदी के समान......" (देखो पृ० ११)। हमारी सम्मति में यदि ऐसे स्थानों पर संस्कृत के शब्दों को तोड़ मरोड़ न कर उनके भाव पर ध्यान देते हुए अपने स्वतन्त्र शब्दों का प्रयोग किया जाता तो अधिक उत्तम था। इसी प्रकार कई स्थानों पर बीच २ में ग्राम्य दोष बहुत अखरता है। उससे अश्लीलता का पर्याप्तमात्रा में समावेश हो गया है इससे यह पुस्तक बालिकाओं और स्त्रियों के हाथ में देने योग्य भी नहीं रही। जैसे "देख चित्रकला ! जिस समय यह सांसलेती है, तो इसके दोनों स्तनों का मध्यभाग किस प्रकार ऊंचे नीचे होता है ।" (पृ० ११) एवं हिन्दी में प्रचलित शब्द विन्यास पर भी उचित ध्यान नहीं दिया गया। उदाहरणार्थ—"यदि तुम्हारा कहना सच हो गया तो मिठाई से तुम्हारा घर भर दूं।" यदि 'घर' के स्थान पर 'मुंह' शब्द होता तो अखरता न (पृ० ३०)। एवं "वह गिरने के डर से एक दूसरी के साथ सट गईं (पृ० १५)।" यहां 'सट' के स्थान पर यदि 'लिपट' व 'चिपट' शब्द होता तो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता। एवं प्रूफ़ संशोधन में भी बहुत असावधानता से काम लिया गया है। देश और जाति की वर्तमान अवस्था पर टुक ध्यान देते हुए निस्संकोच कहा जा सकता है कि यदि यह उपन्यास प्रकाशित नांहीं होता तो अधिक उत्तम था। इस समय तो शूरता वीरता-पूर्ण व सामाजिक एवं ओजयुक्त उपन्यासों की ही अधिक आवश्यकता है। मूल्य भी १) कुछ अधिक ही प्रतीत होता है।

तपस्वी भरत—यह पुस्तक भी शिरोमणि पुस्तकालय लाहौर से प्राप्त हो सकती है मूल्य ।-) जसाकि नाम से ही स्पष्ट है पुस्तक में तपस्वी भरत का भ्रातृप्रेम कथा के रूप में दर्शाया गया है। पुस्तक बच्चों के पढ़ने योग्य है।

सम्पादकीय

हमारे त्यौहार—
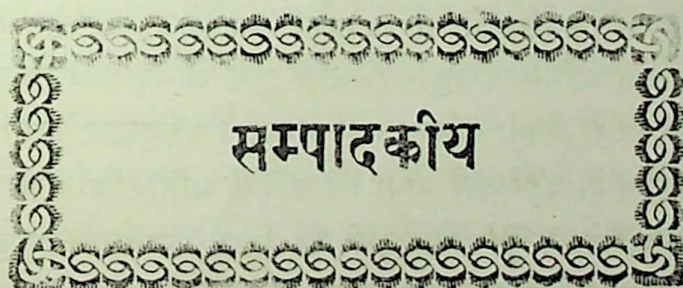
अभी पिछले दिनों २७ सितम्बर को भारतवर्ष में 'विजया दशमी' का त्यौहार था। कई स्थानों पर यह त्यौहार यथा पूर्व बड़े उत्साह और जोश से मनाया गया

किन्तु इसके साथ ही साथ हमें यह लिखते बहुत दुःख होता है कि इलाहाबाद, लखनऊ, अलीगढ़ आदि कई स्थानों पर इसके मनाने में अधिकारियों की ओर से कई प्रकार की अड़चनें उपस्थित की गईं। परिणाम, हिन्दुओं ने रुकावटों के सामने सिर नीचा कर दिया और विजया दशमी न मनाई गई। हम प्रतिदिन समाचारपत्रों में पढ़ते हैं कि इस विषय में अधिकारियों की यह मानसिक प्रवृत्ति दिनों दिन बढ़ती चली जारही है। न जाने इसका परिणाम क्या होगा किन्तु इस समय प्रश्न यह है कि क्या हिन्दूजाति जातीय त्यौहारों को मनाने में अपनी यही मानसिक वृत्ति रखेगी या इसमें परिवर्तन करेगी? आज हिन्दूजाति कमज़ोर है, दुर्बल है और यही कारण है कि उसके रास्ते में पग पग पर अड़चनें डाली जारही हैं। क्यों मुसलमानों व ईसाईयों के त्यौहारों में यह अड़चनें उपस्थित नहीं होतीं? उत्तर एक ही है कि वे जातियां सुसंगठित हैं और इसलिये बलशाली हैं। जब तक विरोधियों को हमारी जाति के संगठन पर विश्वास नहीं है तब तक कितने ही प्रस्ताव पास करते जाओ कुछ भी प्रभाव न होगा। डाक्टर मुंजे ने अपने प्रान्त में दौरा लगाते हुए जातीय भाइयों को यही सलाह दी है कि यदि वे विधर्मियों के दबदबे में आकर अपनी मानसिक भावनाओं को इसी प्रकार दबाते रहे तो वह दिन दूर नहीं है जब कि इस जाति का नामोनिशान भी न रहेगा।

हम जाति के नेताओं से अपील करेंगे कि वे अपने चरित्र और भाषणों द्वारा जाति में वह रुह फूंकें कि उसमें से दुर्बलता और कायरता दूर होकर उसके स्थान में सत्साहस और शूरता वीरता के भाव पैदा हों।

कश्मीर नरेश और आर्य समाज--

कश्मीर नरेश की मृत्यु पर राज्यपदाधिकारियों की तरफ़ से यह सूचना प्रकाशित की गई थी कि सिक्खों और ब्राह्मणों को छोड़ कर शेष सब हिन्दुओं को मुण्डन करा लेना चाहिये। परन्तु रियासत के कुछ आर्यसामाजिक भाइयों ने इस आज्ञा का पालन करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझा। तदनुसार उन्होंने शिर नहीं मुंडाये। अन्त में उन से यह कहा गया कि यदि वे प्रतिनिधि सभा की व्यवस्था मंगवा दें तो उन को बाध्य-मुंडन से मुक्त कर दिया जायेगा। तदनुसार सभा की व्यवस्था भेज दी गई।

प्रश्न यह है कि आर्यसामाजियों में किसी भी मृत्यु पर मुंडन की प्रथा नहीं है। श्री स्वामी जी ने कहीं भी इस का विधान नहीं किया। जिस प्रकार से सिक्खों तथा मुसलमानों के लिये शिर मुंडवाना आवश्यक नहीं उसी प्रकार

आर्यसामाजियों के लिये भी बाधित नहीं होना चाहिये। आर्य समाज सार्वभौम संस्था है। सत्यसनातन वैदिकधर्म का प्रचार करना इस का उद्देश्य है। आर्य समाज हिन्दुओं की कोई शाखा नहीं है। इस लिए आर्य समाज को मुंडन कराने के लिये बाधित करना हमारी सम्मति में उचित नहीं है। हमें पूर्ण निश्चय है कि आर्य समाज के साथ न्याय वर्ताव करते हुए रियासत के कर्मचारी आर्य समाजियों को मुण्डन से मुक्त करेंगे।

फ़रीदकोट में आर्य समाजी--

पिछलीवार हम ने मंसूरी आर्य समाज के नगर कीर्तन को बन्द कर दिये जाने के विषय में अपने विचार प्रकट किये थे किन्तु अब मालूम पड़ा है कि यह मर्ज़ दिन प्रति दिन बढ़ता चला जा रहा है। दिवाली के दिनों में फ़रीद कोट आर्य्य समाज का वार्षिकोत्सव था। जैसा कि आर्य जनता को पता है कि वहां कई वर्ष हुए जैनियों के हाथ से श्री पं० तुलसी राम जी शहीद हुए थे। इसी बात का वर्णन करते हुए 'प्रताप' अखबार में उपयुक्त वार्षिकोत्सव पर सर्व साधारण, और विशेषतः फ़रीद कोट की आसपास की समाजों को वहां एकत्रित हो जाने के लिए लिखा गया। यह बात वहां के जैनी अधिकारियों को बड़ी बुरी लगी और उन्होंने न आगा देखा न पीछा और आर्य समाजियों के नाम वारण्ट निकालने शुरु कर दिये। मुसलमान और हिन्दू तो पहिले ही आर्य समाजियों के विरुद्ध थे।

आज अवस्था यह है कि वहां आर्यसमाजियों को बड़ा तङ्ग किया जा रहा है। उन पर झूठे झूठे दोष लगा कर जैसे भी बने जल्से को न होने देना ही वहां के अधिकारियों का उद्देश्य है। किन्तु समाज के अधिकारियों ने निश्चय किया है कि जब तक उन में से एक भी व्यक्ति बाहर है वे अवश्य जल्सा मनावेंगे।

अब प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में आर्य्य समाज का कर्तव्य क्या है? क्या वह भी हिन्दुओं की तरह सब कुछ सहता हुआ दुबक कर चुपचाप बैठ रहे वा सिक्ख सूरमों की तरह मैदान में निकल कर जौहर दिखाए। हमारी सम्मति में तो इस समय चुप हो कर बैठ रहना और इस से अपनी उपरति दिखाना आर्य्य समाज के लिए सरासर हानिकारक होगा। सच्चा शूरवीर वही है जो आपत्ति को जान बूझ कर आह्वान करता है किन्तु उन से बढ़ कर सौभाग्यशाली कौन हो सकता है जिन्हें बिना बुलाए विपत्ति से सामना करना पड़ता है और वे उस से नहीं घबराते। धर्मों का इतिहास हमें बतलाता है कि समय २ पर प्रायः सभी धर्मों (मज़हबों) पर बड़ी २ आपत्तियां आईं। जिन्होंने तो उनको दृढ़ता

पूर्वक सामना किया विजय-श्री निश्चय ही उन के हाथ लगी और जिन्होंने दब्बू व कायर बन कर उन के सामने अपना सिर नीचा कर लिया निस्सन्देह आपत्तियां उन के ऊपर से गुज़र गईं और प्रत्यक्षतः उन का बाल भी बांका न हुआ किन्तु उनकी जड़ें सदा के लिए खोखली हो गईं। इस समय आर्य्य-समाज के सामने भी ठीक यही समस्या उपस्थित है। स्थान २ पर आर्य्य-समाजके काम और आर्य्य-समाज की स्पिरिट को दबाने के लिये यत्न हो रहे हैं। देखने वाले इसे देखते हैं और समझते हैं। किन्तु देखने और समझने तक ही हमारा काम समाप्त नहीं हो जाता। बुद्धिमानों का कहना है कि रोग और शत्रु को प्रारम्भावस्था में ही दबा दिया जाय तभी भला है। अन्यथा, बढ़कर यह सारे परिवार और कुल का विच्छेद कर देते हैं। इसलिए यदि तो साम और दाम से ही रियासत के अधिकारी इस बात को यहीं शान्त कर दें तब तो भला है, नहीं तो हम आर्य्य-समाजियों से बलपूर्वक निवेदन करेंगे कि वे कमर कस कर तैय्यार रहें और जैसी भी समाज के नेता आज्ञा दें उसके अक्षरशः पालने में बद्ध परिकर हो अपने को गुरु के चरणों में बलिदान कर दें।

पूज्यपाद श्री नारायण स्वामी जी—

अभी हमें पूज्य स्वामी जी का बरेली से (जहां वे श्रीडाक्टर श्यामस्वरूपजी के पास ठहरे हुए हैं) निम्न पत्र मिला है:—

"परसों रात मैं लखनऊ से वापिस आया हूं। सभी डाक्टरों की राय यह है कि आपरेशन कराना चाहिये। इस लिये आपरेशन कराना ही निश्चय कर लिया गया है। अब २३ अक्तूबर को लखनऊ मेडिकल कालेज के अस्पताल में डाक्टर भाटिया से आपरेशन कराया जायगा। यदि आपरेशन फेल भी हो तो भी कोई हर्ज न होगा और निकम्मे शरीर को रखने की अपेक्षा न रखना ही अच्छा है"

इस पत्र को पढ़ कर हमारी जो दशा हुई है लिखना कठिन है। सारे आर्यसंसार में चिन्ता और वेदना की एक लहर घूम जायगी! स्वामी जी आर्य-समाज के सब से अधिक चमकते रत्न हैं! हमें पूर्ण आशा है और हृदय की सारी भावनाओं के हाथ भगवान् के चरणों में एक मात्र कामना है कि स्वामी जी शीघ्र नीरोग हों। और हम आशा करते हैं कि सब आर्य भाई और आर्य-समाजें २३ अक्तूबर को स्वामी जी के स्वास्थ्य की प्रार्थना करेंगी॥

—राजेन्द्र विद्यालङ्कार।

L. 1424. रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

* ओ३म् *

नवम्बर १९२५

कार्तिक १९८२

आर्य्य

...निधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना ।

...ऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्णः

ऋग्वेद ।

हे प्रभु ! हम तुम से वर पावें ।
विश्व जगत् को आर्य बनावें ॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें ।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें ॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें ।
प्रीति-नीति की रीति चलावें ॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

...चन्द लखनपाल प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से बाम्बे मैशीन प्रेस मोहनलाल रोड लाहौर में छप कर प्रकाशित हुवा ।

...आर्य्य प्रतिनि...
ब्यौरा आय...

निधि	बजट आय	
...य मुख्य सभा		
...सभा		
...प्रकाश आज्ञा ...नेज़ आफ ...ा० दयानन्द		२
...योग		१...
...य वेद प्रचार ...क पुस्तकालय		५०) १४७। २६॥ ।=)
...ा निधि		
...देशक ...न ...ष		
...ग		२०४।
		१३६१।
...ारक निधि ...शाक		१५॥)
...खवा पं० ...लसी राम ...ं० वज़ीरचंद		
...ग		

पूर्वक सामना किया विजय-श्री निश्चय ही उन के हाथ लगी
व कायर बन कर उन के सामने अपना सिर नीचा कर लिया नि
उन के ऊपर से गुज़र गई और प्रत्यक्षतः उन का बाल भी ब
उनकी जड़ें सदा के लिए खोखली हो गई । इस समय आर्य्य-
भी ठीक यही समस्या उपस्थित है। स्थान २ पर आर्य्य-समाजके
समाज की स्पिरिट को दबाने के लिये यत्न हो रहे हैं । देख
हैं और समझते हैं । किन्तु देखने और समझने तक ही हमा
हो जाता । बुद्धिमानों का कहना है कि रोग और शत्रु के
दबा दिया जाय तभी भला है । अन्यथा, बढ़कर यह सारे
विच्छेद कर देते हैं । इसलिए यदि तो साम और द
अधिकारी इस बात को यहीं शान्त कर दें तब तो भला
समाजियों से बलपूर्वक निवेदन करेंगे कि वे कमर कर
जैसी भी समाज के नेता आज्ञा दें उसके अक्षरशः पा
अपने को गुरु के चरणों में बलिदान कर दें ।

पूज्यपाद श्री नारायण स्वामी जी—

अभी हमें पूज्य स्वामी जी का बरेली से (जहां
रूपजी के पास ठहरे हुए हैं) निम्न पत्र मिला हैः—

"परसों रात में लखनऊ से वापिस आया हूं ।
यह है कि आपरेशन कराना चाहिये । इस लिये आपरेश
कर लिया गया है । अब २३ अक्तूबर को लखनऊ मेडिकल
में डाक्टर भाटिया से आपरेशन कराया जायगा । यदि आप
तो भी कोई हर्ज न होगा और निकम्मे शरीर को रखने की अपेक्षा न रखना
ही अच्छा है"

इस पत्र को पढ़ कर हमारी जो दशा हुई है लिखना कठिन है। सारे आर्यसंसार में चिन्ता और वेदना की एक लहर घूम जायगी ! स्वामी जी आर्य-समाज के सब से अधिक चमकते रत्न हैं ! हमें पूर्ण आशा है और हृदय की सारी भावनाओं के हाथ भगवान् के चरणों में एक मात्र कामना है कि स्वामी जी शीघ्र नीरोग हों । और हम आशा करते हैं कि सब आर्य भाई और आर्य-समाजें २३ अक्तूबर को स्वामी जी के स्वास्थ्य की प्रार्थना करेंगी ॥

—राजेन्द्र विद्यालङ्कार ।

...वस लाहौर ।
...२ विक्रमी ।

इस मास का व्यय
२०)
४०)
२५)
४५)
६१८=)
१८६।)
३३७.≡)।
२६१॥=)
४०७॥-)
२३≡)
॥)

Registered. No. L. 1424. राजिस्टर्ड नं० एल १४२४

* ओ३म् *

भाग ६ नवम्बर १९२५
अङ्क ६ कार्तिक १९८२

आर्य्य

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना ।

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृणवन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्णः

ऋग्वेद ।

हे प्रभु ! हम तुम से वर पावें ।
विश्व जगत् को आर्य बनावें ॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें ।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें ॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें ।
प्रीति-नीति की रीति चलावें ॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

शरत्चन्द्र लखनपाल प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से बाम्बे मैशीन प्रेस मोहनलाल रोड लाहौर में छप कर प्रकाशित हुवा ।

विषय सूची।

"आर्य्य" के नियम।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है। (डाक ख़ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है)।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है। सभा ने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है।

३—इस पत्र में धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभा की सूचनाएं दर्ज होती हैं।

४—पत्र में प्रकाशित होने के लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख़ से पूर्व आजाने चाहियें।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के भीतर सूचना देने से वह अङ्क भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात् मंगवाने पर प्रति अङ्क ।≈) देने पड़ेंगे।

आर्य्य

भाग ७] लाहौर–कार्तिक १९८२ नवम्बर १९२५ [अंक ७
[दयानन्दाब्द १०१]

नाथ भरोसे !

अब मन ! नौका नाथ भरोसे !
सागर चंचल, नौका डोले ।
नाथ ! नाथ ! तुतला मुख बोले !
खेवट को क्यों भोला ! कोसे ?
अब मन ! नौका नाथ भरोसे !
लो ! लो !! नौका पैठी ! पैठी !!
लिये लाल निज जननी बैठी ।
'ले लोगे प्रभु ! पाले पोसे ?'
अब मन ! नौका नाथ भरोसे !
ले चल माझी सुघर सयाना !
बात न सुन पतवार बढ़ाना ।
दूर न तट हिलती बाहों से ।
अब मन ! नौका नाथ भरोसे ।
जन्म दूसरा मा ने पाया ।
चूम रही निज जीवन–जाया ।
धन्यवाद फूटा लोगों से ।
अब मन ! नौका नाथ–भरोसे ।

ज़ैंज़िबार
१९.१०.२५

'चमूपति'

वामनावतार ।

[ले०—श्री बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार, 'आर्य-सेवक']

देवताओं का कल्याण करने के लिये ५२ अङ्गुल का शरीर धर कर विष्णु भगवान ने बली को छला और तीन पैरों में तीनों लोकों को नाप कर उसे बेवस कर दिया। यह कथा इतनी प्रसिद्ध है कि इसको सविस्तर और सप्रमाण उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं।

आज हम शतपथ ब्राह्मण की उस मूल कथा की व्याख्या 'आर्य' के पाठकों के सामने रखना चाहते हैं जिसका बिगड़ा रूप यह पौराणिक कथा है। शतपथ ब्राह्मण की कथा यों हैं :—एक वार प्रजापति के दोनों सन्तान देव और असुर लोगों में परस्पर स्पर्द्धा होगई। देवता लोग चुपचाप अपनी शक्तियों का संवरण किये हुए बैठे रहे। असुरों ने समझा अब तो सब दुनियां ही अपनी हैं। लगे सारा भूमण्डल नापने। यहां से यहां तक मेरी और यहां से यहां तक मेरी। अन्त को यह ख़बर देवताओं तक भी पहुंची। उन्होंने कहा "भाई ! बिलकुल चुपचाप तो नहीं बैठना चाहिये"। वह भी आ खड़े हुए,बोले "भाई ! कुछ थोड़ा हिस्सा हमारा भी।" आगे आगे विष्णु था। असुर घूरते हुए से बोले"अच्छा ! यह विष्णु जितनी जगह में लेट जाय उतनी तुम्हारी भी।" विष्णु बिलकुल बौना था पर देवता तनिक भी न घबराए। वह बोले 'बहुत मिल गई'। उन्होंने विष्णु को आगे किया। उसके चारों ओर छन्दों को खड़ा कर दिया और फिर भजन और पुरुषार्थ आरम्भ किया। परिणाम यह हुआ कि देवताओं के हाथ में सम्पूर्ण पृथ्वी आगई और असुर देखते ही रह गए।

पौराणिक कथा में समानता भी बड़ी भारी है और साथ ही भेद भी उतना ही भारी है। दोनों कथाओं में निम्न लिखित बातें समान हैं:—

(१) विष्णु का वामन होना।

(२) असुरों का विष्णु के नाप की भूमि देना।

(३) देवताओं का राज्य फैल जाना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भिन्न होने पर भी कथा का यह मौलिक अंश समान है; परन्तु अब भेदकी ओर दृष्टि डालने से भेद का भारी पन भी स्पष्ट हो जायगा।

भेद—

(१) इसमें बलि राजा का कहीं वर्णन नहीं।

(२) यहां सब देवता मांगने गए थे वहां केवल विष्णु।

(३) पुराण की कथा में छन्दों का कोई वर्णन नहीं।

परन्तु इन से भी अधिक गहरा भेद चौथा है।

(४) पुराण की कथा में विष्णु ने स्वयं असुरों को पराजित किया और बलि को बांधा परन्तु यहां देवताओं ने विजय प्राप्त की और उसका साधन कोई विष्णु की करामात नहीं किन्तु उनका स्वयं परिश्रम और भजन करना है। यह पौराणिक भाषा का कमर-तोड़ भेद है।

परन्तु आगे हम जिस भेद का वर्णन करने लगे हैं वह पौराणिक गाथा की कमर ही नहीं तोड़ता किन्तु उसे बिलकुल मिट्टी में मिला देता है। वह भेद यह है कि पौराणिक गाथा में यह कुछ नहीं बतलाया गया कि विष्णु नाम किसका है। वहां तो यह समझा गया है कि विष्णु नाम एक चारभुजा वाले, शंखचक्र गदा पद्मधारी, वनमाली,लक्ष्मीक्रोड़ विलासी, शेष शायी व्यक्ति विशेष का नाम है। परन्तु शतपथ में इसका गन्ध भी नहीं। प्रत्युत वहां स्पष्ट कह दिया गया है–"ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कुर्वेयुः" अर्थात् उन्होंने यज्ञरूप विष्णु को आगे रखा। 'यज्ञमेव विष्णुम्' यह शब्द कह कर और विशेष कर यहां 'एव' शब्द का सन्निवेश करके शतपथ ने पौराणिक किले की आधार भित्ति ही निकाल डाली है। और स्पष्ट कर दिया है कि यह विष्णुत्व आरोपित है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि शतपथ में पौराणिक गाथा का वर्णन नहीं तो है किसका? यह सब गाथा क्या बताने के लिये लिखी गई है? और आरोप किसमें किसका है? इसका उत्तर यह है:—यह कथा यज्ञ की है जैसा कि शतपथ स्वयं ही कह रहा है और आरोप है विष्णुनामक एक कल्पित वामन पुरुष का यज्ञ में। अब इसमें फिर प्रश्न उठ सकता है कि इस कल्पना की क्या आवश्यकता थी और इसमें क्या सौन्दर्य है? सो हम आगे स्पष्ट करते हैं।

इस कल्पना का मर्म समझने के लिये 'यज्ञ' शब्द के अर्थ को लीजिये। इसके तीन अर्थ हैं। पूजा, संगतिकरण और दान। सच्ची पूजा पहिले वामन ही होती है। धीरे धीरे पूज्य के गुणों का परिचय होने पर ही वह बढ़ा करती है। इसीलिये भर्तृहरि ने कहा है:—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्द्ध परार्धभिन्ना छायेव मैत्री खल सज्जनानाम्॥

यही बात दान की है और यही संगति करण की। भेद तो केवल इतना है कि पूजा जहां छोटे की ओर से बड़े की ओर है वहां दान बड़े की ओर से छोटे की ओर और संगति करण समानों में। वस्तुतः तीनों ही संगतिकरण हैं। इसलिये हम यज्ञ का मुख्य अर्थ संगतिकरण समझ लेते हैं, उसी से शेष दोनों की भी व्याख्या समझ लेनी। अच्छा, तो 'यज्ञ' का अर्थ संगतिकरण अर्थात् संगठन है। अर्थात् हमारे सब संगठित कर्म (क्रतु) आरम्भ में वामन होने चाहियें। अर्थात् हमें परिणामशूर होना चाहिये आरम्भशूर नहीं। थोड़े से आरम्भ करने से कार्य अधिक सफलता से होते हैं। इसी बात का यहां वामन और विष्णु रूप में वर्णन किया है। वामन का अर्थ है छोटा और विष्णु का अर्थ है व्यापक (वेवेष्टीति विष्णुः। विष्लृ व्याप्तौ) यज्ञ की सभी क्रियाएं इसी प्रकार हैं। वेदि नीचे से छोटी और ऊपर से चौड़ी होती है। उसमें जो आहुति डाली जाती है वह वामन होती है परन्तु अग्नि में पड़ने से वह विष्णु हो जाती है। वही सामग्री की एक मुट्ठी दूर दूर तक व्याप्त हो जाती है। यही यज्ञ के वामनत्व और विष्णुत्व का मर्म है।

अब आइये देवों और असुरों की पड़ताल करें। असुर कौन हैं? जो अपने स्वार्थ की ही चिन्ता करते हैं, जिन्हें दिन रात यही लगन लगी रहती है कि यहां से यहां तक मेरी, और वहां से वहां तक मेरी। इसके उलट देव कौन हैं? जो विष्णु अर्थात् संगतिकरण को आगे रखते है। उन्हें अपने स्वार्थ की चिन्ता नहीं। उन्हें समाज हित की चिन्ता है। वह जो करते हैं लोक स्वार्थ को आगे रखकर। इसीलिये असुरों के काम अस्तव्यस्त होते हैं। वह आपस में लड़ लड़कर मारे जाते हैं परन्तु यज्ञ करने वाले अर्थात् संगठित लोग चारों ओर से मर्यादा में बंधे रहते हैं। इसी का नाम छन्द है। गद्य और पद्य में यही भेद है। अक्षर वही हैं, पद वही हैं परन्तु जब वे वर्ण और मात्रा की मर्यादा में आजाते हैं तो छन्द होजाते हैं। वर्णाश्रम की मर्यादा से हीन भारतवासी छन्दोहीन भारतवासी हैं। दूसरी ओर यूरोपियन लोग हैं जो हर काम को स्वार्थ के लिये न करके लोक हित के लिये और मर्यादा के साथ करते हैं। इस पर और भी अधिक दुःख की बात यह है कि इतने मर्यादा हीन होने पर भी एक मर्यादाभास को मर्यादा

समझकर भारतवासी और भी अधिक गढ़े में गिर रहे हैं। क्योंकि जो रोगी होकर यह समझे कि मैं स्वस्थ हूं उसे कौन वैद्य बचा सकता है? सच पूछिये तो भारत के इतिहास में हमें वामन की यह कथा जीवित होकर खेलती दृष्टि-गोचर होती है। भारत के हिन्दू और मुसलमान राजा आपस में लड़ रहे हैं। हिन्दू हिन्दू से और मुसलमान मुसलमान से, हिन्दू और मुसलमान मिलकर हिन्दू और मुसलमान से लड़ रहे हैं। सब को अपने स्वार्थ की सूझ रही है। ऐसे समय में बादशाह फर्रूख सियर की लड़की बीमार होती है। एक कोने में छिपी जाति का अज्ञात सा डाक्टर उस लड़की की चिकित्सा करने में सफलता प्राप्त करता है। बादशाह पूछता है 'क्या चाहते हो? मुहमांगा इनाम मिलेगा।' वह अपने लिये कुछ नहीं मांगता। अपनी जाति के लिये व्यापार की कोठी बनाने भर के लिये थोड़ी सी भूमि और कुछ व्यापारिक स्वत्व मांगता है। थोड़े वर्षों के पश्चात् यह सब कम्बख्त आपस में लड़ लड़ कर दासता की दुर्भेद्य बेड़ियों में जकड़े जाते हैं और वह जाति हित को सामने रखने वाली वामन व्यापार की कोठी सारे भारत में अपना साम्राज्य बिछा लेती है। इसका नाम है 'वामन अवतार'। इसको कहते हैं–'ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः'। पर हमारे पौराणिक भाई तो अपने शश शृंगायित विशालकाय विष्णु महाराज को ब्रामा प्रेस में दबाकर बावन अंगुल का बनाने पर तुले हुए हैं। इनकी इस अविद्या ने विष्णु को तो वामन क्या बनाना था इस देश के दिगन्तव्यापी साम्राज्य को ही वामना बना डाला, और सच पूछिये तो लोप ही कर डाला। इसीलिये कहते हैं–'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः'।

और अधिक ध्यान देने योग्य शब्द हैं 'अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः'। जहां पुराण के आलसी देवता विष्णु को भेजकर ही सन्तुष्ट हो गए वहां शतपथ के विष्णु ने तो कुछ भी नहीं किया। वह तो केवल सामने खड़ा था। हां, देवताओं को बहुत कुछ करना पड़ा। उनके लिये लिखा है 'ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्य्यगृह्णन्। तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेन अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः। तेनेमां सर्वां पृथिवी समविन्दन्त।' अर्थात् उन्होंने विष्णु को सामने स्थापित करके चारों ओर से छन्दों से घेर लिया। फिर छन्दों से घेर कर अग्नि प्रज्वलित करके निरन्तर पूजा और परिश्रम करते रहे जिससे उन्होंने समग्र पृथ्वी को पा लिया। जो समय पौराणिक देवताओं के ढोल बजाने

का था उसी समय शतपथ के देवता 'अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः' अर्थात् भजन और परिश्रम करते रहे। लोभ के मिट्टी के ढेरों ने जिनके हृदयों से लोक हित की अग्नि सदा के लिए बुझादी है वह इस वामन की कथा का मर्म क्या जानें ?

अब हम शतपथ का वह सम्पूर्ण उद्धरण देकर उसका अक्षरार्थ नीचे लिख देते हैं जहां से हमने यह कथा ली है।

"देवाश्च वाऽअसुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनुव्यमिवासुरथहासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति ॥१॥ त होचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्योपजीवामेति तामौक्ष्णैश्चर्मभिः पश्चात्प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः ॥२॥ तद्वै देवाःशुश्रुवुः। विभजन्ते ह वाऽइमामसुराःपृथिवीं प्रेत तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते के ततः स्याम यदस्य न भजेमहीति ते यज्ञमेव विष्णु पुरस्कृत्येयुः ॥३॥ ते होचुः। अनुः नोऽस्यां पृथिव्यामा भजता स्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति ते हासुरा असूयन्त-इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वो दद्म इति ॥४॥ वामनो ह विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्ये नोयज्ञसम्मितमदुरिति ॥५॥ ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य। छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन् गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति-दक्षिणतस्त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति पश्चाज्जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरतः ॥६॥ तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य। अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तेनेमा ँ सर्वां पृथिवी ँ समविन्दन्त।"

"देव और असुर। ये दोनों प्रजापति की सन्तान आपस में स्पर्द्धा करने लगी। उधर देव चुपचाप से बैठे थे। इधर असुरों ने समझा चलो सब दुनियां अपनी ही है वह कहने लगे 'आओ। सब दुनियां बांट डालें और बांट के मौज उड़ाएं। (नापने के लिये) बैल के चमड़े ले लेकर पूर्व पश्चिम बांटना आरम्भ कर दिया। यह बात देवताओं ने भी सुनी। असुर लोग सब दुनियां बांटे डाल रहे हैं चलो वहीं पहुंचेंगे जहां इसे असुर बांट रहे हैं। भला हम किस गिनती में होंगे यदि हम कोई हिस्सा न लेंगे ? वह यज्ञ रूप विष्णु को आगे रखकर जा पहुंचे। वहां पहुंच कर बोले-कुछ इस पृथ्वी में हमारा भी हिस्सा निकाल दो। आखिर कुछ हमारा भी तो हिस्सा होना चाहिये। इस पर असुर लोग कुछ जलते हुए से बोले जितने में विष्णु लेट जाय उतनी तुमको देंगे। विष्णु तो बिलकुल बौना था पर देवता बिलकुल न घबराए। बोले 'यज्ञ के नाप की भूमि देदी बस बहुत देदी।' उन्होंने विष्णु को आगे रखकर चारों ओर से छन्दों से घेर

लिया। 'गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' यह कह कर दक्षिण की ओर 'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' यह कह कर पीछे 'जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' यह कर उत्तर की ओर से घेर लिया। इस प्रकार उसे छन्दों से घेर कर सामने की ओर अग्न्याध्यान करके (परमेश्वर का) अर्चन करते हुए तथा श्रम करते हुए विचरने लगे। इससे इस सारी पृथ्वी को पागए।"

इस लेख में वामन-अवतार की व्याख्या कर दी गई है। अगले किसी लेख में छन्दों की तथा विष्णु के तीन क्रमों की व्याख्या की जायगी। हां, निर्देश-मात्र के लिये यहां इतना लिख देना पर्याप्त है कि इन शब्दों से शतपथ ने वर्णाश्रम मर्यादा का ग्रहण किया है। इस लेख में इस बात का केवल एक ही प्रमाण पर्याप्त होगा 'ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुप्'। अर्थात् गायत्री (छन्द) नाम ब्राह्मण का और 'त्रिष्टुप्' क्षत्री का है। [शत० कां० १।३।२।५]।

श्रीमद् भगवद्गीता और अवतार-वाद।

[ले०—श्री० विश्वनाथजी आर्य्योपदेशक]

गीता के कई श्लोकों में भगवान् कृष्ण की ओर से अपने आप को परमात्मा कहना मिलता है। आर्य विद्वद्वर इस का कई प्रकार से समाधान करते हैं।

पौराणिक पंडित इसी से कृष्ण को ईश्वर का अवतार सिद्ध करते हैं। और इस के लिये "यदा यदा हि धर्मस्य" गीता ४-६ का प्रमाण उपस्थित करते हैं और अवतार वाद के लिए आज कल सर्वसाधारण की वाणी पर यह श्लोक रहता है। 'आर्य' के किसी गताङ्क में गीता के स्वरूप के सम्बन्ध में हम अपना विचार प्रकट कर चुके हैं। कृष्ण के ईश्वर भाव विषयक श्लोकों का कुछ ही अर्थ हो परन्तु उपरिलिखित श्लोक अवतार वाद का प्रतिपादक कदापि नहीं इसी विचार को यहां दृढ़ किया गया है।

किसी ग्रन्थ के किसी श्लोकादि के तात्पर्य जानने के लिए सात बातों का जानना आवश्यक होता है। जैसा कि—

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्तिश्च लिंगं तात्पर्य निर्णये॥

अर्थ—तात्पर्य निर्णय के सात चिन्ह हैं। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति। उपर्युक्त श्लोक के अर्थ करने के समय अवतार

वादी महानुभाव उपक्रम से सर्वथा निरपेक्ष हो जाते हैं। यही कारण उन के यथार्थ न जान सकने का है। यदि वह इस पर थोड़ा सा भी विचार कर लें तो उन को सत्यता दृष्टिगोचर होने लगे, अस्तु। गीता के चतुर्थाध्याय के प्रथम श्लोक में कृष्ण अर्जुन को कहते हैं:—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ गी०-४-१

अर्थ—हे अर्जुन! यह अव्यय योग मैंने पहले विवस्वान् को कहा उस ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु के लिये उपदेश किया इत्यादि। तब अर्जुन को सन्देह होता है और वह पूछता है:—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्थ—हे कृष्ण! आप का जन्म अब हुआ परन्तु विवस्वान बहुत पहले हो चुका। मैं यह कैसे जानूं कि तूने उस समय भी उपदेश किया?

इस का उत्तर देते हुए भगवान् कृष्ण अर्जुन को कहते हैं:—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥५॥

अर्थ—हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके हैं। मैं सब को जानता हूं। तू नहीं जानता। आगे अपने जन्मों के विषय में ही यह श्लोक कहा गया है:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

अर्थ—हे अर्जुन! जब २ धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब आत्मा को उत्पन्न करता हूं। इस प्रकार उपक्रमोपसंहार देख लेने से प्रत्येक विचारशील पुरुष इसी परिणाम पर पहुंचता है कि इस स्थान पर भगवान् कृष्ण अपने आप को जीव मान कर ही अपने जन्मों का कथन कर रहे हैं। अवतार वाद की इन श्लोकों में गन्ध भी नहीं पाई जाती।

परन्तु पौराणिक पंडित कहते हैं कि यहां अपने जन्मों का अभिप्राय अवतार ही हैं। यदि यह बात थी तो स्पष्ट क्यों न कह दिया कि हे अर्जुन

तू नहीं जानता कि मैं ईश्वर का अवतार हूं और मैंने अमुक अवतार धारण करके विवस्वान् को इसी गीता का उपदेश किया। परन्तु समग्र गीता में भी अवतार शब्द नहीं पाया जाता और सम्पूर्ण पुराणों में विष्णु के किसी ऐसे अवतार का उल्लेख नहीं जिसने विवस्वान् को गीता का उपदेश किया हो। इस अवस्था में उपर्युक्त श्लोकों को अवतार वाद पर लगाना किसी भी बुद्धिमान को स्वीकार नहीं हो सकता।

उपरिस्थित श्लोक सं० ५ में कृष्ण के इस कथन से कि तेरे और मेरे बहुत से जन्म व्यतीत होचुके हैं, और भी स्पष्ट होजाता है कि कृष्ण अपने जन्मों को अर्जुन के सदृश ही मानते हैं। अर्जुन जीव था अतएव कृष्ण भी अपने आपको यही सिद्ध कर रहे हैं।

पुराणों में अर्जुन और कृष्ण को नर नारायण का अवतार माना है और अर्जुन को इन्द्र का अंश भी। परन्तु यह दोनों बातें जहां एक दूसरे के विरुद्ध हैं वहां गीता के भी प्रतिकूल हैं। अर्जुन को नर कहने का आशय तो उसके जीव होने का ही है। परन्तु यदि वहां गीता को कोई देवांश अवतार अभीष्ट होता तो कृष्ण उसे यह न कहते कि तू अपने जन्मों को नहीं जानता। क्योंकि अवतारों को अपना पिछला जन्म विस्मृत नहीं होसकता।

इसके अतिरिक्त गीता का समग्र उपदेश अर्जुन को जीव मान कर ही दिया गया है। अर्जुन कृष्ण तथा अन्य योद्धाओं को ही समक्ष में रखकर "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि २-२३" इत्यादि श्लोकों में जीव की नित्यता का उपदेश किया है तथा अर्जुन को कहा है किः—

हतो वा प्राप्स्यासि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ॥२-२३॥

अर्थ—हे अर्जुन! यदि तू युद्ध में मारा जावेगा तो स्वर्ग प्राप्त करेगा, जीतेगा तो पृथिवी का राज्य भोगेगा। इसलिये युद्ध का निश्चय करके उठ।

कृष्ण ने जन्म लिया यह गीता २-१२ में तो सर्वथा ही स्पष्ट कर दिया है। इस में जहां भगवान् कृष्ण ने अपने जन्मों को अर्जुन के जन्मों सदृश माना है वहां सब राजाओं के साथ भी मिला दिया है। इसके अतिरिक्त अपने अगले और पिछले जन्म का उल्लेख करके अपने जीव होने का ज्वलन्त प्रमाण उपस्थित कर दिया है। जैसा कि—

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥२–२३॥

अर्थ—हे अर्जुन ! इस जन्म से पहले क्या मैं नहीं था, तू नहीं था कि या यह योद्धा राजा नहीं थे । और मरने के पश्चात् क्या हम सब नहीं होंगे ? ऐसा नहीं । किन्तु इस जन्म से पहले भी थे और मर कर फिर भी उत्पन्न होंगे। अगले श्लोक में भी सब को जीव मानकर ही यह कहा गया है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।२–१२॥

अर्थ—जीवात्मा जैसे इस शरीर में पहले कुमार फिर युवा, पश्चात् वृद्ध होता है ऐसे ही इसका पुनर्जन्म होता है। बुद्धिमान् वहां भी मोह नहीं करते। इसके आगे जीवात्मा का ही वर्णन है और पूर्व श्लोक के साथ सम्बन्ध रखने से कृष्ण अर्जुन और राजाओं का ही वर्णन किया जा रहा है। अतएव यह सब जीव ही थे।

महाभारत वनपर्व अध्याय १२ में कृष्ण जब पांडवों के पास आते हैं और दुर्योधन के कर्म कुकर्म से क्रोधाविष्ट होजाते हैं तो उस समय शान्ति के लिये अर्जुन कृष्ण के पिछले जन्मों का वर्णन करते हैं। यद्यपि यह अध्याय भी पौराणिक भावों की मिलावट से रिक्त नहीं परन्तु निम्न श्लोकों में उनका जो पुरावृत्त लिखा गया है। उससे भी अवतार वाद की सिद्धि नहीं होती।

सक्रुद्धं केशवं दृष्ट्वा पूर्व देहेषु फाल्गुणः ।

कीर्त्तयामास कर्माणि सत्यस्यामित तेजसः ॥१०॥

दशवर्ष सहस्राणि यत्र सायं गृहे मुनेः ।

विचरस्त्वं पुरा कृष्ण पवते गन्ध मादने ॥११॥

दशवर्ष सहस्राणि दशवर्ष शतानि च ।

पुष्करेष्ववसः कृष्ण त्वमपोभक्षन् पुरा ॥१२॥

ऊर्द्ध्वे बाहुर्विशालायां वदर्य्यां मधुसूदन ।

अतिष्ठ एकपादेन वायुः भक्षः शतं समः ॥१३॥

अवकृष्टोत्तरः संगः कृषोधमनि संततः ।

आसीःकृष्ण सरस्वत्यां सत्रे द्वादश वार्षिके ॥१४॥
प्रभासमप्यथासाद्य तीर्थं पुण्य जनोचितम् ।
तथा कृष्ण महातेजः दिव्यं वर्ष सहस्रकम् ॥१५॥
अतिष्ठस्त्वथैकेन पादेन नियमस्थितः ।
लोकप्रवृत्ति हेतोस्त्वमितिव्यासो ममाब्रवीत् ॥१६॥

अर्थ—कृष्ण को क्रोधित देख अर्जुन उनके पिछले जन्म का वृत्त कहने लगा ॥१०॥ हे कृष्ण ! गन्धमादन पर्वत पर तू दसहज़ार वर्ष (दिन) विचरा ॥११॥ पुष्कर में जल पीकर ११ सहस्र वर्ष निवास किया ॥१२॥ विशाल वदरी स्थान में ऊपर को भुजा किये हुए एक पाद से स्थित वायु भक्षण करते हुए सौ वर्ष स्थित रहा ॥१३॥ सरस्वति मे द्वादशवर्ष के यज्ञ में ऐसा तप किया जिससे शरीर ऐसा कृष होगया कि शरीर में नाड़ियां ही रह गई ॥१४॥ प्रभास तीर्थ में दिव्य सहस्र वर्ष तक एक पाद से तप किया लोक प्रवृत्ति के लिये ऐसा मुझे व्यास ने कहा ॥१५-१६॥

इन में वदरी में तप करने का सम्बन्ध पुराणों के अनुसार नर नारायण अवतार के साथ होसकता है । परन्तु अर्जुन जो नरावतार कहा जाता है उसकी अनभिज्ञता प्रकट करने से महाभारत का यह मत प्रतीत नहीं होता ।

गीता के विषय में एक यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि जीव अपने गत जन्म का वृत्त नहीं जान सकता । परन्तु कृष्ण ने कहा है कि मैं अपना पुरावृत्त जानता हूं । इसका समाधान यह है कि सर्वसाधारण जीव नहीं जानते । परन्तु योगी जान सकता है । जैसा कि—

संस्कार साक्षात्करणात् पूर्व जाति ज्ञानम् ॥ योगदर्शन ॥३-१८॥

संस्कारों के साक्षात् करने से योगी अपनी पूर्व जाति को जान सकता है ।

अपरिग्रह स्थैर्ये जन्मकथान्तर संबोधः ॥२-३९॥

अपरिग्रह की स्थिरता से योगी पूर्वजन्म का वृत्तान्त जान लेता है । भगवान् कृष्ण योगिराज थे अतएव उनके विषय में यह बात असम्भव नहीं हो सकती । आशा है हमारे पौराणिक भाई इस लेख पर पक्षपात को छोड़ कर विचार करते हुए सत्य का ग्रहण करेंगे ।

——:o:——

भूत-विद्या (SPIRITISM)

लेखक—श्री केशवदेव ज्ञानी (आन्ध्र)

जब से मनुष्य पैदा हुआ है, "भूत" और "प्रेत" सम्बन्धी विश्वास भी तभी से जारी हैं। किसी देश में जाओ और किसी धर्म या जाति के इतिहास की परीक्षा करो, कुछ न कुछ इस विषय में अवश्य पाओगे। वर्तमान में पश्चिमीय-विज्ञान की उन्नति के साथ २, हमने समझा था कि 'भूत" और "पिशाच" न रह सकेंगे। परन्तु गत बीस वर्षों की Psychical Research अर्थात् 'मनो विज्ञान-अन्वेषण' ने इस भूत-विद्या को भी Supernatural Science का नाम दिया है। आज बड़े २ योरप और अमरीका के वैज्ञानिक इन आध्यात्मिक सोसाइटियों के प्रधान और मन्त्री हैं। और यह भी एक बाकायदा विज्ञान का विषय समझा जाता है।

अभी उस दिन सर टी, सदाशिव ऐयर, एक प्रसिद्ध थियोसोफिस्ट गुण्टूर में आए हुए थे। उनके एक व्याख्यान का विषय जो कि उन्होंने टौनहाल में दिया, "Life Beyond Death" (मृत्यु के बाद का जीवन) था। इसमें इन्होंने हिन्दू-श्राद्ध का समर्थन करते हुए कहा:—"मनुष्य जब मरता है तब उसका सूक्ष्म-शरीर आत्मा के साथ इस भौतिक देह को छोड़ कर "प्रेत-लोक" को जाता है। क्योंकि मृत्युकाल में इसकी वासनाएं वैसी की वैसी थीं, इसलिये उसके अनन्तर भी अपने सूक्ष्म-शरीर द्वारा उन्हीं पुरानी वासनाओं का चिन्तन करता है, और उन्हीं में आनन्द ढूंढता है। ऐसी अवस्था में जब उसकी सन्तान या अन्य उत्तराधिकारी कुछ ब्राह्मणों को बुला "पिण्डक्रिया" करता और उत्तमोत्तम अन्न और वस्त्रादि देता है, तब वह मृत-आत्मा ब्राह्मण के शरीर द्वारा अपनी भौतिक इच्छाओं की तृप्ति करती है। इसीलिए कहा है:—

यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः।
ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितॄणामेतदीप्सितम् ॥ मनु० ३।२३१॥

अर्थात् जो २ पदार्थ ब्राह्मणों को अभीष्ट हो वह उन्हें देना चाहिये क्योंकि वही पितरों को अभिप्रेत होता है।

* * * * * *

"भूत-विद्या" के अन्वेषण के लिये पश्चिम में सन् १८८२ में एक सभा

स्थापित की गई थी जिसका नाम Society for Psychical Research है इसका मुख्य-स्थान २९, Honover Square 1' London,W...........है।

गत ४३ वर्षों में इसने जो सफलता प्राप्त की है, उसके प्रमाण के लिये इस सभा के भूतपूर्व प्रधानों के नाम जानना पर्याप्त है। नीचे के कुछ नामों से पाठक अनुमान कर सकते हैं कि कितने बड़े २ वैज्ञानिक, दार्शनिक और मनोविज्ञान वेत्ता इसके विचारों से सहानुभूति रखते हैं। सबसे पहिले प्रोफेसर हेनरी सिजविक, लिट. डी. सी. ऐल, जो कि उक्त सभा के प्रथम प्रधान और मन्त्री थे। फिर राइट आनरेबल ए. जे. बैलफोर, प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स, सर डब्ल्यू क्रुक्स, सर ओलिवर लाज, प्रो. सी. रिश्टे ऐम. डी, मिस्टर ऐण्ड्रयू. लैन्ग ऐम. ए. ऐल. ऐल. डी. इत्यादि।

उपरोक्त सभा के वर्षों की खोज का परिणाम सभा की मनोवैज्ञानिक लाएब्रेरी से पता चलता है। इसमें इस समय कई सौ जिल्दें इस विषय पर लिखी गई हैं। हज़ारों परीक्षण और निरीक्षण इन में दर्ज हैं। ऐसी अवस्था में "भूत-विद्या" के विषय को केवल "अन्ध-विश्वास" और "मूर्खों को ठगने के उपाय" कहने से काम न चलेगा। आर्य्य-समाज (जो कि पूर्वीय साहित्य का यौक्तिक प्रचारक है) को चाहिये कि वह भी अपना पक्ष इस आध्यात्मिक विषय में संसार के सामने रक्खे और वेद-शास्त्रों के प्रमाणों से सिद्ध करे कि इन हज़ारों मानसिक और अ+प्राकृतिक (Supernatural) घटानाओं का समाधान इस प्रकार है।

* * * * * *

संक्षेपतः "भूत विद्या" के २ विभाग किये जा सकते हैं। १म, जिस में मनुष्य की अपनी 'आत्मा' काम करती है। और २य, जिसमें किसी अन्य की आत्मा का प्रभाव उस पर होता है। उदाहरणार्थः—

(१) Thought Reading—दूसरे के विचारों को विना कहे हुए समझना। जैसे एक मनुष्य ने किसी स्थान, किसी व्यक्ति और किसी कार्य के विषय में अपने हृदय में विचार किया है, उसे विना पूछे हुए स्वयं ठीक २ जान लेना। यह मनुष्य की अपनी आत्मिक शक्ति से होता है! परन्तु Thought Transfrence या Telepathy जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपने विचार विना जीभ और अन्य कर्मेन्द्रिय हिलाए केवल मनो प्रेरणा द्वारा समझाता है,

वह अन्य-आतमा का प्रभाव समझना चाहिये। टैलीपेथी के भी फिर २ भेद हैं। एक में तो दूसरा व्यक्ति पहिले व्यक्ति को प्रयत्न पूर्वक अपना सन्देश पहुंचाता है, और दूसरे में एक की इच्छा मात्र से ही दूसरे को उस विषय का प्रत्यक्ष होता है। इसके उदाहारणार्थ निम्न घटना हम उद्धृत करते हैं:—

"सन् १८४८ के ९ सितम्बर को जब अंग्रेज "मुलतान" पर आक्रमण कर रहे थे, तब मैजर जनरल रिचर्डसन एक सेना का अधिपति था। उक्त तारीख की सायंकाल मिसिज़ रिचर्डसन को (जो कि उस समय मुलतान से १५० मील दूर पर फिरोज़पुर में बैठी हुई थी) अचानक यह विचार आया कि उसका पति युद्ध में घायल हो गया है, और उसके साथी उसे बाहिर उठा ले जारहे हैं। उस अवस्था में मिस्टर रिचर्डसन अपने साथियों को सम्बोधन करके कह रहा है कि "Take this ring off my fingers and send it to my wife" यह मुन्द्री मेरी अंगुली से निकाल कर मेरी धर्मपत्नी को भेज दो। पाठक! याद रखिये कि अभी तक टैलीग्राफ और टैलीफोन ईजाद भी नहीं हुए थे। ऐसी अवस्था में कई दिनों के बाद मिसिज रिचर्डसन को पता लगा कि सचमुच उसी ९ तारीख को उसी समय जब कि उसे यह विचार आया था, उसके पति को भयानक चोट लगी, जिसके कारण उसको उठाकर बाहर ले जाया गया जिस बीच में उसने अपनी मुन्द्री उतार कर भेजने की बात कही।

(२) यह तो हुआ जीवित आतमाओं के विषय में। मृत आतमाओं के विषय में भी कई लोगों को विशेष प्रकार के अनुभव होते हैं। उदाहरण के लिए हमारा नौकर है जिस का नाम है "रत्तैय्या"। इस की आयु लगभग ४३ वर्ष की है। कोई ६, ७ वर्ष हुए जब इस की स्त्री गुज़र गई। तब से इस को अपनी स्त्री की 'छाया' अपने चारों ओर घूमती हुई नज़र आती है; विशेष कर रात के समय अंधेरे में। कभी २ वह आकर इस के शरीर पर अपना अधिकार करती है। इस का सिर पर अधिक प्रभाव पड़ता है। सिर की दर्द, सिर का भारीपन इस के चिन्ह हैं।

चाहे वस्तुतः यह उस की मृत स्त्री की आतमा हो या 'रत्तैय्या' की अपनी कल्पना, परन्तु ऐसे उदाहरण एक नहीं, सौ नहीं, हज़ारों हैं। इस में भी जैसा २ दर्पण हो, वैसी २ प्रतिकृति आती है। यदि मीडियम नीच प्रकृति का हो तो नीच विचारों की आतमाएं उस पर अपना प्रभाव करती हैं, और यदि मीडियम सात्त्विक प्रकृति और उच्च विचारों का हो तो उस के विपरीत।

गत कांग्रेस के समय बैलगाम में एक "अखिल भारतवर्षीय स्पिरिट्युअल कान्फरेंस" हुई थी, जिस के सभापति बंगाल के प्रसिद्ध सम्पादक बाबू पीयूश कान्ति घोष थे। उस कानफरेंस में मिस्टर के०पी०कामठ ऐम० ए० ने एक परलोक गत आत्मा का जो कि अपने आप को *Poor Sanyasin* कहती है, सदेश पढ़ा था। उस में जातीय-एकता और हिन्दू धर्म की रक्षा पर विशेष बल दिया हुआ था।

इसे Automatic writing या speaking कहते हैं जिस में कोई दिवंगत आत्मा किसी मीडियम के शरीर द्वारा स्वतः लिखती या बोलती है। इन्हीं आध्यात्मिक परीक्षणों के कुछ और भेद हैं जिन्हें Divining या Dowsing कहते हैं। इस में Dowser बिना विशेष ज्ञान के भूमि के अन्दर की चीजें, यथा कोने, चश्मे, इत्यादि का पता देता है। इसके सिवाय Elairvoyance, crystal gazing और Visidical-Hallvcinations भी विशेष मानसिक सिद्धियें हैं, जिन में मनुष्य बिना इन्द्रियों के सम्बन्ध के दूर देशों और स्थानों के सत्य-समाचार जान सकता है।

इन सब के उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु स्थानाभाव से ऐसा नहीं किया। Mismerism और Hypnotism के सम्बन्ध में भी इसी कारण कुछ नहीं लिखा। Suggestion और Faith healing के विषय में फिर कभी विस्तार से लिखेंगे।

पिछले कुछ वर्षों से भारतवर्ष में भी इस "भूत-विद्या" सम्बन्धी परीक्षण किये जा रहे हैं। "थियोसफ़ी" ने इस में अधिक भाग लिया है। अभी पिछले दिनों जो "अन्तर्राष्ट्रीय-स्पिरिट कानफरेंस" पेरिस में हुई, उस में भारतवर्ष का भी एक प्रतिनिधि गया था। उसे शायद पाठक जानते होंगे। वह मिस्टर वी० डी० रिषी, बी० ए० ऐल० ऐल० बी० महाराष्ट्र के रहने वाले हैं।

संक्षेपतः, इस प्रकार हम ने प्रस्तुत लेख में "भूत-विद्या" के पूर्व पक्ष को उठाया है। यदि समय मिला तो "उत्तर पक्ष" भी कभी आगे लिखेंगे॥

——o——

तृतीय-सर्ग

विगत-सहस्राब्दी के विजयी-प्रधान-महारथी, ब्रह्मर्षि श्री विरजानन्दजी, सरस्वती को-

* वेदाऽर्थ-तालिकाऽप्ति ? *

(अक्तूबर मास से आगे)

"श्रद्धावान् लभते-'ज्ञानं', तत्-परः संयतेन्द्रियः।
'ज्ञानं' लब्ध्वा, परां शान्तिमचिरेणाऽधिगच्छति ॥"

[गीता—अध्याय ४]

५३—फिर छोड़ कर-'अलवर', भरतपुर-भूप को दर्शन दिए,
'बलवन्तसिंह' नरेन्द्र ने ब्रह्मर्षि को सत्-कृत किए।
'षण्मास' शुश्रूषा वहां श्रीमान की होती रही,
महाराज में नरराज की श्रद्धा-सरित् तब थी बही ! १

* * * *

५४—ब्रह्मर्षि की राजाधिराज-परातम-प्रभु में भक्ति थी,
आ-जन्मतः छूई कभी उन से न विषयाऽऽसक्ति थी !
जिन में रही वह 'राज्य की सर्वोच्च-शासन-शक्ति' थी,
उन राजराजों की अहो ! महाराज में अनुरक्ति थी !! २

* * * *

५५—जब राजगुरु उस राज्य से करने लगे प्रस्थान थे—
नृप ने 'दुशाला, चार-सौ रुपये' किए तब दान थे !
फिर आगए 'मुरसान, टीकमसिंह भूपति के यहां'
सत्कार श्रद्धा से किया उस भूप ने उन का वहां ! ३

* * * *

५६—'मुरसान' से श्रीमान ने प्रस्थान 'सोरों' को किया,
उन को भयंकर-रोग ने आ घेर सोरों में लिया !
बढ़ता गया वह रोग, आकृति मृत्यु-की-सी-आ-बनी,
पर खोज कर वेदाऽर्थ की कुञ्जी उन्हें थी सौंपनी !! ४

* * * *

५७—कर डालती जो मृत्यु उन का उस समय संहार ही—
तो, हम-करोड़ों कर न सकते वेद का उद्धार ही !
सुनते न घर घर आज वैदिक गान का गुञ्जार भी,
उस वेद के होता न सत्य-समीर का सञ्चार भी ! ५

* * * *

५८—कब हम 'हमारी-सभ्यता' को विश्व को सकते दिखा ?
हां, यह जनेऊ टूटते, होती न शिर पर ही शिखा !
सुनते अमिट कब नाम 'विरजानन्द जी, महाराज का ?
'झंडा विदेशों में न गड़ता' आज 'आर्य-समाज' का ! ६

* * * *

५९—सुनते दयानन्दर्षि के उस घोष का अनुनाद कब ?
होता 'जड़ों की अर्चना' का दूर आज प्रमाद कब ?
फिर वह विकट शास्त्रार्थों का वायु कब बहता यहां ?
औ-आर्यों के वक्ष पर होती विजय-माला कहां ? ७

* * * *

६०—लेनी दयानन्दर्षि ने गुरु-दक्षिणा भी थी यहीं !
क्यों इस लिए ब्रह्मर्षि उठ कर 'स्वस्थ' हो जाते नहीं ?
संपन्न हो फिर स्वास्थ्य से विचरे वही संसार में,
पावन-प्रवेश किया उन्होंने मधुपुरी के द्वार में !! ८

* * * *

६१—रस(६)अङ्क(९)वसु(८)विधु(१)विक्रमीमेंआगएश्रीमानथे,
टिक एक मन्दिर में, रहे कर दिव्य विद्या-दान थे !
श्रीमान ने 'विश्रान्त[1]' पर कुटिया किराये को लई,
विद्यार्थियों के अर्थ वह विद्यावती-सी बन गई ! ९

* * * *

६२—वे 'न्याय', 'कोष', 'मनोरमा', 'मुक्तावली' औ, कौमुदी-
सब सामायिक पढ़ने लगे थे छात्र नित्य जुदी-जुदी !
आए वहां कुछ काल में फिर एक 'रङ्गाचार्य' थे—
जो सेठ 'राधाकृष्ण' के बनने लगे आचार्य थे— १०

* * * *

१—विश्रान्त-घाट=मथुरा का एक प्रमुख-बाज़ार।

६३—वे थे, स्वयं वैष्णव, उन्हों के कृष्ण-शास्त्री दक्षिणी—
आए हुए थे 'गुरु' वहां, विद्वज्जनों के अग्रिणी !
वे कृष्ण-शास्त्री न्याय औ, व्याकरण के विद्वान थे,
दो[1]-शिष्य व्याकरणी उन्हों के साथ में मतिमान थे ! ११

* * * *

६४—महाराज के भी सिंह-से इस ओर के थे शिष्य दो[2] !
बस, 'एक ही तो वाक्य पर' उनका गया 'शास्त्रार्थ हो !
वह था—'अजाद्युक्तिः', हुआ वह वाद भिन्न समास पर,
मत 'सप्तमी-तत्पुरुष' उन का और 'षष्ठी' था इधर ! १२

* * * *

६५—उन में न निपटा वाद, पहुँचे गुरु-जनों के पास वे,
करने लगे त्यों ही गुरुद्वय भिन्न भिन्न समास वे !
उद्यत हुए तब आप दिग्-गज दिव्य-दंगल के लिए,
बाज़ी लगा, इस ओर दो-सौ संग रुपये रख दिए !! १३

* * * *

६६—मध्यस्थ राधाकृष्ण ने वे चार-सौ मुद्रा धरी,
निज-ओर से 'शत-मुद्रिका' देनीं जयी को भी करीं !
मन्दिर 'गताश्रम' स्थान, औ-दिन-काल भी निश्चय किया,
इस 'चारु-चर्चा' ने वहाँ सब ओर शोर मचा दिया ! १४

* * * *

६८—जो देखते थे नित्य दंगल, अन्न कीटों के जहाँ—
उत्सुक रहे वे शास्त्रियों के दिव्य-दंगल-हित तहाँ !
भेजे वहाँ महाराज ने निश्चित समय वे छात्र दो,—
'श्रीकृष्ण जी आए नहीं या'—यों निरीक्षण-मात्र को ! १५

* * * *

६९—सोचा व्रती ने—'आगए हों तो चलें हम भी वहाँ !'
पर हा ! वहाँ पर न्याय से शास्त्रार्थ होना था कहां ?

१—लक्ष्मण ज्योति और मुरमुरिया पण्ड्यया।
२—चौबे गङ्गादत्त और चौबे रङ्गदत्त।

जब कृष्ण जी का ही मनस्तल था तलातल जा रहा!
जब मानिनी-सा मान था अपमान से भय खा रहा!! १६

*   *   *   *

७०—देते कुल्हाड़ा न्याय पर, उनको न हा! आई दया!
उन छात्र दोनों को परस्पर हा! भिड़ाया तब गया!
निश्चय भला क्या होसके था?-जब मचादी धाँधली!
बस, 'हार स्वामी की' कही, 'जय जान्हवी' की बोलली! १७

*   *   *   *

७१—उन लठ्ठ मारों को वहाँ रुपये वहीं बटने लगे!
पर हृत हृदयवाले जनों के तब वहाँ फटने लगे!
वे कह रहे थे—'न्याय पर कैसी भयंकर मार है?'
स्वामी नहीं आए, हुई यों आप ही क्यों हार है? १८

*   *   *   *

७२—इस धर्म-हिंसा को अहो! वे धर्म-धी[1] कैसे सहें?
यों 'न्याय के गल पर छुरा' वे देख, चुप कैसे रहें?
तब मिल-, 'अलेग्जण्डर' कलेक्टर से, कहा इस ही लिए-
—'रुपये दिलादें सेठ से शास्त्रऽर्थ या करवाइए!' १९

*   *   *   *

७२—तब यों कलेक्टर ने कहा—'झगड़ा न करिए, आप अब,
वे हैं—'धनी,' इस-हेतु बस, हो जाइए चुप चाप अब!
इस में करेंगे आप रुपया खर्च एक कभी कहीं—
तो, वे हजारों खर्च करेंदगे सहज ही में वहीं'!!' २०

*   *   *   *

७३—देकर दुहाई विश्व को गुञ्जा रहे जो 'न्याय' की,
जो 'न्याय' को सम्पत्ति कहते प्राप्त अपनी 'दाय' की!
जो न्यायकारी 'न्याय, आसन पर डटे' हैं तब रहे!!,
वे किस तरह 'अन्याय-गुरु' को व्यक्त दे तन-मन रहे!! २१

*   *   *   *

१—धर्म-धी-स्वामी।

७५—श्रीमान ने काशी लिखे दल[1] थे व्यवस्था के लिए,
वे चाहते थे—'सत्य निश्चय ही कराना चाहिये !!
तब 'गौड़-(?) स्वामी' और 'काकाराम[2],' 'काशीनाथ[3]' थे
जीवित वहां विद्वान, पर कटवा चुके वे हाथ थे ! २२

* * * *

७५—रोती हुई यों हाथ ! उनकी पत्रिका भी आगई:—
—'उस सेठ ही ने 'घूंस' छाती में हमारे भी दई !
जिस हाथ से खा-'पाप-धन,' हम पेट, आप डटा चुके,—
कैसे उसी से सच लिखें ?-यह हाथ पूर्व कटा चुके !! २३

* * * *

७६—'है पक्ष यद्यपि आप ही का सत्य, पर कैसे भला—
सम्मति लिखें ?—जब सेठ को मत-पत्र पूर्व गया चला !'
श्रीमान ने सोचा—'अहो ! अन्याय का डंका बजा !
क्यों डूबने कर धार पण्डित-मण्डली ने ली ध्वजा ? २४

* * * *

७७—सोचा तभी—'अन्याय क्या हरदेश में होगा भरा ?'
यों राज-पण्डित की व्यवस्था-हेतु आए—'आगरा,'
जब बोर्ड[4] नायक से लई कर भेंट स्वामीने वहां—
तब 'चरणजीव[5] मिले उन्हें जो राजपण्डित थे तहां ! २५

—सन्तलाल दाधिमथ

१—दल-पत्र ।
२—पं० काकारामशास्त्री ।
३—काशीनाथ „
४—बोर्ड-सदर बोर्ड=उच्चकचहरी ।
५—पं० चरणजीव शास्त्री, धर्म-शास्त्र की व्यवस्थादेने वाले ।

वेदार्थ दीपक निरुक्त भाष्य ।

(समालोचना)

श्री पं० चन्द्रमणि जी ने अपने किये निरुक्त भाष्य की एक प्रति हमें शताब्दी के अवसर पर दी थी अर्थात् पुस्तक के प्रकाशित होने के साथ ही। गुरुकुलोत्सव पर उक्त पुस्तक के विषय में हमसे सम्मति देने के लिये भी आग्रह किया था।

आर्य समाज के दृष्टिकोण से निरुक्त के अध्ययन का प्रथम यत्न श्री चन्द्रमणि जी ने ही किया प्रतीत होता है। पण्डित जी गुरुकुल में वेदोपाध्याय हैं। उन्होंने निरुक्त पढ़ा और पढ़ाया है। जैसा उनका भाष्य देखने से पतालगता है, उन्होंने यास्क का अर्थ उद्घाटित करने में वर्षों परिश्रम किया है। जभी यह ग्रन्थ-रत्न निर्मित हो सका है। दूसरा भाग प्रकाशित होजाने पर निरुक्त के अध्येताओं को अत्यधिक लाभ होगा यह संभावना कुछ दुरूह संभावना नहीं।

पुस्तक के समालोचन से हम कुछ तो समयाभाव से रुके हुए थे और कुछ विचार यह था कि समग्र पुस्तक पर एक ही वार दृष्टिपात करना चाहिये। समय की कठिनाई आफ्रिका में आकर—फिर यहां भी नैरोबी के कार्य से निवृत्त हो कर—दूर हुई। दूसरे भाग के प्रकाशन में संभव है, हमारे इन साधारण विचारों से लाभ उठाया जा सके। हमने अपना समालोचन इसी समय उपस्थित करना उचित समझा है।

भाष्यकर्ता पहिले पुस्तक-निर्माता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किया करते हैं। संभव है पण्डित जी दूसरे भाग में इस त्रुटि की पूर्ति करें। निरुक्त से पूर्व निघण्टु का पाठ दे देने से पण्डित जी ने विद्यार्थियों का उपकार किया है। यदि निरुक्त में ही यथास्थल निघण्टु दे दिया जाता तो अधिक उचित होता। हमारी सम्मति में निघण्टु और निरुक्त को एक ही ग्रन्थ के दो भाग समझना चाहिये—एक मूल है और दूसरा उसके कुछ अंशोंका भाष्य। ऋषि दयानन्द का विचार भी यही है। पण्डित चन्द्रमणि या तो इस विचार से सहमत नहीं या भाष्य-व्यग्रतावश इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर उनका ध्यान ही नहीं गया।

'साक्षात्कृतधर्माणः' आदि पंक्तियों में 'बिल्म' शब्द का निर्वचन देखकर पण्डित जी लिखते हैं कि 'यास्क ने उपर्युक्त वचन में प्रयुक्त अधिक क्लिष्ट शब्द

'विलम' की जो व्याख्या की है, उससे यह प्रतीत होता है कि संभवतः 'साक्षात्कृत-धर्माणः' आदि वचन किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है ।"

यह कल्पना पण्डित जी से पूर्व किसी और ग्रन्थकार ने नहीं की । इसी 'साक्षात्कृतधर्माणः' आदि वचन में 'इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः' पाठ आया है जिस का अर्थ सब भाष्यकार 'इस (निघण्टु) ग्रन्थ को ग्रथित किया' करते हैं। पण्डित जी ने भी 'इमम्' शब्द की वृत्ति 'निघण्टु' की ओर मानी है ।

यदि पण्डित जी का 'बिलम' सम्बन्धी अनुमान ठीक हो कि यह किसी 'प्राचीन अर्थात् यास्क से पूर्ववर्ती ग्रन्थ का उद्धारण है तो 'इमं ग्रन्थम्' आदि वचन यास्क का नहीं, अपितु यास्क से प्राचीन किसी पुराने लेखक का हो जायगा और यदि 'इमं ग्रन्थम्' से अभिप्रेत निघण्टु ही हो तब तो निघण्टु यास्क से ही नहीं किन्तु उससे किसी प्राचीनतर पुस्तक-लेखक से भी पूर्व का होगा। ऐसा पुस्तक-लेखक कौन था जिसका नाम-निर्देश भी यास्क ने नहीं किया, जब कि उसकी प्रथा सदा अपने से सहमत तथा असहमत लेखकों का नाम निर्देश कर देने की है ।

यास्क की शैली तो प्रकरण में आए लौकिक भाषा के शब्दों के निर्वचन कर देने की भी है । केवल रूपसामान्य देखकर भी वह 'श्मश्रु' (३.५.१) आदि शब्दों की—जो और किसी प्रकार प्रसंग में प्रसक्त न थे—निरुक्ति कर देता है । यदि इसी प्रकार 'बिलम' शब्द पर भी—जो उसके अपने लेख में आया परन्तु था लौकिक भाषा का विचित्र शब्द 'भिलमं भासनमिति वा' लिख दिया हो तो इस पर पण्डित जी को क्या आपत्ति है ? पण्डित जी को अन्य भाष्य-कारों से अपने भाष्य के इस प्रकरण में अपूर्वता लाने की कोई आवश्यकता नहीं ।

अब निघण्टु और निरुक्त के बीच में किसी और 'प्राचीन ग्रन्थ' की कल्पना करने की तो आवश्यकता न रहेगी । यह कल्पना पण्डित चन्द्रमणि जी की अपनी ही उठाई हुई है जिसके लिये हमें कोई आधार प्रतीत नहीं होता । रहा निघण्टु और निरुक्त का समकालीन अथवा भिन्नकालीन होना । निरुक्तकार के वाक्य ऐसे हैं जिन की संगति से इस प्रश्न पर विचार किया जासकता है ।

१—पुस्तक के आरम्भ ही में यास्क लिखता है:—'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः' । अर्थात् समाम्नाय रचा गया है, उस की व्याख्या करनी है। समाम्नाय का अभिप्रेत सब भाष्यकार निघण्टु ही को मानते हैं ।

यह किसने रचा है ? पण्डित जी ने इस विषय को छेड़ा ही नहीं । दुर्गाचार्य्य यहां 'ऋषिभिः' शब्द का अध्याहार मानता है। अर्थात् ऋषियों ने यह समाम्नाय रचा है। किन ऋषियों ने ? वह नहीं जानता।

दुर्गाचार्य्य कृत व्याख्या के सम्पादक श्री महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त जी निघण्टुकार प्रजापति कश्यप को मानते हैं, और महाभारत मोक्ष धर्मपर्व ३४२ अध्याय के ८६,८७ श्लोकों को इसमें प्रमाण बताते हैं:—

वृषोहि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टुक पद व्याख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्॥
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः॥

इन श्लोकों का वक्ता अपने आपको संभवतः निघण्टुक पदों का व्याख्यान-कर्ता बताता है और कहता है कि कश्यप ने मुझे 'वृषाकपि' कहा। इस से कश्यप निघण्टु का रचयिता कैसे हुआ ? हम आगे चलकर निरुक्ति विद्याके परंपरागत रूप से यास्क तक पहुंचने और फिर उसके वतर्मान पुस्तक में ग्रथित होने का प्रतिपादन करेंगे। वृषाकपि इस विद्या के आचार्यों में से एक प्रतीत होते हैं। शिपिविष्ट आचार्य के नाम का उल्लेख आगे किया जाएगा। शिपिविष्ट यास्क के गुरू प्रतीत होते हैं। इन दोनों आचार्यों का निरुक्ति कला के साथ सम्बन्ध है, परन्तु न यह और न कश्यप निघण्टु के कर्ता हैं।

हमारी समझ में 'समाम्नातः' से पूर्व अध्याहार 'अस्माभिः' शब्द का होना, चाहिये क्योंकि आगे 'व्याख्यातव्यः' के साथ भी वही शब्द जुड़ सकेगा। वाक्य रचना से प्रतीत ऐसा होता है कि जो व्याख्यान करने लगा है, वही 'समाम्नाय' का संग्रह कर्ता भी है। हमारा अभिप्राय यह नहीं कि इस वाक्य का और अर्थ हो ही नहीं सक्ता किन्तु सुसंगत अर्थ हमारा ही है। समाम्नाय रचा गया, उसका व्याख्यान करना है—इस वाक्य के पढ़ने से पहिली स्फूर्ति यही होती है कि लेखक अपने आपको ही समाम्नाय क्रिया का कर्ता मानता है।

(२) दूसरा विचारणीय स्थल वह है जिस के पं० चन्द्रमणि जी कृत व्याख्यान के प्रसंग में आई उनकी अपनी उत्थापित की कल्पना पर हमने शंका उठाई थी। यास्क कहता है:—'साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्यो·

ऽसाक्षात्कृत धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। (नि० १। १६।)

अर्थात् धर्म * का साक्षात्कार करने वाले ऋषि हुए। उन्हों ने अवरों (अपने से पीछे आने वालों अथवा कम ज्ञान वालों) को, जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार न किया था उपदेश विधि से मन्त्रों का (ज्ञान) प्रदान किया। उपदेश से संकोच कर अवरों ने मंत्रार्थ ग्रहण के लिए इस ग्रन्थ की रचना की—वेद और वेदाङ्ग की।

प्रश्न यह है कि 'इस ग्रन्थ' से अभिधेय कौन पुस्तक है? पं० चन्द्रमणि पर्यन्त सब भाष्यकार यहां 'इमम्' का संकेत निघण्टु की ओर मानते हैं। और 'अवरे' शब्द के पीछे 'ऋषयः' का अध्याहार कर निघण्टु का कर्ता असाक्षात्कृत धर्म ऋषियों को बताते हैं। तब तो दुर्गाचार्य का यह कथन कि 'समाम्नातः' से पूर्व भी 'ऋषिभिः' शब्द का अध्याहार होना चाहिये, ठीक है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं।

पं० चन्द्रमणि जी को यहां कठिनाई यह है कि 'समाम्नासिषुः' क्रिया के आगे 'वेदं च वेदाङ्गानि च' दो कर्म पड़े हैं। पण्डित जी का विचार है कि यहां 'समाम्नासिषुः' का अर्थ है 'लिपिबद्ध किया.........क्योंकि उपदेश द्वारा वेदों की शिक्षा तो पहले ही दी जाती थी।' पण्डित जी के उपर्युक्त उद्धरण से पता लगता है कि उन की सम्मति में 'उपदेश' का अर्थ मौखिक शिक्षा है। लेखनकला का ज्ञान मनुष्य को आरंभ में था या धीरे २ विकसित हुआ, इस पर विचारकों में मतभेद है। ज्ञान का प्रारंभ वेद से मानने वालों का मत है कि लेखन कला वेद के साथ आई, और वेद को पुस्तक-रूप आदिम ऋषियों के समय में देदिया गया था। 'यस्मात् कोशादुदभ्राम वेदम्' (अथर्व० १९। ७०। १) आदि मंत्रों का इस में प्रामाण्य है। पण्डित जी वेदों के लिपिबद्ध होने का कारण अवरों की 'स्मरण शक्ति की न्यूनता' को मानते हैं। तो क्या उनकी सम्मति में 'इमं ग्रन्थम्' 'वेद च' 'वेदाङ्गानि च' इन सब कर्मों के साथ 'समाम्नासिषुः' क्रिया का अर्थ 'लेखबद्ध किया' ऐसा है या केवल 'वेदम्' के साथ ही? यदि निघण्टु और वेदाङ्ग भी पीछे लिपिबद्ध हुए हैं तो उनका भी पूर्व साक्षात्कार तथा मौखिक उपदेश होता रहा होगा। और 'समाम्नायः समाम्नातः' में भी समाम्नाय को लिपिबद्ध ही किया गया होगा। यह मत पण्डित जी को स्वीकार न होगा। 'समाम्नाय' का अर्थ लिपिबद्ध करना कैसे हो? यह भी विचारणीय है।

* धर्म का अर्थ यहां वेद ही है। हम श्री० चन्द्रमणि जी के साथ सहमत हैं—लेखक

दुर्गाचार्य आदि यहां 'समाम्नासिषुः' का अर्थ करते हैं 'शाखा भेदेन समाम्नासिषुः' अर्थात् शाखा भेद से विभक्त किया। इस अर्थ में भी वही दोष हैं। आचार्य महाराज ने व्याकरणमष्टधा आदि कह कर इस अर्थ को दूसरे कर्मों 'वेदाङ्गानि' आदि पर घटाना चाहा है परन्तु वेद का भेद शाखाओं के रूप में और वेदाङ्गों का अध्यायों में करना युक्तियुक्त नहीं। वेदों के भी मण्डल अध्याय इत्यादि हैं। विभाग दोनों स्थलों पर एकसा करना चाहिये जो उन्हें अभिष्ट नहीं। यही 'समाम्नाय' क्रिया 'समाम्नायः समाम्नातः' में भी प्रयुक्त हुई है। तो क्या निघण्टु का भी इसी प्रकार विभाग मात्र वहां विवक्षित है? प्रतीत ऐसा नहीं होता।

हमारी समझ में 'उपदेश' का अर्थ है उप समीपं (साक्षात्कार विधिना) दिश्यतेऽनेन मंत्रज्ञानमित्युपदेशः अर्थात् जिस से वेद मन्त्रों का साक्षात्कार कराया जाए उसे उपदेश कहते हैं। आरम्भ में चार ऋषियों को साक्षात्कार हुआ। उन्होंने योग विधि से औरों को साक्षात्कार कराया। अंग्रेज़ी में इस विधि को Intuitional method of inspection कहेंगे। दुर्गाचार्य नि० २। ३ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं 'तपसाहि स्वयमपि वेदार्थः प्रादुर्भवेदेव।' योगदर्शन में शब्दार्थ के संयम का फल यही विभूति बताया है। जो उपदेश विधि से संयम द्वारा वेदार्थ ग्रहण के अधिकारी नहीं, उन्हें अवर ऋषियों ने वाङ्मय अर्थात साहित्य के रूप में वेद का मानसिक intellectual ज्ञान दिया। ऋषि दयानन्द ज्ञान के इन दो प्रकारों का भेद इस प्रकार बतलाते हैं:—यत् त्रिभिर्मीमांसा वैशेषिक न्याय शास्त्रैः सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकं ज्ञानतया निश्चयो भवति तेषां साक्षाज्ज्ञानसाधनम्''''''''योग शास्त्रम। (भा० भू० ग्रन्थ प्रामाण्य प्रकरण) अर्थात् मीमांसादि शास्त्रों से श्रवण मनन द्वारा पदार्थों का आनुमानिक ज्ञान होता है। उस के साक्षात् ज्ञान का साधन योग शास्त्र है।

वेदार्थ में मुख्य प्रामाण्य स्वयं वेद का है। ऋषि दयानन्द लिखते हैं—"तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्यम सूर्य प्रदीप वत् (भाष्य भूमिका, ग्रन्थ प्रामाण्य प्रकरण)। आरम्भ में जब वेदाङ्ग न थे, वेद केवल अपने सहारे से पढ़ाया जाता था तो उसे उपदेश–उप समीपं स्वतः प्रामाण्येन दिश्यतेऽनेन—कहा जाता था। तत्पश्चात् वेदाङ्गों की रचना हुई। यास्क के कथन का अभिप्राय यह भी हो सक्ता है। यथार्थ उपदेश दोनों विधियों के एक साथ प्रयोग में है।

'इमं ग्रन्थम्' का अर्थ निघण्टु सहित निरुक्त है। 'अवरे' से अभिप्राय 'अस्मादृशाः' अर्थात् हमारे (यास्क) जैसे है। बहुवचन का प्रयोग इस लिए है कि यास्क कृत निरुक्त में केवल यास्क का मत नहीं, अन्यों का भी है। यास्क ने इन निरुक्तियों का श्रवण कुछ औरों से किया है और कुछ सम्भवतः उस की अपनी प्रतिभा का फल है। मुख्य भाग औरों का है इस लिए वह भूत क्रिया का प्रयोग करता है।

वेदं च वेदांगानि च हमारी समझ में पृथक् कर्म नहीं किन्तु 'इमं ग्रन्थम्' की व्याख्या मात्र है। यास्क निर्मित पुस्तक के दो भाग हैं—एक निघण्टु, वह तो वेद के शब्दों का समूह मात्र होने से वेदं च अर्थात् 'वेदशब्दान् च' और निरुक्त उन शब्दों का व्याख्यान होने से वेदाङ्गानि च कहलाता है। अङ्गानि बहुवचन का प्रयोग नि० १। १। २ के निघण्टवः की भांति समझना चाहिये। तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते १। १। २। यहां एक समाम्नाय को (बहवो) निघण्टवः कहा गया। ऐसे ही वहां एक निरुक्त को (बहूनि) वेदाङ्गानि कहा गया है। आम्नाय और समाम्नाय पर्याय हैं और आम्नाय वेद ही को कहते हैं। जैसे आम्नाय वचनात् (निरुक्त १। १६। ६) में तो समाम्नाय भी वेद ही का नाम हैं। यास्क कथित यह नाम १। १। १ में निघण्टु वाची है, इसी प्रकार १। १९। १ में वेदंच अर्थात् वेदशब्दांश्च भी निघण्टु ही को कहा गया है—महामहोपाध्याय श्री पं० शिवदत्त 'समाम्नाय' शब्द की व्याख्या करते हुए यही मत दर्शाते हैं। * इस प्रकार समस्त वाक्य का अर्थ हुआ:—ते अवरे (यास्कान्ताः) ऋषयः समाम्नासिषुः इमं ग्रन्थं। कं ग्रन्थं? वेदं च निघण्टुवाख्यवेदशब्दान् वेदाङ्गनि च निरुक्तश्चेति।

इमं ग्रन्थम् का वेदश्च वेदाङ्गानि च से पृथक् अस्तित्व न मानने किन्तु पूर्वोक्त को व्याख्येय और शेषोक्त को उस की व्याख्या मानने में एक और हेतु यह है कि इमं ग्रन्थम् के पीछे च निपात नहीं पढ़ा गया। निरुक्त १। ४। २१ में

* निघण्टोरेव'.........वेदोभ्यो निःसारितानां शब्दानामपि वेदत्वं नापगतम्' इति वेदत्वमेवेति निश्चायितुं निघण्टु ग्रन्थमुद्दिश्य वेदमात्र विषयं समाम्नाय शब्दं निर्दिदेश भगवान् यास्कः (निरुक्त प्रस्तावना पृ० ५)

नियम है चेति समुच्चयार्थे उभाभ्यां संप्रयुज्यते। यदि इमं ग्रन्थम् को समुच्चय का अङ्ग बनाना अभीष्ट होता तो एक और च का प्रयोग अवश्य होता।

हमारी सम्मति में निघण्टु और निरुक्त प्रकीर्ण दशा में यास्क को परम्परागत मिले हैं। इसीलिए वह कहता है—समाम्नासिषुः। उस ने उनका नया समाम्नाय वर्तमान पुस्तक के रूप में किया है। इसी अभिप्राय को लक्ष्य कर वह कहता हैः—समाम्नायः (अस्माभिः) समाम्नातः सो (अस्माभिरेव) व्याख्यातव्यः। महाभारत मोक्ष धर्म पर्व ६४२ अध्याय का ७१ श्लोक—

स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः।
मत्प्रसादादधोनष्टं निरुक्तमधिजग्मिवान्॥

हमारे उक्त मत का पोषण करता है। यहां शिपिविष्ट को यास्क का गुरु कहा गया है। यह उन अवर ऋषियों में से हैं जिन्हों ने 'इस ग्रन्थ' अर्थात् निरुक्त का समाम्नान किया। ऐसे ही वृषाकपि हैं, जिन का नाम ऊपर आ चुका है। महामहोपाध्याय महानुभाव का इस श्लोक से वेदाङ्गों का अपौरुषेय सिद्ध करना उन का अपना अनुमान है।

हमारे पक्ष की पुष्टि में एक और युक्ति यह है कि वेद वाङ्मय में निघण्टु की पृथक् कोई सत्ता नहीं। न यह वेद है, न उपवेद, न वेदाङ्ग न उपाङ्ग। ऐसा महत्व पूर्ण संग्रह और उसे वाङ्मय में स्थान ही न मिले! फिर निरुक्त तो इस की व्याख्या मात्र है, व्याख्या का मूल वेदाङ्ग कहना भूल है। वास्तव में निघण्टु और निरुक्त एक ही विद्या के अङ्ग हैं। निघण्टु निरुक्ति के लिए रचा जाता है और व्याख्या सहित निरुक्त कहलाता है। ऋषि दयानन्द का कथन मार्मिक है कि निरुक्तं यास्क मुनि कृतं निघण्टु सहितं चतुर्थं वेदाङ्गं मन्तव्यम् (भाष्य भूमिका, ग्रन्थ प्रामाण्य विषय)।

इस प्रकार वाक्यों की सङ्गति लगाने से ऋषि दयानन्द का पक्ष ठीक सिद्ध होता है कि निघण्टु और निरुक्त यास्क की रचना है। श्री पं० चन्द्रमणि जी 'बिलम' प्रकरण पर फिर विचार करें तो उपकार हो।

—चमूपति

———

ऋषि दयानन्द सरस्वती और उनकी अशुद्धियां निकालने वाले।

(२) *

[श्री० भगवद्दत्त बी० ए० रिसर्चस्कालर, लाहौर]

काशी में एक वेदान्ताचार्य मोहनलाल नाम का पण्डित था। इसने सं० १९४० में ऋषि की ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के विरुद्ध एक 'महामोहाविद्रावण' नाम का ग्रन्थ लिखा था।

ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका के वेदसंज्ञाविचार विषय में ऐसा कथन है—'···इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यान करणात्।' यहां 'मन्त्रप्रतीकानि' पद पर मोहनलाल कहता है—'प्रतीकान् इति वक्तव्ये नपुंसकोक्तिर्वक्तुर्वैदुष्य नापुंसकयं सूचयति।' वेदान्ताचार्य की ऐसी अश्लील भाषा से पहला परिणाम तो यही निकलता है कि साम्प्रतिक वेदान्ताभासी ऐसे ही कर्मों में अपना वेदान्तज्ञान समझते हैं। और दूसरे, अब उसकी योग्यता का परिचय करो। उसकी ही योग्यता का नहीं उसको लिखाने वाले राममिश्र शास्त्री आदि की तथा नकच्छेद शास्त्री की भी योग्यता को देखो। जिसने 'सनातन धर्मोद्धार' खण्ड दो के पृष्ठ ५०९ पर आंख मीच कर यही वाक्य उद्धृत किया है। नवीन ग्रन्थाभ्यासियों को अगाध संस्कृत वाङ्मय के विस्तृत प्रयोगों का कितना स्वल्प परिचय है, यह भी अब पता लग जाएगा।

शतपथ ब्राह्मण १४।४।३।७ में कहा है—

'मुखं प्रतीकान्।' यहां स्पष्ट ही प्रतीक-शब्द का नपुंसकलिंग में प्रयोग है इसका अर्थ भी वही है जिस अर्थ में ऋषिवर ने प्रयोग किया है। फिर देखो बृहदरण्यकोपनिषद् ६।२।३॥ में कहा है—···'पञ्च मा प्रश्नान् राजन्य बन्धुरप्राक्षीत्। ततो नैकञ्चन वेदेति। कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार।' यहां भी प्रतीक-शब्द उसी अर्थ और नपुंसकलिंग में प्रयुक्त हुवा है। नामधारी वेदान्ताचार्य को जब वेदान्त के ग्रन्थों का ही ज्ञान नहीं तो और

* प्रथम लेख देखो—'प्रकाश' का ऋषि अङ्क-दीपमाला सन् १९२५।

विषयों पर उसका कहना कितना प्रमाण होगा? विद्वान लोग स्वयं विचार कर देखलें।

शङ्कराचार्य वेदान्तसूत्र ४।३।४ पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—

न हि स उपासकः प्रतीकानि व्यस्तान्यात्मत्वेनाकलयेत्।

यहां शङ्कर जैसे आचार्य भी प्रतीक शब्द का नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग कर रहे हैं।

ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी की टीका वेदार्थ दीपिका का कर्ता षड्गुरुशिष्य लिखता है—तत्रादिः प्रतीकम्।

इस से भी यही सिद्ध होता है कि 'प्रतीक' शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता रहा है।

पाठक! इतने प्रमाणों से आप को पताः लग जायगा कि ऋषिवर की अशुद्धियां निकालना कोई साधारण बात नहीं। ऋषि की अशुद्धियां निकालने वाले अपने ही स्वल्प ज्ञान का प्रकाश करते हैं, अन्य कुछ नहीं।

———

भले नाथ कहलाते हो!

दया हेतु आया तब दर पर तुम अतीत दिखलाते हो।
भूत भविष्यत् के ऐ नायक, नाहक हमें ठगाते हो॥
शक्ति तुम्ही हो कह अशक्त क्यूं निष्ठुर अब ठुकराते हो।
पुण्य तुम्हीं मुझ पापी के हो तुम्ही घृणा दिखलाते हो॥
सार तुम्हीं हो यह असार फिर, क्यूं 'संसार' बनाते हो।
क्यूं प्रपञ्च रच अजब खिलाड़ी, झूले खेल खिलाते हो॥
आप मौज में केवल साक्षी, मात्र बने रह जाते हो।
सूझ न पड़ती भला हमारे, उठाय नाथ किस नाते हो॥

वेद का विचित्र विज्ञान

[श्री० बृहद्बल 'संयमी' साहित्याचार्य्य, आर्योपदेशक]

वैदिक विज्ञान के जिज्ञासुओ ! पाश्चात्य प्रदेशों से बहता हुआ पावन पवन भारतीय वैदिक सभ्यता के रंगीले नवयुवकों को, कुछ समय व्यतीत हुआ, एक भयंकर विषमय भाव का संदेशा दे रहा था, और वह यह कि "नवयुवको ! वेद नितान्त निस्सार जांगलिक विषय का उपदेश देता है, इसे सर्व विद्याभण्डार मानना एक ऐसी ही बात है, जैसे एक उन्मत्त तथा मूक पुरुष के हाव भाव देखकर कोई यह समझले, कि यह तो बड़ा ही करामाती योगी है। यह सुनकर मैं स्वयं उपेक्षित हो गया, और पवन की ओर आंखे फेर लीं। किन्तु अब मैं देखता हूं, कि पवन सन्देश का प्रभाव अक्षरशः मेरे भोले भाले, कोमल हृदय, भारतीय नवयुवकों के हृदय पटल पर प्रभावित हो चुका है। अब इनके ही मुखों से वे शब्द दुहराये जारहे हैं, जो किसी दिन प्यारे सखा पवन ने सुनाये थे। किन्तु मुझे याद है कि जिस समय ऋतुराज का शुभागमन होता है, स्वयं मुरझाई हुई वाटिका उसके स्वागतार्थ नवाङ्कुर उत्पन्न कर देती है। इसी आशा से आज मैं नवयुवकों को लक्ष्य कर यह बताने का प्रयत्न करूंगा, कि वेद वस्तुतः सब सत्य विद्याओं का भण्डार है। आप को पाश्चात्य महानुभावों ने Chemistry, Botany Zeology, Minerology, Physiology, Surgery, Medicine, आदि विद्याएं सिखाई किन्तु ये सब भिन्न २ नामों से मूल रूप में वेद में विद्यमान हैं।

मैं उपरोक्त सारे विषयों के मन्त्रों को स्पष्टीकरणार्थ रखना चाहता हूं परन्तु विस्तार भय से दिग्दर्शन मात्र ही गणितादि विज्ञान रक्खूंगा। यजुर्वेद अध्याय १८ मंत्र २४,२५ में लिखा है "एकाचमे तिस्रश्च मे पंच च मे" इत्यादि तथा "चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च द्वादश च मे द्वादश च मे" इत्यादि......। कि अंकगणितादि तीनों प्रकार की गणितें इन्हीं दो मंत्रों से सिद्ध हैं १+१=२, १, १=११=३-३=३३ इसी प्रकार अंक बनते चले जायेंगे। बीज अणित ($अ^२+क^२$) ($अ^२-क^३$) ($अ^२-४^१$) का बीज भी इसी मन्त्र से स्पष्ट होता है। एवं पाठक गण ! आपने सब कुछ गणित विज्ञान सीखा, परन्तु आप अभी यह नहीं बता सक्ते कि सृष्टि को बने कितने वर्ष व्यतीत होचुके हैं, और कितने प्रलय में शेष हैं। कल्प पर्य्यन्त वर्ष सृष्टि रहेगी। पश्चात् लय हो जायगी, यह सारा गणित इन्हीं

मन्त्रों के आधार पर चलता है। संक्षेप से नमूना बताता हूं, १७२८००० वर्ष का सतयुग होता है, १२९६००० वर्ष का त्रेता, ८६४००० का द्वापर एवं ४३२००० का कलियुग। अब यह सब मिलकर ४३२०००० वर्ष की चतुर्युगी कहलाती है। ७१ चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर होता है। और ६ मन्वन्तर सृष्टि के बीत चुके हैं, और सातवें मन्वन्तर में यह २८वीं चतुर्युगी बीत रही है, जिसके पौने पांच हजार वर्ष भी बीत चुके हैं, इतना हिसाब कर लेने पर आजकल की ८२वीं विक्रमी सदी के वर्षो को मिलाकर कुल १९६०८५२९४९ वर्ष दुनियां को पैदा हुए हो चुके हैं। इसी प्रकार गणित करने पर मालूम हुआ है, कि अभी संसार को २३५९१४७०५१ वर्ष और बिताने हैं। तब कल्प सृष्टि का पूरा हिसाब होगा। इस सारी गणित को जो मैंने आप के सामने रक्खी हैं वेद मन्त्र सरलभाव से प्रगट कर रहा है। कहता है "शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः" अथर्व० कां० ८ अनु० १ सू० २ मं० २१ कि कल्प इतने वर्ष का होता है। (शतं-तेऽयुतं) १००×१००००=१०००००० । क्योंकि सूर्य सिद्धान्तानुसार 'एकं दश शतं चैव सहस्रमयुतं तथा" इस प्रमाण से शत नाम १०० का और अयुतनाम १०००० का है, गुणित करने पर दशलक्ष संख्या होती है, तो इतनी संख्या रख कर (द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः)" क्रम से २,३,४ और बढ़ावें, परन्तु इकाई दहाई संख्या के क्रम से ही बढ़ानी चाहिये। अब देखिये ४३२००००००० यह संख्या कल्प की हुई ! अब पड़ताल कीजिये १९६०८५२९४९+२३५९१४७०५१= ४३२००००००० की संख्या मन्त्रानुसार बन गई कि नहीं ? पाठकगण ! यह वही गणित विद्या है, जिसके द्वारा खन्ना देवी ने महाराज सगर के समय में समुद्र के अन्दर लकड़ी डाल कर यह बता दिया था, कि महाराज ! इस में इतना पानी है। शोक ! खन्ना देवी को दुष्ट पं० वराहमिहिर ने सरे दरबार सगर की आज्ञा से इसी विज्ञान के अपराध में अपने हाथ तलवार से कटाने पड़े ! हा ! ऐसे ही ईर्षा के भक्त पण्डितों ने वेद विद्या को बढ़ने नहीं दिया। वास्तव में वेद पूर्ण विद्या का भण्डार है। इसी प्रकार सप्तर्षि तारामण्डल का वर्णन ऋग्वेद मं० ५ सू० ४० मं० ५ में आया है। सूर्य ग्रहण वर्णन मं० १ सू० १०५ मं० १० में आया है, शुक्र और मन्थन तारा का वर्णन ऋग्वेद मं० ३ सू० ३२, मं० २ तथा ऋग्वेद म०९ सू०४६ मं० ४ में आया है। वेन (विनस) तारा का वर्णन ऋग्वेद मं० १० सू० १२३ में आया है। पाठक तत्तत्स्थल को स्वयं उद्घाटन कर देख सकते हैं, मैं विस्तार

भय से उन मन्त्रों का निदर्शन नहीं कराता। मेरे प्यारे भारतीय नवयुवकों की आंखें, कुछ चमत्कार की ओर भी लगी हुई हैं और सोचते हैं, कि ये विमान, Steamer Boat, नावें, रेलगाड़ियें, तार, बारूद, तोपें, आदि कैसी २ विचित्र आविष्कृत की हैं। परन्तु जिस समय वेद को उठाया जाता है, तो सारी हैरानी सहसा भाग जाती है। वहां नौका, जहाज बनाने की तरकीबें दी हुई हैं। देखो "त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः, त्रयः स्कम्भासः स्कभितासः आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विनादिवा" ऋग्वेद अष्ट० १ अ० ३ वर्ग ४ मं० १। अर्थात् यान ऐसा बनाना चाहिये, जिस में तीन पहिये हों, जिन से वह जल और पृथिवी पर चल सके, और तेज गति वाला हो, प्रत्येक अंग दृढ़ हो, कलायंत्र भी दृढ़ हों, और भी ३-३ खम्भे बनाने चाहियें, जिन के आधार पर कलायंत्र लगे रहें, तथा वे खंभे भी दूसरे काष्ट अथवा लोहे के साथ लगे रहें, आरा में सारे कलायन्त्र जोड़ देने चाहियें, इसके बनाने में अग्नि तथा जल मुख्य हैं। यह ऐसा वेगवान् यान बनेगा, कि तीन दिन और रात में ही मनुष्य को द्वीप द्वीपांतरों में पहुंचा दे। संक्षेप से लिख रहा हूं। और भी देखिये! "द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साकं त्रिशतानशङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः। ऋग्० अष्ट० २ अ० ३ व० २४ मं० ४८।

अर्थात्—यह यान ऐसा बनाना चाहिये, कि इस के बाहिर भी १२ खंभे चारों ओर लगाये जावें, जिस में सब कलायंत्र लगा दो। और एक चक्र भी बनाओ, जिस के घुमाने से सब कलायें घूमें, फिर उस के बीच में तीन चक्र और बनाने चाहियें, कि एक चक्र के चलाने से यान रुक जाय, दूसरे के चलाने से आगे चले, और तीसरे के चलाने से पीछे चले। उन में ३००-३०० बड़ी २ कीलें अर्थात् पेच लगाने चाहियें। जिन से सब अंग मिले रहें, और निकालने पर पृथक् २ हो सकें। उन में ६० कलायंत्र और भी बनाने चाहियें, कई चलते रहें, कुछ बंद रहें। जब यान ऊपर चढ़ाना हो, तो भाप-घर के ऊपर के मुख बंद रखने चाहियें, और जब उतारना हो, तो अनुमान से खोल देने चाहियें। इसी प्रकार जब पूर्व को चलाना हो, तो पूर्व के बंद और पश्चिम के खुले रहें। इसी प्रकार उत्तर, दक्षिण के लिये जानना चाहिये। इस शिल्प विद्या को पुरुषार्थी और गंभीर प्रकृति पुरुष ही जान सक्ते हैं। यह तो हुआ विमानों के विषय में। अब लीजिये, वेद तारविद्या की शिक्षा भी देता है—"युवं पेदवे पुरुवारमश्विना

स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्पथः। शर्य्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम्", ऋग्० अष्ट० १ अ० ८ व० २१ मं० १०। संक्षेप से भाव मात्र लिखता हूं कि तार को निरुक्तकार मुनि यास्क "अश्वि" नाम से भी पुकारते हैं। यह धातु, काष्टयंत्र और विद्युत् के संयोग से बनता है। इस की गति तीक्ष्ण तथा प्रकाशवाली है। सेनादिकों के लिये वेद इसका प्रयोग आवश्यक समझता है। और भी तमाशा देखो, हमारे शिक्षक नवयुवक कहते हैं, अजी! पहिले वेदों के समय में तो न कोई रुपया जानता था, न सोने चांदी के सिक्के! पाश्चात्य शिक्षा ने पाई २ का काम किया है। मगर वैदिक सभ्यता को दूषित करने वाले भाइयो! देखो, मनुस्मृति में साफ लिखा है—"सर्षपाः षट्यवो मध्यास्त्रियवं त्वेक कृष्णलम्। पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश॥ पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश। द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः॥ ते षोडशस्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः। कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः॥ धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः। चतुः सौवर्णिकोनिष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः॥ पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः। मध्यमः पंच विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः॥ मनु० अ० ८ श्लो० १४३, ३५, ३६, ३७, ३८॥ अर्थात्—६ सरसों का एक जौ, ३ जौ का एक कृष्णल, ५ कृष्णल का एक माष, १६ माषों का १ सुवर्ण, ४ सुवर्ण का १ पल, १० पल का १ धरण, २ कृष्णलों का १ रौप्य माषक, १६ माषक का एक चांदी का धरण वा चांदी का पुराण, (तांबे के कर्षभर पण को कार्षापण वा ताम्रकपण कहते थे) १० धरण का एक चांदी का प्रतिमान, ४ सुवर्ण का एक निष्क, २५० पणों का प्रथम साहस, ५०० पणों का माध्यम साहस, और १००० पणों का उत्तम साहस होता था। ये सारी विद्यायें केवल एक वेद से आविष्कृत हुई हैं। परन्तु प्राचीन सभ्यता के आदर्श को जब से ख़ाक में मिलाया, तभी से माथा ठोक कर बैठे हैं। दूसरे का मुंह ताक रहे हैं। पाठकगण! इतनी विद्याओं के अतिरिक्त एक विद्या जो वेद ने दी है यह तुम्हें सारे ब्रह्माण्ड भर में न मिलेगी, अगर मिलेगी, तो केवल वेद में। और वह ब्रह्मविद्या है, जो मनुष्य को आत्मिकता का पाठ पढ़ाती है। जिसे जान कर मनुष्य जन्म मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। और मरते समय मनुष्य बजाय दुःखी होने के यही पाठ प्रसन्न हो कर पढ़ता है कि "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयति नवानि देही" गीता अ० २ श्लो० २२ अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने कपड़ों को त्याग कर नया वस्त्र पहिनता है। वैसे ही आत्मा पुराने शरीर को त्याग कर दूसरा नवीन शरीर धारण कर लेता है। "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः" गीता अ० २ श्लो० २३। अर्थात् इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सक्ते, अग्नि जला नहीं सक्ती, पानी गला नहीं सक्ता, और वायु सुखा नहीं सक्ती है। प्रिय पाठक गण! आओ इस विज्ञान की पूजा करें, जो हमें आप हमारे अस्तित्व का परिचय दे रहा है। यह विज्ञान वेदों के अतिरिक्त हमें कहीं न मिल सकेगा। इसलिये वेद सर्व विद्याओं का भंडार और विचित्र विज्ञान वाला है। हमें इस के भाव की आराधना करनी चाहिये। वेद भावगाम्भीर्य प्रद होने से उपास्य है, आओ! हम उपासक बनें, इसी ने हमें बतलाया है कि हम प्रकाश की ओर चलें, अँधेरे की ओर न जायें। प्रभो! भारतवर्ष का कल्याण हो। और हम तेरी दया से तेरे विचित्र विज्ञान को संसार में फैला सकें। ओं शम्॥

याचना।

[श्री० दलपति शास्त्री सिद्धान्त शिरोमणि]

भजन करें भव भञ्जन! मन से प्रतिदिन सांझ सवेरे।
भटक रहे भव—सागर में भरमाये तेरे चेरे॥
'राखहु हे अखिलेश! अपावन-पङ्किल-पन्थ घनेरे'।
दीन दयाल! कृपालव कीजे द्वार पड़े अब तेरे॥

सत्य-सनातन-सुन्दर-श्रुति का घर घर आदर करदे।
नास्तिक-जन के हृदय-कलश में भक्तिसुधा-रस भरदे॥
लाख निरीह दुखित विधवायें फिरतीं हैं बेपरदे।
उनको कष्ट-सहन की क्षमता पुनि हे विश्वम्भर दे॥

प्राक्तन ऋषि मुनियों की बातें सब हृदयों में भावें।
छुआछूत का छल सब छोड़ें रल मिल मङ्गल गावें॥
पतित जनों को पावन करके वैदिक संघ रचावें।
दयानन्द के बोऐ पादप हरे भरे लहरावें॥

पुस्तक समीक्षा।

सुहरावरुस्तमः—मूल लेखक स्वर्गीय श्रीद्विजेन्द्रलाल राय, अनुवादक चिरांगांव (झांसी) निवासी श्रीयुत मुंशी अजमेरी, प्रकाशक हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई। मू० विना जिल्द का ॥=)

स्वर्गीय श्रीयुत द्विजेन्द्रलाल राय की मार्मिक और ओजस्विनी लेखनी से अब हिन्दी संसार भली भांति परिचित हो चुका है। इसका सारा श्रेय हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय के कार्यकर्ताओं को ही प्राप्त है। प्रस्तुत पुस्तक भी स्वर्गीय द्विजेन्द्र महोदय की लेखनी का ही चमत्कार है। यह एक नाटिका है। इसकी रचना द्विजेन्द्र बाबूने एक महान् उद्देश्य से की थी। बङ्गला नाट्यगृहों में कुरुचिपूर्ण-अश्लील अभिनय देखकर आप का हृदय खिन्न हो उठा। आपने प्रस्तुत नाटिका की रचना इसी उद्देश्य से की कि जहां एक ओर सर्वसाधारण का चरित्र ऊंचा हो वहां यह भाव कि सुरुचिपूर्ण-और उच्चभावों से युक्त अभिनय लोगों को आकृष्ट नहीं कर सकते-सर्वथा दूर होजावे। कहने की आवश्यकता नहीं कि रायमहोदय इस यत्न में पूर्ण सफल हुए हैं। प्रस्तुत पुस्तक को हिन्दी संसार के सामने रखकर अनुवादक महोदय तथा प्रकाशकों ने बहुत उपकार किया है। अनुवाद की भाषा यद्यपि और परिष्कृत की जासकती थी-विशेषतः पद्यमय भाग को मूल तक पहुंचाने के लिये थोड़ा और प्रयत्न अपेक्षित था—परन्तु हमें यह लिखते प्रसन्नता होती है कि फिर भी अनुवाद में मूल नाटिका का आनन्द आही जाता है। प्रत्येक हिन्दी भाषाभिज्ञ को एक वार इस नाटिका को पढ़ना चाहिये। हमारी सम्मति में हिन्दी-नाटक-मण्डलियों को प्रस्तुत पुस्तक पथदर्शक का काम देगी।

मुक्तधारा—मूल लेखक श्री ठाकुर रवीन्द्रनाथ। अनुवादक-श्री० प्रो० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री तर्क शिरोमणि, प्रोफेसर मेरठ कालेज। प्रकाशक हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय। मू० ॥≡)

ठाकुर रवीन्द्र से हिन्दी जगत् अपरिचित नहीं। सन् १९२२ के "मार्डन रिव्यू" में यह नाटक 'The water fall' के नाम से तथा 'प्रवासी' नामी बंगला पत्र में 'मुक्तधारा' के नाम से प्रकाशित हुवा था। यह अनुवाद उपर्युक्त दोनों पत्रों के आधार पर किया गया है। प्रस्तुत नाटक में रवीन्द्र ने 'विश्वप्रेम' का

सन्देश सुनाया है। 'राष्ट्रियता' के नाम पर संसार में जो अशान्ति और अत्याचार है उसका चित्र खींचने की कोशिश की गयी है। युवराज अभिजित और साधु धनंजय के द्वारा कवि ने अपना विश्वप्रेम का सन्देश सुनाया है। 'राष्ट्रियता' और 'विश्वप्रेम' की तुलना कवि ने अपनी दृष्टि से की हैं—परन्तु हमारी सम्मति में यह चित्र द्विजेन्द्रलाल राय के मेवाड़ पतन में 'सत्यवती' और 'मानसी' के चित्र के समान प्रस्फुट नहीं हो सका है। इस में शायद दोनों लेखकों का दृष्टि भेद कारण हो। फिर भी हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा कवीन्द्र के सन्देश को सुनें। अनुवाद अच्छा हुवा है—अनुवादक ने मूल लेखक के भाषा प्रवाह को भलीभांति अंकित किया है—इसके लिये हम अनुवादक महोदय की प्रशंसा किये विना नहीं रह सकते।

चन्द्रनाथ—मूल लेखक श्री शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय। अनुवादक श्रीयुत बाबू रामचन्द्र वर्मा। प्रकाशक हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय। मू० ॥।)

यह एक सामाजिक उपन्यास है। हमारे सामाजिक जीवन की दुर्बलता और समाज-मर्यादा के संकीर्ण विचारों का प्रभाव गार्हस्थ्य जीवन पर कितना बुरा पड़ता है इस का चित्र इसमें खींचा गया है। चन्द्रनाथ सामाजिक मर्यादा के दबाव में आकर छाती पर पत्थर रख कर अपनी निरपराधा और पवित्र सती सरयू का त्याग करते हैं। परन्तु अन्त में तीव्र प्रेम वेदना और अनुताप की असह्य ज्वाला स्वयं ही उनके अन्दर सरयू को फिर ग्रहण कर लेने का साहस प्रदान करती है। सरयू का पतिद्वारा त्यागे जाने के बाद मौन-रुप क्रन्दन अवश्य ही हमारे समाज के अन्दर एक हल चल पैदा कर सकेगा। परन्तु यदि 'चन्द्रनाथ' समाज के दबाव में आजाने वाले न होकर "कैलाश" की तरह एक साहसी और उत्सर्ग-परायण नवयुवक होते तो प्रस्तुत उपन्यास अन्धे समाज के विरुद्ध क्रान्ति करने के लिये नवयुवकों में एक आदर्श भी रख सकता और उनमें एक उत्साह का सञ्चार करता। फिर भी प्रस्तुत पुस्तक में योग्य लेखक की लेखनी ने अद्भुत चमत्कार दिखाया है। रचना इतनी रोचक है कि बीच में छोड़ने को जी नहीं चाहता। अनुवाद कर्ता स्वयं हिन्दी के एक सिद्धहस्त लेखक हैं। हिन्दी पाठकों के लिये यह उपादेय वस्तु है।

———

वामनावतार—

आर्य जगत् में कोई विरला ही व्यक्ति ऐसा होगा जो गुरुकुल विश्व-विद्यालय के योग्य स्नातक पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार के नाम से परिचित न हो। आपकी योग्यता का सिक्का क्या मित्र और क्या शत्रु सभी के दिलों पर बैठ चुका है। किसी न किसी ढंग से सभी आपकी योग्यता, तथा वक्तृत्व कला का मान्य करते हैं। इस अंक का पहिला लेख 'वामनावतार' आपकी विद्वत्ता का एक निदर्शन मात्र है। समय २ पर 'आर्य' के पाठक आपकी योग्यता का रसास्वादन करते ही रहते हैं और आशा ही नहीं, किन्तु निश्चय है कि पाठक इस प्रस्तुत लेख में भी बहुत कुछ नवीनता, रोचकता, तथा बुद्धिमत्ता पाएंगे। पाठक इस लेख को पढ़ने से अनुभव करेंगे कि वे एक गले सड़े और अस्वाभाविक कृत्रिम विचारों के वायुमंडल से ऊपर उठकर एक विस्तृत सुरक्षित और अधिक व्यापक वायुमंडल में प्रवेश कर रहे हैं। आपके विचारों के विषय में अधिक लिखना व्यर्थ समझ कर हम अपने पाठकों से सानुरोध प्रार्थना करेंगे कि वे इस लेख को आद्योपान्त पढ़ें और 'वामनावतार' विषयक पौराणिक तथा वैदिक भावों की तुलना करते हुए किसी परिणाम पर पहुंचने का यत्न करें।

हम आगे भी यत्न करेंगे कि समय २ पर पाठकों के सामने ऐसे ही विचार रखें जिससे वे दोनों प्रकार के भावों और विचारों की तुलना कर किसी निश्चित परिणाम पर पहुंच सकें।

मद्रास गवर्नमेन्ट और सनातन धर्म—

मद्रास प्रेसिडेंसी में वहां की सरकार ने इस आशय का एक नियम बनाया है कि जिन स्कूलों में अछूतों को दाखिल न किया जायगा उन्हें किसी प्रकार की धनादि की सहायता न दी जायगी।

हिन्दू जाति के शुभचिन्तकों को जहां इस प्रकार के नियम से सहानुभूति और प्रोत्साहना मिलनी चाहिये थी वहां हम देखते हैं कि उन्हें यह बात बहुत

बुरी लगी है और अब सिर से पैर तक उन का यत्न यह होरहा है कि जैसे भी होसके इस नियम को न रहने दिया जाय।

इसी आशय का एक मुख्य लेख बनारस से प्रकाशित होने वाले सिग्नल (Signal) साप्ताहिकपत्र में निकला है। सनातन धर्म के साथ यह छेड़छाड़ क्यों? (Why this interference with the Sanatan Dharma) यह शीर्षक देकर आप लिखते हैं—"हिन्दू समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार भागों में बंटी हुई है। यह विभाग किसी न किसी तरह से सर्वत्र सब देशों और समाजों में पाए जाते हैं किन्तु अन्य समाजों तथा हिन्दू समाज में भेद यही है कि उनमें जहां यह विभाग रबड़ की तरह स्थितिस्थापक और लचकीले आधार पर स्थित हैं वहां हिन्दू समाज में इनकी स्थिति धर्म (?) पर है।.........स्कूलों के सञ्चालकों को इन नियमों के पालने में बड़ी तंगी पेश आरही है किन्तु तथापि अछूतों के लड़कों को बाधित किया जाता है कि वे जहां तक हो सके उच्च (?) जाति के लड़कों से दूर ही रहें तथा उन्हें स्पर्श न करें। तो भी इसका प्रभाव उच्च तथा नीच दोनों जातियों के बालकों पर बहुत बुरा पड़ रहा है।"

आगे, महाराणी विक्टोरिया की धर्म विषयक समान व्यवहार पूर्ण उद्घोषणा का स्मरण कराते हुए आप लिखते हैं—"अछूत जाति के जिन व्यक्तियों को (किन्हीं कारणों से) मैजिस्ट्रेट तथा न्यायाधीश आदि बना दिया जाता है इससे कचहरी का रोब घटता है और यह बात उच्च जाति के व्यक्तियों को कभी सहन नहीं हो सकती। हिन्दुओं का यह विश्वास है कि जो व्यक्ति न्याय की कुर्सी पर बैठता है वह धर्मावतार होता है। ऐसी अवस्था में एक नीच जाति के व्यक्ति का उस उच्च पद पर बैठना उच्च जाति के व्यक्तियों के दिलों में कैसा आक्रान्तिकारी भाव पैदा कर देता है यह समझना कठिन नहीं है।"

किसी ने सचही कहा है 'चोर की दाढ़ी में तिनका' ' लिखते २ आपको स्वयं ही ख्याल आगया कि इससे तो आधुनिक न्यायविभाग पर भी आक्षेप आता है। चूंकि वहां भी जो न्यायाधीश होते हैं उनमें से अधिकांश यूरोपियन ही होते हैं। इसलिये आप लिखते हैं—"जब एक अंग्रेज़ उसी कुर्सी पर होता है तो यह बात उतनी आपत्ति जनक नहीं होती। क्यों? चूंकि हमें उस के पूर्व वंश (Pedigree) का कुछ भी ज्ञान नहीं है और नांहीं लोग इसकी खोज ही करते हैं। क्यों? चूंकि वे तो उस जाति में से हैं जिसे ईश्वर ने स्वभावतः

ही इस देश पर शासन करने के लिए भेजा है।" अहो ! बलिहारी है ऐसी खुशामद की। यदि यह न लिखा होता तो शायद सनातन धर्म की लुटिया ही डूब जाती। सच है, भीड़ के मौके पर ही मित्र और शत्रु की पहिचान होती है। बस ! देख लिया आपका सनातन धर्म।

बात तो तब थी कि जब आप अछूत जातियों के विषय में लिख रहे थे तो आप उसी विषय पर रहते। यह बीच में अंग्रेज़ जाति कहीं से आ कूदी ? सच है घर में कुत्ता भी शेर होता है। आज तक हिन्दू जाति से जितना बन पड़ा उसने नीच जातियों को ही पद दलित करने का यत्न किया किन्तु नीच और ऊंच की फिलासफी को न समझा कि इसका आधार क्या है ? ऋषि, मुनि, धर्मशास्त्र, सूत्र सभी इसी विषय पर बल देते हैं कि जाति व्यवस्था गुण कर्म के अनुसार होती है जन्म के अनुसार नहीं। फिर समझ में नहीं आता कि यह जन्मानुसारिणी जाति व्यवस्था कहां से आकूदती है। और नांही उस (सनातन) धर्म की ही आजतक समझ पड़ी है जिसमें ऐसी व्यवस्था लिखी हो।

अच्छा, फिर वे योग्य अछूत (?) व्यक्ति करें क्या ? आप लिखते हैं-"उन की संख्या ज्यादा नहीं है। उन्हें आबकारी अथवा ऐसे ही किसी अन्य विभागों में जगह दे देनी चाहिये जिनसे उच्च जातियों को कम वास्ता पड़ता है। इससे जहां अछूत जाति के लोग सन्तुष्ट हो जायंगे वहां उच्च जाति के व्यक्तियों को भी कोई शिकायत न रहेगी।" आहा, क्या ही कहना ? ऐसी समयोचित ठीक २ सलाह के देने के लिए आपको जितनी भी बधाई दी जाय सब थोड़ी है! इसे ही तो कहते हैं सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। आप के दिमाग में यह बात खूब जम गई है कि ऐसा करने से दोनों संतुष्ट होजावेंगे। लेकिन हम यह साफ बतला देना चाहये हैं कि लेखक महादेय बड़ी भूल में है। इससे भी अधिक दुःख तब होता है जब हमें यह पता लगता है कि उन्हें अपनी भूल का ज्ञान नहीं है। जो रोगी चारपाई पर पड़ा हुआ भी अपने आप को नीरोग तथा स्वस्थ ही समझता है उससे अधिक आभागा पुरुष संसार में कोई भी नहीं है। आज हमें यह सोचकर बहुत दुःख होता है कि अब भी हिन्दू जाति के शरीर में एक घाव ऐसा विद्यमान है जो एक न एक दिन इसे अवश्य रसातल में ही लेकर आराम लेगा।

हिन्दू धर्म खतरे में—हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू जाति

या उसका धर्म यदि बच एकता है तो उसका एक मात्र क्रियात्मक उपाय शुद्धि और केवल शुद्धि है। अपने प्रोग्राम को व्याख्यान तथा कान्फ्रैंसों तक ही परिमिति रखने से कभी किसी जाति,मत,सम्प्रदाय व धर्म की उन्नति नहीं हुई। परन्तु यह जानकर हृदय विदीर्ण हो जाता है कि हिन्दू जाति के कर्णधार कान्फ्रैंसों तक ही अपनी इतिकर्तव्यता की समाप्ति समझ लेते हैं। संसार का कोई कोना ऐसा नहीं जहां से हिन्दू जाति की अवनति तथा उसके अपकर्ष के समाचार न मिल रहे हों। कहीं २ से उन्नति के समाचार भी मिलते हैं किन्तु उनकी संख्या दाल में नमक के बराबर भी नहीं है। वस्तुतः सत्य यह है कि हिन्दू जाति के पतन का मूल कारण अन्य जातियां या उनके अत्याचार उतना नहीं हैं जितना कि उसकी अपनी उच्च जातियों के नीच जातियों पर अत्याचार। अभी मालाबार से इस विषय के जो समाचार आ रहे हैं उन्हें पाठकों ने समाचार पत्रों में पढ़ा ही होगा। उन्हें सुनकर हमारे तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं. कुंवर आनन्द प्रिय B. A. LL. B. लिखते हैं—"यहां की इडवा जाति (जिनमें से कई अधिपति जमीदार हैं तथा अनेक संस्कृत के विद्वान् और अनेकों वकील आदि भी बनचुके हैं) ने पिछले नवम्बर में यह निश्चय कर लिया है कि यदि उन्हें मनुष्यत्व के सामान्य अधिकार भी न दिये गए तो ये मुसल्मान व ईसाई बन जावेंगे।"

हमें समझ नहीं पड़ता कि ऐसे २ लोमहर्षण समाचार सुनते हुए भी हिन्दू जाति के नेता किन झगडों व किन अधिक आवश्यक कार्यों में फंसे हुए हैं? इस समय चाहिये तो यह था कि अनेकों कार्य कर्ता अपने जान और माल की पर्वाह न करते हुए एकदम से उधर पहुंच जाते। किन्तु यहां तो रंग ही और हैं? यहां सहायतार्थ जाना तो दूर रहा यहां तो चक्कर ही उलटा है। जो जाते भी हैं उन्हें भी उलटा कोसा जाता है। जाना तो दूर रहा रुपये पैसे से ही सहायता कर देते किन्तु यह भी कहां? आपस के झगडों से फुर्सत मिले तब न! और उधर इस्लाम तथा ईसाई प्रचारकों की क्या अवस्था है। सुनिये, आप लिखते हैं:—

"उनके मुसलमान होने की इच्छा को जान कर एक दम यहां ४ मुसलमान मिशन आ धमके हैं। एक मिशन लाहौर से आया है और मौ० मोहीउद्दीन बी० ए० की अध्यक्षता में काम कर रहा है, दूसरा रादेश ज़िला सुरत के मुसलमान व्यापारियों की ओर से मौ० ऐनिस अहमद बी० ए० की अध्यक्षता में

आया है, तीसरा पूना का मिशन है और चौथा पौनानी का, (जो मोपलाओं का गढ़) है मिशन है। ये लोग रात दिन इडवाओं के घरों पर हैं और पेम्फ्लैट बाटते हैं। इनके प्रयास से एक इडवा मुसलमान होगया पर जब उसके मुसलमान होने की खबर उसकी माता को लगी तो उसने आत्महत्या करली। इन मुसलमानों के पास प्रचारार्थ मोटरें हैं। पौनानी के मोपला मिशन ने गत ६ मासमें पौनानी ताल्लुका के चमारों और नामडीयों में से ३२३ कुटुम्बों को मुसलमान बनाया है। कालीकट में मुसलमानों का बड़ा भारी अनाथालय है। इस प्रान्त के हिन्दू अछूतों की बड़ी हीन दशा है। मुसलमान उनमें काम कर खूब तबलीग कर सकते हैं। पूना तथा लाहौर के मिशन को जो पहिले मौपला की रक्षा के लिये यहां आये थे, यहां बड़ी आशायें हैं। यह लोग मोपला अनाथों का प्रबन्ध कर रहे हैं २०० बालक लाहौर भेजे जायंगे। इसके उपरान्त यहां जमीनें खरीद मोपलों की सहायता से हिन्दुओं को खूब विधर्मी बना रहे हैं।

ईसाइयों के सम्बन्ध में लिखना फज़ूल है। इनके प्रयास से कोचीन के राज्य में इनकी संख्या २७ प्रति शतक पहुंच गई है। ट्रावनकोर के ब्राह्मण राज्य में ईसाई ६० प्रति शतक होगये हैं और मुझे कहा गया है कि वहां सबके सब मुख्य अधिकारी ईसाई हैं। मलावार प्रान्त कोचीन से मिला हुआ है इसलिये यहां भी इनका खूब प्रचार है। यहां वासेल मिशन जो जर्मन है, काम कर रहा है। इडवाओं का असन्तोष देख यह लोग भी यहां पहुँच गये हैं। इन लोगों ने सात इडवाओं को ईसाई बनाया है। मुझे इडवाओं के ईसाई होने का डर है। इडवा ग्रामों में मुस्लिम तथा ईसाई धर्म प्रचारकों की मोटरें भी खूब दौड़ रही हैं।"

पाठकगण! इसे कहते हैं धर्म और जाति से प्रेम। यहां तो रैजोल्यूशन ही पास कर दिये और बस! क्यों? अजी काम करना हमारा काम तो नहीं हैं। इधर से छुटें तब तो उधर जांयभी। और यदि आर्य्य-समाज से झगड़ने की वारी आजाय तो सबसे आगे—......! न जाने इस समय बनारस और कलकत्ते की सनातनधर्म सभा या वर्णाश्रम मण्डल जिसने लाखों रुपये गत मासों में इकठ्ठे किये थे किस कुम्भकर्णी नींद में पड़ा सो रहा है?

आर्य्य-समाज और आर्य्य-भाषाः—

हमें यह देखकर बहुत ही दुःख होता है कि आर्य्य-समाज में आर्य्य-भाषा

का उतना मान्य नहीं है जितना कि होना चाहिये। वैसे तो सर्वसाधारण अपने को हिन्दू कहलाने वाले व्यक्ति ही इने गिने हैं जिन्हें हिन्दी का ज्ञान हो किन्तु आर्य्य-समाज में आर्य्य-भाषा की यह शोचनीय अवस्था देखकर कौन शुभचिंतक है जिसके हृदय में एकवार वेदना उत्पन्न न होती हो। हम अपनी बातचीत में आर्य्य-भाषा, आर्य्य-सभ्यता, आर्य्य-जाति इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हुए किस प्रकार से अच्छे लग सकते हैं जब कि हमारी क्रिया में आर्यत्व का प्रवेश ही नहीं है। और तो और, व्यवहार की दृष्टि से हमारी भाषा ही आर्य्य-भाषा नहीं रही। तो ऐसी अवस्था में हमारे विचार आर्य्यत्व से पूर्ण हों यह ज़रा कठिन सी बात है। ऋषि दयानन्द ने आर्य्य-सभ्यता की रक्षा करनी चाही तो इसके लिये उन्होंने सबसे प्रथम दर्ज़ा आर्य्यभाषा को दिया। उन्होंने सब के विरुद्ध यत्न करने पर भी अपने ग्रन्थों को आर्य्य-भाषा में ही छपवाया। चूंकि उनका उद्देश्य विलुप्त प्राय आर्य्य-सभ्यता की रक्षा करना था जिसका एक साधन वह आर्य्य-भाषा को भी समझते थे।

पंजाब की समाजों की शिरोमणि सभा आर्य्य प्रतिनिधि सभा की ओर से एक वार नहीं अनेकों वार इसके लिए यत्न किया गया किन्तु आर्य्य-पुरुषों के कानों में जूं तक नहीं रेंगी। आजतक उनमें से कइयों के हिसाब किताव दैनिक पत्र व्यवहार उसी तरह उर्दू या अंग्रेजी में ही चले आते हैं। 'आर्य्य-भाषा चातुर्मास' भी मनाया गया किन्तु उसका भी कोई विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ। 'दयानन्द शताब्दी' भी मनाए एक वर्ष होने वाला है किन्तु इस ओर आर्य्य जनता का ध्यान अकर्षित नहीं हुआ।

आर्य्य-सभ्यता और आर्य्य संस्कृति का प्रचार आर्य्य-भाषा के प्रचार के विना नितान्त असम्भव है। हम दिन रात अपने व्याख्यानों और लैक्चरों में तो आर्य्य सभ्यता की रक्षा और आर्य्य-समाज के प्रचार की अपील करें किन्तु हमारे कार्य अनार्य्य हों तो कैसे सम्भव है कि केवल मात्र गुड़ २ कहने से ही मुंह मीठा होजाय। निस्सन्देह इस बात के लिये बड़े भारी बलिदान की आवश्यकता है। किन्तु यह बलिदान कोई असामान्य बलिदान नहीं है जिससे आप घबरा उठें। यह बलिदान केवलमात्र आपकी वृत्तियों का है। आप अपने हृदयों में प्रण करलें कि आज से आपकी बातचीत, आप के पत्र व्यवहार आपके कारोबार सभी कुछ आर्य्य भाषा में होंगे। आप अपने पुत्रों और पुत्रियों को आर्य्य-

भाषा अवश्य ही पढ़ावें। बस, फिर देखिये आर्य्य-समाज और आर्य्य-सभ्यता किस जोर से फैलती है। शोक यही है कि आज जड़ को छोड़ कर पत्तों और टहनियों को सींचने में हमारा समय अधिक जारहा है।

श्री मुख्याधिष्ठता गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी लिखते हैं:—

गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगडी (बिजनौर) में नये प्रविष्ट होने वाले बालकों के प्रवेशार्थ प्रार्थना पत्र ३१ जनवरी १९२६ तक गुरुकुल कार्य्यालय में पहुंच जाने चाहियें। प्रवेश पत्रों की फार्में तथा गुरुकुल के नियम कार्य्यालय गुरुकुल से मिल सकेंगे।

क्या रामायण काल्पनिक है?—

मि० वीबर आदि ऐतिहासिकों ने कल्पना प्रधान युक्तिवाद से, ईसाईयत ईसाई सभ्यता के गौरव को भारतवासियों के हृदयों पर अङ्कित करने के लिए, रामायण और महाभारत को काल्पनिक काव्य सिद्ध करने का यत्न किया। परन्तु सी. वाई चिन्तामणि वैद्य आदि भारतीय ऐतिहासिकों ने गहरी खोज के बाद क्या भारतीय साहित्य के प्रमाणों द्वारा और क्या ज्योतिष शास्त्र द्वारा महाभारत की घटना को यथार्थ प्रमाणित किया है। जिन युरोपियन विद्वानों ने रामायण महाभारत को काल्पनिक कथा सिद्ध करने का यत्न किया था, वह भारतीय नहीं थे, वह राम कृष्ण के भक्त नहीं थे, इसलिए उन के तर्क पर किसी को आश्चर्य नहीं होता था। परन्तु अब महात्मा गांधी जी अपने आप को राम कृष्ण का भक्त समझते हैं तथा कहते हैं और प्रतिदिन प्रातःकाल रघुवीर की जय गाते हैं, तो भी रामायण को ऐतिहासिक घटना होना स्वीकार नहीं करते। उन्हों ने अपने नवजीवन में तथा प० नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ के साथ बात चीत करते हुए स्पष्ट कहा है कि मैं राम और कृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानता।

हम यहां महात्मा गांधी जी की स्थापना का खंडन करने के लिए युक्ति तथा प्रमाण पेश नहीं करेंगे, (यह स्वतन्त्र विषय है)। हम तो इसी बात पर प्रकाश डालेंगे कि आर्य सभ्यता का अभिमानी होते हुए भी महात्मा गांधी के यह विचार क्यों बने। हमारी राय में इस का मुख्य कारण यह है कि महात्मा गांधी ने आर्य सभ्यता के मूल स्रोत संस्कृत साहित्य का स्वतन्त्र अनुशीलन नहीं किया। भारतीय इतिहास का अध्ययन उन्होंने संस्कृत साहित्य एवं भारतीय वाङ्मय की सहायता से नहीं किया, अपितु युरोपियन विद्वानों के दृष्टिकोण

से किया है। केवल महात्मा गांधी ही ऐसे अकेले व्यक्ति नहीं हैं। भारतवर्ष की सरकारी युनिवर्सिटियों (जहां अंगरेजी द्वारा संस्कृत साहित्य तथा भारतीय इतिहास पढ़ाया जाता है) में पढ़े हुए ९० फी सदी ग्रेजुएट राम कृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं समझते। युक्तियों तथा प्रमाणों से, इनके विचारों में थोड़ा बहुत परिवर्तन हो सकता है। परन्तु मूलतया इन भ्रमों को दूर करने का साधन यही है कि भारतीय युनिवर्सिटियों में पाठ्य क्रम को बदल कर भारतीय भाषाओं में भारतीय साहित्य की शिक्षा दी जाय।

हिन्दू धर्म का सुधार—

हिन्दू धर्म के शिथिल तथा असंगठित होने के कई कारण हैं, परन्तु मुख्य कारण हमारी सम्मति में यह है कि हिन्दू धर्म ने Definite निश्चित स्वरूप को छोड़ दिया था। समय के प्रबल प्रवाह के सामने, अन्दरूनी कमज़ोरियों के कारण जिसने हिन्दू धर्म को जैसा रूप देना चाहा, दे दिया। हिन्दू धर्म के सिद्धान्त निश्चित नहीं रहे। केवल मात्र अपने आपको हिन्दू कहना ही एक मात्र सिद्धान्त रह गया। मुसलमानों के समय तक चोटी तथा जनेऊ और गोरक्षा जैसे बाह्य चिह्नों में हिन्दू धर्म सीमित था इस लिए उस समय इस पितृ लक्षण वाले हिन्दू धर्म के लिए मर मिटने वाले शहीद मिल गए थे परन्तु आज वह थोड़ी बहुत निश्चितता भी मिट रही है। हिन्दूधर्म के कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं हैं। कोई कहता है कि हिन्दुधर्म अहिंसा धर्म है, कोई कहता है सिद्धान्तों को मानने या न मानने की कोई बात नहीं, जीवन हिंन्दुओं का सा होना चाहिए। कई सज्जन इसके विपरीत जीवन सम्बन्धी बातों को छोड़ कर, केवल मात्र मूर्तिपूजा, अवतार बाद आदि सिद्धान्तों की रक्षा करना ही हिन्दू धर्म समझते हैं। जब तक इस प्रकार की आपा पन्थी रहेगी तब तक हिन्दू धर्म में सुधार नहीं हो सकता—

आर्य समाज तथा ऋषि दयानन्द ने हिन्दू संसार समुद्र को निश्चित सिद्धान्तों द्वारा मर्यादित करने का यत्न किया था। जो समाज हिन्दू धर्म को निश्चित सिद्धान्तों की सीमा में मर्यादित कर सकेगा वही असली अर्थ में हिन्दू धर्म में सुधार कर सकेगा। —राजेन्द्र विद्यालङ्कार

———

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन लाहौर ।

ब्यौरा आय—व्यय बाबत मास आश्विन संवत् १९८२ विक्रमी ।

निधि	बजट आय	इस मासकी आय	इस वर्ष को आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
कार्यालय मुख्य सभा				६४१०)	४६३।।।≈)।।	२८१०≈)१
दशांश	२६००)	६४)।	८३२।।।-)।			
ायाद्य सभा				८६०)	७१।≈)।	३३६-)।।
ार्थार्थ			१५०)			
सत्यार्थ प्रकाश आज्ञा			१२५)			
मिलस्पसेज़ आफ						
स्वा० दयानन्द			८३।।≈)			
योग		६४)।	११९१।≡)।		५६५।-)	३१७६≡)७
कार्य्यालय वेद प्रचार				१५६०)	६८)	३९६।।)
ाब वैदिक पुस्तकालय	५००)	२०)	२३८)	२५००)	३३५।।।-)।।	१३११।)।
ार्य्य	३०००)	११।।=)	४४६।।-)।	३०००)	१४४।।≡)।	६४३।-)१०
ार आना निधि	२०००)	२५।।≈)	८३।-)।			
्वक्ट	२००)	३१।।-)	६०।।=)			
तन् उपदेशक				१७०८०)	१०२४।।≈)१०	५८६८।।।-)।
ार्ग व्यय				६४००)	७६२।।)।।।	३१३४।≡)।।
ीमा जीवन				६०)		४४≡)
ैदिक कोष				१२००)	५०)	४१३।।=)।।।
हायता माता गणपति शर्मा				२४)	१२)	१२)
योग		८८।।-)	८३१।।)।।		२३९७।।)४	१२१६८।।)७
दू प्रचार		२०४२।।≡)।।।	७३०६।।।)५			
ाम स्मारक निधि	३००)	८।=)	१११।≈)			
तन् उपदेशक				२०००)	१०)	४३८।।।)
ार्ग व्यय				५००)		४७।।)
ुज़ारा विधवा पं०						
,, तुलसी राम				१२०)	१०)	६०)
,, ,, पं०वज़ीरचंद				६६)	८)	४८)
योग		८।≈)	१११।=)		२८)	५९४।)
ूद बैंक		३८७२।।।)	१७९४६)		१)१	५।।)।।
ूद कर्ज़ा		२०३२।।-)४	२१०७।-)४			
ूमि आय व्यय			२५०।।-)			१८३।।)।।
किराया मकान			८)			
योग		४६०५।-)४	२०३११।।।≈)४		१)१	१८६-)५
अमानत अन्य संस्था		१११≡)	५९८।।)			६४८०≡)८
,, आर्य समाजें		५९७।।।-)।	१६८३।।।)।।।		३५९।।।)।	१४६७।।।≡)
,, वैदिक पुस्तकालय			५०)			५०)
,, विद्यार्थी आश्रम		४५)	४५)		५६)	५०४)
अम्बालाल						
,, दामोदरदास						५०।।)
		७९४।।	२३७७।)।।।		४१५।।।)।	८५५२।

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन लाहौर।

ब्यौरा आय-व्यय बाबत मास आश्विन संवत् १९८२ विक्रमी।

निधि	बजट आय	इस मास की आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष व्यय
सीयत निहालदेवी जींदाराम		११४≡)।	४५६६।≡)।		२०)	१॥)॥
,, स्वामी विद्यानन्द जानकी बाई		५००)	१०००)			१८॥)
सीयत पं० पूर्णानन्द					४०)	२४०)
,, महाशय ओनीराम					२५)	१५०)
,, .. रामशरणदास			१०००)			
योग		६१४।≡)।	६५६९।≡)।		८५)	४१०)॥
लितोद्धार	१००००)	५३७)।	७९८॥-)॥।	१००००)	१२८०॥≡)।	४५२५।≡
ाजपूतोद्धार		२)	२७)		४२०२॥)१०	५३१९॥-
वीडेण्ट		१८८॥=)११	८१३≡)४		१७०॥-)४	२२५।-)॥
पदेशक महाविद्यालय	९०००)	९१३)	१४१३३≡)॥।	९०००)	१०१॥=)	२२३१४॥-
ार्य्य विद्यार्थी आश्रम	४५००)	९०१≡)।	३३८७-)॥	४५००)	४१७।≡)	१४३४।≡
ज्ञात निधि		१५)	१४६६।)॥।		५॥=)	१४४६।-
ताब्दी		१०)	४२९≡)			७५॥=)
दामृत			५४५१॥≡)			
पदे० विद्या० स्थिरकोष			२००००)			
ादेश प्रचार	२०००)		६५॥=)।	१५००)		१८॥)
द्रास प्रचार			५)			
भा के सेवकों की सहा०						६७॥)
ुक्षा समिति		५)	७५)			१८॥।
पदेशक विद्यालयशाला			१६१०)			
मदेवी होमकरण भंडार				६०)		९०)
ासाम प्रचार						५३।=
ामचंद स्मारक निधि		३४०॥-)	३४५॥-)		१८१।=)॥।	१८१।=
ानस		१२३॥-)॥।	१२३॥-)॥।			
ुरुकुल मुलतान		—॥=)	—॥=)			
योग		३०३५।≡)५	४८७३३॥।)१		६३५७॥≡)२	३५६७१
ुरुकुल महा निधि		४३०३॥-)।	४८६८६॥-)७		१२३२४।)११	६८८९४)
,, स्थिर छात्रवृत्ति		१७५१०)	१७५४०)			
,, अस्थिर ,,			१८००)			
,, उपाध्याय वृत्ति			५८४०५)॥			
कन्या गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ			१३४९३।=)॥			१८००।-
योग		२१८१३॥-)।	१३६३२५)७		१२३२४।)११	८६८९५
ार्व योग		३३३२७।)॥	२२३७५८॥-)२		२२१५४॥-)॥।	१४७६६
त शेष		११२१२०५॥।)२	१०५६२५६॥≡)१०			
योग		११५४५३३)८	१२८००३५॥)			
व्यय		[illegible]	[illegible]			
ान शेष		११३२३७८=)११	११३२३७८=)११			

Registered. No. L. 1424. रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

* ओ३म् *

भाग ६ नवम्बर १९२५
अङ्क ६ कार्तिक १९८२

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना।

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तोऽराव्णः

ऋग्वेद।

हे प्रभु! हम तुम से वर पावें।
विश्व जगत् को आर्य बनावें॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें।
प्रीति-नीति की रीति चलावें॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

शरत्चन्द्र लखनपाल प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से बाम्बे मैशीन प्रेस मोहन लाल रोड लाहौर में छप कर प्रकाशित हुवा।

विषय

विषय सूची ।

पृष्ठ

"आर्य्य" के नियम ।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है । (डाकख़ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है) ।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है । सभा ने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है ।

३—इस पत्र में धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभा की सूचनाए दर्ज होती हैं ।

४—पत्र में प्रकाशित होने के लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख़ के पूर्व आजाने चाहियें ।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के भीतर सूचना देने से वह अङ्क भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात मंगवाने पर प्रति अङ्क ।≶) देने पड़ेंगे ।

* ओ३म् *

भाग ७] लाहौर—कार्तिक १९८२ नवम्बर १९२५ [अंक ७
[दयानन्दाब्द १०१]

नाथ भरोसे !

अब मन ! नौका नाथ भरोसे !
सागर चंचल, नौका डोले ।
नाथ ! नाथ ! तुतला मुख बोले !
खेवट को क्यों भोला ! कोसे ?
अब मन ! नौका नाथ भरोसे !
लो ! लो !! नौका पैठी ! पैठी !!
लिये लाल निज जननी बैठी ।
'ले लोगे प्रभु ! पाले पोसे ?'
अब मन ! नौका नाथ भरोसे !
ले चल माझी सुघर सयाना !
बात न सुन पतवार बढ़ाना ।
दूर न तट हिलती बाहों से ।
अब मन ! नौका नाथ भरोसे ।
जन्म दूसरा मा ने पाया ।
चूम रही निज जीवन-जाया ।
धन्यवाद फूटा लोगों से ।
अब मन ! नौका नाथ-भरोसे ।

ज़ैंज़िबार
१९.१०.२५ } 'चमूपति'

वामनावतार।

[ले०—श्री बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार, 'आर्य-सेवक']

देवताओं का कल्याण करने के लिये ५२ अङ्गुल का शरीर धर कर विष्णु भगवान ने बली को छला और तीन पैरों में तीनों लोकों को नाप कर उसे बेवस कर दिया। यह कथा इतनी प्रसिद्ध है कि इसको सविस्तर और सप्रमाण उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं।

आज हम शतपथ ब्राह्मण की उस मूल कथा की व्याख्या 'आर्य' के पाठकों के सामने रखना चाहते हैं जिसका बिगड़ा रूप यह पौराणिक कथा है। शतपथ ब्राह्मण की कथा यों है:—एक बार प्रजापति के दोनों सन्तान देव और असुर लोगों में परस्पर स्पर्द्धा होगई। देवता लोग चुपचाप अपनी शक्तियों का संवरण किये हुए बैठे रहे। असुरों ने समझा अब तो सब दुनियां ही अपनी है। लगे सारा भूमण्डल नापने। यहां से यहां तक मेरी और यहां से यहां तक मेरी। अन्त को यह ख़बर देवताओं तक भी पहुंची। उन्होंने कहा "भाई! बिलकुल चुपचाप तो नहीं बैठना चाहिये"। वह भी आ खड़े हुए, बोले "भाई! कुछ थोड़ा हिस्सा हमारा भी।" आगे आगे विष्णु था। असुर घूरते हुए से बोले "अच्छा! यह विष्णु जितनी जगह में लेट जाय उतनी तुम्हारी भी।" विष्णु बिलकुल बौना था पर देवता तनिक भी न घबराए। वह बोले 'बहुत मिल गई'। उन्होंने विष्णु को आगे किया। उसके चारों ओर छन्दों को खड़ा कर दिया और फिर भजन और पुरुषार्थ आरम्भ किया। परिणाम यह हुआ कि देवताओं के हाथ में सम्पूर्ण पृथ्वी आगई और असुर देखते ही रह गए।

पौराणिक कथा में समानता भी बड़ी भारी है और साथ ही भेद भी उतना ही भारी है। दोनों कथाओं में निम्न लिखित बातें समान हैं:—

(१) विष्णु का वामन होना।

(२) असुरों का विष्णु के नाप की भूमि देना।

(३) देवताओं का राज्य फैल जाना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भिन्न होने पर भी कथा का यह मौलिक अंश समान है; परन्तु अब भेदकी ओर दृष्टि डालने से भेद का भारी पन भी स्पष्ट हो जायगा।

भेद—

(१) इसमें बलि राजा का कहीं वर्णन नहीं।

(२) यहां सब देवता मांगने गए थे वहां केवल विष्णु।

(३) पुराण की कथा में छन्दों का कोई वर्णन नहीं।

परन्तु इन से भी अधिक गहरा भेद चौथा है।

(४) पुराण की कथा में विष्णु ने स्वयं असुरों को पराजित किया और बलि को बांधा परन्तु यहां देवताओं ने विजय प्राप्त की और उसका साधन कोई विष्णु की करामात नहीं किन्तु उनका स्वयं परिश्रम और भजन करना है। यह पौराणिक भाषा का कमर-तोड़ भेद है।

परन्तु आगे हम जिस भेद का वर्णन करने लगे हैं वह पौराणिक गाथा की कमर ही नहीं तोड़ता किन्तु उसे बिलकुल मिट्टी में मिला देता है। वह भेद यह है कि पौराणिक गाथा में यह कुछ नहीं बतलाया गया कि विष्णु नाम किसका है। वहां तो यह समझा गया है कि विष्णु नाम एक चारभुजा वाले, शंखचक्र गदा पद्मधारी, वनमाली, लक्ष्मीक्रोड़ विलासी, शेष शायी व्यक्ति विशेष का नाम है। परन्तु शतपथ में इसका गन्ध भी नहीं। प्रत्युत वहां स्पष्ट कह दिया गया है— "ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः" अर्थात् उन्होंने यज्ञरूप विष्णु को आगे रखा। 'यज्ञमेव विष्णुम्' यह शब्द कह कर और विशेष कर यहां 'एवं' शब्द का सन्निवेश करके शतपथ ने पौराणिक किले की आधार भित्ति ही निकाल डाली है। और स्पष्ट कर दिया है कि यह विष्णुत्व आरोपित है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि शतपथ में पौराणिक गाथा का वर्णन नहीं तो है किसका? यह सब गाथा क्या बताने के लिये लिखी गई है? और आरोप किसमें किसका है? इसका उत्तर यह है:—यह कथा यज्ञ की है जैसा कि शतपथ स्वयं ही कह रहा है और आरोप है विष्णुनामक एक कल्पित वामन पुरुष का यज्ञ में। अब इसमें फिर प्रश्न उठ सकता है कि इस कल्पना की क्या आवश्यकता थी और इसमें क्या सौन्दर्य है? सो हम आगे स्पष्ट करते हैं।

इस कल्पना का मर्म समझने के लिये 'यज्ञ' शब्द के अर्थ को लीजिये। इसके तीन अर्थ हैं। पूजा, संगतिकरण और दान। सच्ची पूजा पहिले वामन ही होती है। धीरे धीरे पूज्य के गुणों का परिचय होने पर ही वह बढ़ा करती है। इसीलिये भर्तृहरि ने कहा है:—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्द्ध परार्धभिन्ना छायेव मैत्री खल सज्जनानाम् ॥

यही बात दान की है और यही संगति करण की। भेद तो केवल इतना है कि पूजा जहां छोटे की ओर से बड़े की ओर है वहां दान बड़े की ओर से छोटे की ओर और संगति करण समानों में। वस्तुतः तीनों ही संगतिकरण हैं। इसलिये हम यज्ञ का मुख्य अर्थ संगतिकरण समझ लेते हैं, उसी से शेष दोनों की भी व्याख्या समझ लेनी। अच्छा, तो 'यज्ञ' का अर्थ संगतिकरण अर्थात् संगठन है। अर्थात् हमारे सब संगठित कर्म (क्रतु) आरम्भ में वामन होने चाहियें। अर्थात् हमें परिणामशूर होना चाहिये आरम्भशूर नहीं। थोड़े से आरम्भ करने से कार्य अधिक सफलता से होते हैं। इसी बात का यहां वामन और विष्णु रूप में वर्णन किया है। वामन का अर्थ है छोटा और विष्णु का अर्थ है व्यापक (वेवेष्टीति विष्णुः। विष्लृ व्याप्तौ) यज्ञ की सभी क्रियाएं इसी प्रकार हैं। वेदि नीचे से छोटी और ऊपर से चौड़ी होती है। उसमें जो आहुति डाली जाती है वह वामन होती है परन्तु अग्नि में पड़ने से वह विष्णु हो जाती है। वही सामग्री की एक मुट्ठी दूर दूर तक व्याप्त हो जाती है। यही यज्ञ के वामनत्व और विष्णुत्व का मर्म है।

अब आइये देवों और असुरों की पड़ताल करें। असुर कौन हैं? जो अपने स्वार्थ की ही चिन्ता करते हैं, जिन्हें दिन रात यही लगन लगी रहती है कि यहां से यहां तक मेरी, और वहां से वहां तक मेरी। इसके उलट देव कौन हैं? जो विष्णु अर्थात् संगतिकरण को आगे रखते है। उन्हें अपने स्वार्थ की चिन्ता नहीं। उन्हें समाज हित की चिन्ता है। वह जो करते हैं लोक स्वार्थ को आगे रखकर। इसीलिये असुरों के काम अस्तव्यस्त होते हैं। वह आपस में लड़ लड़कर मारे जाते हैं परन्तु यज्ञ करने वाले अर्थात् संगठित लोग चारों ओर से मर्यादा में बंधे रहते हैं। इसी का नाम छन्द है। गद्य और पद्य में यही भेद है। अक्षर वही हैं, पद वही हैं परन्तु जब वे वर्ण और मात्रा की मर्यादा में आजाते हैं तो छन्द होजाते हैं। वर्णाश्रम की मर्यादा से हीन भारतवासी छन्दोहीन भारतवासी हैं। दूसरी ओर यूरोपियन लोग हैं जो हर काम को स्वार्थ के लिये न करके लोक हित के लिये और मर्यादा के साथ करते हैं। इस पर और भी अधिक दुःख की बात यह है कि इतने मर्यादा हीन होने पर भी एक मर्यादाभास को मर्यादा

समझकर भारतवासी और भी अधिक गढ़े में गिर रहे हैं। क्योंकि जो रोगी होकर यह समझे कि मैं स्वस्थ हूं उसे कौन वैद्य बचा सकता है? सच पूछिये तो भारत के इतिहास में हमें वामन की यह कथा जीवित होकर खेलती दृष्टि-गोचर होती है। भारत के हिन्दू और मुसलमान राजा आपस में लड़ रहे हैं। हिन्दू हिन्दू से और मुसलमान मुसलमान से, हिन्दू और मुसलमान मिलकर हिन्दू और मुसलमान से लड़ रहे हैं। सब को अपने स्वार्थ की सूझ रही है। ऐसे समय में बादशाह फर्रुख सियर की लड़की बीमार होती है। एक कोने में छिपी जाति का अज्ञात सा डाक्टर उस लड़की की चिकित्सा करने में सफलता प्राप्त करता है। बादशाह पूछता है 'क्या चाहते हो? मुंहमांगा इनाम मिलेगा।' वह अपने लिये कुछ नहीं मांगता। अपनी जाति के लिये व्यापार की कोठी बनाने भर के लिये थोड़ी सी भूमि और कुछ व्यापारिक स्वत्व मांगता है। थोड़े वर्षों के पश्चात् यह सब कम्बख्त आपस में लड़ लड़ कर दासता की दुर्भेद्य बेड़ियों में जकड़े जाते हैं और वह जाति हित को सामने रखने वाली वामन व्यापार की कोठी सारे भारत में अपना साम्राज्य बिछा लेती है। इसका नाम है 'वामन अवतार'। इसको कहते हैं–'ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः'। पर हमारे पौराणिक भाई तो अपने शश शृंगायित विशालकाय विष्णु महाराज को ब्रामा प्रैस में दबाकर बावन अंगुल का बनाने पर तुले हुए हैं। इनकी इस अविद्या ने विष्णु को तो वामन क्या बनाना था इस देश के दिगन्तव्यापी साम्राज्य को ही वामना बना डाला, और सच पूछिये तो लोप ही कर डाला। इसीलिये कहते हैं–'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः'।

और अधिक ध्यान देने योग्य शब्द हैं 'अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः'। जहां पुराण के आलसी देवता विष्णु को भेजकर ही सन्तुष्ट हो गए वहां शतपथ के विष्णु ने तो कुछ भी नहीं किया। वह तो केवल सामने खड़ा था। हां, देवताओं को बहुत कुछ करना पड़ा। उनके लिये लिखा है 'ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दो-भिरभितः पर्य्यगृह्णन्। तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेन अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः। तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त।' अर्थात् उन्होंने विष्णु को सामने स्थापित करके चारों ओर से छन्दों से घेर लिया। फिर छन्दों से घेर कर अग्नि प्रज्वलित करके निरन्तर पूजा और परिश्रम करते रहे जिससे उन्होंने समग्र पृथ्वी को पा लिया। जो समय पौराणिक देवताओं के ढोल बजाने

का था उसी समय शतपथ के देवता 'अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः' अर्थात् भजन और परिश्रम करते रहे। लोभ के मिट्टी के ढेरों ने जिनके हृदयों से लोक हित की अग्नि सदा के लिए बुझादी है वह इस वामन की कथा का मर्म क्या जानें?

अब हम शतपथ का वह सम्पूर्ण उद्धरण देकर उसका अक्षरार्थ नीचे लिख देते हैं जहां से हमने यह कथा ली है।

"देवाश्च वाऽअसुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनुव्यमिवासुरथहासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति ॥१॥ त होचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्योपजीवामेति तामौक्ष्णैश्चर्मभिः पश्चात्प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः ॥२॥ तद्वै देवाःशुश्रुवुः। विभजन्ते ह वाऽइमामसुराःपृथिवीं प्रेत तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते के ततः स्याम यदस्य न भजेमहीति ते यज्ञमेव विष्णु पुरस्कृत्येयुः ॥३॥ ते होचुः। अनुः नोऽस्यां पृथिव्यामा भजता स्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति ते हासुरा असूयन्त-इवोचुर्यावदेवैव विष्णुरभिशेते तावद्वोदद्म इति ॥४॥ वामनो ह विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्ये नोयज्ञसम्मितमदुरिति ॥५॥ ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य। छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन् गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामीतिदक्षिणतस्त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति पश्चाज्जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरतः ॥६॥ तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य। अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तेनेमा ँ सर्वां पृथिवी ँ समविन्दन्त।"

"देव और असुर। ये दोनों प्रजापति की सन्तान आपस में स्पर्द्धा करने लगी। उधर देव चुपचाप से बैठे थे। इधर असुरों ने समझा चलो सब दुनियां अपनी ही है वह कहने लगे 'आओ। सब दुनियां बांट डालें और बांट के मौज उड़ाएं। (नापने के लिये) बैल के चमड़े ले लेकर पूर्व पश्चिम बांटना आरम्भ कर दिया। यह बात देवताओं ने भी सुनी। असुर लोग सब दुनियां बांटे डाल रहे हैं चलो वहीं पहुंचेंगे जहां इसे असुर बांट रहे हैं। भला हम किस गिनती में होंगे यदि हम कोई हिस्सा न लेंगे? वह यज्ञ रूप विष्णु को आगे रखकर जा पहुंचे। वहां पहुंच कर बोले-कुछ इस पृथ्वी में हमारा भी हिस्सा निकाल दो। आखिर कुछ हमारा भी तो हिस्सा होना चाहिये। इस पर असुर लोग कुछ जलते हुए से बोले जितने में विष्णु लेट जाय उतनी तुमको देंगे। विष्णु तो बिलकुल बौना था पर देवता बिलकुल न घबराए। बोले 'यज्ञ के नाप की भूमि देदी बस बहुत देदी।' उन्होंने विष्णु को आगे रखकर चारों ओर से छन्दों से घेर

लिया। 'गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' यह कह कर दक्षिण की ओर 'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' यह कह कर पीछे 'जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' यह कर उत्तर की ओर से घेर लिया। इस प्रकार उसे छन्दों से घेर कर सामने की ओर अग्न्याध्यान करके (परमेश्वर का) अर्चन करते हुए तथा श्रम करते हुए विचरने लगे। इससे इस सारी पृथ्वी को पागए।"

इस लेख में वामन-अवतार की व्याख्या कर दी गई है। अगले किसी लेख में छन्दों की तथा विष्णु के तीन क्रमों की व्याख्या की जायगी। हां, निर्देश-मात्र के लिये यहां इतना लिख देना पर्याप्त है कि इन शब्दों से शतपथ ने वर्णाश्रम मर्यादा का ग्रहण किया है। इस लेख में इस बात का केवल एक ही प्रमाण पर्याप्त होगा 'ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुप्'। अर्थात् गायत्री (छन्द) नाम ब्राह्मण का और 'त्रिष्टुप' क्षत्री का है। [शत० कां० १।३।२।५]।

श्रीमद् भगवद्गीता और अवतार-वाद।

[ले०—श्री० विश्वनाथजी आर्य्योपदेशक]

गीता के कई श्लोकों में भगवान् कृष्ण की ओर से अपने आप को परमात्मा कहना मिलता है। आर्य विद्वद्वर इस का कई प्रकार से समाधान करते हैं।

पौराणिक पंडित इसी से कृष्ण को ईश्वर का अवतार सिद्ध करते हैं। और इस के लिये "यदा यदा हि धर्मस्य" गीता ४-६ का प्रमाण उपस्थित करते हैं और अवतार वाद के लिए आज कल सर्वसाधारण की वाणी पर यह श्लोक रहता है। 'आर्य' के किसी गताङ्क में गीता के स्वरूप के सम्बन्ध में हम अपना विचार प्रकट कर चुके हैं। कृष्ण के ईश्वर भाव विषयक श्लोकों का कुछ ही अर्थ हो परन्तु उपरिलिखित श्लोक अवतार वाद का प्रतिपादक कदापि नहीं इसी विचार को यहां दृढ़ किया गया है।

किसी ग्रन्थ के किसी श्लोकादि के तात्पर्य जानने के लिए सात बातों का जानना आवश्यक होता है। जैसा कि—

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्तिश्च लिंगं तात्पर्य निर्णये॥

अर्थ—तात्पर्य निर्णय के सात चिन्ह हैं। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति। उपर्युक्त श्लोक के अर्थ करने के समय अवतार

वादी महानुभाव उपक्रम से सर्वथा निरपेक्ष हो जाते हैं। यही कारण उन के यथार्थ न जान सकने का है। यदि वह इस पर थोड़ा सा भी विचार कर लें तो उन को सत्यता दृष्टिगोचर होने लगे, अस्तु। गीता के चतुर्थाध्याय के प्रथम श्लोक में कृष्ण अर्जुन को कहते हैं:--

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ गी०-४-१

अर्थ—हे अर्जुन ! यह अव्यय योग मैंने पहले विवस्वान् को कहा उस ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु के लिये उपदेश किया इत्यादि। तब अर्जुन को सन्देह होता है और वह पूछता है:—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्थ—हे कृष्ण ! आप का जन्म अब हुआ परन्तु विवस्वान बहुत पहले हो चुका। मैं यह कैसे जानूं कि तूने उस समय भी उपदेश किया ?

इस का उत्तर देते हुए भगवान् कृष्ण अर्जुन को कहते हैं:—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥५॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके हैं। मैं सब को जानता हूं। तू नहीं जानता। आगे अपने जन्मों के विषय में ही यह श्लोक कहा गया है:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जब २ धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब आत्मा को उत्पन्न करता हूं। इस प्रकार उपक्रमोपसंहार देख लेने से प्रत्येक विचारशील पुरुष इसी परिणाम पर पहुंचता है कि इस स्थान पर भगवान् कृष्ण अपने आप को जीव मान कर ही अपने जन्मों का कथन कर रहे हैं। अवतार वाद की इन श्लोकों में गन्ध भी नहीं पाई जाती।

परन्तु पौराणिक पंडित कहते हैं कि यहां अपने जन्मों का अभिप्राय अवतार ही हैं। यदि यह बात थी तो स्पष्ट क्यों न कह दिया कि हे अर्जुन

तू नहीं जानता कि मैं ईश्वर का अवतार हूं और मैंने अमुक अवतार धारण करके विवस्वान् को इसी गीता का उपदेश किया। परन्तु समग्र गीता में भी अवतार शब्द नहीं पाया जाता और सम्पूर्ण पुराणों में विष्णु के किसी ऐसे अवतार का उल्लेख नहीं जिसने विवस्वान् को गीता का उपदेश किया हो। इस अवस्था में उपर्युक्त श्लोकों को अवतार वाद पर लगाना किसी भी बुद्धिमान को स्वीकार नहीं हो सकता।

उपरिस्थित श्लोक सं० ५ में कृष्ण के इस कथन से कि तेरे और मेरे बहुत से जन्म व्यतीत होचुके हैं, और भी स्पष्ट होजाता है कि कृष्ण अपने जन्मों को अर्जुन के सदृश ही मानते हैं। अर्जुन जीव था अतएव कृष्ण भी अपने आपको यही सिद्ध कर रहे हैं।

पुराणों में अर्जुन और कृष्ण को नर नारायण का अवतार माना है और अर्जुन को इन्द्र का अंश भी। परन्तु यह दोनों बातें जहां एक दूसरे के विरुद्ध हैं वहां गीता के भी प्रतिकूल हैं। अर्जुन को नर कहने का आशय तो उसके जीव होने का ही है। परन्तु यदि वहां गीता को कोई देवांश अवतार अभीष्ट होता तो कृष्ण उसे यह न कहते कि तू अपने जन्मों को नहीं जानता। क्योंकि अवतारों को अपना पिछला जन्म विस्मृत नहीं होसकता।

इसके अतिरिक्त गीता का समग्र उपदेश अर्जुन को जीव मान कर ही दिया गया है। अर्जुन कृष्ण तथा अन्य योद्धाओं को ही समक्ष में रखकर "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि २-२३" इत्यादि श्लोकों में जीव की नित्यता का उपदेश किया है तथा अर्जुन को कहा है किः—

हतो वा प्राप्स्यासि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ॥२-२३॥

अर्थ—हे अर्जुन ! यदि तू युद्ध में मारा जावेगा तो स्वर्ग प्राप्त करेगा, जीतेगा तो पृथिवी का राज्य भोगेगा। इसलिये युद्ध का निश्चय करके उठ।

कृष्ण ने जन्म लिया यह गीता २-१२ में तो सर्वथा ही स्पष्ट कर दिया है। इस में जहां भगवान् कृष्ण ने अपने जन्मों को अर्जुन के जन्मों सदृश माना है वहां सब राजाओं के साथ भी मिला दिया है। इसके अतिरिक्त अपने अगले और पिछले जन्म का उल्लेख करके अपने जीव होने का ज्वलन्त प्रमाण उपस्थित कर दिया है। जैसा कि—

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥२–२३॥

अर्थ—हे अर्जुन ! इस जन्म से पहले क्या मैं नहीं था, तू नहीं था कि या यह योद्धा राजा नहीं थे । और मरने के पश्चात् क्या हम सब नहीं होंगे ? ऐसा नहीं । किन्तु इस जन्म से पहले भी थे और मर कर फिर भी उत्पन्न होंगे। अगले श्लोक में भी सब को जीव मानकर ही यह कहा गया है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥२–१२॥

अर्थ—जीवात्मा जैसे इस शरीर में पहले कुमार फिर युवा, पश्चात् वृद्ध होता है ऐसे ही इसका पुनर्जन्म होता है। बुद्धिमान् वहां भी मोह नहीं करते। इसके आगे जीवात्मा का ही वर्णन है और पूर्व श्लोक के साथ सम्बन्ध रखने से कृष्ण अर्जुन और राजाओं का ही वर्णन किया जा रहा है । अतएव यह सब जीव ही थे ।

महाभारत वनपर्व अध्याय १२ में कृष्ण जब पांडवों के पास आते हैं और दुर्योधन के कर्म कुकर्म से क्रोधाविष्ट होजाते हैं तो उस समय शान्ति के लिये अर्जुन कृष्ण के पिछले जन्मों का वर्णन करते हैं । यद्यपि यह अध्याय भी पौराणिक भावों की मिलावट से रिक्त नहीं परन्तु निम्न श्लोकों में उनका जो पुरावृत्त लिखा गया है । उससे भी अवतार वाद की सिद्धि नहीं होती ।

सक्रुद्धं केशवं दृष्ट्वा पूर्व देहेषु फाल्गुणः ।
कीर्त्तयामास कर्माणि सत्यस्यामित तेजसः ॥१०॥
दशवर्ष सहस्राणि यत्र सायं गृहे मुनेः ।
विचरस्त्वं पुरा कृष्ण पर्वते गन्ध मादने ॥११॥
दशवर्ष सहस्राणि दशवर्ष शतानि च ।
पुष्करेष्ववसः कृष्ण त्वमपोभक्षन् पुरा ॥१२॥
ऊर्द्धे बाहुर्विशालायां वदर्य्यां मधुसूदन ।
अतिष्ठ एकपादेन वायुः भक्षः शतं समः ॥१३॥
अवकृष्टोत्तरः संगः कृषोधमनि संततः ।

आसीःकृष्ण सरस्वत्यां सत्रे द्वादश वार्षिके ॥१४॥
प्रभासमप्यथासाद्य तीर्थं पुण्य जनोचितम् ।
तथा कृष्ण महातेजः दिव्यं वर्ष सहस्रकम् ॥१५॥
अतिष्ठस्त्वथैकेन पादेन नियमस्थितः ।
लोकप्रवृत्ति हेतोस्त्वमितिव्यासो ममाब्रवीत् ॥१६॥

अर्थ—कृष्ण को क्रोधित देख अर्जुन उनके पिछले जन्म का वृत्त कहने लगा ॥१०॥ हे कृष्ण ! गन्धमादन पर्वत पर तू दसहज़ार वर्ष (दिन) विचरा ॥११॥ पुष्कर में जल पीकर ११ सहस्र वर्ष निवास किया ॥१२॥ विशाल वदरी स्थान में ऊपर को भुजा किये हुए एक पाद से स्थित वायु भक्षण करते हुए सौ वर्ष स्थित रहा ॥१३॥ सरस्वति मे द्वादशवर्ष के यज्ञ में ऐसा तप किया जिससे शरीर ऐसा कृष होगया कि शरीर में नाड़ियां ही रह गई ॥१४॥ प्रभास तीर्थ में दिव्य सहस्र वर्ष तक एक पाद से तप किया लोक प्रवृत्ति के लिये ऐसा मुझे व्यास ने कहा ॥१५-१६॥

इन में वदरी में तप करने का सम्बन्ध पुराणों के अनुसार नर नारायण अवतार के साथ होसकता है । परन्तु अर्जुन जो नरावतार कहा जाता है उसकी अनभिज्ञता प्रकट करने से महाभारत का यह मत प्रतीत नहीं होता ।

गीता के विषय में एक यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि जीव अपने गत जन्म का वृत्त नहीं जान सकता । परन्तु कृष्ण ने कहा है कि मैं अपना पुरा-वृत्त जानता हूं । इसका समाधान यह है कि सर्वसाधारण जीव नहीं जानते । परन्तु योगी जान सकता है । जैसा कि—

संस्कार साक्षात्करणात् पूर्व जाति ज्ञानम् ॥ योगदर्शन ॥३-१८॥

संस्कारों के साक्षात् करने से योगी अपनी पूर्व जाति को जान सकता है ।

अपरिग्रह स्थैर्ये जन्मकथान्तर संबोधः ॥२-३९॥

अपरिग्रह की स्थिरता से योगी पूर्वजन्म का वृत्तान्त जान लेता है । भगवान् कृष्ण योगिराज थे अतएव उनके विषय में यह बात असम्भव नहीं हो सकती । आशा है हमारे पौराणिक भाई इस लेख पर पक्षपात को छोड़ कर विचार करते हुए सत्य का ग्रहण करेंगे ।

——:o:——

भूत-विद्या (SPIRITISM)

लेखक—श्री केशवदेव ज्ञानी (आन्ध्र)

जब से मनुष्य पैदा हुआ है, "भूत" और "प्रेत" सम्बन्धी विश्वास भी तभी से जारी हैं। किसी देश में जाओ और किसी धर्म या जाति के इतिहास की परीक्षा करो, कुछ न कुछ इस विषय में अवश्य पाओगे। वर्तमान में पश्चिमीय-विज्ञान की उन्नति के साथ २, हमने समझा था कि 'भूत" और "पिशाच" न रह सकेंगे। परन्तु गत बीस वर्षों की Psychical Research अर्थात् 'मनो विज्ञान-अन्वेषण' ने इस भूत-विद्या को भी Supernatural Science का नाम दिया है। आज बड़े २ योरप और अमरीका के वैज्ञानिक इन आध्यात्मिक सोसाइटियों के प्रधान और मन्त्री हैं। और यह भी एक बाकायदा विज्ञान का विषय समझा जाता है।

अभी उस दिन सर टी. सदाशिव ऐयर, एक प्रसिद्ध थियोसोफिस्ट गुण्टूर में आए हुए थे। उनके एक व्याख्यान का विषय जो कि उन्होंने टौनहाल में दिया, "Life Beyond Death" (मृत्यु के बाद का जीवन) था। इसमें इन्होंने हिन्दू-श्राद्ध का समर्थन करते हुए कहाः—"मनुष्य जब मरता है तब उसका सूक्ष्म-शरीर आत्मा के साथ इस भौतिक देह को छोड़ कर "प्रेत-लोक" को जाता है। क्योंकि मृत्युकाल में इसकी वासनाएं वैसी की वैसी थीं, इसलिये उसके अनन्तर भी अपने सूक्ष्म-शरीर द्वारा उन्हीं पुरानी वासनाओं का चिन्तन करता है, और उन्हीं में आनन्द ढूंढता है। ऐसी अवस्था में जब उसकी सन्तान या अन्य उत्तराधिकारी कुछ ब्राह्मणों को बुला "पिण्डक्रिया" करता और उत्तमोत्तम अन्न और वस्त्रादि देता है, तब वह मृत-आत्मा ब्राह्मण के शरीर द्वारा अपनी भौतिक इच्छाओं की तृप्ति करती है। इसीलिए कहा हैः—

यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्द्याद‌मत्सरः।

ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितॄणामेतदीप्सितम् ॥ मनु० ३।२३१॥

अर्थात् जो २ पदार्थ ब्राह्मणों को अभीष्ट हो वह उन्हें देना चाहिये क्योंकि वही पितरों को अभिप्रेत होता है।

* * * * * *

"भूत-विद्या" के अन्वेषण के लिये पश्चिम में सन् १८८२ में एक सभा

स्थापित की गई थी जिसका नाम Society for Psychical Research है इसका मुख्य-स्थान २९, Honover Square।' London,W...........है।

गत ४३ वर्षों में इसने जो सफलता प्राप्त की है, उसके प्रमाण के लिये इस सभा के भूतपूर्व प्रधानों के नाम जानना पर्याप्त है। नीचे के कुछ नामों से पाठक अनुमान कर सकते हैं कि कितने बड़े२ वैज्ञानिक, दार्शनिक और मनोविज्ञान वेत्ता इसके विचारों से सहानुभूति रखते हैं। सबसे पहिले प्रोफ़ेसर हेनरी सिजविक, लिट. डी. सी. ऐल, जो कि उक्त सभा के प्रथम प्रधान और मन्त्री थे। फिर राइट आनरेबल ए. जे. बैलफोर, प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स, सर डब्ल्यू क्रुक्स, सर ओलिवर लाज, प्रो. सी. रिश्ते ऐम. डी, मिस्टर ऐण्ड्रयू. लैन्ग ऐम. ए. ऐल. ऐल. डी. इत्यादि।

उपरोक्त सभा के वर्षों की खोज का परिणाम सभा की मनोवैज्ञानिक लाएब्रेरी से पता चलता है। इसमें इस समय कई सौ जिल्दें इस विषय पर लिखी गई हैं। हज़ारों परीक्षण और निरीक्षण इन में दर्ज हैं। ऐसी अवस्था में "भूत-विद्या" के विषय को केवल "अन्ध-विश्वास" और "मूर्खों को ठगने के उपाय" कहने से काम न चलेगा। आर्य्य-समाज (जो कि पूर्वीय साहित्य का यौक्तिक प्रचारक है) को चाहिये कि वह भी अपना पक्ष इस आध्यात्मिक विषय में संसार के सामने रक्खे और वेद-शास्त्रों के प्रमाणों से सिद्ध करे कि इन हज़ारों मानसिक और अ+प्राकृतिक (Supernatural) घटानाओं का समाधान इस प्रकार है।

* * * * * *

संक्षेपतः "भूत विद्या" के २ विभाग किये जा सकते हैं। १म, जिस में मनुष्य की अपनी 'आत्मा' काम करती है। और २य, जिसमें किसी अन्य की आत्मा का प्रभाव उस पर होता है। उदाहरणार्थः—

(१) Thought Reading—दूसरे के विचारों को विना कहे हुए समझना। जैसे एक मनुष्य ने किसी स्थान, किसी व्यक्ति और किसी कार्य के विषय में अपने हृदय में विचार किया है, उसे विना पूछे हुए स्वयं ठीक २ जान लेना। यह मनुष्य की अपनी आत्मिक शक्ति से होता है! परन्तु Thought Transfrence या Telepathy जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपने विचार विना जीभ और अन्य कर्मेन्द्रिय हिलाए केवल मनो प्रेरणा द्वारा समझाता है,

वह अन्य-आत्मा का प्रभाव समझना चाहिये। टैलीपेथी के भी फिर २ भेद हैं। एक में तो दूसरा व्यक्ति पहिले व्यक्ति को प्रयत्न पूर्वक अपना सन्देश पहुंचाता है, और दूसरे में एक की इच्छा मात्र से ही दूसरे को उस विषय का प्रत्यक्ष होता है। इसके उदाहारणार्थ निम्न घटना हम उद्धृत करते हैं:—

"सन् १८४८ के ९ सितम्बर को जब अंग्रेज "मुलतान" पर आक्रमण कर रहे थे, तब मैजर जनरल रिचर्डसन एक सेना का अधिपति था। उक्त तारीख की सायंकाल मिसिज़ रिचर्डसन को (जो कि उस समय मुलतान से १५० मील दूर पर फिरोज़पुर में बैठी हुई थी) अचानक यह विचार आया कि उसका पति युद्ध में घायल हो गया है, और उसके साथी उसे बाहिर उठा ले जारहे हैं। उस अवस्था में मिस्टर रिचर्डसन अपने साथियों को सम्बोधन करके कह रहा है कि "Take this ring off my fingers and send it to my wife" यह मुन्द्री मेरी अंगुली से निकाल कर मेरी धर्मपत्नी को भेज दो। पाठक! याद रखिये कि अभी तक टैलीग्राफ और टैलीफोन ईजाद भी नहीं हुए थे। ऐसी अवस्था में कई दिनों के बाद मिसिज रिचर्डसन को पता लगा कि सचमुच उसी ९ तारीख को उसी समय जब कि उसे यह विचार आया था, उसके पति को भयानक चोट लगी, जिसके कारण उसको उठाकर बाहर ले जाया गया जिस बीच में उसने अपनी मुन्द्री उतार कर भेजने की बात कही।

(२) यह तो हुआ जीवित आत्माओं के विषय में। मृत आत्माओं के विषय में भी कई लोगों को विशेष प्रकार के अनुभव होते हैं। उदाहरण के लिए हमारा नौकर है जिस का नाम है "रत्तैय्या"। इस की आयु लगभग ४३ वर्ष की है। कोई ६, ७ वर्ष हुए जब इस की स्त्री गुज़र गई। तब से इस को अपनी स्त्री की 'छाया' अपने चारों ओर घूमती हुई नज़र आती है; विशेष कर रात के समय अंधेरे में। कभी २ वह आकर इस के शरीर पर अपना अधिकार करती है। इस का सिर पर अधिक प्रभाव पड़ता है। सिर की दर्द, सिर का भारीपन इस के चिन्ह हैं।

चाहे वस्तुतः यह उस की मृत स्त्री की आत्मा हो या 'रत्तैय्या' की अपनी कल्पना, परन्तु ऐसे उदाहरण एक नहीं, सौ नहीं, हज़ारों हैं। इस में भी जैसा २ दर्पण हो, वैसी २ प्रतिकृति आती है। यदि मीडियम नीच प्रकृति का हो तो नीच विचारों की आत्माएं उस पर अपना प्रभाव करती हैं, और यदि मीडियम सात्विक प्रकृति और उच्च विचारों का हो तो उस के विपरीत।

गत कांग्रेस के समय बैलगाम में एक "अखिल भारतवर्षीय स्पिरिट्रयुअल कान्फरैंस" हुई थी, जिस के सभापति बंगाल के प्रसिद्ध सम्पादक बाबू पीयूश कान्ति घोष थे। उस कानफरैंस में मिस्टर के०पी०कामठ ऐम० ए० ने एक परलोक गत आत्मा का जो कि अपने आप को *Poor Sanyasin* कहती है, संदेश पढ़ा था। उस में जातीय-एकता और हिन्दू धर्म की रक्षा पर विशेष बल दिया हुआ था।

इसे Automatic writing या speaking कहते हैं जिस में कोई दिवंगत आत्मा किसी मीडियम के शरीर द्वारा स्वतः लिखती या बोलती है। इन्हीं आध्यात्मिक परीक्षणों के कुछ और भेद हैं जिन्हें Divining या Dowsing कहते हैं। इस में Dowser बिना विशेष ज्ञान के भूमि के अन्दर की चीजें, यथा कोने, चश्मे, इत्यादि का पता देता है। इसके सिवाय Elairvoyance, crystal gazing और Visidical-Hallvcinations भी विशेष मानसिक सिद्धियें हैं, जिन में मनुष्य बिना इन्द्रियों के सम्बन्ध के दूर देशों और स्थानों के सत्य-समाचार जान सकता है।

इन सब के उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु स्थानाभाव से ऐसा नहीं किया। Mismerism और Hypnotism के सम्बन्ध में भी इसी कारण कुछ नहीं लिखा। Suggestion और Faith healing के विषय में फिर कभी विस्तार से लिखेंगे।

पिछले कुछ वर्षों से भारतवर्ष में भी इस "भूत-विद्या" सम्बन्धी परीक्षण किये जा रहे हैं। "थियोसफ़ी" ने इस में अधिक भाग लिया है। अभी पिछले दिनों जो "अन्तर्राष्ट्रीय-स्पिरिट कानफरैंस" पेरिस में हुई, उस में भारतवर्ष का भी एक प्रतिनिधि गया था। उसे शायद् पाठक जानते होंगे। वह मिस्टर बी० डी० रिषी, बी० ए० ऐल० ऐल० बी० महाराष्ट्र के रहने वाले हैं।

संक्षेपतः, इस प्रकार हम ने प्रस्तुत लेख में "भूत-विद्या" के पूर्व पक्ष को उठाया है। यदि समय मिला तो "उत्तर पक्ष" भी कभी आगे लिखेंगे॥

---o---

तृतीय-सर्ग

विगत-सहस्राब्दी के विजयी–प्रधान-महारथी, ब्रह्मर्षि श्री विरजानन्दजी, सरस्वती को–

* वेदाऽर्थ–तालिकाऽप्ति ? *

(अक्तूबर मास से आगे)

"श्रद्धावान् लभते–'ज्ञानं', तत्–परः संयतेन्द्रियः ।
'ज्ञानं' लब्ध्वा, परां शान्तिमचिरेणाऽधिगच्छति ॥"

[गीता—अध्याय ४]

५३—फिर छोड़ कर–'अलवर', भरतपुर–भूप को दर्शन दिए,
'बलवन्तसिंह' नरेन्द्र ने ब्रह्मर्षि को सत्-कृत किए।
'षणमास' शुश्रूषा वहां श्रीमान की होती रही,
महाराज में नरराज की श्रद्धा-सरित् तब थी बही ! १

* * * *

५४—ब्रह्मर्षि की राजाधिराज–परात्म-प्रभु में भक्ति थी,
आ-जन्मतः छूई कभी उन से न विषयाऽऽसक्ति थी !
जिन में रही वह 'राज्य की सर्वोच्च–शासन–शक्ति' थी,
उन राजराजों की अहो ! महाराज में अनुरक्ति थी !! २

* * * *

५५—जब राजगुरु उस राज्य से करने लगे प्रस्थान थे—
नृप ने 'दुशाला, चार-सौ रुपये' किए तब दान थे !
फिर आगए 'मुरसान, टीकमसिंह भूपति के यहां'
सत्कार श्रद्धा से किया उस भूप ने उन का वहां ! ३

* * * *

५६—'मुरसान' से श्रीमान ने प्रस्थान 'सोरों' को किया,
उन को भयंकर-रोग ने आ घेर सोरों में लिया !
बढ़ता गया वह रोग, आकृति मृत्यु-की-सी-आ-बनी,
पर खोज कर वेदाऽर्थ की कुञ्जी उन्हें थी सौंपनी !! ४

* * * *

५७—कर डालती जो मृत्यु उन का उस समय संहार ही—
तो, हम-करोड़ों कर न सकते वेद का उद्धार ही!
सुनते न घर घर आज वैदिक गान का गुञ्जार भी,
उस वेद के होता न सत्य-समीर का सञ्चार भी! ५

* * * *

५८—कब हम 'हमारी-सभ्यता' को विश्व को सकते दिखा?
हां, यह जनेऊ टूटते, होती न शिर पर ही शिखा!
सुनते अमिट कब नाम 'विरजानन्द जी, महाराज का?
'झंडा विदेशों में न गड़ता' आज 'आर्य-समाज' का! ६

* * * *

५९—सुनते दयानन्दर्षि के उस घोष का अनुनाद कब?
होता 'जड़ों की अर्चना' का दूर आज प्रमाद कब?
फिर वह विकट शास्त्रार्थों का वायु कब बहता यहां?
औ-आर्यों के वक्ष पर होती विजय-माला कहां? ७

* * * *

६०—लेनी दयानन्दर्षि ने गुरु-दक्षिणा भी थी यहीं!
क्यों इस लिए ब्रह्मर्षि उठ कर 'स्वस्थ' हो जाते नहीं?
संपन्न हो फिर स्वास्थ्य से विचरे वही संसार में,
पावन-प्रवेश किया उन्होंने मधुपुरी के द्वार में!! ८

* * * *

६१—रस(६)अङ्क(९)वसु(८)विधु(१)विक्रमीमेंआगएश्रीमानथे,
टिक एक मन्दिर में, रहे कर दिव्य विद्या-दान थे!
श्रीमान ने 'विश्रान्त'[1] पर कुटिया किराये को लई,
विद्यार्थियों के अर्थ वह विद्यावती-सी बन गई! ९

* * * *

६२—वे 'न्याय', 'कोष', 'मनोरमा', 'मुक्तावली' औ, कौमुदी-
सब सामायिक पढ़ने लगे थे छात्र नित्य जुदी-जुदी!
आए वहां कुछ काल में फिर एक 'रङ्गाचार्य' थे—
जो सेठ 'राधाकृष्ण' के बनने लगे आचार्य्य थे— १०

* * * *

१—विश्रान्त-घाट=मथुरा का एक प्रमुख-बाज़ार।

६३—वे थे, स्वयं वैष्णव, उन्हों के कृष्ण-शास्त्री दक्षिणी—
आए हुए थे 'गुरु' वहां, विद्वज्जनों के अग्रिणी !
वे कृष्ण-शास्त्री न्याय औ, व्याकरण के विद्वान थे,
दो[1]-शिष्य व्याकरणी उन्हों के साथ में मतिमान थे ! ११

* * * *

६४—महाराज के भी सिंह-से इस ओर के थे शिष्य दो[2] !
बस, 'एक ही तो वाक्य पर' उनका गया 'शास्त्राऽर्थ हो !
वह था—'अजाद्युक्तिः', हुआ वह वाद भिन्न समास पर,
मत 'सप्तमी-तत्पुरुष' उन का और 'षष्ठी' था इधर ! १२

* * * *

६५—उन में न निपटा वाद, पहुँचे गुरु-जनों के पास वे,
करने लगे त्यों ही गुरुद्वय भिन्न भिन्न समास वे !
उद्यत हुए तब आप दिग्-गज दिव्य-दंगल के लिए,
बाज़ी लगा, इस ओर दो-सौ संग रुपये रख दिए !! १३

* * * *

६६—मध्यस्थ राधाकृष्ण ने वे चार-सौ मुद्रा धरी,
निज-ओर से 'शत-मुद्रिका' देनीं जयी को भी करीं !
मन्दिर 'गताश्रम' स्थान, औ-दिन-काल भी निश्चय किया,
इस 'चारु-चर्चा' ने वहाँ सब ओर शोर मचा दिया ! १४

* * * *

६८—जो देखते थे नित्य दंगल, अन्न कीटों के जहाँ—
उत्सुक रहे वे शास्त्रियों के दिव्य-दंगल-हित तहाँ !
भेजे वहाँ महाराज ने निश्चित समय वे छात्र दो,—
'श्रीकृष्ण जी आए नहीं या'—यों निरीक्षण-मात्र को ! १५

* * * *

६९—सोचा व्रती ने—'आगए हों तो चलें हम भी वहाँ !'
पर हा ! वहाँ पर न्याय से शास्त्राऽर्थ होना था कहां ?

१—लक्ष्मण ज्योति और मुरमुरिया पण्ड्यया।
२—चौबे गङ्गादत्त और चौबे रङ्गदत्त।

जब कृष्ण जी का ही मनस्तल था तलातल जा रहा!
जब मानिनी-सा मान था अपमान से भय खा रहा!! १६

* * * *

७०—देते कुल्हाड़ा न्याय पर, उनको न हा! आई दया!
उन छात्र दोनों को परस्पर हा! भिड़ाया तब गया!
निश्चय भला क्या होसके था?—जब मचादी धाँधली!
बस, 'हार स्वामी की' कही, 'जय जान्हवी' की बोलली! १७

* * * *

७१—उन लठ्ठ मारों को वहाँ रुपये वहीं बटने लगे!
पर हृत् हृदयवाले जनों के तब वहाँ फटने लगे!
वे कह रहे थे—'न्याय पर कैसी भयंकर मार है?'
स्वामी नहीं आए, हुई यों आप ही क्यों हार है? १८

* * * *

७२—इस धर्म-हिंसा को अहो! वे धर्म-धी[1] कैसे सहें?
यों 'न्याय के गल पर छुरा' वे देख, चुप कैसे रहें?
तब मिल—, 'अलेग्जण्डर' कलेक्टर से, कहा इस ही लिए—
—'रुपये दिलादें सेठ से शास्त्रार्थ या करवाइए!' १९

* * * *

७२—तब यों कलेक्टर ने कहा—'झगड़ा न करिए, आप अब,
वे हैं—'धनी,' इस-हेतु बस, हो जाइए चुप चाप अब!
इस में करेंगे आप रुपया खर्च एक कभी कहीं—
तो, वे हजारों खर्च करेंगे सहज ही में वहीं'!!' २०

* * * *

७३—देकर दुहाई विश्व को गुञ्जा रहे जो 'न्याय' की,
जो 'न्याय' को सम्पत्ति कहते प्राप्त अपनी 'दाय' की!
जो न्यायकारी 'न्याय, आसन पर डटे' हैं तब रहे!!,
वे किस तरह 'अन्याय-गुरु' को व्यक्त दे तन-मन रहे!! २१

* * * *

१—धर्म-धी—स्वामी।

७५—श्रीमान ने काशी लिखे दल[1] थे व्यवस्था के लिए,
वे चाहते थे—'सत्य निश्चय ही कराना चाहिये !!
तब 'गौड़-(?) स्वामी' और 'काकाराम[2],' 'काशीनाथ[3]' थे
जीवित वहां विद्वान, पर कटवा चुके वे हाथ थे ! २२

* * * *

७५—रोती हुई यों हाथ ! उनकी पत्रिका भी आगई:—
—'उस सेठ ही ने 'घूंस' छाती में हमारे भी दई !
जिस हाथ से खा–'पाप-धन,' हम पेट, आप डटा चुके,—
कैसे उसी से सच लिखें ?–यह हाथ पूर्व कटा चुके !! २३

* * * *

७६—'है पक्ष यद्यपि आप ही का सत्य, पर कैसे भला—
सम्मति लिखें ?—जब सेठ को मत-पत्र पूर्व गया चला !'
श्रीमान ने सोचा—'अहो ! अन्याय का डंका बजा !
क्यों डूबने कर धार पण्डित-मण्डली ने ली ध्वजा ? २४

* * * *

७७—सोचा तभी—'अन्याय क्या हरदेश में होगा भरा ?'
यों राज-पण्डित की व्यवस्था–हेतु आए—'आगरा,'
जब बोर्ड़[4] नायक से लई कर भेंट स्वामीने वहां—
तब 'चरणजीव[5] मिले उन्हें जो राजपण्डित थे तहां ! २५

—सन्तलाल दाधिमथ

१—दल-पत्र ।

२—पं० कांकारामशास्त्री ।

३—काशीनाथ „

४—बोर्ड–सदर बोर्ड=उच्चकचहरी ।

५—पं० चरणजीव शास्त्री, धर्म-शास्त्र की व्यवस्थादेने वाले ।

वेदार्थ दीपक निरुक्त भाष्य ।

(समालोचना)

श्री पं० चन्द्रमणि जी ने अपने किये निरुक्त भाष्य की एक प्रति हमें शताब्दी के अवसर पर दी थी अर्थात् पुस्तक के प्रकाशित होने के साथ ही। गुरुकुलोत्सव पर उक्त पुस्तक के विषय में हमसे सम्मति देने के लिये भी आग्रह किया था।

आर्य समाज के दृष्टिकोण से निरुक्त के अध्ययन का प्रथम यत्न श्री चन्द्रमणि जी ने ही किया प्रतीत होता है। पण्डित जी गुरुकुल में वेदोपाध्याय हैं। उन्होंने निरुक्त पढ़ा और पढ़ाया है। जैसा उनका भाष्य देखने से पतालगता है, उन्होंने यास्क का अर्थ उद्घाटित करने में वर्षों परिश्रम किया है। जभी यह ग्रन्थ-रत्न निर्मित हो सका है। दूसरा भाग प्रकाशित होजाने पर निरुक्त के अध्येताओं को अत्यधिक लाभ होगा यह संभावना कुछ दुरूह संभावना नहीं।

पुस्तक के समालोचन से हम कुछ तो समयाभाव से रुके हुए थे और कुछ विचार यह था कि समग्र पुस्तक पर एक ही वार दृष्टिपात करना चाहिये। समय की कठिनाई आफ्रिका में आकर—फिर यहां भी नैरोबी के कार्य से निवृत्त हो कर—दूर हुई। दूसरे भाग के प्रकाशन में संभव है, हमारे इन साधारण विचारों से लाभ उठाया जा सके। हमने अपना समालोचन इसी समय उपस्थित करना उचित समझा है।

भाष्यकर्ता पहिले पुस्तक-निर्माता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किया करते हैं। संभव है पण्डित जी दूसरे भाग में इस त्रुटि की पूर्ति करें। निरुक्त से पूर्व निघण्टु का पाठ दे देने से पण्डित जी ने विद्यार्थियों का उपकार किया है। यदि निरुक्त में ही यथास्थल निघण्टु दे दिया जाता तो अधिक उचित होता। हमारी सम्मति में निघण्टु और निरुक्त को एक ही ग्रन्थ के दो भाग समझना चाहिये—एक मूल है और दूसरा उसके कुछ अंशोंका भाष्य। ऋषि दयानन्द का विचार भी यही है। पण्डित चन्द्रमणि या तो इस विचार से सहमत नहीं या भाष्य-व्यग्रतावश इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर उनका ध्यान ही नहीं गया।

'साक्षात्कृतधर्माणः' आदि पंक्तियों में 'बिल्म' शब्द का निर्वचन देखकर पण्डित जी लिखते हैं कि 'यास्क ने उपर्युक्त वचन में प्रयुक्त अधिक क्लिष्ट शब्द

'विलम' की जो व्याख्या की है, उससे यह प्रतीत होता है कि संभवतः 'साक्षात्कृत-धर्माणः' आदि वचन किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है।"

यह कल्पना पण्डित जी से पूर्व किसी और ग्रन्थकार ने नहीं की। इसी 'साक्षात्कृतधर्माणः' आदि वचन में 'इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः' पाठ आया है जिस का अर्थ सब भाष्यकार 'इस (निघण्टु) ग्रन्थ को ग्रथित किया' करते हैं। पण्डित जी ने भी 'इमम्' शब्द की वृत्ति 'निघण्टु' की ओर मानी है।

यदि पण्डित जी का 'बिलम' सम्बन्धी अनुमान ठीक हो कि यह किसी 'प्राचीन अर्थात् यास्क से पूर्ववर्ती ग्रन्थ का उद्धारण है तो 'इमं ग्रन्थम्' आदि वचन यास्क का नहीं, अपितु यास्क से प्राचीन किसी पुराने लेखक का हो जायगा और यदि 'इमं ग्रन्थम्' से अभिप्रेत निघण्टु ही हो तब तो निघण्टु यास्क से ही नहीं किन्तु उससे किसी प्राचीनतर पुस्तक-लेखक से भी पूर्व का होगा। ऐसा पुस्तक-लेखक कौन था जिसका नाम-निर्देश भी यास्क ने नहीं किया, जब कि उसकी प्रथा सदा अपने से सहमत तथा असहमत लेखकों का नाम निर्देश कर देने की है।

यास्क की शैली तो प्रकरण में आए लौकिक भाषा के शब्दों के निर्वचन कर देने की भी है। केवल रूपसामान्य देखकर भी वह 'श्मश्रु' (३.५.१) आदि शब्दों की—जो और किसी प्रकार प्रसंग में प्रसक्त न थे—निरुक्ति कर देता है। यदि इसी प्रकार 'बिलम' शब्द पर भी—जो उसके अपने लेख में आया परन्तु था लौकिक भाषा का विचित्र शब्द 'भिलमं भासनमिति वा' लिख दिया हो तो इस पर पण्डित जी को क्या आपत्ति है? पण्डित जी को अन्य भाष्य-कारों से अपने भाष्य के इस प्रकरण में अपूर्वता लाने की कोई आवश्यकता नहीं।

अब निघण्टु और निरुक्त के बीच में किसी और 'प्राचीन ग्रन्थ' की कल्पना करने की तो आवश्यकता न रहेगी। यह कल्पना पण्डित चन्द्रमणि जी की अपनी ही उठाई हुई है जिसके लिये हमें कोई आधार प्रतीत नहीं होता। रहा निघण्टु और निरुक्त का समकालीन अथवा भिन्नकालीन होना। निरुक्तकार के वाक्य ऐसे हैं जिन की संगति से इस प्रश्न पर विचार किया जासकता है।

१—पुस्तक के आरम्भ ही में यास्क लिखता है:—'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः'। अर्थात् समाम्नाय रचा गया है, उस की व्याख्या करनी है। समाम्नाय का अभिप्रेत सब भाष्यकार निघण्टु ही को मानते हैं।

यह किसने रचा है ? पण्डित जी ने इस विषय को छेड़ा ही नहीं । दुर्गाचार्य्य यहां 'ऋषिभिः' शब्द का अध्याहार मानता है। अर्थात् ऋषियों ने यह समाम्नाय रचा है। किन ऋषियों ने ? वह नहीं जानता।

दुर्गाचार्य्य कृत व्याख्या के सम्पादक श्री महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त जी निघण्टुकार प्रजापति कश्यप को मानते हैं, और महाभारत मोक्ष धर्मपर्व ३४२ अध्याय के ८६,८७ श्लोकों को इसमें प्रमाण बताते हैं:—

वृषोहि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टुक पद व्याख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम् ॥
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ॥

इन श्लोकों का वक्ता अपने आपको संभवतः निघण्टुक पदों का व्याख्यान-कर्ता बताता है और कहता है कि कश्यप ने मुझे 'वृषाकपि' कहा। इस से कश्यप निघण्टु का रचयिता कैसे हुआ ? हम आगे चलकर निरुक्ति विद्याके परंपरागत रूप से यास्क तक पहुंचने और फिर उसके वतर्मान पुस्तक में ग्रथित होने का प्रतिपादन करेंगे। वृषाकपि इस विद्या के आचार्यों में से एक प्रतीत होते हैं। शिपिविष्ट आचार्य के नाम का उल्लेख आगे किया जाएगा। शिपिविष्ट यास्क के गुरू प्रतीत होते हैं। इन दोनों आचार्यों का निरुक्ति कला के साथ सम्बन्ध है, परन्तु न यह और न कश्यप निघण्टु के कर्ता हैं।

हमारी समझ में 'समाम्नातः' से पूर्व अध्याहार 'अस्माभिः' शब्द का होना, चाहिये क्योंकि आगे 'व्याख्यातव्यः' के साथ भी वही शब्द जुड़ सकेगा। वाक्य रचना से प्रतीत ऐसा होता है कि जो व्याख्यान करने लगा है, वही 'समाम्नाय' का संग्रह कर्ता भी है। हमारा अभिप्राय यह नहीं कि इस वाक्य का और अर्थ हो ही नहीं सका किन्तु सुसंगत अर्थ हमारा ही है। समाम्नाय रचा गया, उसका व्याख्यान करना है—इस वाक्य के पढ़ने से पहिली स्फूर्ति यही होती है कि लेखक अपने आपको ही समाम्नाय क्रिया का कर्ता मानता है।

(२) दूसरा विचारणीय स्थल वह है जिस के पं० चन्द्रमणि जी कृत व्याख्यान के प्रसंग में आई उनकी अपनी उत्थापित की कल्पना पर हमने शंका उठाई थी। यास्क कहता है:—'साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्यो-

ऽसाक्षात्कृत धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। (नि० १। १६।)

अर्थात् धर्म * का साक्षात्कार करने वाले ऋषि हुए। उन्हों ने अवरों (अपने से पीछे आने वालों अथवा कम ज्ञान वालों) को, जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार न किया था उपदेश विधि से मन्त्रों का (ज्ञान) प्रदान किया। उपदेश से संकोच कर अवरों ने मंत्रार्थ ग्रहण के लिए इस ग्रन्थ की रचना की—वेद और वेदाङ्ग की।

प्रश्न यह है कि 'इस ग्रन्थ' से अभिधेय कौन पुस्तक है? पं० चन्द्रमणि पर्यन्त सब भाष्यकार यहां 'इमम्' का संकेत निघण्टु की ओर मानते हैं। और 'अवरे' शब्द के पीछे 'ऋषयः' का अध्याहार कर निघण्टु का कर्ता असाक्षात्कृत धर्म ऋषियों को बताते हैं। तब तो दुर्गाचार्य का यह कथन कि 'समाम्नातः' से पूर्व भी 'ऋषिभिः' शब्द का अध्याहार होना चाहिये, ठीक है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं।

पं० चन्द्रमणि जी को यहां कठिनाई यह है कि 'समाम्नासिषुः' क्रिया के आगे 'वेदं च वेदाङ्गानि च' दो कर्म पड़े हैं। पण्डित जी का विचार है कि यहां 'समाम्नासिषुः' का अर्थ है 'लिपिबद्ध किया·········क्योंकि उपदेश द्वारा वेदों की शिक्षा तो पहले ही दी जाती थी।' पण्डित जी के उपर्युक्त उद्धरण से पता लगता है कि उन की सम्मति में 'उपदेश' का अर्थ मौखिक शिक्षा है। लेखनकला का ज्ञान मनुष्य को आरंभ में था या धीरे २ विकसित हुआ, इस पर विचारकों में मतभेद है। ज्ञान का प्रारंभ वेद से मानने वालों का मत है कि लेखन कला वेद के साथ आई, और वेद को पुस्तक-रूप आदिम ऋषियों के समय में देदिया गया था। 'यस्मात् कोशादुदभ्राम वेदम्' (अथर्व० १६। ७०। १) आदि मंत्रों का इस में प्रामाण्य है। पण्डित जी वेदों के लिपिबद्ध होने का कारण अवरों की 'स्मरण शक्ति की न्यूनता' को मानते हैं। तो क्या उनकी सम्मति में 'इमं ग्रन्थम्' 'वेद च' 'वेदाङ्गानि च' इन सब कर्मों के साथ 'समाम्नासिषुः' क्रिया का अर्थ 'लेखबद्ध किया' ऐसा है या केवल 'वेदम्' के साथ ही? यदि निघण्टु और वेदाङ्ग भी पीछे लिपिबद्ध हुए हैं तो उनका भी पूर्व साक्षात्कार तथा मौखिक उपदेश होता रहा होगा। और 'समाम्नायः समाम्नातः' में भी समाम्नाय को लिपिबद्ध ही किया गया होगा। यह मत पण्डित जी को स्वीकार न होगा। 'समाम्नाय' का अर्थ लिपिबद्ध करना कैसे हो? यह भी विचारणीय है।

* धर्म का अर्थ यहां वेद ही है। हम श्री० चन्द्रमणि जी के साथ सहमत हैं—लेखक

दुर्गाचार्य आदि यहां 'समाम्नासिषुः' का अर्थ करते हैं 'शाखा भेदेन समाम्नासिषुः' अर्थात् शाखा भेद से विभक्त किया। इस अर्थ में भी वही दोष हैं। आचार्य महाराज ने व्याकरणमष्टधा आदि कह कर इस अर्थ को दूसरे कर्मों 'वेदाङ्गानि' आदि पर घटाना चाहा है परन्तु वेद का भेद शाखाओं के रूप में और वेदाङ्गों का अध्यायों में करना युक्तियुक्त नहीं। वेदों के भी मण्डल अध्याय इत्यादि हैं। विभाग दोनों स्थलों पर एकसा करना चाहिये जो उन्हें अभिष्ट नहीं। यही 'समाम्नाय' क्रिया 'समाम्नायः समाम्नातः' में भी प्रयुक्त हुई है। तो क्या निघण्टु का भी इसी प्रकार विभाग मात्र वहां विवक्षित है? प्रतीत ऐसा नहीं होता।

हमारी समझ में 'उपदेश' का अर्थ है उप समीपं (साक्षात्कार विधिना) दिश्यतेऽनेन मंत्रज्ञानमित्युपदेशः अर्थात् जिस से वेद मन्त्रों का साक्षात्कार कराया जाए उसे उपदेश कहते हैं। आरम्भ में चार ऋषियों को साक्षात्कार हुआ। उन्होंने योग विधि से औरों को साक्षात्कार कराया। अंग्रेज़ी में इस विधि को Intuitional method of inspection कहेंगे। दुर्गाचार्य नि० २। ३ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं 'तपसाहि स्वयमपि वेदार्थः प्रादुर्भवेदेव।' योगदर्शन में शब्दार्थ के संयम का फल यही विभूति बताया है। जो उपदेश विधि से संयम द्वारा वेदार्थ ग्रहण के अधिकारी नहीं, उन्हें अवर ऋषियों ने वाङ्मय अर्थात साहित्य के रूप में वेद का मानसिक intellectual ज्ञान दिया। ऋषि दयानन्द ज्ञान के इन दो प्रकारों का भेद इस प्रकार बतलाते हैं:—यत् त्रिभिर्मीमांसा वैशेषिक न्याय शास्त्रैः सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकं ज्ञानतया निश्चयो भवति तेषां साक्षाज्ज्ञानसाधनम्.........योग शास्त्रम्। (भा० भू० ग्रन्थ प्रामाण्य प्रकरण) अर्थात् मीमांसादि शास्त्रों से श्रवण मनन द्वारा पदार्थों का आनुमानिक ज्ञान होता है। उस के साक्षात् ज्ञान का साधन योग शास्त्र है।

वेदार्थ में मुख्य प्रामाण्य स्वयं वेद का है। ऋषि दयानन्द लिखते हैं— "तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्यम सूर्य प्रदीप वत् (भाष्य भूमिका, ग्रन्थ प्रामाण्य प्रकरण)। आरम्भ में जब वेदाङ्ग न थे, वेद केवल अपने सहारे से पढ़ाया जाता था तो उसे उपदेश-उप समीपं स्वतः प्रामाण्येन दिश्यतेऽनेन—कहा जाता था। तत्पश्चात् वेदाङ्गों की रचना हुई। यास्क के कथन का अभिप्राय यह भी हो सक्ता है। यथार्थ उपदेश दोनों विधियों के एक साथ प्रयोग में है।

'इमं ग्रन्थम्' का अर्थ निघण्टु सहित निरुक्त है। 'अवरे' से अभिप्राय 'अस्मादृशाः' अर्थात् हमारे (यास्क) जैसे है। बहुवचन का प्रयोग इस लिए है कि यास्क कृत निरुक्त में केवल यास्क का मत नहीं, अन्यों का भी है। यास्क ने इन निरुक्तियों का श्रवण कुछ औरों से किया है और कुछ सम्भवतः उस की अपनी प्रतिमा का फल है। मुख्य भाग औरों का है इस लिए वह भूत क्रिया का प्रयोग करता है।

वेदं च वेदांगानि च हमारी समझ में पृथक् कर्म नहीं किन्तु 'इमं ग्रन्थम्' की व्याख्या मात्र है। यास्क निर्मित पुस्तक के दो भाग हैं—एक निघण्टु, वह तो वेद के शब्दों का समूह मात्र होने से वेदं च अर्थात् 'वेदशब्दान् च' और निरुक्त उन शब्दों का व्याख्यान होने से वेदाङ्गानि च कहलाता है। अङ्गानि बहुवचन का प्रयोग नि० १। १। २ के निघण्टवः की भांति समझना चाहिये। तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते १।१।२। यहां एक समाम्नाय को (बहवो) निघण्टवः कहा गया। ऐसे ही वहां एक निरुक्त को (बहूनि) वेदाङ्गानि कहा गया है। आम्नाय और समाम्नाय पर्याय हैं और आम्नाय वेद ही को कहते हैं। जैसे आम्नाय वचनात् (निरुक्त १। १६। ६) में तो समाम्नाय भी वेद ही का नाम है। यास्क कथित यह नाम १।१।१ में निघण्टु वाची है, इसी प्रकार १।१९।१ में वेदंच अर्थात् वेदशब्दांश्च भी निघण्टु ही को कहा गया है—महामहोपाध्याय श्री पं० शिवदत्त 'समाम्नाय' शब्द की व्याख्या करते हुए यही मत दर्शाते हैं।* इस प्रकार समस्त वाक्य का अर्थ हुआः—ते अवरे (यास्कान्ताः) ऋषयः समाम्नासिषुः इमं ग्रन्थं। कं ग्रन्थं? वेदं च निघण्टुवाच्यवेदशब्दान् वेदाङ्गनि च निरुक्तञ्चेति।

इमं ग्रन्थम् का वेदञ्च वेदाङ्गानि च से पृथक् अस्तित्व न मानने किन्तु पूर्वोक्त को व्याख्येय और शेषोक्त को उस की व्याख्या मानने में एक और हेतु यह है कि इमं ग्रन्थम् के पीछे च निपात नहीं पढ़ा गया। निरुक्त १।४।२१ में

* निघण्टोरेव'''''''''वेदेभ्यो निःसारितानां शब्दानामपि वेदत्वं नापगतम्' इति वेदत्वमेवेति निश्चायितुं निघण्टु ग्रन्थमुद्दिश्य वेदमात्र विषयं समाम्नाय शब्दं निर्दिदेश भगवान् यास्कः (निरुक्त प्रस्तावना पृ० ५)

नियम है चेति समुच्चयार्थे उभाभ्यां संप्रयुज्यते। यदि इमं ग्रन्थम् को समुच्चय का अङ्ग बनाना अभीष्ट होता तो एक· और च का प्रयोग अवश्य होता।

हमारी सम्मति में निघण्टु और निरुक्त प्रकीर्ण दशा में यास्क को परम्परागत मिले हैं। इसीलिए वह कहता है—समाम्नासिषुः ! उस ने उनका नया समाम्नाय वर्तमान पुस्तक के रूप में किया है। इसी अभिप्राय को लक्ष्य कर वह कहता हैः—समाम्नायः (अस्माभिः) समाम्नातः सो (अस्माभिरेव) व्याख्यातव्यः। महाभारत मोक्ष धर्म पर्व ६४२ अध्याय का ७१ श्लोक—

स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः।
मत्प्रसादादधोनष्टं निरुक्तमधिजग्मिवान् ॥

हमारे उक्त मत का पोषण करता है। यहां शिपिविष्ट को यास्क का गुरु कहा गया है। यह उन अवर ऋषियों' में से हैं जिन्हों ने 'इस ग्रन्थ' अर्थात् निरुक्त का समाम्नान किया। ऐसे ही वृषाकपि हैं, जिन का नाम ऊपर आ चुका है। महामहोपाध्याय महानुभाव का इस श्लोक से वेदाङ्गों का अपौरुषेय सिद्ध करना उन का अपना अनुमान है।

हमारे पक्ष की पुष्टि में एक और युक्ति यह है कि वेद वाङ्मय में निघण्टु की पृथक् कोई सत्ता नहीं। न यह वेद है, न उपवेद, न वेदाङ्ग न उपाङ्ग। ऐसा महत्व पूर्ण संग्रह और उसे वाङ्मय में स्थान ही न मिले! फिर निरुक्त तो इस की व्याख्या मात्र है, व्याख्या का मूल वेदाङ्ग कहना भूल है। वास्तव में निघण्टु और निरुक्त एक ही विद्या के अङ्ग हैं। निघण्टु निरुक्ति के लिए रचा जाता है और व्याख्या सहित निरुक्त कहलाता है। ऋषि दयानन्द का कथन मार्मिक है कि निरुक्तं यास्क मुनि कृतं निघण्टु सहितं चतुर्थं वेदाङ्गं मन्तव्यम् (भाष्य भूमिका, ग्रन्थ प्रामाण्य विषय)।

इस प्रकार वाक्यों की सङ्गति लगाने से ऋषि दयानन्द का पक्ष ठीक सिद्ध होता है कि निघण्टु और निरुक्त यास्क की रचना है। श्री पं० चन्द्रमणि जी 'बिलम' प्रकरण पर फिर विचार करें तो उपकार हो।

—चमूपति

———

ऋषि दयानन्द सरस्वती और उनकी अशुद्धियां निकालने वाले ।

(२) *

[श्री० भगवद्दत्त बी० ए० रिसर्चस्कालर, लाहौर]

काशी में एक वेदान्ताचार्य मोहनलाल नाम का पण्डित था। इसने सं० १९४० में ऋषि की ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के विरुद्ध एक 'महामोहाविद्रावण' नाम का ग्रन्थ लिखा था।

ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका के वेदसंज्ञाविचार विषय में ऐसा कथन है— '…इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यान करणात् ।' यहां 'मन्त्रप्रतीकानि' पद पर मोहनलाल कहता है—'प्रतीकान् इति वक्तव्ये नपुंसकोक्तिर्वक्तुर्वैदुष्य नापुंसक्यं सूचयति।' वेदान्ताचार्य की ऐसी अश्लील भाषा से पहला परिणाम तो यही निकलता है कि साम्प्रतिक वेदान्ताभासी ऐसे ही कर्मों में अपना वेदान्तज्ञान समझते हैं। और दूसरे, अब उसकी योग्यता का परिचय करो। उसकी ही योग्यता का नहीं उसको लिखाने वाले राममिश्र शास्त्री आदि की तथा नकच्छेद शास्त्री की भी योग्यता को देखो। जिसने 'सनातन धर्मोद्धार' खण्ड दो के पृष्ठ ५०९ पर आंख मीच कर यही वाक्य उद्धृत किया है। नवीन ग्रन्थाभ्यासियों को अगाध संस्कृत वाङ्मय के विस्तृत प्रयोगों का कितना स्वल्प परिचय है, यह भी अब पता लग जाएगा।

शतपथ ब्राह्मण १४।४।३।७ में कहा है—

'मुखं प्रतीकान् ।' यहां स्पष्ट ही प्रतीक-शब्द का नपुंसकलिंग में प्रयोग है इसका अर्थ भी वही है जिस अर्थ में ऋषिवर ने प्रयोग किया है। फिर देखो बृहदरण्यकोपनिषद् ६।२।३॥ में कहा है—…'पञ्च मा प्रश्नान् राजन्य बन्धुरप्राक्षीत् । ततो नैकञ्चन वेदेति । कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार ।' यहां भी प्रतीक-शब्द उसी अर्थ और नपुंसकलिंग में प्रयुक्त हुवा है। नामधारी वेदान्ताचार्य को जब वेदान्त के ग्रन्थों का ही ज्ञान नहीं तो और

* प्रथम लेख देखो—'प्रकाश' का ऋषि अङ्क-दीपमाला सन् १९२५ ।

विषयों पर उसका कहना कितना प्रमाण होगा? विद्वान लोग स्वयं विचार कर देखलें।

शङ्कराचार्य वेदान्तसूत्र ४।३।४। पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—

न हि स उपासकः प्रतीकानि व्यस्तान्यात्मत्वेनाकलयेत्।

यहां शङ्कर जैसे आचार्य भी प्रतीक शब्द का नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग कर रहे हैं।

ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी की टीका वेदार्थ दीपिका का कर्ता षड्गुरुशिष्य लिखता है—तत्रादिः प्रतीकम्।

इस से भी यही सिद्ध होता है कि 'प्रतीक' शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता रहा है।

पाठक! इतने प्रमाणों से आप को पता लग जायगा कि ऋषिवर की अशुद्धियां निकालना कोई साधारण बात नहीं। ऋषि की अशुद्धियों निकालने वाले अपने ही स्वल्प ज्ञान का प्रकाश करते हैं, अन्य कुछ नहीं।

———

भले नाथ कहलाते हो!

दया हेतु आया तब दर पर तुम अतीत दिखलाते हो।
भूत भविष्यत् के ऐ नायक, नाहक हमें ठगाते हो॥
शक्ति तुम्ही हो कह अशक्त क्यूं निष्ठुर अब ठुकराते हो।
पुण्य तुम्हीं मुझ पापी के हो तुम्ही घृणा दिखलाते हो॥
सार तुम्हीं हो यह असार फिर, क्यूं 'संसार' बनाते हो।
क्यूं प्रपञ्च रच अजब खिलाड़ी, झूले खेल खिलाते हो॥
आप मौज में केवल साक्षी, मात्र बने रह जाते हो।
सूझ न पड़ती भला हमारे, उठाय नाथ किस नाते हो॥

वेद का विचित्र विज्ञान

[श्री० बृहद्बल 'संयमी' साहित्याचार्य्य, आर्योपदेशक]

वैदिक विज्ञान के जिज्ञासुओ ! पाश्चात्य प्रदेशों से बहता हुआ पावन पवन भारतीय वैदिक सभ्यता के रंगीले नवयुवकों को, कुछ समय व्यतीत हुआ, एक भयंकर विषमय भाव का संदेशा दे रहा था, और वह यह कि "नवयुवको ! वेद नितान्त निस्सार जांगलिक विषय का उपदेश देता है, इसे सर्व विद्याभण्डार मानना एक ऐसी ही बात है, जैसे एक उन्मत्त तथा मूक पुरुष के हाव भाव देखकर कोई यह समझले, कि यह तो बड़ा ही करामाती योगी है। यह सुनकर मैं स्वयं उपेक्षित हो गया, और पवन की ओर आंखे फेर लीं। किन्तु अब मैं देखता हूं, कि पवन सन्देश का प्रभाव अक्षरशः मेरे भोले भाले, कोमल हृदय, भारतीय नवयुवकों के हृदय पटल पर प्रभावित हो चुका है। अब इनके ही मुखों से वे शब्द दुहराये जारहे हैं, जो किसी दिन प्यारे सखा पवन ने सुनाये थे। किन्तु मुझे याद है कि जिस समय ऋतुराज का शुभागमन होता है, स्वयं मुरझाई हुई वाटिका उसके स्वागतार्थ नवाङ्कुर उत्पन्न कर देती है। इसी आशा से आज मैं नवयुवकों को लक्ष्य कर यह बताने का प्रयत्न करुंगा, कि वेद वस्तुतः सब सत्य विद्याओं का भण्डार है। आप को पाश्चात्य महानुभावों ने Chemistry, Botany Zeology, Minerology, Physiology, Surgery, Medicine, आदि विद्याएं सिखाई किन्तु ये सब भिन्न २ नामों से मूल रूप में वेद में विद्यमान हैं।

मैं उपरोक्त सारे विषयों के मन्त्रों को स्पष्टीकरणार्थ रखना चाहता हूं परन्तु विस्तार भय से दिग्दर्शन मात्र ही गणितादि विज्ञान रक्खूंगा। यजुर्वेद अध्याय १८ मंत्र २४,२५ में लिखा है "एकाचमे तिस्रश्च मे पंच च मे" इत्यादि तथा "चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च द्वादश च मे द्वादश च मे" इत्यादि......। कि अंकगणितादि तीनों प्रकार की गणितें इन्हीं दो मंत्रों से सिद्ध हैं १+१ =२, १, १ =११ = ३-३=३३ इसी प्रकार अंक बनते चले जायेंगे। बीज गणित $(अ^{२}+क^{२})$ $(अ^{२}-क^{३})$ $(अ^{२}-४^{१})$ का बीज भी इसी मन्त्र से स्पष्ट होता है। एवं पाठक गण ! आपने सब कुछ गणित विज्ञान सीखा, परन्तु आप अभी यह नहीं बता सक्ते कि सृष्टि को बने कितने वर्ष व्यतीत होचुके हैं, और कितने प्रलय में शेष हैं। कल्प पर्य्यन्त वर्ष सृष्टि रहेगी। पश्चात् लय हो जायगी, यह सारा गणित इन्हीं

मन्त्रों के आधार पर चलता है। संक्षेप से नमूना बताता हूं, १७२८००० वर्ष का सतयुग होता है, १२९६००० वर्ष का त्रेता, ८६४००० का द्वापर एवं ४३२००० का कलियुग। अब यह सब मिलकर ४३२०००० वर्ष की चतुर्युगी कहलाती है। ७१ चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर होता है। और ६ मन्वन्तर सृष्टि के बीत चुके हैं, और सातवें मन्वन्तर में यह २८वीं चतुर्युगी बीत रही है, जिसके पौने पांच हजार वर्ष भी बीत चुके हैं, इतना हिसाब कर लेने पर आजकल की ८२वीं विक्रमी सदी के वर्षों को मिलाकर कुल १९६०८५२९४९ वर्ष दुनियां को पैदा हुए हो चुके हैं। इसी प्रकार गणित करने पर मालूम हुआ है, कि अभी संसार को २३५९१४७०५१ वर्ष और बिताने हैं। तब कल्प सृष्टि का पूरा हिसाब होगा। इस सारी गणित को जो मैंने आप के सामने रक्खी हैं वेद मन्त्र सरलभाव से प्रगट कर रहा है। कहता है "शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः" अथर्व० कां० ८ अनु० १ सू० २ मं० २१ कि कल्प इतने वर्ष का होता है। (शतं-तेऽयुतं) १००×१००००=१०००००० । क्योंकि सूर्य सिद्धान्तानुसार 'एकं दश शतं चैव सहस्रमयुतं तथा" इस प्रमाण से शत नाम १०० का और अयुतनाम १०००० का है, गुणित करने पर दशलक्ष संख्या होती है, तो इतनी संख्या रख कर (द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः)" क्रम से २,३,४ और बढ़ावें, परन्तु इकाई दहाई संख्या के क्रम से ही बढ़ानी चाहिये। अब देखिये ४३२०००००० यह संख्या कल्प की हुई! अब पड़ताल कीजिये १९६०८५२९४९+२३५९१४७०५१= ४३२०००००० की संख्या मन्त्रानुसार बन गई कि नहीं? पाठकगण! यह वही गणित विद्या है, जिसके द्वारा खन्ना देवी ने महाराज सगर के समय में समुद्र के अन्दर लकड़ी डाल कर यह बता दिया था, कि महाराज! इस में इतना पानी है। शोक! खन्ना देवी को दुष्ट पं० वराहमिहिर ने सरे दरबार सगर की आज्ञा से इसी विज्ञान के अपराध में अपने हाथ तलवार से कटाने पड़े। हा! ऐसे ही ईर्षा के भक्त पण्डितों ने वेद विद्या को बढ़ने नहीं दिया। वास्तव में वेद पूर्ण विद्या का भण्डार है। इसी प्रकार सप्तर्षि तारामण्डल का वर्णन ऋग्वेद मं० ५ सू० ४० मं० ५ में आया है। सूर्य ग्रहण वर्णन मं० १ सू० १०५ मं० १० में आया है, शुक्र और मन्थन तारा का वर्णन ऋग्वेद मं० ३ सू० ३२, मं० २ तथा ऋग्वेद म० ९ सू० ४६ मं० ४ में आया है। वेन (विनस) तारा का वर्णन ऋग्वेद मं० १० सू० १२३ में आया है। पाठक तत्तत्स्थल को स्वयं उद्घाटन कर देख सकते हैं, मैं विस्तार

भय से उन मन्त्रों का निदर्शन नहीं कराता। मेरे प्यारे भारतीय नवयुवकों की आंखें, कुछ चमत्कार की ओर भी लगी हुई हैं और सोचते हैं, कि ये विमान, Steamer Boat, नावें, रेलगाड़ियें, तार, बारूद, तोपें, आदि कैसी २ विचित्र आविष्कृत की है। परन्तु जिस समय वेद को उठाया जाता है, तो सारी हैरानी सहसा भाग जाती है। वहां नौका, जहाज बनाने की तरकीबें दी हुई हैं। देखो "त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः, त्रयः स्कम्भासः स्कभितासः आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विनादिवा" ऋग्वेद अष्ट० १ अ० ३ वर्ग ४ मं० १। अर्थात् यान ऐसा बनाना चाहिये, जिस में तीन पहिये हों, जिन से वह जल और पृथिवी पर चल सके, और तेज गति वाला हो, प्रत्येक अंग दृढ़ हो, कलायंत्र भी दृढ़ हों, और भी ३-३ खम्भे बनाने चाहियें, जिन के आधार पर कलायंत्र लगे रहें, तथा वे खंभे भी दूसरे काष्ठ अथवा लोहे के साथ लगे रहें, आरा में सारे कलायन्त्र जोड़ देने चाहियें, इसके बनाने में अग्नि तथा जल मुख्य हैं। यह ऐसा वेगवान् यान बनेगा, कि तीन दिन और रात में ही मनुष्य को द्वीप द्वीपांतरों में पहुंचा दे। संक्षेप से लिख रहा हूं। और भी देखिये! "द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साकं त्रिशतानशङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः। ऋग्० अष्ट० २ अ० ३ व० २४ मं० ४८।

अर्थात्—यह यान ऐसा बनाना चाहिये, कि इस के बाहिर भी १२ खंभे चारों ओर लगाये जावें, जिस में सब कलायंत्र लगा दो। और एक चक्र भी बनाओ, जिस के घुमाने से सब कलायें घूमें, फिर उस के बीच में तीन चक्र और बनाने चाहियें, कि एक चक्र के चलाने से यान रुक जाय, दूसरे के चलाने से आगे चले, और तीसरे के चलाने से पीछे चले। उन में ३००-३०० बड़ी २ कीलें अर्थात् पेच लगाने चाहियें। जिन से सब अंग मिले रहें, और निकालने पर पृथक् २ हो सकें। उन में ६० कलायंत्र और भी बनाने चाहियें, कई चलते रहें, कुछ बंद रहें। जब यान ऊपर चढ़ाना हो, तो भाप-घर के ऊपर के मुख बंद रखने चाहियें, और जब उतारना हो, तो अनुमान से खोल देने चाहियें। इसी प्रकार जब पूर्व को चलाना हो, तो पूर्व के बंद और पश्चिम के खुले रहें। इसी प्रकार उत्तर, दक्षिण के लिये जानना चाहिये। इस शिल्प विद्या को पुरुषार्थी और गंभीर प्रकृति पुरुष ही जान सक्ते हैं। यह तो हुआ विमानों के विषय में। अब लीजिये, वेद तारविद्या की शिक्षा भी देता है—"युवं पेदवे पुरुवारमश्विना

स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्पथः। शर्य्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम्", ऋग्० अष्ट० १ अ० ८ व० २१ मं० १०। संक्षेप से भाव मात्र लिखता हूं कि तार को निरुक्तकार मुनि यास्क "अश्वि" नाम से भी पुकारते हैं। यह धातु, काष्ठयंत्र और विद्युत् के संयोग से बनता है। इस की गति तीक्ष्ण तथा प्रकाशवाली है। सैनादिकों के लिये वेद इसका प्रयोग आवश्यक समझता है। और भी तमाशा देखो, हमारे शिक्षक नवयुवक कहते हैं, अजी! पहिले वेदों के समय में तो न कोई रुपया जानता था, न सोने चांदी के सिक्के! पाश्चात्य शिक्षा ने पाई २ का काम किया है। मगर वैदिक सभ्यता को दूषित करने वाले भाइयो! देखो, मनुस्मृति में साफ लिखा है—"सर्षपाः षट्यवो मध्यास्त्रियवं त्वेक कृष्णलम्। पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश॥ पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश। द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः॥ ते षोडशस्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः। कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः॥ धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः। चतुः सौवर्णिकोनिष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः॥ पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः। मध्यमः पंच विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः॥ मनु० अ० ८ श्लो० १४३, ३५, ३६, ३७, ३८॥ अर्थात्—६ सरसों का एक जौ, ३ जौ का एक कृष्णल, ५ कृष्णल का एक माष, १६ माषों का १ सुवर्ण, ४ सुवर्ण का १ पल, १० पल का १ धरण, २ कृष्णलों का १ रौप्य माषक, १६ माषक का एक चांदी का धरण वा चांदी का पुराण, (तांबे के कर्षभर पण को कार्षापण वा ताम्रकपण कहते थे) १० धरण का एक चांदी का प्रतिमान, ४ सुवर्ण का एक निष्क, २५० पणों का प्रथम साहस, ५०० पणों का माध्यम साहस, और १००० पणों का उत्तम साहस होता था। ये सारी विद्यायें केवल एक वेद से आविष्कृत हुई हैं। परन्तु प्राचीन सभ्यता के आदर्श को जब से ख़ाक में मिलाया, तभी से माथा ठोक कर बैठे हैं। दूसरे का मुंह ताक रहे हैं। पाठकगण! इतनी विद्याओं के अतिरिक्त एक विद्या जो वेद ने दी है यह तुम्हें सारे ब्रह्माण्ड भर में न मिलेगी, अगर मिलेगी, तो केवल वेद में। और वह ब्रह्मविद्या है, जो मनुष्य को आत्मिकता का पाठ पढ़ाती है। जिसे जान कर मनुष्य जन्म मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। और मरते समय मनुष्य बजाय दुःखी होने के यही पाठ प्रसन्न हो कर पढ़ता है कि "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयति नवानि देही" गीता अ० २ श्लो० २२ अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने कपड़ों को त्याग कर नया वस्त्र पहिनता है। वैसे ही आत्मा पुराने शरीर को त्याग कर दूसरा नवीन शरीर धारण कर लेता है। "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः" गीता अ० २ श्लो० २३। अर्थात् इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सक्ते, अग्नि जला नहीं सक्ती, पानी गला नहीं सक्ता, और वायु सुखा नहीं सक्ती है। प्रिय पाठक गण! आओ इस विज्ञान की पूजा करें, जो हमें आप हमारे अस्तित्व का परिचय दे रहा है। यह विज्ञान वेदों के अतिरिक्त हमें कहीं न मिल सकेगा। इसलिये वेद सर्व विद्याओं का भंडार और विचित्र विज्ञान वाला है। हमें इस के भाव की आराधना करनी चाहिये। वेद भावगाम्भीर्य प्रद होने से उपास्य है, आओ! हम उपासक बनें, इसी ने हमें बतलाया है कि हम प्रकाश की ओर चलें, अँधेरे की ओर न जायें। प्रभो! भारतवर्ष का कल्याण हो। और हम तेरी दया से तेरे विचित्र विज्ञान को संसार में फैला सकें। ओं शम्॥

याचना।

[श्री० दलपति शास्त्री सिद्धान्त शिरोमणि]

भजन करें भव भञ्जन! मन से प्रतिदिन सांझ सवेरे।
भटक रहे भव—सागर में भरमाये तेरे चेरे॥
'राखहु हे अखिलेश! अपावन-पङ्किल-पन्थ घनेरे'।
दीन दयाल! कृपालव कीजे द्वार पड़े अब तेरे॥

सत्य-सनातन-सुन्दर-श्रुति का घर घर आदर करदे।
नास्तिक-जन के हृदय-कलश में भक्तिसुधा-रस भरदे॥
लाख निरीह दुखित विधवाएं फिरतीं हैं बेपरदे।
उनको कष्ट-सहन की क्षमता पुनि हे विश्वम्भर दे॥

प्राक्तन ऋषि मुनियों की बातें सब हृदयों में भावें।
छुआछूत का छल सब छोड़ें रल मिल मङ्गल गावें॥
पतित जनों को पावन करके वैदिक संघ रचावें।
दयानन्द के बोये पादप हरे भरे लहरावें॥

पुस्तक समीक्षा।

सुहराबरुस्तमः—मूल लेखक स्वर्गीय श्रीद्विजेन्द्रलाल राय, अनुवादक चिरांगांव (झांसी) निवासी श्रीयुत मुंशी अजमेरी, प्रकाशक हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई। मू० विना जिल्द का ॥=)

स्वर्गीय श्रीयुत द्विजेन्द्रलाल राय की मार्मिक और ओजस्विनी लेखनी से अब हिन्दी संसार भली भांति परिचित हो चुका है। इसका सारा श्रेय हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय के कार्यकर्ताओं को ही प्राप्त है। प्रस्तुत पुस्तक भी स्वर्गीय द्विजेन्द्र महोदय की लेखनी का ही चमत्कार है। यह एक नाटिका है। इसकी रचना द्विजेन्द्र बाबूने एक महान् उद्देश्य से की थी। बङ्गला नाट्यगृहों में कुरुचिपूर्ण-अश्लील अभिनय देखकर आप का हृदय खिन्न हो उठा। आपने प्रस्तुत नाटिका की रचना इसी उद्देश्य से की कि जहां एक ओर सर्वसाधारण का चरित्र ऊंचा हो वहां यह भाव कि सुरुचिपूर्ण-और उच्चभावों से युक्त अभिनय लोगों को आकृष्ट नहीं कर सकते-सर्वथा दूर होजावे। कहने की आवश्यकता नहीं कि रायमहोदय इस यत्न में पूर्ण सफल हुए हैं। प्रस्तुत पुस्तक को हिन्दी संसार के सामने रखकर अनुवादक महोदय तथा प्रकाशकों ने बहुत उपकार किया है। अनुवाद की भाषा यद्यपि और परिष्कृत की जासकती थी-विशेषतः पद्यमय भाग को मूल तक पहुंचाने के लिये थोड़ा और प्रयत्न अपेक्षित था—परन्तु हमें यह लिखते प्रसन्नता होती है कि फिर भी अनुवाद में मूल नाटिका का आनन्द आही जाता है। प्रत्येक हिन्दी भाषाभिज्ञ को एक वार इस नाटिका को पढ़ना चाहिये। हमारी सम्मति में हिन्दी-नाटक-मण्डलियों को प्रस्तुत पुस्तक पथदर्शक का काम देगी।

मुक्तधारा—मूल लेखक श्री ठाकुर रवीन्द्रनाथ। अनुवादक-श्री० प्रो० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री तर्क शिरोमणि, प्रोफेसर मेरठ कालेज। प्रकाशक हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय। मू० ॥≡)

ठाकुर रवीन्द्र से हिन्दी जगत् अपरिचित नहीं। सन् १९२२ के "मार्डन रिव्यू" में यह नाटक 'The water fall' के नाम से तथा 'प्रवासी' नामी बंगला पत्र में 'मुक्तधारा' के नाम से प्रकाशित हुवा था। यह अनुवाद उपर्युक्त दोनों पत्रों के आधार पर किया गया है। प्रस्तुत नाटक में रवीन्द्र ने 'विश्वप्रेम' का

सन्देश सुनाया है। 'राष्ट्रियता' के नाम पर संसार में जो अशान्ति और अत्याचार है उसका चित्र खींचने की कोशिश की गयी है। युवराज अभिजित और साधु धनंजय के द्वारा कवि ने अपना विश्वप्रेम का सन्देश सुनाया है। 'राष्ट्रियता' और 'विश्वप्रेम' की तुलना कवि ने अपनी दृष्टि से की हैं—परन्तु हमारी सम्मति में यह चित्र द्विजेन्द्रलाल राय के मेवाड़ पतन में 'सत्यवती' और 'मानसी' के चित्र के समान प्रस्फुट नहीं हो सका है। इस में शायद दोनों लेखकों का दृष्टि भेद कारण हो। फिर भी हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा कवीन्द्र के सन्देश को सुनें। अनुवाद अच्छा हुवा है—अनुवादक ने मूल लेखक के भाषा प्रवाह को भलीभांति अंकित किया है—इसके लिये हम अनुवादक महोदय की प्रशंसा किये विना नहीं रह सकते।

चन्द्रनाथ—मूल लेखक श्री शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय। अनुवादक श्रीयुत बाबू रामचन्द्र वर्मा। प्रकाशक हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय। मू० ॥।)

यह एक सामाजिक उपन्यास है। हमारे सामाजिक जीवन की दुर्बलता और समाज-मर्यादा के संकीर्ण विचारों का प्रभाव गार्हस्थ्य जीवन पर कितना बुरा पड़ता है इस का चित्र इसमें खींचा गया है। चन्द्रनाथ सामाजिक मर्यादा के दबाव में आकर छाती पर पत्थर रख कर अपनी निरपराधा और पवित्र सती सरयू का त्याग करते हैं। परन्तु अन्त में तीव्र प्रेम वेदना और अनुताप की असह्य ज्वाला स्वयं ही उनके अन्दर सरयू को फिर ग्रहण कर लेने का साहस प्रदान करती है। सरयू का पतिद्वारा त्यागे जाने के बाद मौन-रुप क्रन्दन अवश्य ही हमारे समाज के अन्दर एक हल चल पैदा कर सकेगा। परन्तु यदि 'चन्द्रनाथ' समाज के दबाव में आजाने वाले न होकर "कैलाश" की तरह एक साहसी और उत्सर्ग-परायण नवयुवक होते तो प्रस्तुत उपन्यास अन्धे समाज के विरुद्ध क्रान्ति करने के लिये नवयुवकों में एक आदर्श भी रख सकता और उनमें एक उत्साह का सञ्चार करता। फिर भी प्रस्तुत पुस्तक में योग्य लेखक की लेखनी ने अद्भुत चमत्कार दिखाया है। रचना इतनी रोचक है कि बीच में छोड़ने को जी नहीं चाहता। अनुवाद कर्ता स्वयं हिन्दी के एक सिद्धहस्त लेखक हैं। हिन्दी पाठकों के लिये यह उपादेय वस्तु है।

सम्पादकीय

वामनावतार—

आर्य जगत् में कोई विरला ही व्यक्ति ऐसा होगा जो गुरुकुल विश्व-विद्यालय के योग्य स्नातक पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार के नाम से परिचित न हो। आपकी योग्यता का सिक्का क्या मित्र और क्या शत्रु सभी के दिलों पर बैठ चुका है। किसी न किसी ढंग से सभी आप की योग्यता, तथा वक्तृत्व कला का मान्य करते हैं। इस अंक का पहिला लेख 'वामनावतार' आपकी विद्वत्ता का एक निदर्शन मात्र है। समय २ पर 'आर्य' के पाठक आपकी योग्यता का रसास्वादन करते ही रहते हैं और आशा ही नहीं, किन्तु निश्चय है कि पाठक इस प्रस्तुत लेख में भी बहुत कुछ नवीनता, रोचकता, तथा बुद्धिमत्ता पाएंगे। पाठक इस लेख को पढ़ने से अनुभव करेंगे कि वे एक गले सड़े और अस्वाभाविक कृत्रिम विचारों के वायुमंडल से ऊपर उठकर एक विस्तृत सुरक्षित और अधिक व्यापक वायुमंडल में प्रवेश कर रहे हैं। आपके विचारों के विषय में अधिक लिखना व्यर्थ समझ कर हम अपने पाठकों से सानुरोध प्रार्थना करेंगे कि वे इस लेख को आद्योपान्त पढ़ें और 'वामनावतार' विषयक पौराणिक तथा वैदिक भावों की तुलना करते हुए किसी परिणाम पर पहुंचने का यत्न करें।

हम आगे भी यत्न करेंगे कि समय २ पर पाठकों के सामने ऐसे ही विचार रखें जिससे वे दोनों प्रकार के भावों और विचारों की तुलना कर किसी निश्चित परिणाम पर पहुंच सकें।

मद्रास गवर्नमेन्ट और सनातन धर्म—

मद्रास प्रेसिडेंसी में वहां की सरकार ने इस आशय का एक नियम बनाया है कि जिन स्कूलों में अछूतों को दाखिल न किया जायगा उन्हें किसी प्रकार की धनादि की सहायता न दी जायगी।

हिन्दू जाति के शुभचिन्तकों को जहां इस प्रकार के नियम से सहानुभूति और प्रोत्साहना मिलनी चाहिये थी वहां हम देखते हैं कि उन्हें यह बात बहुत

बुरी लगी है और अब सिर से पैर तक उन का यत्न यह होरहा है कि जैसे भी होसके इस नियम को न रहने दिया जाय।

इसी आशय का एक मुख्य लेख बनारस से प्रकाशित होने वाले सिग्नल (Signal) साप्ताहिकपत्र में निकला है। सनातन धर्म के साथ यह छेड़छाड़ क्यों? (Why this interference with the Sanatan Dharma) यह शीर्षक देकर आप लिखते हैं—"हिन्दू समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार भागों में बंटी हुई है। यह विभाग किसी न किसी तरह से सर्वत्र सब देशों और समाजों में पाए जाते हैं किन्तु अन्य समाजों तथा हिन्दू समाज में भेद यही है कि उनमें जहां यह विभाग रबड़ की तरह स्थितिस्थापक और लचकीले आधार पर स्थित हैं वहां हिन्दू समाज में इनकी स्थिति धर्म (?) पर है।.........स्कूलों के सञ्चालकों को इन नियमों के पालने में बड़ी तंगी पेश आरही है किन्तु तथापि अछूतों के लड़कों को बाधित किया जाता है कि वे जहां तक हो सके उच्च (?) जाति के लड़कों से दूर ही रहें तथा उन्हें स्पर्श न करें। तो भी इसका प्रभाव उच्च तथा नीच दोनों जातियों के बालकों पर बहुत बुरा पड़ रहा है।"

आगे, महारानी विक्टोरिया की धर्म विषयक समान व्यवहार पूर्ण उद्घोषणा का स्मरण कराते हुए आप लिखते हैं—"अछूत जाति के जिन व्यक्तियों को (किन्ही कारणों से) मैजिस्ट्रेट तथा न्यायाधीश आदि बना दिया जाता है इससे कचहरी का रोब घटता है और यह बात उच्च जाति के व्यक्तियों को कभी सहन नहीं हो सकती। हिन्दुओं का यह विश्वास है कि जो व्यक्ति न्याय की कुर्सी पर बैठता है वह धर्मावतार होता है। ऐसी अवस्था में एक नीच जाति के व्यक्ति का उस उच्च पद पर बैठना उच्च जाति के व्यक्तियों के दिलों में कैसा आक्रान्तिकारी भाव पैदा कर देता है यह समझना कठिन नहीं है।"

किसी ने सचही कहा है 'चोर की दाढ़ी में तिनका' लिखते २ आपको स्वयं ही ख्याल आगया कि इससे तो आधुनिक न्यायविभाग पर भी आक्षेप आता है। चूंकि वहां भी जो न्यायाधीश होते हैं उनमें से अधिकांश यूरोपियन ही होते हैं। इसलिये आप लिखते हैं—"जब एक अंग्रेज़ उसी कुर्सी पर होता है तो यह बात उतनी आपत्ति जनक नहीं होती। क्यों? चूंकि हमें उस के पूर्व वंश (Pedigree) का कुछ भी ज्ञान नहीं है और नांहीं लोग इसकी खोज ही करते हैं। क्यों? चूंकि वे तो उस जाति में से हैं जिसे ईश्वर ने स्वभावतः

ही इस देश पर शासन करने के लिए भेजा है।" अहो! बलिहारी है ऐसी खुशामद की। यदि यह न लिखा होता तो शायद सनातन धर्म की लुटिया ही डूब जाती। सच है, भीड़ के मौके पर ही मित्र और शत्रु की पहिचान होती है। बस! देख लिया आपका सनातन धर्म।

बात तो तब थी कि जब आप अछूत जातियों के विषय में लिख रहे थे तो आप उसी विषय पर रहते। यह बीच में अंग्रेज़ जाति कहीं से आ कूदी? सच है घर में कुत्ता भी शेर होता है। आज तक हिन्दू जाति से जितना बन पड़ा उसने नीच जातियों को ही पद दलित करने का यत्न किया किन्तु नीच और ऊंच की फिलासफी को न समझा कि इसका आधार क्या है? ऋषि, मुनि, धर्मशास्त्र, सूत्र सभी इसी विषय पर बल देते हैं कि जाति व्यवस्था गुण कर्म के अनुसार होती है जन्म के अनुसार नहीं। फिर समझ में नहीं आता कि यह जन्मानुसारिणी जाति व्यवस्था कहां से आकूदती है। और नांही उस (सनातन) धर्म की ही आजतक समझ पड़ी है जिसमें ऐसी व्यवस्था लिखी हो।

अच्छा, फिर वे योग्य अछूत (?) व्यक्ति करें क्या? आप लिखते हैं-"उन की संख्या ज्यादा नहीं है। उन्हें आबकारी अथवा ऐसे ही किसी अन्य विभागों में जगह दे देनी चाहिये जिनसे उच्च जातियों को कम वास्ता पड़ता है। इससे जहां अछूत जाति के लोग सन्तुष्ट हो जायंगे वहां उच्च जाति के व्यक्तियों को भी कोई शिकायत न रहेगी।" आहा, क्या ही कहना? ऐसी समयोचित ठीक २ सलाह के देने के लिए आपको जितनी भी बधाई दी जाय सब थोड़ी है! इसे ही तो कहते हैं सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। आप के दिमाग में यह बात खूब जम गई है कि ऐसा करने से दोनों संतुष्ट होजावेंगे। लेकिन हम यह साफ बतला देना चाहये हैं कि लेखक महादेय बड़ी भूल में है। इससे भी अधिक दुःख तब होता है जब हमें यह पता लगता है कि उन्हें अपनी भूल का ज्ञान नहीं है। जो रोगी चारपाई पर पड़ा हुआ भी अपने आप को नीरोग तथा स्वस्थ ही समझता है उससे अधिक आभागा पुरुष संसार में कोई भी नहीं है। आज हमें यह सोचकर बहुत दुःख होता है कि अब भी हिन्दू जाति के शरीर में एक घाव ऐसा विद्यमान है जो एक न एक दिन इसे अवश्य रसातल में ही लेकर आराम लेगा।

हिन्दू धर्म खतरे में—हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू जाति

या उसका धर्म यदि बच एकता है तो उसका एक मात्र क्रियात्मक उपाय शुद्धि और केवल शुद्धि है। अपने प्रोग्राम को व्याख्यान तथा कान्फ्रैंसों तक ही परिमिति रखने से कभी किसी जाति,मत,सम्प्रदाय व धर्म की उन्नति नहीं हुई। परन्तु यह जानकर हृदय विदीर्ण हो जाता है कि हिन्दू जाति के कर्णधार कान्फ्रैंसों तक ही अपनी इतिकर्तव्यता की समाप्ति समझ लेते हैं। संसार का कोई कोना ऐसा नहीं जहां से हिन्दू जाति की अवनति तथा उसके अपकर्ष के समाचार न मिल रहे हों। कहीं २ से उन्नति के समाचार भी मिलते हैं किन्तु उनकी संख्या दाल में नमक के बराबर भी नहीं है। वस्तुतः सत्य यह है कि हिन्दू जाति के पतन का मूल कारण अन्य जातियां या उनके अत्याचार उतना नहीं हैं जितना कि उसकी अपनी उच्च जातियों के नीच जातियों पर अत्याचार। अभी मालाबार से इस विषय के जो समाचार आ रहे हैं उन्हें पाठकों ने समाचार पत्रों में पढ़ा ही होगा। उन्हें सुनकर हमारे तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं. कुंवर आनन्द प्रिय B. A. LL. B. लिखते हैं—"यहां की इडवा जाति (जिनमें से कई अधिपति जमीदार हैं तथा अनेक संस्कृत के विद्वान् और अनेकों वकील आदि भी बनचुके हैं) ने पिछले नवम्बर में यह निश्चय कर लिया है कि यदि उन्हें मनुष्यत्व के सामान्य अधिकार भी न दिये गए तो ये मुसलमान व ईसाई बन जावेंगे।"

हमें समझ नहीं पड़ता कि ऐसे २ लोमहर्षण समाचार सुनते हुए भी हिन्दू जाति के नेता किन झगडों व किन अधिक आवश्यक कार्यों में फंसे हुए हैं? इस समय चाहिये तो यह था कि अनेकों कार्य कर्ता अपने जान और माल की पर्वाह न करते हुए एकदम से उधर पहुंच जाते। किन्तु यहां तो रंग ही और हैं? यहां सहायतार्थ जाना तो दूर रहा यहां तो चक्कर ही उलटा है। जो जाते भी हैं उन्हें भी उलटा कोसा जाता है। जाना तो दूर रहा रुपये पैसे से ही सहायता कर देते किन्तु यह भी कहां? आपस के झगडों से फुर्सत मिले तब न! और उधर इस्लाम तथा ईसाई प्रचारकों की क्या अवस्था है। सुनिये, आप लिखते हैं:—

"उनके मुसलमान होने की इच्छा को जान कर एक दम यहां ४ मुसलमान मिशन आ धमके हैं। एक मिशन लाहौर से आया है और मौ० मोहीउद्दीन बी० ए० की अध्यक्षता में काम कर रहा है, दूसरा रादेश ज़िला सुरत के मुसलमान व्यापारियों की ओर से मौ० ऐनिस अहमद बी० ए० की अध्यक्षता में

आया है, तीसरा पूना का मिशन है और चौथा पौनानी का, (जो मोपलाओं का गढ़) है मिशन है। ये लोग रात दिन इडवाओं के घरों पर हैं और पेम्फ्लैट बाटते हैं। इनके प्रयास से एक इडवा मुसलमान होगया पर जब उसके मुसलमान होने की खबर उसकी माता को लगी तो उसने आत्महत्या करली। इन मुसलमानों के पास प्रचारार्थ मोटरें हैं। पौनानी के मोपला मिशन ने गत ६ मासमें पौनानी ताल्लुका के चमारों और नामडीयों में से ३२३ कुटुम्बों को मुसलमान बनाया है। कालीकट में मुसलमानों का बड़ा भारी अनाथालय है। इस प्रान्त के हिन्दू अछूतों की बड़ी हीन दशा है। मुसलमान उनमें काम कर खूब तबलीग कर सकते है। पूना तथा लाहौर के मिशन को जो पहिले मौपला की रक्षा के लिये यहां आये थे, यहां बड़ी आशायें हैं। यह लोग मोपला अनाथों का प्रबन्ध कर रहे हैं २०० बालक लाहौर भेजे जायंगे। इसके उपरान्त यहां जमीनें खरीद मोपलों की सहायता से हिन्दुओं को खूब विधर्मी बना रहे हैं।

ईसाइयों के सम्बन्ध में लिखना फजूल है। इनके प्रयास से कोचीन के राज्य में इनकी संख्या २७ प्रति शतक पहुंच गई है। ट्रावनकोर के ब्राह्मण राज्य में ईसाई ६० प्रति शतक होगये हैं और मुझे कहा गया है कि वहां सबके सब मुख्य अधिकारी ईसाई हैं। मलाबार प्रान्त कोचीन से मिला हुआ है इसलिये यहां भी इनका खूब प्रचार है। यहां बासेल मिशन जो जर्मन है, काम कर रहा है। इडवाओं का असन्तोष देख यह लोग भी यहां पहुँच गये हैं। इन लोगों ने सात इडवाओं को ईसाई बनाया है। मुझे इडवाओं के ईसाई होने का डर है। इडवा ग्रामों में मुस्लिम तथा ईसाई धर्म प्रचारकों की मोटरें भी खूब दौड़ रही हैं।"

पाठकगण! इसे कहते हैं धर्म और जाति से प्रेम। यहां तो रैजोल्यूशन ही पास कर दिये और बस! क्यों? अजी काम करना हमारा काम तो नहीं हैं। इधर से छुटें तब तो उधर जांयभी। और यदि आर्य्य-समाज से झगड़ने की वारी आजाय तो सबसे आगे—......! न जाने इस समय बनारस और कलकत्ते की सनातनधर्म सभा या वर्णाश्रम मण्डल जिसने लाखों रुपये गत मासों में इकट्ठे किये थे किस कुम्भकर्णी नींद में पड़ा सो रहा है?

आर्य्य-समाज और आर्य्य-भाषाः—

हमें यह देखकर बहुत ही दुःख होता है कि आर्य्य-समाज में आर्य्य-भाषा

का उतना मान्य नहीं है जितना कि होना चाहिये। वैसे तो सर्वसाधारण अपने को हिन्दू कहलाने वाले व्यक्ति ही इने गिने हैं जिन्हें हिन्दी का ज्ञान हो किन्तु आर्य्य-समाज में आर्य्य-भाषा की यह शोचनीय अवस्था देखकर कौन शुभचिंतक है जिसके हृदय में एकवार वेदना उत्पन्न न होती हो। हम अपनी बातचीत में आर्य्य-भाषा, आर्य्य-सभ्यता, आर्य्य-जाति इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हुए किस प्रकार से अच्छे लग सकते हैं जब कि हमारी क्रिया में आर्यत्व का प्रवेश ही नहीं है। और तो और, व्यवहार की दृष्टि से हमारी भाषा ही आर्य्य-भाषा नहीं रही। तो ऐसी अवस्था में हमारे विचार आर्य्यत्व से पूर्ण हों यह ज़रा कठिन सी बात है। ऋषि दयानन्द ने आर्य्य-सभ्यता की रक्षा करनी चाही तो इसके लिये उन्होंने सबसे प्रथम दर्ज़ा आर्य्यभाषा को दिया। उन्होंने सब के विरुद्ध यत्न करने पर भी अपने ग्रन्थों को आर्य्य-भाषा में ही छपवाया। चूंकि उनका उद्देश्य विलुप्त प्राय आर्य्य-सभ्यता की रक्षा करना था जिसका एक साधन वह आर्य्य-भाषा को भी समझते थे।

पंजाब की समाजों की शिरोमणि सभा आर्य्य प्रतिनिधि सभा की ओर से एक वार नहीं अनेकों वार इसके लिए यत्न किया गया किन्तु आर्य्य-पुरुषों के कानों में जूं तक नहीं रेंगी। आजतक उनमें से कइयों के हिसाब किताव दैनिक पत्र व्यवहार उसी तरह उर्दू या अंग्रेजी में ही चले आते हैं। 'आर्य्य-भाषा चातुर्मास' भी मनाया गया किन्तु उसका भी कोई विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ। 'दयानन्द शताब्दी' भी मनाए एक वर्ष होने वाला है किन्तु इस ओर आर्य्य जनता का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ।

आर्य्य-सभ्यता और आर्य्य संस्कृति का प्रचार आर्य्य-भाषा के प्रचार के विना नितान्त असम्भव है। हम दिन रात अपने व्याख्यानों और लेक्चरों में तो आर्य्य सभ्यता की रक्षा और आर्य्य-समाज के प्रचार की अपील करें किन्तु हमारे कार्य अनार्य्य हों तो कैसे सम्भव है कि केवल मात्र गुड़ २ कहने से ही मुंह मीठा होजाय। निस्सन्देह इस बात के लिये बड़े भारी बलिदान की आवश्यकता है। किन्तु यह बलिदान कोई असामान्य बलिदान नहीं है जिससे आप घबरा उठें। यह बलिदान केवलमात्र आदर्श वृत्तियों का है। आप अपने हृदयों में प्रण करलें कि आज से आपकी बातचीत, आप के पत्र व्यवहार आपके कारोबार सभी कुछ आर्य्य भाषा में होंगे। आप अपने पुत्रों और पुत्रियों को आर्य्य-

भाषा अवश्य ही पढ़ावें। बस, फिर देखिये आर्य्य-समाज और आर्य्य-सभ्यता किस जोर से फैलती है। शोक यही है कि आज जड़ को छोड़ कर पत्तों और टहनियों को सींचने में हमारा समय अधिक जारहा है।

श्री मुख्याधिष्ठता गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी लिखते हैं:—

गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगडी (बिजनौर) में नये प्रविष्ट होने वाले बालकों के प्रवेशार्थ प्रार्थना पत्र ३१ जनवरी १९२६ तक गुरुकुल कार्य्यालय में पहुंच जाने चाहियें। प्रवेश पत्रों की फार्में तथा गुरुकुल के नियम कार्य्यालय गुरुकुल से मिल सकेंगे।

क्या रामायण काल्पनिक है?—

मि० वीवर आदि ऐतिहासिकों ने कल्पना प्रधान युक्तिवाद से, ईसाईयत ईसाई सभ्यता के गौरव को भारतवासियों के हृदयों पर अङ्कित करने के लिए, रामायण और महाभारत को काल्पनिक काव्य सिद्ध करने का यत्न किया। परन्तु सी. वाई चिन्तामणि वैद्य आदि भारतीय ऐतिहासिकों ने गहरी खोज के बाद क्या भारतीय साहित्य के प्रमाणों द्वारा और क्या ज्योतिष शास्त्र द्वारा महाभारत की घटना को यथार्थ प्रमाणित किया है। जिन युरोपियन विद्वानों ने रामायण महाभारत को काल्पनिक कथा सिद्ध करने का यत्न किया था, वह भारतीय नहीं थे, वह राम कृष्ण के भक्त नहीं थे, इसलिए उन के तर्क पर किसी को आश्चर्य नहीं होता था। परन्तु अब महात्मा गांधी जी अपने आप को राम कृष्ण का भक्त समझते हैं तथा कहते हैं और प्रतिदिन प्रातःकाल रघुवीर की जय गाते हैं, तो भी रामायण को ऐतिहासिक घटना होना स्वीकार नहीं करते। उन्हों ने अपने नवजीवन में तथा प० नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ के साथ बात चीत करते हुए स्पष्ट कहा है कि मैं राम और कृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानता।

हम यहां महात्मा गांधी जी की स्थापना का खंडन करने के लिए युक्ति तथा प्रमाण पेश नहीं करेंगे, (यह स्वतन्त्र विषय है)। हम तो इसी बात पर प्रकाश डालेंगे कि आर्य सभ्यता का अभिमानी होते हुए भी महात्मा गांधी के यह विचार क्यों बने। हमारी राय में इस का मुख्य कारण यह है कि महात्मा गांधी ने आर्य सभ्यता के मूल स्रोत संस्कृत साहित्य का स्वतन्त्र अनुशीलन नहीं किया। भारतीय इतिहास का अध्ययन उन्होंने संस्कृत साहित्य एवं भारतीय वाङ्मय की सहायता से नहीं किया, अपितु युरोपियन विद्वानों के दृष्टिकोण

से किया है। केवल महात्मा गांधी ही ऐसे अकेले व्यक्ति नहीं हैं। भारतवर्ष की सरकारी युनिवर्सिटियों (जहां अंगरेजी द्वारा संस्कृत साहित्य तथा भारतीय इतिहास पढ़ाया जाता है) में पढ़े हुए ९० फी सदी ग्रेजुएट राम कृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं समझते। युक्तियों तथा प्रमाणों से, इनके विचारों में थोड़ा बहुत परिवर्तन हो सकता है। परन्तु मूलताया इन भ्रमों को दूर करने का साधन यही है कि भारतीय युनिवर्सिटियों में पाठ्य क्रम को बदल कर भारतीय भाषाओं में भारतीय साहित्य की शिक्षा दी जाय।

हिन्दू धर्म का सुधार—

हिन्दू धर्म के शिथिल तथा असंगठित होने के कई कारण हैं, परन्तु मुख्य कारण हमारी सम्मति में यह है कि हिन्दू धर्म ने Definite निश्चत स्वरूप को छोड़ दिया था। समय के प्रबल प्रवाह के सामने, अन्दरूनी कमज़ोरियों के कारण जिसने हिन्दू धर्म को जैसा रूप देना चाहा, दे दिया। हिन्दू धर्म के सिद्धान्त निश्चित नहीं रहे। केवल मात्र अपने आपको हिन्दू कहना ही एक मात्र सिद्धान्त रह गया। मुसलमानों के समय तक चोटी तथा जनेऊ और गोरक्षा जैसे बाह्य चिह्नों में हिन्दू धर्म सीमित था इस लिए उस समय इस पितृ लक्षण वाले हिन्दू धर्म के लिए मर मिटने वाले शहीद मिल गए थे परन्तु आज वह थोड़ी बहुत निश्चितता भी मिट रही है। हिन्दूधर्म के कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं हैं। कोई कहता है कि हिन्दुधर्म अहिंसा धर्म है, कोई कहता है सिद्धान्तों को मानने या न मानने की कोई बात नहीं, जीवन हिंन्दुओं का सा होना चाहिए। कई सज्जन इसके विपरीत जीवन सम्बन्धी बातों को छोड़ कर, केवल मात्र मूर्तिपुजा, अवतार वाद आदि सिद्धान्तों की रक्षा करना ही हिन्दू धर्म समझते हैं। जब तक इस प्रकार की आपा पन्थी रहेगी तब तक हिन्दू धर्म में सुधार नहीं हो सकता—

आर्य समाज तथा ऋषि दयानन्द ने हिन्दू संसार समुद्र को निश्चित सिद्धान्तों द्वारा मर्यादित करने का यत्न किया था। जो समाज हिन्दू धर्म को निश्चित सिद्धान्तों की सीमा में मर्यादित कर सकेगा वही असली अर्थ में हिन्दू धर्म में सुधार कर सकेगा। —राजेन्द्र विद्यालङ्कार

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भव

व्यौरा आय—व्यय बाबत मास आश्विन संवत् १९८२ विक्र

निधि	बजट आय	इस मासकी आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस म... व्य...
कार्यालय मुख्य सभा				६४१०)	४८३
शांश	२६००)	६४)।	८३२॥।-)।		
ायाद्य सभा				८६०)	७२।=
ंखार्थ			१५०)		
ात्यार्थ प्रकाश आज्ञा			१२५)		
ंल्लम्पसेज़ आफ स्वा० दयानन्द			८३॥=)		
योग		६४)।	११६१।≡)।		५८५।
ार्य्यालय वेद प्रचार				१५६०)	६८)
ााब वैदिक पुस्तकालय	५००)	२०)	२३८)	२५००)	३=५।
ार्य्य	३०००)	११॥=)	४४६॥-)।	३०००)	१४४।
ार आना निधि	२०००)	२५॥=)	८३।-)।		
ंकट	२००)	३१॥-)	६०॥=)		
ेतन् उपदेशक				१७०८०)	१०२४
ार्ग व्यय				६४००)	७६२।
ीमा जीवन				६०)	
ैदिक कोष				१२००)	५०)
हायता माता गणपति शर्मा				२४)	१२)
योग		८८॥-)	८३१॥)॥		२३९
ेद प्रचार		२०४२॥≡)॥	७३०६॥)५		
राम स्मारक निधि	३००)	८।=)	१११।=)		
ेतन् उपदेशक				२०००)	१०)
ार्ग व्यय				५००)	
ुज़ारा विधवा पं०					
,, तुलसी राम				१२०)	१०)
,, ,, पं०वज़ीरचंद				६६)	८)
योग		८।=)	१११।=)		२८)
ूद बैंक		३८७२॥)	१७९४६)		१)२
ूद कर्ज़ा		२०२२॥-)४	२१०७।-)४		
ूमि आय व्यय			२५०॥-)		
किराया मकान			८)		
योग		४६०५।-)४	२०३११॥=)४		१)२
ामानत अन्य संस्था		१११≡)	५९८॥)		
,, आर्य समाजें		५९७॥-)।	१६८३॥)॥		३५९२।
,, वैदिक पुस्तकालय			५०)		
,, विद्यार्थी आश्रम		४५)	४५)		५६)
,, अम्बालाल दामोदरदास					
		७६४)॥	२३७७।)॥		४१६५।

Registered No. L. 1424. रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

ओ३म्

भाग ७ दिसम्बर १९२५
अङ्क ८ मार्गशीर्ष १९८२

आर्य्य

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्णः
ऋग्वेद ।

हे प्रभु ! हम तुम से वर पावें ।
विश्व जगत् को आर्य्य बनावें ॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें ।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें ॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें ।
प्रीति-नीति की रीति चलावें ॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

जगतनारायण प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से विरजानन्द प्रेस लाहौर में छप कर प्रकाशित हुआ ।

विषय सूची

"आर्य्य" के नियम ।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है। (डाकख़ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है)।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है। सभा ने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है।

३—इस पत्र में धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभा की सूचनाएं दर्ज होती हैं।

४—पत्र में प्रकाशित होने के लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख़ के पूर्व आजाने चाहियें।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के भीतर सूचना देने से वह अङ्क भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात् मंगवाने पर प्रति अङ्क ।=) देने पड़ेंगे।

भाग ७] लाहौर–मार्गशीर्ष १९८२ दिसम्बर १९२५ [अंक ८

[दयानन्दाब्द १०१]

* प्रार्थना *

(लेखक श्रीहरि)

हे नाथ ! भारत वर्ष में, सुख शान्ति को सरसाइये।
आनन्द घन ! फिर भी वही, आनन्द रस वरसाइये ॥ ध्रुव ॥

जो विश्व विजयी था कभी, वह आज दास निरास है।
इस दासता से मुक्त होने, का सुपथ दरसाइये ॥ १ ॥

वह प्रेम की मन्दाकिनी, सब के हृदयतल में बहे।
फिर भी प्रभो ! उस पुराय परमानन्द को परसाइये ॥ २ ॥

निज धर्म का पालन करें सब वीर धीर गम्भीर हों।
जगदीश ! ईर्ष्या द्वेष कपटाचार वन झरसाइये ॥ ३ ॥

आलस्य जड़ता नींद में भारत बहुत दिन सो चुका।
"श्री हरि" इसे फिर कर्मगीता ज्ञान दे हरसाइये ॥ ४ ॥

मृत्यु के पश्चात् आत्मा की गति।

[ले० - श्री पं० विश्वनाथ आर्योपदेशक]

यह प्रश्न आजकल भारी समस्या बना हुआ है। प्रत्येक सम्प्रदाय की नींव इसी विचार पर खड़ी हुई है। इस प्रश्न को अनावश्यक समझने वाले पदार्थविज्ञों का ध्यान भी अब इधर आकर्षित हुआ है। प्रमुख नास्तिक प्रदेश योरुप में भी इस विषय पर भारी आन्दोलन होरहा है। वर्तमान सम्प्रदाय-संग्राम में जो धर्म इस समस्या को ठीक २ सुलझा देगा वही सर्वमान्य विद्वानों का आगामी धर्म होगा। अतएव इस विषय पर अन्य मत समालोचना पूर्वक वैदिक सिद्धान्त के महत्व पर कुछ लिखने की आवश्यकता समझी है।

स्वर्ग नरक का विचार

वेद और शास्त्रों का तो यही सिद्धान्त है कि जीव पुनर्जन्म धारण करता हुआ विगत पाप शुद्ध अन्तःकरण पूर्ण ज्ञानी होकर परमात्मा के सान्निध्य से मुक्ति प्राप्त कर लेता है परन्तु साधारण सुख तथा मुक्ति के लिये स्वर्ग, और दुःख का नाम नरक भी वेद शास्त्र में प्रयुक्त हुआ है। यथा—

अस्मात्त्वमधिजातोऽसि त्वदयं जायते पुनः
असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा। यजुर्वेद ३५-२२

अर्थ—इस (शरीर) से तू (जीव) प्रकट होता है। यह फिर तेरे से उत्पन्न होता है स्वर्ग लोक (मुक्ति) के लिये। परन्तु समय के परिवर्तन से पौराणिक समय में स्वर्ग और नरक विशेष लोक माने जाने लगे जहां जीव अपने कर्म-फल का भोग करके पुनः मर्त्य लोक में जन्म धारण करता है। और नवीन दार्शनिक विचार के अनुसार मुक्ति इन से पृथक् ब्रह्मरूपता मानी जाने लगी। अन्य सिद्धान्तों के सदृश भारत का यह विचार भी पश्चिमीय प्रदेशों में फैलकर तत्कालोत्पन्न सम्प्रदायों के मूल सिद्धान्त के रूप में परिणत हो गया। परन्तु इतना भेद हो गया कि यह स्वर्ग और नरक को सदा के लिये मानने लगे। और पौराणिक स्वर्ग को ही यह मुक्ति मानने लगे। इस के साथ ही स्वर्ग नरक लोक के

पदार्थों में भी देश कालानुसार थोड़ा सा भेद होगया। आजकल मुसलमान ईसाई यहूदी पारसी आदि इसी प्रकार मानते हैं।

इन के विचार में आत्मा मरकर कबर में ही रहता है और क़यामत को उसी शरीर में जीवित होकर अपने कर्मानुसार सदा के लिये स्वर्ग (बहिश्त) वा नरक (दोज़ख़) में जा पड़ता है। यदि इस सिद्धान्त को तर्क की कसौटी पर परखा जावे तो यह सर्वथा मिथ्या प्रतीत होता है (१) मृत्यु के पश्चात् शरीर के परमाणु सुरक्षित नहीं रह सकते। एक मनुष्य-शरीर नदी में डूब गया, वह मछली ने खाया और उस के शरीर का एक अङ्ग बना। पुन: उस को किसी मांसाद मनुष्य ने खाया और वही परमाणु उसके शरीर में परिणत हो गये। अब क़यामत में परमात्मा उन्हें कहाँ कहाँ ले जायेगा। और मनुष्य-शरीर आयु में ११ बार परिवर्त्तित होता है। क़यामत में कौनसा शरीर जीवित होगा। यदि कोई भी जीवित होगा तो शेष १० शरीरों का कर्म फल भोगना अन्यथा सिद्ध होगा। (२) परिमित कर्मों का अपरिमित फल भी न्याय नहीं है और स्वर्ग प्राप्त आत्मायें अपने कुकर्मों का फल नहीं भोग सकेंगी। यदि परमात्मा की दया कहो तो वह बिना कर्म के ही स्वर्ग क्यों नहीं भेज देता? (३) नरकवासी जीवों को भी सदा का दु:ख देना और उनके सुकर्मों का फल न देना अन्याय और घोर कठोरपन तथा दण्ड के नियम के विरुद्ध है। क्योंकि दण्ड का अभिप्राय सुधार होता है न कि सदा के लिये दु:खसागर में डाल देना (४) बहिश्त का नक्शा ऐसा घृणित है कि सर सय्यद तक ने इसे वेश्याओं का चकला नाम दिया है। अतएव यह सिद्धान्त और वह सम्प्रदाय जिन की मुक्ति का यह स्वरूप है विद्वानों को कभी ग्राह्य नहीं हो सकते।

कतिपय लोग आर्यसमाज पर यह आक्षेप करते हैं कि प्राचीन आर्यों का भी यही सिद्धान्त था, परन्तु अब स्वामी जी ने आक्षेप से बचने के लिये दु:ख का नाम नरक और सुख का नाम स्वर्ग रख लिया है। इस के निवारणार्थ निम्न प्रमाणों का देखना आवश्यक है।

पुदिति नरकस्याख्यं दुःखं च नरकं विदुः।
पुत्तस्त्राणात्ततः पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च॥
इति बौधायन आह। ऐतरेय ब्राह्मण आनन्दाश्रम पूना पृ० ६३६

अर्थ—पुत् नरक को कहते हैं और नरक दुःख का नाम है इस से पुत्र बचाता है अतएव पुत्र की इच्छा करते हैं।

द्रव्याणां कर्म संयोगे गुणत्वेनाभि संबन्धः। मीमांसा ६।१।१

शबरभाष्य। ननु स्वर्ग शब्दो लोके प्रसिद्धे विशिष्ट देशे
यस्मिन्न उष्णं न शीतं न क्षुत् न तृष्णा न अरति
न ग्लानिः पुण्य कृत एव तत्र गच्छन्ति नान्ये।
अत्र उच्यते। यदि तत्र केचिद् मृत्वा गच्छन्ति
तत आगच्छन्ति अजनित्वा तर्हि स प्रत्यक्षो देश
एवं जातीयकः न तु अनुमानाद् गम्यते॥

अर्थ—स्वर्ग शब्द से प्रसिद्ध विशेष लोक ग्रहण किया जाता है जहां शीतोष्णादि कोई दुःख नहीं और जहां पुण्यकृत लोग जाते हैं। यह तब सिद्ध हो जब कि वहाँ कोई जाकर पुनः आकर वर्णन करे। अनुमान से सिद्ध नहीं हो सकता। पुनः लोगों में प्रसिद्ध कथाओं में कि अमुक सिद्ध स्वर्ग ले फिर आया था का उत्तर देते हैं:—

आख्यानमपि पुरुष प्रणतित्वात्।

कथाएं भी लोगों की बनाई हैं। द्रव्यों का कर्म विषयक संयोग में गौण सम्बन्ध है—अतएव कोई द्रव्य विशेष स्वर्ग नहीं। साधक होने से द्रव्यों में उपचार से स्वर्ग शब्द पाया जाता है।

इमं भौमं नरकन्ते। महा० आदि पर्व ६०। ४ नीलकंठ टीका
नरकं भू लोकम्। पृथिवी लोक को ही नरक कहा है और

पुण्यां योनिं पुण्यकृतो व्रजन्ति पापां योनिं पापकृतो व्रजन्ति। ६०।१९
श्वयोनिं वा सूकरयोनिं चाण्डालयोनिं पापयोनिं भजन्ति ब्रह्मयोनिं क्षत्रयोनिं वेति पुण्यां योनिं भजन्ति॥

अर्थ—कुत्ता सूकर चाँडालादि पाप योनि और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादि पुण्य योनि हैं।

अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते। भागवत

अर्थात् कपिल अपनी माता देवहूती को कहते हैं 'यहीं स्वर्ग और नरक है।'

आत्म लोक।

इस स्वर्ग नरक के झमेले से छूटने के लिये वर्त्तमान युग में एक नये सिद्धान्त का आविष्कार हुआ है, कि आत्मा मर कर एक विशिष्ट आत्म लोक में चला जाता है और वहां अपने पापों की निवृत्ति कर सदा के लिये मुक्त होजाता है। इस सिद्धान्त के मानने वाले नास्तिक आस्तिक दोनों ही हैं। और स्वर्गवादी सम्प्रदाय भी अपने स्वर्ग नरक को अब इसी लोक से उपमा देने लगे हैं। और आत्म-लोक के विशेषज्ञ तो मृत आत्माओं से वार्तालाप की घोषणा देने लगे। यह क्या आडम्बर है, आवश्यकता होने पर कभी फिर लिखा जावेगा। यहां केवल इतना बताना है कि यह सिद्धान्त भी समीचीन नहीं। भला आत्म लोक में यदि पाप निवृत्त होकर सर्वथा उन्नति होसकती है तो केवल एक बार के लिये इस मृत लोक में आने की क्या बड़ी आवश्यकता पड़ती थी? अतएव पुनर्जन्म का सिद्धान्त न केवल शास्त्र सम्मत ही है प्रत्युत डोरासन जर्मन फिलासफरों के कथनानुसार—

"सत्य असत्य विवेक की जो शक्ति हमारे आत्मा में रखी गई है यह सिद्ध करती है कि 'न केवल आत्मा नित्य है, प्रत्युत कई जन्मों से गुज़र कर उन्नति के शिखर पर पहुंचता है।"

यही बात उपर्युक्त वेदमंत्र ने बताई है। यही बात भगवद्गीता में भी लिखी है कि —

अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्॥

मृत आत्मा का शरीरान्य प्रवेश।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि आत्मा मर कर दूसरे शरीर में कब और कैसे प्रवेश करता है? यद्यपि पुराणों ने इस विषय में बहुत से आडम्बर रच दिये हैं परन्तु वेद और सच्छास्त्रों का सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र त्याग कर नये वस्त्र पहन लेता है इसी प्रकार जीव दूसरा देह धारण करता है। यद्यपि इस में समय कुछ लगता ही है परन्तु वह समय पुराण लिखित कोई नियत नहीं और नांही मार्ग में किसी स्थान विशेष पर ठैरना पड़ता है। वेद कहता है—

यस्ते शोकाय तन्वं रिरेच क्षरद्धिरण्यं शुचयो नुस्वाः।
अत्रादधे तें अमृतानि नाम स्मे वस्त्राणि विश रारयन्ताम्॥ अथर्व०।५।१।३॥

अर्थ—वस्त्रों के समान आत्मा शरीरों को धारण करता है जिस में हर्ष शोक धन पवित्रादि प्राप्त करता है।

आ यो धर्माणि प्रथमं ससाद ततो वपूंषि कृणुते पुरूणि। अथर्व०।५।१।२।

अर्थ—आत्मा ने जैसे कर्म किये हैं, देह त्याग के पश्चात् तदनुसार बहुत से शरीरों में प्रवेश करता है।

वसांसि जीर्णानि यथा विहाय। गीता०।

अर्थ—पुराने वस्त्र को त्याग नये वस्त्रों के पहनने के सदृश जीव अन्य शरीर धारण करता है।

तद्यथा तृण जलायुका तृणास्यान्त गत्वा॥ उपनिषद्।

अर्थ—जीवात्मा घास के कीड़े की तरह एक साथ ही पूर्व शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर को ग्रहण कर लेता है।

आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम्।

सम्भवत्येव युगपद्योनौ नास्त्यन्तराभवः महाभारत—वन १८३-७७

अर्थ—आत्मा क्षीण प्राय शरीर को छोड़ कर उसी समय दूसरा शरीर धारण कर लेता है। इस में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता।

देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः।

देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते तनुः। भा०।१०।१।३९॥

अर्थ—जीव कर्मानुसार दूसरे शरीर के निश्चित् होजाने पर ही पूर्व शरीर को विवशता से छोड़ता है। आश्चर्य है कि एक ओर पुराण यम मार्ग का अडम्बर रचते हैं, दूसरी ओर वैदिक सिद्धान्त को कहने लग जाते हैं।

जीव देहान्तर में कैसे प्रविष्ट होता है ?

यह स्मरण रखना चाहिये कि यह लोकोक्ति सर्वथा मिथ्या है कि शरीर त्याग के समय जीवात्मा अत्यन्त दुःख अनुभव करता है। तथा माता के गर्भ में उलटा लटकता हुआ भी कष्ट भोगता है। दोनों अवस्थाओं में जीव सुषुप्ति अवस्था में होने के कारण कुछ भी कष्ट नहीं सहता। और नांही जैनियों के कथनानुसार

स्वयमेव अन्य शरीर में प्रविष्ट होने की शक्ति रखता है। इस सिद्धान्तानुसार कर्म फल का सिद्धान्त उड़ जाता है। भला अपने आप कोई चोर कारग्रह में कैसे चला जावेगा ? अतः शास्त्रों का सिद्धान्त यह है कि—

संयोग हेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥ उपनिषद्

अर्थ—जीवात्मा ईश्वर प्रेरणा से ही दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। और यह विचार भी असत्य ही है कि "जितने दाने अन्न दे जीवां बाय न कोय" अर्थात् बीज में पहले ही जीव प्रविष्ट होता है। इस तरह भी कर्म फल की मर्यादा टूट जाती है। क्योंकि वीर्यक्षेप पुरुष की स्वतंत्रता पर होता है। अतः जैसा कि वैद्यक शास्त्र में उल्लेख हुआ है—

शुक्रार्तव समाश्लेषो यदैव खलु जायते।
जीवस्तदेव विशति युक्तशुक्रार्तवान्तरे ॥

अर्थ—जब शुक्र अर्थात् वीर्य और रज का मेल होता है, उसी समय जीव शरीर में प्रविष्ट होता है।

चाहते है !

(दलपति शास्त्री सिद्धान्त शिरोमणि दयानन्द उपदेशक विद्यालय)

दयामय ! तुम्हारी दया चाहते हैं।
कुकर्मों की ईश्वर ! त्रपा चाहते हैं॥

अविद्यान्ध तामिस्त्र छाया जगत् में।
शुभज्ञान भानु प्रभा चाहते हैं॥

धरम धन लुटा जारहा नाथ जग से।
परम धर्म अमृत प्रपा चाहते हैं॥

असुर राक्षसों ने भुलाया भले को।
असुर नाश हे विश्वपा चाहते हैं॥

भक्त की भावना।

(लेखक—श्री० धर्मदत्त सिद्धान्तालङ्कार)

अन्धकार से परे तुम्हीं तो परम धाम कहलाते हो।
सूर्यों के भी सूर्य तुम्हीं हो ज्योतिर्मय दिखलाते हो॥
महादेव हो, सब देवों के त्राता तुम को पाते हैं।
देव! तुम्हारे चरणों पर हम प्रेमभाव से आते हैं॥

ज्ञानमयी गंगा के तुम ही आदि स्रोत कहलाते हो।
ज्ञान सूर्य हो चहुं दिस अपनी किरणों को फैलाते हो॥
देव! तुम्हारी ये किरणें हम सब को राह दिखाती हैं।
और तुम्हारे श्री चरणों की ओर हमें ले जाती हैं॥

देवों में तुम सुन्दरतम औ महाबली कहलाते हो।
मित्र, वरुण, औ अग्नी के भी सञ्चालक कहलाते हो॥
द्यु, पृथिवी, औ अन्तरिक्ष में चहुंदिस हो तुम व्याप रहे।
जड़ चेतन सब जग में तुम ही प्राण रूप हो बैठ रहे॥

मधुर प्रेमयुत वाणी से हम तुम को नाथ बुलाते हैं।
और तुम्हें अपने हृदयों के आसन पर बिठलाते हैं॥
चक्षु रूप हो तुम सब जग के सब को राह दिखाते हो।
देवजनों के हृदयों में तुम विमल रूप में आते हो॥

सौ वर्षों तक तुम को देखें, सौ वर्षों तक जी पावें।
सौ वर्षों तक तुम्हें सुनें, और नाम तुम्हारा ही गावें॥
सौ वर्षों तक नहीं किसी के दीन कभी हम हो पावें।
सौ वर्षों के पीछे भी हम ध्यान तुम्हारा कर पावें॥

—'सन्ध्या सङ्गीत'

दिल का दर्द।

[एक सच्ची घटना के आधार पर]

(लेखक—श्रीयुत गुप्त)

प्रथम दृश्य।

(समय—प्रातःकाल। स्थान—एक बड़े मकान का आंगन। एक दरी बिछी हुई है, उसके एक किनारे पर कम्बल बिछाकर स्वामी दयानन्द बैठे हुए हैं। बड़े ज़ोर से सरदी पड़ रही है, उनके शरीर पर सिवाय एक लम्बे झोले के और कोई वस्त्र नहीं है। दरी पर गरम कोट, कम्बल, जराबें, दस्ताने आदि पहने हुए बहुत से आदमी बैठे हैं)

स्वामी दयानन्द—भीमसेन ! वह कौन प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं जो ईसाई हो जाना चाहते थे ?

भीमसेन—(एक आदमी की ओर इशारा कर के) गुरुदेव, वह महानुभाव यह बैठे हैं। इन का नाम किशोरीलाल है, यह नगर के सब से बड़े सेठों में से हैं। थोड़े ही दिनों में अपने परिवार सहित ईसाई धर्म में प्रविष्ट हो जाने की इन की इच्छा है।

स्वामी दया०—भाई किशोरी लाल ! आप ने संस्कृत पढ़ी है ?

किशोरी०—नहीं, महाराज।

स्वामी दया०—आप को सनातन वैदिक धर्म का कितना ज्ञान है ?

किशोरी०—कुछ विशेष नहीं।

स्वामी दया०—आपने अपने धार्मिक ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ सुना है ?

किशोरी०—बहुत तो नहीं, परन्तु पण्डित जी के मुंह से भागवत और महाभारत की कथा कई बार सुनी है।

स्वामी दया०—आत्मा, परमात्मा और प्रकृति के संबंध में आपके क्या विचार हैं ?

किशोरी०—महाराज, इस प्रश्न पर मैंने कभी विचार नहीं किया।

स्वामी दया०—प्राचीन वैदिक सभ्यता से आप क्या मतलब लेते हैं ?

(किशोरी लाल चुप रहते हैं)

स्वामी दया०—आप ने ईसाई धर्म में क्या विशेषता देखी है ?

किशोरी०—महाराज, हिन्दू लोग बड़ी जहालत में पड़े हुए हैं। सारी हिन्दू जाति अन्दर से बिल्कुल खोखली हो चुकी है। अनाथों और विधवाओं पर असंख्य अत्याचार हो रहे हैं। तिस पर भी जात-पात, संस्कार, दहेज आदि की प्रथाएं नाक में दम किये रहती हैं। इन सब बुराइयों से बचने का और कोई उपाय मुझे प्रतीत नहीं होता।

स्वामी दया०—देखो भाई किशोरी लाल, एक अच्छे भले जवान के लिये ज़रासा बीमार होजाने पर आत्मघात कर लेना सब से बड़ी कायरता है। अगर आर्यजाति अपने असली कर्म से परे हटकर दुःखी हो रही है तो उसे ठीक मार्ग पर लाने के लिये यत्न करना ही बुद्धिमत्ता है। मैं समझता था कि ईसाइयत में किन्हीं उच्च सिद्धान्तों को पाकर आप ईसाई होजाना चाहते हैं। मुझे बताइये, आप ईसाई होकर अपना या अपने भाइयों का क्या उपकार कर लेंगे। आप के ईसाई हो जाने से क्या आप की जाति में से सब बुराइयां निकल जायंगी? आप सोचते होंगे कि कम से कम आप तो इन बुराइयों से बच जावेंगे। परन्तु यह आपका भ्रम है। अगर आप चाहें तो अपने सनातन धर्म पर दृढ़ रहते हुए आप बहुत ही सुगमता से इन बुराइयों से बच चकते हैं। आप आर्यजाति की प्राचीनता और ऊंची सभ्यता पर आत्माभिमान अनुभव कीजिये। (कुछ देर के लिये चुप होकर वह फिर कहने लगते हैं) मुझे आश्चर्य है—क्या आप को अपने अहिंसा के सिद्धांत से घृणा हो गई है? अथवा अपनी प्राचीन सभ्यता आप को व्यर्थ मालूम पड़ने लगी है। अगर आप के दिल में हिन्दुओं की दुर्दशा के लिये दुःख और सहानुभूति है तो आइये, मैं आपको निमन्त्रित करता हूं, इन्हें अज्ञानान्धकार से निकालने में आप मेरा साथ दीजिये।

(किशोरी लाल कोई उत्तर नहीं देते।)

स्वामी दया०—बताइये क्या विचार है?

किशोरी०—महाराज, मैं अपना धर्म परिवर्तित नहीं करूंगा। मेरे उद्धार के लिये आप का आशीर्वाद चाहिये।

स्वामी दया०—तुम्हीं अपने सबसे बड़े शिक्षक हो। उस परम पिता को हर समय साक्षी रखकर स्वयं अपने पर शासन करो, संसार की कोई शक्ति

तुम्हें अपने धर्म से ज़रा भी हटा न सकेगी। ईश्वर तुम्हें बल दे।

किशोरी०—(कुछ देर चुप रहकर) महाराज, आज रात को मेरे अभागे घर में भोजन से मुझे कृतार्थ कीजिये।

स्वामी दया०—भोजन के सम्बन्ध में भीमसेन से पूछिये। वह जहां मेरा प्रबन्ध करेगा, मुझे उस से इन्कार नहीं होगी (घड़ी देखकर) स्वाध्याय का समय हो गया।

(उठकर अन्दर चले जाते हैं)

किशोरी०—पंडित जी, दास की प्रार्थना स्वीकार हो।

भीम०—गुरु महाराज आठ बजे भोजन किया करते हैं, उस समय मैं उन्हें साथ लेकर आप के यहां आजाऊंगा।

किशोरी०—आपका अनुग्रह।

(सब जाते हैं।)

[द्वितीय दृश्य]

(समय—सांयकाल। स्थान—गंगातट। स्वामी दयानन्द अकेले साधारण चाल से टहल रहे हैं। गंगा के निर्मल जल को वह स्थिर दृष्टि से देख रहे हैं।)

स्वामी दयानन्द—यह पवित्र भागीरथी कितनी सुन्दर है। हमारे प्राचीन ऋषि कितने पवित्र स्थान पर निवास किया करते थे। एक स्वच्छ जल वाली विशाल काय नदी वेग से बही चली जा रही है, नदी के दूसरे पार घना जंगल है, बिल्कुल सन्नाटा है। ईश्वर की इस महान सृष्टि में कितनी सुन्दरता, शान्ति और प्रसन्नता भरी हुई है। जी चाहता है यह सब टंटे छोड़ कर फिर से इन्हीं जंगलों में भटका फिरूं। शान्ति पूर्वक अपनी महान साधना में रम जाऊं। (इतने में नदी के दूसरे पार मोर बोलता है, स्वामी दयानन्द कुछ देर तक चुपचाप खड़े होकर उसका मधुर कण्ठ स्वर सुनने लगते हैं। फिर वह कहने लगते हैं) ओह, भारत माता का प्राकृतिक सौन्दर्य अब भी वही है। यह सस्य श्यामला भूमि आज भी उतनी ही महिमा शालिनी है—जितनी कि आज से हज़ारों वर्ष पूर्व थी। यह सब वही है। परन्तु इस गौरव शाली देश में बसने वाली वह प्राचीन आर्य जाति आज "... नहीं रही! (वह कुछ चिन्तित से होकर चुपचाप धीरे २ टह... वह सामने दूर पर तीर्थ के मन्दिरों के ब...

किशोरी०—महाराज, हिन्दू लोग बड़ी जहालत में पड़े हुए हैं। सारी हिन्दू जाति अन्दर से बिल्कुल खोखली हो चुकी है। अनाथों और विधवाओं पर असंख्य अत्याचार हो रहे हैं। तिस पर भी जात-पात, संस्कार, दहेज आदि की प्रथाएं नाक में दम किये रहती हैं। इन सब बुराइयों से बचने का और कोई उपाय मुझे प्रतीत नहीं होता।

स्वामी दया०—देखो भाई किशोरी लाल, एक अच्छे भले जवान के लिये ज़रासा बीमार होजाने पर आत्मघात कर लेना सब से बड़ी कायरता है। अगर आर्यजाति अपने असली कर्म से परे हटकर दुःखी हो रही है तो उसे ठीक मार्ग पर लाने के लिये यत्न करना ही बुद्धिमत्ता है। मैं समझता था कि ईसाइयत में किन्हीं उच्च सिद्धान्तों को पाकर आप ईसाई होजाना चाहते हैं। मुझे बताइये, आप ईसाई होकर अपना या अपने भाइयों का क्या उपकार कर लेंगे। आप के ईसाई हो जाने से क्या आप की जाति में से सब बुराइयां निकल जायंगी? आप सोचते होंगे कि कम से कम आप तो इन बुराइयों से बच जावेंगे। परन्तु यह आपका भ्रम है। अगर आप चाहें तो अपने सनातन धर्म पर दृढ़ रहते हुए आप बहुत ही सुगमता से इन बुराइयों से बच चकते हैं। आप आर्यजाति की प्राचीनता और ऊंची सभ्यता पर आत्माभिमान अनुभव कीजिये। (कुछ देर के लिये चुप होकर वह फिर कहने लगते हैं) मुझे आश्चर्य है—क्या आप को अपने अहिंसा के सिद्धांत से घृणा हो गई है? अथवा अपनी प्राचीन सभ्यता आप को व्यर्थ मालूम पड़ने लगी है। अगर आप के दिल में हिन्दुओं की दुर्दशा के लिये दुःख और सहानुभूति है तो आइये, मैं आपको निमन्त्रित करता हूं, इन्हें अज्ञानान्धकार से निकालने में आप मेरा साथ दीजिये।

(किशोरी लाल कोई उत्तर नहीं देते।)

स्वामी दया०—बताइये क्या विचार है?

किशोरी०—महाराज, मैं अपना धर्म परिवर्तित नहीं करूंगा। मेरे उद्धार के लिये आप का आशीर्वाद चाहिये।

स्वामी दया०—तुम्हीं अपने सबसे बड़े शिक्षक हो। उस परम पिता को हर समय साक्षी रखकर स्वयं अपने पर शासन करो, संसार की कोई शक्ति

तुम्हें अपने धर्म से ज़रा भी हटा न सकेगी। ईश्वर तुम्हें बल दे।

किशोरी०—(कुछ देर चुप रहकर) महाराज, आज रात को मेरे अभागे घर में भोजन से मुझे कृतार्थ कीजिये।

स्वामी दया०—भोजन के सम्बन्ध में भीमसेन से पूछिये। वह जहां मेरा प्रबन्ध करेगा, मुझे उस से इन्कार नहीं होगी (घड़ी देखकर) स्वाध्याय का समय हो गया।

(उठकर अन्दर चले जाते हैं)

किशोरी०—पंडित जी, दास की प्रार्थना स्वीकार हो।

भीम०—गुरु महाराज आठ बजे भोजन किया करते हैं, उस समय मैं उन्हें साथ लेकर आप के यहां आजाऊंगा।

किशोरी०—आपका अनुग्रह।

(सब जाते हैं।)

[द्वितीय दृश्य]

(समय—सांयकाल। स्थान—गंगातट। स्वामी दयानन्द अकेले साधारण चाल से टहल रहे हैं। गंगा के निर्मल जल को वह स्थिर दृष्टि से देख रहे हैं।)

स्वामी दयानन्द—यह पवित्र भागीरथी कितनी सुन्दर है। हमारे प्राचीन ऋषि कितने पवित्र स्थान पर निवास किया करते थे। एक स्वच्छ जल वाली विशाल काय नदी वेग से बही चली जा रही है, नदी के दूसरे पार घना जंगल है, बिल्कुल सन्नाटा है। ईश्वर की इस महान सृष्टि में कितनी सुन्दरता, शान्ति और प्रसन्नता भरी हुई है। जी चाहता है यह सब टंटे छोड़ कर फिर से इन्हीं जंगलों में भटका फिरूं। शान्ति पूर्वक अपनी महान साधना में रम जाऊं। (इतने में नदी के दूसरे पार मोर बोलता है, स्वामी दयानन्द कुछ देर तक चुपचाप खड़े होकर उसका मधुर कण्ठ स्वर सुनने लगते हैं। फिर वह कहने लगते हैं) ओह, भारत माता का प्राकृतिक सौन्दर्य अब भी वही है। यह सस्य श्यामला भूमि आज भी उतनी ही महिमा शालिनी है—जितनी कि आज से हज़ारों वर्ष पूर्व थी। यह सब वही है। परन्तु इस गौरव शाली देश में बसने वाली वह प्राचीन आर्य जाति आज "वही" नहीं रही! (वह कुछ चिन्तित से होकर चुपचाप धीरे २ टहलने लगते हैं) वह सामने दूर पर तीर्थ के मन्दिरों के बड़े २ कलश दीख रहे हैं।

आज एकादशी स्नान है।। चलूं, देखूं वहां क्या हो रहा है।
(वह उसी ओर चल देते हैं)

(पर्दा बदलता है। बहुत बड़ी भीड़ थोड़े से स्थान में स्नान कर रही है। उसमें स्त्री और पुरुष दोनों शामिल हैं। पण्डे और ब्राह्मण अपने यजमानों को स्नान करवा रहे हैं। स्वामी दयानन्द ऊपर से खड़े होकर यह दृश्य देख रहे हैं। स्नान भूमि के पास ही एक अन्धेरे स्थान पर दो तीन युवा कन्याएं केवल गीली धोतियां पहिन कर बैठी हैं। एक ब्राह्मण भी उन्हीं के पास बैठे हैं। उन कन्याओं के पिता का देहान्त हो चुका है, ब्राह्मण देवता उन्हीं के सम्बन्ध में कोई क्रिया काण्ड कर रहे हैं। ब्राह्मण देवता के भाव अच्छे प्रतीत नहीं होते। वह रह रह कर जो चेष्टाएं दिखा रहे हैं वे अश्लील हैं। अचानक स्वामी दयानन्द की नज़र उस ओर पड़ती है, वह कांप उठते हैं। इसके बाद वह शीघ्रता से एक ओर चले जाते हैं।

[तृतीय दृश्य]

(स्थान—शहर के बीच का एक बड़ा मकान। समय—रात्री का प्रथम प्रहर। बरामदे में सेठ किशोरीलाल उनकी धर्म पत्नी और दो पुत्र बैठे हैं। पास ही भोजन का प्रबन्ध है।)

किशोरीलाल—बड़े भारी महात्मा हैं! गज़ब के पण्डित हैं! जब वह बोलते हैं तो सुनने वाले को मन्त्र मुग्ध सा कर लेते हैं। जान्हवी! आज का दिन हमारे लिये बहुत ही अहोभाग्य का है। आज वह महात्मा हमारे अतिथि हैं। खूब खातिरदारी और श्रद्धा से उन्हें भोजन परोसना।

जान्हवी—बहुत देर हो गई, वह अभी तक नहीं आये।

किशोरी०—किसी काम से उन्हें देर हो गई होगी। जनक को उन्हें लाने के लिये भेजा था, उस के साथ आते ही होंगे।

जान्हवी—वह महात्मा यहां और कब तक रहेंगे ?

किशोरी०—उन्हें सिर्फ एक ही धुन है, एक ही फिकर है, वह है आर्य सभ्यता का उद्धार किस प्रकार हो। इसके लिये उन्हें जहां जाना होगा वहां जांयगे यहां अगर उन्होंने अपनी और अधिक आवश्यकता अनुभव की तो वह कुछ दिन और भी रहेंगे।

(जनक आता है। सब उसकी ओर देखने लगते हैं)

जनक—पिता जी, वह अपने स्थान पर नहीं हैं। पण्डित जी का कहना है कि वह प्रतिदिन इस समय तक अवश्य अपने स्थान पर वापिस आ जाया करते

थे, आज न मालूम क्यों इतनी देर हो गई। अकेले सैर पर गये थे, अभी तक वापिस नहीं आये। पण्डित जी ने कहा है कि जब वह वापिस आ जांयगे तो मैं स्वयं उन्हें अपने साथ लेता आऊंगा।

किशोरी०—(घबरा कर) अच्छा! अभी तक वापिस नहीं आये! बहुत से अज्ञानी पुरुष उनके शत्रु हैं, ईश्वर कुशल करे।

(सब चुप रहते हैं)

किशोरी०—आओ जनक, फिर उनके स्थान पर चलें।

(दोनों जाते हैं।)

[चतुर्थ दृश्य]

(समय—आधी रात। स्थान-गंगा तट का एकान्त रेतीला किनारा। एकादशी का चांद आकाश के बीच में प्रकाशित हो रहा है। रेत पर स्वामी दयानन्द घुटनों में मुंह देकर सिर झुकाये हुए सिसक २ रो रहे हैं। उन्होंने अपना चोला उतार कर एक ओर रख दिया है। एक लंगोट को छोड कर उनके शरीर पर और कोई वस्त्र नहीं है। सख्त सरदी पड़ रही है। गंगा की धारा से घना कुहर उठ रहा है। चारों ओर बिलकुल सन्नाटा है। वह धीरे २ प्रार्थना कर रहे हैं।)

स्वामी दयानन्द—दयामय! ये लोग नासमझ हैं, तू इन्हें सुबुद्धि प्रदान कर! इस हतभाग्य जाति ने ऐसा कौनसा कार्य किया था जिसके लिये कि आज उसकी यह दुर्दशा होरही है। पिता! क्या तेरी असीम दया का एक कण भी इस अभागी आर्यजाति को नहीं मिलेगा।

(वह फिर सिर झुकाकर रोने लगे। बहुत देर बाद वह फिर कहने लगे।)

ओफ़, कितना अधःपतन है! प्राचीन ऋषियों की सन्तान, अपने को अब भी ब्राह्मण कहकर पुजवानेवाले लोग अपनी जाति की आर्य पुत्रियों से ही इस प्रकार का कुत्सित व्यवहार करते हैं कितना लज्जाजनक दृश्य है। हाय, धर्म के नाम पर इस लोक का सब से बड़ा पाप खुले रूप में किया जारहा है,—कितना बड़ा ढोंग है? अब तक मैं समझता था कि आर्यत्व तो नष्ट हो गया, परन्तु हिन्दू जाति के रूप में उसका ढांचा अवश्य बचा हुआ है, परन्तु आज मालूम हुआ कि हाय, वह ढांचा भी अब बाकी नहीं बचा है।

(वह चुप होकर गंगा की बड़ी बड़ी लहरों में पड़ते हुए चांद के प्रतिबिम्ब को देखने लगे। इसी समय कुछ अस्पष्ट सा गाना सुनाई पड़ता है।)

स्वामी दया०—(चौंक कर) यह कौन गा रहा है ?

(थोड़ी देर में कुछ गंवार गाते गाते प्रवेश करते हैं। स्वामी दयानन्द के पास पहुंचते ही विस्मय से उनका गाना बन्द हो जाता है। वे धीरे धीरे आपस में बातें करने लगते हैं।)

१ गंवार—अरे यह कौन है ?

२ गंवार—सचमुच ! अरे यह कौन है ?

३ गंवार—भूत।

(सब चुप हो जाते हैं, थोड़ी देर में एक और गंवार बोल उठता है।)

४ गंवार—पागल होगा।

(इसी बीच में वे कुछ दूर निकल जाते हैं। कुछ दूर होते ही वे फिर से अपना गान प्रारम्भ कर देते हैं।)

स्वामी दया०—ये लोग कितने अबोध हैं। इन्हें अपनी अवस्था का ज्ञान ही नहीं है। देवस्वरूप प्राचीन भारत बिल्कुल दीन होकर, कङ्काल बनकर विलाप कर रहा है, उस के आर्तनाद से यह नदी, ये जङ्गल, यह पहाड़ सब पूरी तरह प्रतिनादित हो चुके हैं, परन्तु ये भारत के अपने पुत्र इस प्रकार मस्ती में चले जा रहे हैं—मानो कुछ हुआ ही नहीं है, मानो इन में जीवन ही नहीं है।

(इसी समय उन्हें फिर से वही दृश्य याद आजाता है और वह गंगा की ठण्डी रेत पर लेटकर शोक पूर्ण गम्भीरता से कुछ सोचने लगते हैं।)

[पञ्चम दृश्य]

(समय—प्रातःकाल। स्थान—स्वामी दयानन्द का निवासगृह। स्वामी दयानन्द बरामदे में एक कुर्सी पर बैठे हैं। नीचे दरी पर— भीमसेन, किशोरी लाल, जनक तथा कुछ अन्य व्यक्ति बैठे हुए हैं। सब लोग चुप हैं। स्वामी दयानन्द आज बहुत उदास प्रतीत होरहे हैं।)

भीम०—(बड़े विनय से) गुरुदेव, रात को बड़ी देर तक वह आप की प्रतीक्षा करते रहे। हम सब लोग सचमुच बहुत घबरा रहे थे।

स्वामी दया०—हां, किशोरी लाल ! मुझे क्षमा करो। कल सायंकाल एक ऐसी घटना हो गई, जिस से मेरा हृदय अभी तक उदास है। मैं बाधित होकर तुम्हारे यहां नहीं आ सका।

किशोरी०—महाराज ! मैं तो आप के चरणों का दास हूं।

(स्वामी दयानन्द एक ठण्डा श्वास लेकर चुप ही रहते हैं। सारी सभा में फिर से सन्नाटा छाजाता है।)

दुनियां में बौद्ध धर्म का प्रचार कैसे हुआ ?

ले० — श्री अङ्गिरा विद्यालङ्कार तिलक स्कूल आफ पालिटिक्स, लाहौर ।

इस समय संसार में बौद्ध-धर्मावलम्बियोंकी संख्या सब से अधिक है। ढाई हज़ार साल गुज़र गये, एक भारतीय तपस्वी सन्यासी ने जिस प्रेम-धर्म का नाद उठाया था, वह नाद संसार की एक तिहाई जनता के कानों में आज भी गूंज रहा है। और यदि मध्य एशिया की नवीन ऐतिहासिक खोजों के आधार पर यह मान लिया जावे कि ईसाई मत के आदि प्रवर्तक की धार्मिक उत्तेजना का मूल स्रोत लघु एशिया के बौद्ध प्रचारक ही थे तो कहना होगा कि लगभग सारा संसार वस्तुत उसी महापुरुष के अध्यात्मिक सन्देश का पुजारी है ; और जिस धर्म को वह महापुरुष सार्वभौम धर्म बनाना चाहता था वह सार्वभौम धर्म बन चुका है।

कोई समय था जब सारा एशिया इसी धर्म में दीक्षित हो चुका था-इस्लाम की क्रूर तलवार इस की जड़ नहीं काट सकी। यद्यपि भारत में इस समय बौद्ध धर्म का नाम शेष नहीं रहा किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस बात से इन्कार नहीं किया जासकता कि आधुनिक हिन्दू धर्म पर बहुत कुछ बौद्ध धर्म की छाप है।

स्वभावतः प्रश्न उठता है कि बौद्ध धर्म की इस भारी सफलता के क्या कारण हैं ? संसार भर में उस के फैल जाने तथा ढाई हज़ार वर्ष के लम्बे अरसे के बाद भी इतना प्रचलित होने के क्या कारण हैं ? संसार में अन्य धर्मों के भी बड़े २ प्रचारक हुए । वे भी महापुरुष थे—उन्हों ने भी संसार के सामने अद्भुत त्याग का दृष्टान्त रखा, वे भी संसार के लिये एक पवित्र तम सन्देश लेकर उतरे थे। ईसा, मुहम्मद, शंकर, नानक और चैतन्य ऐतिहासिक काल के महापुरुष थे इस बात से कौन इन्कार कर सकता है। वर्तमान काल में ही लीजिये-राजा राम-मोहन राय और महर्षि दयानन्द किस से कम थे ? परन्तु ये उस सफलता तक क्यों नहीं पहुँच सके ? इन्हों ने अपने २ समय में एक अलौकिक चमत्कार सा दिखाया था। संसार के अन्दर इन्हों ने एक हलचल पैदा करदी थी। अपने समय में इन लोगों ने संसार की लहर को बदल दिया था। परन्तु हम देखते हैं कि बहुत कम को ऐसे योग्य अनुयायी मिल सके जैसे बुद्ध को मिले थे। इतना ही नहीं--जिस हद तक इन महापुरुषों को योग्य अनुयायी मिले उसी हद तक उन का सन्देश भी संसार में फैल सका। ऊपर लिखित महापुरुषों में से सब से अच्छे

अनुयायी ईसा को मिले। ईसा के अनुयायी अपने तन मन धन का पूर्ण उत्सर्ग कर मनुष्य मात्र की सेवा के लिये उतर पड़े। ईसाई मिश्नरियोंने अपने प्राणों का मोह छोड़ कर उन उन प्रदेशों में पाँव धरा जहाँ लोग उन के प्राणों के प्यासे होकर बैठे थे–वहाँ उन्होंने कर्तव्य और मनुष्य–सेवा की बलिवेदी पर हंसते २ अपने प्राण उत्सर्ग कर दिये। यूरोप में ईसाई प्रचारकों को जिस कठोर परीक्षा में से गुज़रना पड़ा था, उस का परिणाम यह है कि आज सारा यूरोप इसाई धर्म में दीक्षित है।

बौद्ध प्रचारकों को भारत में तथा भारत से बाहिर किन किन यन्त्रणाओं में से गुज़रना पड़ा था। इतिहास ने उन के कष्टों की इस पवित्र स्मृति को प्रायः भुला दिया है। परन्तु हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि आज तक जैसे अच्छे प्रचारक बौद्ध धर्म को मिले उतने अच्छे किसी भी धर्म को प्राप्त नहीं हुए। बौद्ध प्रचारक जिस प्रकार उच्च आदर्श से प्रेरित हो कर अपने भौतिक व सांसारिक सुखों पर लात मार कर मनुष्यमात्र की सेवा के लिए अपने जीवन उत्सर्ग कर देते थे, उस के उदाहरण अन्यत्र कठिनता से मिलेंगे। बौद्ध 'संघ' की सुदृढ़ रचना, संघ का अपने सदस्यों पर कठोर नियंत्रण और भिक्षुओं का संघ के प्रति आदर भाव ये सब बातें सामाजिक जीवन के लिए अनुकरणीय हैं। परन्तु इन सब के अतिरिक्त संघ के सदस्य अपने ऊपर जो कठोर बन्धन स्वेच्छा पूर्वक डाल लेते थे वह आज कल किसी भी उच्च आदर्श की सिद्धि के लिये जीने वाली संस्था के लिए आदर्श हैं। विशेष कर जो संस्थायें संसार में धर्म के प्रचार और मनुष्य मात्र की सेवा का दम भरती हैं, उन के सदस्यों व प्रचारकों के लिये विशेष मनन करने योग्य हैं। बौद्ध ग्रन्थों में संघ के कठोर नियन्त्रण व तपस्यामय जीवन के अनेक उदाहरण मिलते हैं उन में से यहां हम दो तीन देना चाहते हैं:—

१—जब कोई व्यक्ति भिक्षु-धर्म में दीक्षित होता था तो उसे सम्बोधन कर निम्न बातें कही जातीं-जो सङ्घ की प्रवृत्ति और उन की भावना (Spirit) की परिचायक हैं।

"हे भिक्षुओ ! धार्मिक जीवन का बदला हाथ पर रख कर सूखी रोटी खाने में है।"

"हे भिक्षुओ ! धार्मिक जीवन का बदला क्रुद्ध मनुष्यों के भालों में मिलता है ; मानो वे भाले ही तुम्हारे पहिरने के वस्त्र हैं।"

"हे भिक्षुओ ! धार्मिक जीवन का बदला बिना छाया के वृक्ष के तले निवास है।"

"इसलिये हे भिक्षुओ ! यदि तुम्हें कभी अच्छा भोजन, या सुन्दर वस्त्र या उत्तम निवास मिले तो उसे यह समझो कि यह सब तुम्हें तुम्हारे उचित अधिकार से बढ़ कर पारितोषक के रूप में प्राप्त हुआ है, वस्तुतः तुम्हारा उस पर कुछ अधिकार न था।"

उपर्युक्त सिद्धान्त बौद्ध संघ के उच्च आदर्श का द्योतक है। आधुनिक धर्म-संस्थाओं के आज कल के उन प्रचारकों को जो जनता से अपने भोजन, निवास आदि के लिए बड़ी बड़ी आशायें रक्खा करते हैं-बौद्ध प्रचारकों के साथ अपनी तुलना करनी चाहिये।

२ —बौद्ध संघ में समानाधिकारः—बौद्ध संघ में प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार तथा पद बराबर था। संघ की सम्मति के बिना कोई कार्य न होता था। संघ एक प्रकार की जनतन्त्र संस्था थी। इस्लाम के भाईचारे (Brotherhood) ने इस्लाम को बहुत मज़बूत बना दिया। परन्तु इस्लाम के संगठन को हम संघ का नाम नहीं दे सकते। इस्लाम के संगठन में जनतन्त्र के सिद्धान्त को व्यावहारिक स्थान नहीं मिला। हां, सिद्धान्त रूप से वहां समानता का सिद्धान्त अवश्य था। वर्तमान समय की संस्थाओं में 'आर्य समाज' कानूनी दृष्टि से संघ-तन्त्र अवश्य है, परन्तु व्यावहाररिक दृष्टि से भी यह गुणकारक है यह आर्य भाइयों के विचारने का सवाल है। पर इतना निश्चित है कि आर्य समाज को इस विषय में अभी बौद्ध संघ से बहुत कुछ सीखना होगा।

३—व्यक्ति और संघः—बौद्ध संघ में व्यक्ति की कोई पृथक सत्ता न थी। बौद्ध भिक्षुओं के जीवन पर संघ का कठोर निरीक्षण हर समय रहता था जो उन को सदाचार-पथ पर रखता था। बौद्ध संघ में किसी व्यक्ति की अपनी कोई निजू सम्पत्ति न थी। छोटी से छोटी चीज़ संघ की सम्पत्ति थी। संघ के प्रत्येक सदस्य को कठोर तपस्या का जीवन व्यतीत करना होता था। संघ में:—

क—बिना बीमारी की अवस्था के आग सेकना प्रायश्चित्त था।

ख—उबटन मलना प्रायश्चित्त था।

ग—यदि किसी दिन भिक्षा में कोई यथेष्ट मिठाई या अन्य उत्तम पदार्थ लेने को कहे तो दो प्याले से अधिक लेना प्रायश्चितथा।

घ—अपने चोले की रस्सी में रेशम बंटना—या छः साल से पहिले नया चोला बनवाने पर प्रायश्चित्त था।

ङ—प्रत्येक वस्तु पर संघ का अधिकार था—कोई व्यक्ति या कुछ संघ के मनुष्य मिल कर उस पर अधिकार न कर सकते थे, किसी को दे भी नहीं सकते थे।

च—भिक्षु एक समय में एक प्याला रख सकता था। और जब तक वह पांच स्थानों से टूट न जावे, बदला न जा सकता था। इस नियम का उल्लंघन करने पर संघ उस से वह प्याला छीन कर सब से पुराना प्याला उसे देता था।

छ—भिक्षु सोना, चांदी, रेशम, उत्तम वस्त्र आदि पदार्थ नहीं रख सकता था। यदि ये पदार्थ उसे कहीं से मिलें तो उसे चाहिये कि वह इसे एक दम संघ के उपयोग के लिये देदे। चाहे कोई उसे वैय्यक्तिक उपयोग के लिए दे, पर उस पर सारे संघ का अधिकार हो जायगा। क्रियात्मक सार्वजनिक सम्पत्ति के सिद्धांत या (Communalism) का ऐसा उदाहरण शायद अन्यत्र कम मिल सकेगा।

कोई व्यक्ति यदि बीमार हो कर मर जाय तो उस की सम्पूर्ण वस्तुओं में से प्याला तथा चोला उस की रोग शय्या पर सेवा करने वाले व्यक्ति को बदल लेने का अधिकार था। यह पारितोषक के रूप में था। शेष पदार्थों पर संघ का ही अधिकार हो जाता था। बुद्ध ने एक स्थान पर "चुल्लवाग" में कहा है—"भिक्षुओं के सम्पूर्ण पदार्थ संघ की सम्पत्ति हैं, और संघ की सम्पत्ति को कोई व्यक्ति, गण या स्वयं संघ भी किसी को दे नहीं सकता। ऐसा करने पर वह "थल्लचुय्या" का अपराधी है।

इस प्रकार संघ में जहां प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को सम्पूर्ण विस्तृत संघ का अंग समझ सकता था—वहाँ प्रत्येक व्यक्ति पर संघ का पूरा नियन्त्रण भी था। स्मरण रखना चाहिये, कि यह नियन्त्रण प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने ऊपर अपनी इच्छा से ही लगाता था। संघ के सारे सदस्य मनुष्यमात्र की सेवा के लिये अपने

आप को समर्पित करते थे और अपनी इच्छा से ही संघ में प्रवेश करते-और इच्छानुसार ही संघ में रहते थे। अशोक जैसा नरपति अपनी इच्छा से ही सुन्दर राज भोगों को छोड़ कर संघ का अनुयायी हुआ था। अतएव यह कहना भूल होगी कि संघ में व्यक्ति की स्थिति बिलकुल दासवत् हो जाती थी-क्योंकि प्रत्येक सदस्य अपने को स्वयं ही इन नियमों में डालता और इच्छा होने पर संघ को छोड़ भी सकता था। संघ अपना नियन्त्रण आप करता था। यही हमारी सम्मति में संघ की शक्ति और सफलता का मूल है।

जब हम बौद्ध संघ के इस महत्वपूर्ण संगठन से आधुनिक धर्म-समाजों व सभाओं की तुलना करते हैं तो आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई देता है। हमारी सम्मति में ऋषि दयानन्द का विचार आर्य समाज को एक 'आर्य संघ' बनाना ही था जो आर्य संस्कृति, सभ्यता और विचारों का प्रचार करे। इस समय आर्य-समाज आर्य सभ्यता व विचारों का "प्रचारक संघ" नहीं-किन्तु आर्य सभ्यता व विचारों से सहानुभूति रखने वालों का समूह है। सहानुभूति रखने वालों तथा वास्तविक प्रचारकों में कुछ फ़र्क होता है। इसीलिये हमारी सम्प्रति में आर्यसमाज में क्रियात्मक जीवन और सदाचार मर्यादा को बांधना तथा उसे सभासदों पर बाधित करना असम्भव सा प्रतीत हो रहा है। आर्यसमाज का जब तक ऐसा रूप रहेगा हम उस के सभासदों के व्यावहारिक जीवन में आचार मर्यादा नहीं बांध सकते। विशेष विचारों से सहानुभूति रखने वाले लोग अपने जीवन में उन विचारों को घटाने का प्रयत्न मात्र करते हैं, और उन विचारों के प्रचार के लिये आर्थिक व अन्य प्रकार की सहायता देते रहते हैं। इस से अधिक वे कुछ नहीं कर सकते और नांहीं इस से अधिक उनकी कुछ उपयोगिता होती है। परन्तु विशेष विचारों के "प्रचारकों" के लिये एक 'संघ' की बड़ी आवश्यकता है। इस 'संघ' के सदस्यों पर वही कठोर नियन्त्रण के बंधन लगाने होंगे जो बौद्ध संघ ने अपने सदस्यों पर लगाये। किसी ऐसे संघ की सफलता की यही कसौटी होती है कि वह अपने ऊपर कहाँ तक कठोर बंधनों का बोझ सहन कर सकता है। आर्य-समाज का जो स्वरूप इस समय है उस का हमने ऊपर निर्देश किया है इसीलिये आर्य समाज से अलग हमारी सम्मति में एक ऐसे प्रचारक "संघ" की आवश्यकता है जो अपना जीवन इसी कठोर तपस्या में बिताने के लिये तैयार हों। क्या आर्यसमाज के प्रचारक ऐसे संघ का संगठन कर सकते हैं? क्या आर्य समाज

अपने में से कुछ ऐसे आदमी दे सकता है जिनका जीवन उद्देश्य की वेदी पर बलिदान हो सकता हो–और दूसरे के लिये वे अपने ऊपर उच्च आचार, कठोर तपस्या और नियन्त्रण के बन्धन लगा सकते हों ? यदि आर्य समाज के वर्तमान प्रचारक इसका उत्तर 'हाँ, में दे सकते हैं तो हमें कोई सन्देह नहीं कि आर्य-समाज भी बौद्धों की तरह किसी समय सार्वभौम रूप ग्रहण कर सकेगा। यदि आर्य प्रचारकों के हृदय में इतना साहस नहीं तो आर्य समाज को दूर के स्वप्न लेना छोड़ देना होगा। देखना है कि हम ऋषि की आत्मा को क्या उत्तर देना चाहते हैं?

वेदार्थ-दीपक निरुक्त भाष्य [समालोचना]

[2]

श्री पं० चमूपति आर्योपदेशक, (अफ्रीका)

निरुक्त १. २. ४ व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य में शब्द की व्यापकता का प्रसंग उठाया गया है। पण्डित चन्द्रमणि जी पद्यं शब्द का अर्थ 'वैदिक शब्द' लेकर उन शब्दों को नित्य कहते हैं और प्रलय–काल में उनका लीन हो जाना स्वीकार करते हैं। फिर झट लिखते हैं 'शब्द आकाश की न्याईं सर्वत्र भर रहे हैं, परन्तु जब तक उच्चारण क्रिया नहीं होती तब तक प्रकटित नहीं होते'। इस लेख से यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता कि आकाश में वेद के शब्द भर रहे हैं या लौकिक ? वेद के शब्द हैं तो उच्चारण क्रिया किये जाने पर वेद ही के शब्द प्रकट होने चाहियें परन्तु प्रकट तो लौकिक होते हैं और यह प्रलय–काल भी नहीं कि वेद के शब्द और उनके साथ लौकिक भी–लीन हो गए हों। तब क्या लौकिक शब्द व्यापक हैं ?

दुर्गाचार्य यहां शब्द की व्यापकता मनुष्य की अभिधानाभिधेय बुद्धि में स्वीकार करते हैं। शब्द की नित्यता पर दर्शन तथा व्याकरण के ग्रन्थों में विस्तृत विचार किया गया है। पं० चन्द्रमणि जी ने वैदिक शब्दों की नित्यता और आकाशाश्रित शब्द की नित्यता को परस्पर उलझा दिया है। न इन दो पक्षों का समन्वय ही किया है न व्यतिरेक। दुर्गाचार्य के पक्ष पर आपने कृपाकटाक्ष करने का कष्ट ही नहीं उठाया। प्रश्न गंभीर है और अधिक आलोचना चाहता है।

इसी प्रकरण में लोक–व्यवहार के लिये शब्द का महत्व बतला कर कहा है:– तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम्। १. २. ६. अर्थात् मनुष्य (व्यवहार) की भान्ति देवताभिधान (वैदिक व्यवहार भी) इन्हीं (शब्दों) से होता है।

पण्डित जी ने इस वचन का तात्पर्य तो ठीक लिखा है परन्तु शब्दार्थ में कुछ विलक्षणता सी दिखाई है। आप 'देवता' शब्द को 'वेद-मन्त्र वाची' मानते हैं; कारण कि आगे मन्त्रो वेदे पड़ा है। वहां पण्डित जी पूर्व पठित 'देवता' शब्द की अनुवृत्ति समझे हैं। पण्डित जी के भाष्य में इससे अपूर्वता तो निस्संदेह आगई है परन्तु अर्थ की यथेष्ट सुसंगति नहीं हुई। अनुवृत्ति सर्वथा निष्प्रयोजन रही है।

यास्क ने देवताभिधान का पाठ केवल इसी स्थल पर नहीं किया किन्तु अन्यत्र भी। यथा १.२०.५ में कुचर शब्द का निर्वचन करते हुए अथ चेद्देवताभिधानं क्वायं न चरति अर्थात् यदि (इस मंत्र के) देवता (विष्णु) का विशेषण माना जाय तो इसका अर्थ होगा—कहां उसकी गति नहीं? यहां देवता का अर्थ मन्त्र का विषय है। पण्डित जी ने भी यहां देवताभिधान का अर्थ 'विष्णुदेवता के विशेषण' किया है। पूर्व स्थल में भी इस समस्त शब्द का यह अर्थ होगा। 'देवता' वेद के विषय को कहेंगे और अभिधान नाम वर्णन, अर्थात् वेद विषयों का वर्णन। देवता का अर्थ वेदमन्त्र करने के लिये प्रमाण चाहिये जो पण्डित जी ने दिया नहीं।

यास्कीय सिद्धान्त इस स्थल पर यह है कि जैसे छोटा होने के कारण लोक व्यवहार के लिये शब्दों से ही अर्थों की संज्ञा की जाती है १. २. ५, ऐसे ही वेद विषय का कथन भी शब्दों द्वारा होता है (१. २. ६) हाथ, आंख आदि के संकेत से नहीं होता, क्योंकि शब्द का व्यवहार अन्य संकेतों से सुगम है। यहां आए 'मनुष्य वत्' का अर्थ है 'लोक व्यवहारवत्' पूर्व प्रकरण के अनुरोध से। उपर्युक्त व्याख्या में 'देवता' शब्द का अर्थ बदलने की आवश्यकता नहीं हुई और आपका अभिप्राय सिद्ध हो गया है।

अगले वचन में यास्क वैदिक शब्दों की श्रेष्ठता बताते हैं:—पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे। १. २. ७ पुरुष का ज्ञान अनित्य है अत: (नित्य) अर्थ सम्पन्न मंत्र वेद में हैं (अपौरुषेय होने से)।

विद्या का अभिप्राय यहां शब्दार्थ सम्बन्ध के ज्ञान से है। इसी ज्ञान का ही इस स्थल पर प्रकरण है। मनुष्य विस्मरण शील है। वह अर्थों की संज्ञा बदलता रहता है परन्तु वेद के शब्द अर्थगर्भित हैं—वह अर्थों की नित्य न बदलने वाली संज्ञाएं हैं।

हमने यहां कर्म शब्द का अभिधेय 'अर्थ' को माना है। यास्क ने 'कर्म' शब्द का इस अर्थ में इतना प्रयोग किया है कि यास्क प्रयुक्त कर्म का अभिधेय प्राय: 'अर्थ' ही को माना जाता है। याज्ञिक लोग मन्त्रों का प्रयोजन यज्ञ मात्र में मानते हैं, उनकी दृष्टि में कर्मसम्पत्तिः का अर्थ यज्ञसम्पत्तिः हो, परन्तु हमारे विचार में अर्थसम्पत्तिः ही ठीक अर्थ होगा। यास्क ने इस प्रकरण में न यज्ञ की चर्चा छेड़ी है न अन्य ऐहिक तथा पारलौकिक कर्म काण्ड की। कर्म परक अर्थ में ज्ञान का बहिष्कार भी है जो हमारी व्याख्या में नहीं होता। विद्वान् लोग इस विषय में अधिक विचार कर सकते हैं।

(३)

पण्डित जी ने 'समालोचनात्मक विस्तृत भूमिका' उत्तरार्ध में लिखने की प्रतिज्ञा की है। संभव है, यास्क से वह किसी स्थल पर अपना वैपत्य भी प्रदर्शित करें। पूर्वार्ध का भाष्य करते हुए तो आपने केवल भक्ति और श्रद्धा ही का प्रकाश किया है। हमारा विचार है कि टीकाकार को मूल पुस्तककार से मत भेद प्रदर्शन का पूर्ण अधिकार होता है। पण्डित जी को या तो इस अधिकार के वर्तने की आवश्यकता नहीं पड़ी या संभवत: वह इस अधिकार को अपना मानते ही नहीं।

निरुक्त १. १३ में कौत्स और यास्क का शास्त्रार्थ चलता है। कौत्स वेद को अनर्थक मानता है और यास्क उसका खण्डन करता है। वेदार्थ-दीपक निरुक्त भाष्य के पृ० ७१ पर 'इस प्रकार यास्क ने सात हेतुओं से वेदों को निष्प्रयोजन, सार रहित तथा निरर्थक सिद्ध किया, यह वाक्य छपा है, सो लेखक या मुद्रक के प्रमाद ही का परिणाम प्रतीत होता है। अनर्थकता का पक्ष कौत्स का है, यास्क का नहीं। दूसरे संस्करण में इस वाक्य का संशोधन कर देना चाहिये।

यास्क ने पूर्वपक्ष के खण्डन में जितने हेतु दिये हैं, उनमें कौत्स प्रदर्शित दोषों को यदि वह दोष हों—लौकिक भाषा में भी दिखा दिया है। चाहिये तो यह था कि जहां उन दोषों की दोषता का निराकरण करते। वहां वेद की इन विशेषताओं का महत्व प्रतिपादन करते।

(१) वेदों के शब्द नहीं बदल सकते, उन का क्रम भी नहीं बदल सक्ता। तो इस का हेतु यह नहीं कि लौकिक भाषा में इन्द्राग्नी तथा पिता पुत्रौ का क्रम नहीं बदल सकता। यह ठीक है कि क्रम निश्चत रहने पर भी इन शब्दों का अर्थ

बना रहता है । परन्तु इस क्रम में और वेदों के क्रम में आकाश पातल का भेद है । यहां किसी २ समस्त पद ही में ऐसा होता है , वहां सारे वाङ्मय में । निरुक्तकार को वेदों के शब्द तथा उन शब्दों का क्रम निश्चित होने का महत्व दर्शाना चाहिये था । अग्नि का वह्नि के साथ एक ही अर्थ में सामान्य है, सब अर्थों में नहीं । तब 'अग्नि' की जगह 'वह्नि' कैसे लिखा जाए । किसी शब्द को वाक्य में पूर्व लाने से उस पर विशेष बल देना अभीष्ट होता है । यही वेद के शब्दक्रम की भी विशेषता का उद्देश्य है ।

(२) एक मन्त्र में 'एक एव रुद्रः' आया है और दूसरे में 'सहस्राणि ये रुद्रा' तथा एक जगह 'अशत्रुरिन्द्रः' आया है और अन्यत्र 'शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः' । इस में विप्रतिषेध है । भला इस आक्षेप का यह क्या उत्तर है कि लोक में 'असपत्नोऽयं ब्राह्मणः' कहा जाता है ?

जहां एक रुद्र है वहां परमात्मा विवक्षित है, जहां असख्यात रुद्र हैं, वहां पीड़ा देने वाले असंख्य प्राणी निर्दिष्ट हैं । जहां 'अशत्रुरिन्द्रः' कहा गया है, वहां उससे पूर्व का वाक्य है अहन्नरिम्' । अर्थात् उसने शत्रु को मार दिया, इस लिये वह अब अशत्रु है । सैंकड़ों सेनाओं को जीतना दूसरे समय, अन्य अवस्था, की बात है । इन में विरोध कैसा ? कोई एक समय अशत्रु होकर हमेशा के लिये अशत्रु नहीं होता ।

(३) 'अदितिः सर्वम्' का समाधान 'सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयम्' से नहीं होता । ४. ४. १ में अदितिः सर्वम् का अर्थ परमात्मपरक किया है, वहां 'अन्तरिक्ष' आदि शब्दों के वही अर्थ मानना होंगे जो वेदान्तदर्शन के १म अध्याय में भी ऐसे ही परमात्मपरक शब्दों के किये गए हैं । इस मन्त्र का दूसरा अर्थ यास्क अदितिः को विशेषण मान कर करते हैं कि अन्तरिक्षादि सब विशेष्य अदीन हैं । लौकिक व्यवहार के सर्वरसाः आदि वाक्य का इन में से किसी अर्थ के साथ सादृश्य नहीं । हां यदि नवीन वेदान्त का 'एक ब्रह्म' मान लिया जाय तो और बात है ।

वास्तव में यास्क ने प्रतिवादी का मुख बन्द करने का ही यत्न किया है, अपने सिद्धान्त को सुदृढ़ कर वेद का अपना महत्व स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया । ऐसे स्थल पर टीकाकार को मूल की त्रुटि पूरी कर देनी चाहिये ।

इसी प्रसंग में कौत्स की उठाई एक शंका की ओर सहसा पाठक का ध्यान

आकर्षित होता है। कौत्स के मुख में श. प ब्रा. १ ३. २. २ का अग्नये समिध्य-मानायानुब्रूहि डाल कर कहलवाया है कि यह तो हर एक जानता है कि अग्नि जलने पर ही मन्त्र का पाठ करना होता है, फिर यहां यह बात कही क्यों ? वेद में ऐसी बातें सैंकड़ों आई हैं जो हरेक मनुष्य जानता है। परन्तु यह जानना भी तो वेद में आ चुकने का परिणाम है। वेद में न आतीं तो जानता कौन ? प्रश्न होसक्ता है कि सृष्टि के आदि में ऐसे उपदेश का अवसर सही, अब इन मन्त्रों के पाठ का क्या लाभ है ? यास्क ने अभिवादन तथा मधुपर्क–उदाहरण के समय के वाक्यों-के उदाहरण से उत्तर दिया है कि लोक में भी जानी हुई बातें फिर कही जाती हैं जिससे संस्कारों की दृढ़ता हो। यहां प्रश्न यह है कि वेद की अनर्थकता प्रतिपादित करते २ ब्राह्मणों पर व्यर्थ की व्यङ्ग्य वृष्टि क्यों हुई ? इस में दो कारण हो सक्ते हैं—एक यह कि प्रतिवादी ब्राह्मणों को भी निरर्थक मानता है, दूसरा यह कि वेद और ब्राह्मण में भेद नहीं।

पहिला कारण अशुद्ध है क्यों कि ब्राह्मण की सार्थकता स्वयं प्रतिवादी ऊपर १. १५. ५ में स्वीकार कर चुका है। यास्क ने १. १६. १. में प्रतिवादी की इस स्वीकृति की ओर संकेत किया है। दुर्गाचार्य यास्क के इस वचन में पड़े इति च ब्राह्मणम् का अर्थ करते हुए लिखते हैं 'अर्थवत्त्वं चाभ्युपगतं ब्राह्मणस्य' अर्थात् ब्राह्मण का सार्थक होना आप स्वीकार कर चुके हैं। अर्थात् प्रतिवादी की दृष्टि में ब्राह्मण निरर्थक नहीं, केवल वेद हैं। इस लिये प्रथम कारण न रहा।

जब यह बात है तो दूसरे कारण की यथार्थता का निरसन भी स्वयं ही होगया। ब्राह्मण सार्थक हैं और वेद निरर्थक तो वेद और ब्राह्मण एक न हुए। न्याय यह चाहता था कि ब्राह्मण वचन की जगह कोई वेदवचन ही कौत्स के मुख में डाला जाता। तब यास्क का समाधान ठीक होता।

श्री पं० चन्द्रमणि जी इस स्थल पर लिखते हैं:—'शायद यह वचन किसी मन्त्र का भाव है, जो कि अन्वेषणीय है' हमारे विचार में कोई मन्त्र जिस में किसी प्रसिद्ध लोकावगत भाव का वर्णन हो, यहां उदहारण का काम दे सक्ता है। उदाहरण न हो तो भी हानि नहीं।

भाष्यकर्ता महोदय से हमारा निवेदन है कि अपनी विस्तृत भूमिका में इन आपत्तियों का समाधान करें या इन आपत्तियों को समालोचना के रूप में रख उठाएं।

(२य वर्ष)

व्याकरण—महाभाष्य (अङ्गाधिकार) तथा ऋक् प्रातिशाख्य, अथवा यजुर्वेद प्रातिशाख्य ।

दर्शन—वेदान्त अथवा पूर्व मीमांसा (शेष)

उपनिषद्—बृहदारण्यक ।

वेद—(क) यजुर्वेद (शेष), अथवा अथर्व ६ से २० काण्ड तक ।

(ख) ऋग्वेद भूमिका (सायण भाष्य सहित)

(ग) गोपथ ब्राह्मण

व्याख्यान—परमत निरसन पूर्वक स्व मत पोषक मौलिक निबन्ध (आर्य्य भाषा में)—६० फुलसकेप कागज़, प्रति पृष्ठ ३० पंक्ति, प्रति पंक्ति २० अक्षर ।

उक्त परीक्षाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित दो परीक्षाओं का प्रबन्ध भी विद्यालय की ओर से होगा । इन परीक्षाओं के लिये अध्यापन का प्रबन्ध न होगा ।

सिद्धान्त विशारद ।

१. सत्यार्थ-प्रकाश ।

२. (क) पुरुषार्थ-प्रकाश (श्रीस्वामी नित्यानन्दजी कृत)

(ख) ऋषि-कृत भ्रान्ति-निवारण आदि लघु पुस्तकें ।

३. भारतवर्ष का इतिहास (श्रीयुत प्रोफ़ैसर रामदेवजी कृत) ।

श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश (श्रीस्वामी सत्यानन्दजी कृत) ।

४. संस्कार-विधि (श्रीयुत मास्टर आत्मारामजी कृत संस्कार-चन्द्रिका व्याख्या सहित) ।

५. दर्शनानन्द-ग्रन्थ-संग्रह और वैदिक-दर्शन (पं० चमूपतिजी कृत) ।

६. (क) व्याख्यान (आर्य्य-भाषा में) ।

(ख) मौखिक शङ्का समाधान ।

सिद्धान्त वाचस्पति ।

वेद—ऋग्वेद (ऋषि दयानन्द कृत भाष्य) ।

वैदिक साहित्य—शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, कात्यायन श्रौत सूत्र, आश्वलायन श्रौत सूत्र, गोभिलीय गृह्य सूत्र (गोभिल संग्रह सहित) ।

समालोच्य विषय विकल्प—(१) याज्ञवल्क्य स्मृति (मिताक्षरा सहित)। अथवा (२) कौटिल्य अर्थ-शास्त्र । अथवा (३) न्याय-कुसुमाञ्जलि (हरिनाथी टीका)। अथवा (४) ब्रह्मसूत्र (शाङ्कर भाष्य)। अथवा (५) अज्ञेयवाद । अथवा (६) प्रकृतिवाद ।

मौलिक—संस्कृत निबन्ध (६० पृष्ठ फुलस्केप)।

टिप्पणि—विद्यालय के नियमित विद्यार्थियों के अतिरिक्त यदि कोई और महाशय भी विद्यालय की शिक्षा के किसी भाग से लाभ उठाना चाहें, तो उनके लिये उचित प्रबन्ध किया जायगा ।

सम्पादकीय

आर्य्य-प्रतिनिधि सभा पञ्जाब—

आ० प्र० सभा पञ्जाब का साधारण अधिवेशन २३—२४ मई १९२५ शनिवार, रविवार को गुरुदत्त भवन में हुआ। २०० प्रतिनिधियों में से लगभग १०० प्रतिनिधि उपस्थित थे। भोजन तथा उतारे का प्रबन्ध गुरुदत्त भवन में ही था। सबसे प्रथम कार्य्य-कर्ताओं का चुनाव हुआ, जिसमें यथापूर्व श्री रामकृष्ण जी प्रधान, तथा डा० केशवदेवजी शास्त्री, प्रो० शिवदयालजी और लाला मोहनलालजी (शिमला) तीन उपप्रधान चुने गए। तदनन्तर मन्त्री का चुनाव हुआ। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् म० कृष्णजी बी. ए. ही मन्त्री निर्वाचित हुए। चुनाव के बाद वेद-प्रचार, आर्य्य-विद्यार्थी आश्रम, गुरुकुल कांगड़ी आदि संस्थाओं के बजट पेश किये गए, जो थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ निम्न-प्रकार स्वीकार हुए।

वेद-प्रचार ३७५०४), आर्य्य-विद्यार्थी आश्रम ४५००), दलितोद्धार फण्ड १००००), गुरुकुल कांगड़ी तथा गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ १७२०१३). मुख्य कार्य्यालय ८०००), दयानन्द उपदेशक विद्यालय ६०००), लेखराम स्मारक [नि]धि २८००)

सत्यार्थ-प्रकाश की ज़ब्ती का यत्न—

गाज़ी महमूद धर्मपाल अपने आपको सर्व-साधारण के सामने लाने के नित नए उपाय सोचते हैं। उनका धर्म है सनसनी पैदा करना, और उस सनसनी के सहारे रुपया बटोरना। इन्हीं दिनों उनकी एक गुप्त चिट्ठी प्रकट हुई है, जो उन्होंने बड़े बड़े मुसलमान नेताओं और समुदायों को भेजी है। इस चिट्ठी से एक विस्तृत षड्-यन्त्र का पता चलता है। षड्-यन्त्र का उद्देश्य है, सत्यार्थ-प्रकाश के चौदहवें समुल्लास को ज़ब्त कराना। मौलवी अब्दुल अज़ीज पञ्जाब लैजिस्लेटिव कौंसिल के सर्दियों के अधिवेशन में इस मतलब का प्रस्ताव पेश करेंगे उक्त पत्र के पढ़ने से यह प्रतीत होता है।

हम जानते हैं कि इस षड्-यन्त्र से बनना कुछ नहीं। हां, धर्मपाल को अपने नए पुस्तक बेचने का अच्छा अवसर मिल जायगा। तो भी मुसलमानों और आर्य्य-समाजियों में वैमनस्य फैलने की बड़ी सम्भावना है। सत्यार्थ-प्रकाश पर इससे पूर्व भी कई वार किये जाचुके हैं, और वे सब खाली गए हैं। आर्य्य-समाजियों को इस नूतन वार को भी उसी धैर्य्य-पूर्ण वीरता से निष्फल करना चाहिये।

पण्डित यशःपाल जी आसाम में—

पाठक यह समाचार सुन चुके होंगे, कि लगभग १ मास हुआ, जब पण्डित यशःपालजी स्नातक वेद-प्रचार के लिये आसाम गए थे। अब वहांसे आए समाचारों से पता लगता है कि पण्डितजी ने बड़ी लगन और परिश्रम से कार्य्य प्रारम्भ कर दिया है। डिबरूगढ आदि १; २ स्थानों में समाज भी स्थापित कर दीगई हैं। हमें आशा है कि यदि पण्डितजी इसी तरह कार्य्य में लगे रहे, तो शीघ्र ही कृतकार्य्य होसकेंगे।

आर्य्य-वीर बाबू नारायणसिंहजी—

धर्मों का इतिहास धर्म पर बलिदान होनेवाले ऐसे ही वीर-पुरुषों की आहुतियोंसे भरा पड़ा है। अभी म० रामचन्द्रजी (जम्मू) के बलिदानके संस्कार हृदयों से दूर ही न हुए थे कि हमारे पास श्रीबाबू नारायणसिंहजी के धर्म पर बलिदान होनेका समाचार आपहुंचा है। आप पटना आर्य्य-समाज के प्रधान और इस प्रान्त में शुद्धि के सञ्चालक थे। इन्हीं कारणों से आप मुसलमानों की आंखों में बहुत खटक रहे थे। कहते हैं, कि पिछले साल भादों

आश्विन महीने में जब की मुसलमानों की ओर से यह घोषणा हुई थी की गणेश चौथ और देवी का जुलूस न निकलने पावेगा तब बाबू नारायणसिंह ने ही हिंदुओं को प्रोत्साहित कर दोनों त्यौहार धूमधाम से मनाये। गत अगहन और फागुन महीने में आर्य्य-समाज के उत्सव पर आप के उद्योग से पचासों नये मुसलिमों की शुद्धि हुई। इसी समय दो जन्म के मुसलमानों की भी शुद्धि की गई थी। कहते हैं, इन्हीं बातों से मुसलमान इन पर चिढ़े हुए थे और उन का काम तमाम करने का मौका देख रहे थे। गत मङ्गलवार के शाम को जब बाबू साहब अपने "टाल" से घर लौट रहे थे, कि हरिमन्दिर की गली में जो चौक थाने के पास ही है, ३० या ३५ आदमियों ने फर्सों और गंडासों से उन पर आक्रमण किया। निहत्थे बाबू साहब ने बड़ी वीरता से आक्रमण कारियों का सामना किया पर इतने हथियारबन्दों के सामने वे टिक न सके और लोहूलुहान होकर गिर पड़े। सूचना मिलने पर बाबू साहब के घर तथा अखाड़े के लोग उन्हें खाट पर लिटा अस्पताल ले गये। अन्त को १ बजे रात को बाबू साहब के प्राण निकल गए। मेडिकल परीक्षा के बाद दूसरे दिन १ बजे रथी निकाली गई। साथ लोगों की बड़ी भीड़ थी। शव संस्कार विधिवत् हुआ। कहते हैं, पुलिस इंसपेक्टर मौ० इशहाक ने इस मामले में बड़ी ढिठाई की है। इस हत्याकांड से पटने के हिंदुओं में हलचल मच गई है। वहां के हिंदू बाबू नारायणसिंह को अपना बड़ा भारी सहायक समझते थे।

अब प्रश्न है कि क्या इन बलिदानों को दृष्टि में रखते हुए शुद्धि और प्रचार का काम बढ़ेगा व शिथिल होता जायगा। ऐसे घृणित उपायों से किसी पवित्र काम को रोक देने का यत्न करना बड़ी सख्त गलती है। विरोधियों को याद रखना चाहिए कि उन के यह यत्न उन की अपनी जड़ों को खोखला कर रहे हैं। वीरों के खून से सिञ्चा हुआ कल्प वृक्ष कभी मुरझा नहीं सकता। अब देखना यह है कि क्या आर्य्य समाजें सार्वजनिक विराट सभाएं करके उन में प्रस्ताव ही पास करदेंगी वा कुछ काम की मात्र में भी बढ़ती होगी? हमें आशा है कि प्रस्ताव प्रस्ताव तक ही न रह जावेंगे किन्तु काम भी अधिक बल पूर्वक होगा।

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब लाहौर ।

शेष पत्र वेद प्रचार विभाग बाबत सं० १९८१ ।

निधि	शेष	जहां धन लगा हुआ है	शेष
वेद प्रचार	५९८०९=)१०	ऋण मयामल लालचन्द बटाला	२६५१॥।≈)॥।
दयानन्द सेवा सदन	१४१०)	,, वीरभानु सीताराम आदि	११४४।-)७
		मियां चन्नु	२३१६२॥≡)७
लेख राम स्मारक निधि	२८०७७।≈)५	,, जगन्नाथ आदि अमृतसर	४५९॥।≡)॥
विदेश प्रचार	२४९२८।=)८	,, आर्य्य समाज वज़ीराबाद	८३६४॥।≈)११
गुरुदत्त भवन आश्रम शाला	७६३४०॥-)॥।	,, ईश्वर दास आदि अबोहर	३३)४
गुरुकुल मुलतान	५११५॥।)	,, हरदयालु उपदेशक	५२॥≈)।
[illegible]	५९१३।≈)५	,, केसर चन्द भजनीक	११६४१।≡)॥
[illegible]	६३६४।) ११	,, आर्य्य विद्यार्थी आश्रम	६१४७।≈)७
[illegible] वैदिक पुस्तकालय	२७६)	,, डा० मथुरादास आदि मोगा	११५०॥)१
आर्य्य सामाजें	१७६६८॥।)५	एजेण्ट अकौंट	५३२९≡)
,, अन्य संस्थायें	१०६९०॥)७	अगाऊ	५००)
,, अंबालाल दामोदर दास	४०८४)	इम्प्रैस्ट	१४८८५॥।)॥
,, ईश्वर दास	६३६७॥।)।	शीश महल भूमि	५०००)
,, विद्यार्थी आश्रम	६४४)	शुजाहवाद भूमि	७६३३८॥≈)१०
कन्या गुरुकुल	१३४५१)	गुरुदत्त भवन आश्रम शाला	३२०६॥।≡)१
प्रेम देवी होम करण भण्डार	१५३४।)	सेन्ट्रल बैंक	२०६५-)५
[illegible]यानन्द व्याख्यान	१०७५॥।=)	पञ्जाब नैशनल बैंक Floting at	१६७६६८)१०
आचार सुधार	१३९९॥-)	,, F. D.	३६०४४२॥≈)।
अज्ञात निधि	१६८॥-)॥		
सभा के सेवकों की सहायता	५००)		
राजपूतोद्धार	८२७३-)।		
दलितोद्धार	६५६५।≈)१०		
मद्रास प्रचार	३८९=)		
विद्यार्थी आश्रम	—६६३।≡)८		
दयानन्द जन्म शताब्दी	८७८७॥।≡)।		
वसीयत पं० पूर्णानन्द	७५८७॥≈)॥।		
[illegible]चन्द्र स्मारक निधि	६१३।≡)॥।		
निहाल देवी जीन्दा राम	१३०३॥।=)१०		
दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय	१५८५४)		

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब लाहौर ।

शेष पत्र गुरुकुल विभाग बाबत सं० १९८१

निधि	शेष	जहां धन लगा हुआ है	शेष
आसाम प्रचार	१०७॥-)		
अण्डमन प्रचार	७०)		
व० स्वा० विद्यानन्द जानकी बाई	६१८॥)		
,, म० सोची रामजी	५०२५)		
दयानंद उपदेशक वि० स्थिरकोष	४००००)		
योग	३६०४४२॥≈)॥		
गुरुकुल महानिधि	३०५४३८।।।)।।।	गुरुकुल भूमि	१६३१३)
,, स्थिर छात्र वृत्ति	११५२१०॥≡)२	,, मकानात	१[illegible]
,, अस्थिर ,,	१२२३१०।-)॥	,, इन्द्रप्रस्थ मकानात	७७१[illegible]
,, आयुर्वेद	३०८६१॥≈)।	,, मायापुर भूमि	१२७४[illegible]
,, उपाध्यायवृत्ति	११५५४४-)११	,, अमरोहा ,,	१६००)
,, स्थिर कोष	८२८१=)	,, धर्म शाला कोठी	१७७०६)।।।
,, कन्या गुरुकुल इन्द्र प्रस्थ	—१८२०।≡)॥	,, शीश महल भूमि	३४७२३॥≈)
		,, भूमि रेलवे रोड लाहौर	२४४६५)
योग	६९५८३४।)१	ऋण चौ० रामकृष्ण देव बन्धु	६०००)
		,, चौ० ठाकुरदास धर्मशाला	१०६।’।
		,, डा० मथुरादास मोगा	१२२९४।।।)४
		,, म० बाबूराम लुध्याना	१०४३।।।)
		,, लाहौर बिजली कम्पनी	५००००)
		,, गुरुदत्त भवन	२७०००)
		डायमंड फ्लोर कम्पनी	१००)
		पञ्जाब कोआप्रेटिव बैंक	५०)
		आर्य्य कम्पनी	२०९)
		प्रामेसरी नोट	१०००)
		ट्रस्ट आफ इण्डिया	८००)
		पञ्जाब नेशनल बैंक	३४२६५०॥≡
		गुरुकुल धरोहर	—५४३१२।=
		कन्या गुरुकुल धरोहर	—१५०३[illegible]॥
		योग	६९५८३४।)१

Registered No. L. 1424.

रजिस्टर्ड नं० एल् १४२४

ओ३म्

भाग ७
अङ्क ८

दिसम्बर १९२५
मार्गशीर्ष १९८२

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तोऽराव्णः

ऋग्वेद।

हे प्रभु! हम तुम से वर पावें।
विश्व जगत् को आर्य्य बनावें॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें।
प्रीति-नीति की रीति चलावें॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

जगत्नारायण प्रिन्टर व पीब्लशर के अधिकार से विरजानन्द प्रेस लाहौर में छप कर प्रकाशित हुआ।

विषय सूची

विषय | पृष्ठ

"आर्य्य" के नियम ।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है। (डाकख़ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है)।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है। सभा ने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है।

३—इस पत्र में धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभा की सूचनाएं दर्ज होती हैं।

४—पत्र में प्रकाशित होने के लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख़ के पूर्व आजाने चाहियें।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के भीतर सूचना देने से वह अङ्क भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात् मंगवाने पर प्रति अङ्क ।=) देने पड़ेंगे।

* ओ३म् *

भाग ७] लाहौर–मार्गशीर्ष १९८२ दिसम्बर १९२५ [अंक ८

[दयानन्दाब्द १०१]

* प्रार्थना *

(लेखक श्रीहरि)

हे नाथ ! भारत वर्ष में, सुख शान्ति को सरसाइये।
आनन्द घन ! फिर भी वही, आनन्द रस बरसाइये ॥ ध्रुव ॥

जो विश्व विजयी था कभी, वह आज दास निरास है।
इस दासता से मुक्त होने, का सुपथ दरसाइये ॥ १ ॥

वह प्रेम की मन्दाकिनी, सब के हृदयतल में बहे।
फिर भी प्रभो ! उस पुराय परमानन्द को परसाइये ॥ २ ॥

निज धर्म का पालन करें सब वीर धीर गम्भीर हों।
जगदीश ! ईर्ष्या द्वेष कपटाचार वन झरसाइये ॥ ३ ॥

आलस्य जड़ता नींद में भारत बहुत दिन सो चुका।
"श्री हरि" इसे फिर कर्मगीता ज्ञान दे हरसाइये ॥ ४ ॥

मृत्यु के पश्चात् आत्मा की गति।

[ले० - श्री पं० विश्वनाथ आर्योपदेशक]

यह प्रश्न आजकल भारी समस्या बना हुआ है। प्रत्येक सम्प्रदाय की नींव इसी विचार पर खड़ी हुई है। इस प्रश्न को अनावश्यक समझने वाले पदार्थविज्ञों का ध्यान भी अब इधर आकर्षित हुआ है। प्रमुख नास्तिक प्रदेश योरुप में भी इस विषय पर भारी आन्दोलन होरहा है। वर्तमान सम्प्रदाय-संग्राम में जो धर्म इस समस्या को ठीक २ सुलझा देगा वही सर्वमान्य विद्वानों का आगामी धर्म होगा। अतएव इस विषय पर अन्य मत समालोचना पूर्वक वैदिक सिद्धान्त के महत्व पर कुछ लिखने की आवश्यकता समझी है।

स्वर्ग नरक का विचार

वेद और शास्त्रों का तो यही सिद्धान्त है कि जीव पुनर्जन्म धारण करता हुआ विगत पाप शुद्ध अन्तःकरण पूर्ण ज्ञानी होकर परमात्मा के सान्निध्य से मुक्ति प्राप्त कर लेता है परन्तु साधारण सुख तथा मुक्ति के लिये स्वर्ग, और दुःख का नाम नरक भी वेद शास्त्र में प्रयुक्त हुआ है। यथा—

अस्मात्त्वमधिजातोऽसि त्वदयं जायते पुनः
असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा। यजुर्वेद ३५-२२

अर्थ—इस (शरीर) से तू (जीव) प्रकट होता है। यह फिर तेरे से उत्पन्न होता है स्वर्ग लोक (मुक्ति) के लिये। परन्तु समय के परिवर्तन से पौराणिक समय में स्वर्ग और नरक विशेष लोक माने जाने लगे जहां जीव अपने कर्म-फल का भोग करके पुनः मर्त्य लोक में जन्म धारण करता है। और नवीन दार्शनिक विचार के अनुसार मुक्ति इन से पृथक् ब्रह्मरूपता मानी जाने लगी। अन्य सिद्धान्तों के सदृश भारत का यह विचार भी पश्चिमीय प्रदेशों में फैलकर तत्कालोत्पन्न सम्प्रदायों के मूल सिद्धान्त के रूप में परिणत हो गया। परन्तु इतना भेद हो गया कि यह स्वर्ग और नरक को सदा के लिये मानने लगे। और पौराणिक स्वर्ग को ही यह मुक्ति मानने लगे। इस के साथ ही स्वर्ग नरक लोक के

पदार्थों में भी देश कालानुसार थोड़ा सा भेद होगया। आजकल मुसलमान ईसाई यहूदी पारसी आदि इसी प्रकार मानते हैं।

इन के विचार में आत्मा मरकर कबर में ही रहता है और क़यामत को उसी शरीर में जीवित होकर अपने कर्मानुसार सदा के लिये स्वर्ग (बहिश्त) वा नरक (दोज़ख़) में जा पड़ता है। यदि इस सिद्धान्त को तर्क की कसौटी पर परखा जावे तो यह सर्वथा मिथ्या प्रतीत होता है (१) मृत्यु के पश्चात् शरीर के परमाणु सुरक्षित नहीं रह सकते। एक मनुष्य-शरीर नदी में डूब गया, वह मछली ने खाया और उस के शरीर का एक अङ्ग बना। पुन उस को किसी मांसाद मनुष्य ने खाया और वही परमाणु उसके शरीर में परिणत हो गये। अब क़यामत में परमात्मा उन्हें कहाँ कहाँ ले जायेगा। और मनुष्य-शरीर आयु में ११ बार परिवर्त्तित होता है। क़यामत में कौनसा शरीर जीवित होगा। यदि कोई भी जीवित होगा तो शेष १० शरीरों का कर्म फल भोगना अन्यथा सिद्ध होगा। (२) परिमित कर्मों का अपरिमित फल भी न्याय नहीं है और स्वर्ग प्राप्त आत्मायें अपने कुकर्मों का फल नहीं भोग सकेंगी। यदि परमात्मा की दया कहो तो वह विना कर्म के ही स्वर्ग क्यों नहीं भेज देता? (३) नरकवासी जीवों को भी सदा का दुःख देना और उनके सुकर्मों का फल न देना अन्याय और घोर कठोरपन तथा दण्ड के नियम के विरुद्ध है। क्योंकि दण्ड का अभिप्राय सुधार होता है न कि सदा के लिये दुःखसागर में डाल देना (४) बहिश्त का नक्शा ऐसा घृणित है कि सर सय्यद तक ने इसे वेश्याओं का चकला नाम दिया है। अतएव यह सिद्धान्त और वह सम्प्रदाय जिन की मुक्ति का यह स्वरूप है विद्वानों को कभी ग्राह्य नहीं हो सकते।

कतिपय लोग आर्यसमाज पर यह आक्षेप करते हैं कि प्राचीन आर्यों का भी यही सिद्धान्त था, परन्तु अब स्वामी जी ने आक्षेप से बचने के लिये दुःख का नाम नरक और सुख का नाम स्वर्ग रख लिया है। इस के निवारणार्थ निम्न प्रमाणों का देखना आवश्यक है।

> पुदिति नरकस्याख्यं दुःखं च नरकं विदुः।
> पुत्तस्त्राणात्ततः पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च॥
> इति बौधायन आह। एतरेय ब्राह्मण आनन्दाश्रम पूना पृ० ६३६

अर्थ—पुत् नरक को कहते हैं और नरक दुःख का नाम है इस से पुत्र बचाता है अतएव पुत्र की इच्छा करते हैं।

द्रव्याणां कर्म संयोगे गुणत्वेनाभि संबन्धः। मीमांसा ६।१।१
शबरभाष्य। ननु स्वर्ग शब्दो लोके प्रसिद्धे विशिष्टे देशे
यस्मिन्न उष्णं न शीतं न क्षुत् न तृष्णा न अरति
न ग्लानिः पुण्य कृत एव तत्र गच्छन्ति नान्ये।
अत्र उच्यते। यदि तत्र केचिद् मृत्वा गच्छन्ति
तत आगच्छन्ति अजनित्वा तर्हि स प्रत्यक्षो देश
एवं जातीयकः न तु अनुमानाद् गम्यते॥

अर्थ—स्वर्ग शब्द से प्रसिद्ध विशेष लोक ग्रहण किया जाता है जहां शीतोष्णादि कोई दुःख नहीं और जहां पुण्यकृत लोग जाते हैं। यह तब सिद्ध हो जब कि वहाँ कोई जाकर पुनः आकर वर्णन करे। अनुमान से सिद्ध नहीं हो सकता। पुनः लोगों में प्रसिद्ध कथाओं में कि अमुक सिद्ध स्वर्ग ले फिर आया था का उत्तर देते हैं:—

आख्यानमपि पुरुष प्रणतित्वात्।

कथाएँ भी लोगों की बनाई हैं। द्रव्यों का कर्म विषयक संयोग में गौण सम्बन्ध है—अतएव कोई द्रव्य विशेष स्वर्ग नहीं। साधक होने से द्रव्यों में उपचार से स्वर्ग शब्द पाया जाता है।

इमं भौमं नरकन्ते। महा० आदि पर्व ९०। ४ नीलकंठ टीका
नरकं भू लोकम्। पृथिवी लोक को ही नरक कहा है और

पुण्यां योनिं पुण्यकृतो व्रजन्ति पापां योनिं पापकृतो व्रजन्ति। ९०।१९ श्वयोनिं वा सूकरयोनिं चाण्डालयोनिं पापयोनिं भजन्ति ब्रह्मयोनिं क्षत्रयोनिं वेति पुण्यां योनिं भजन्ति॥

अर्थ—कुत्ता सूकर चाँडालादि पाप योनि और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादि पुण्य योनि हैं।

अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते। भागवत

अर्थात् कपिल अपनी माता देवहूती को कहते हैं 'यहीं स्वर्ग और नरक है।'

आत्म लोक।

इस स्वर्ग नरक के झमेले से छूटने के लिये वर्त्तमान युग में एक नये सिद्धान्त का आविष्कार हुआ है, कि आत्मा मर कर एक विशिष्ट आत्म लोक में चला जाता है और वहां अपने पापों की निवृत्ति कर सदा के लिये मुक्त होजाता है। इस सिद्धान्त के मानने वाले नास्तिक आस्तिक दोनों ही हैं। और स्वर्गवादी सम्प्रदाय भी अपने स्वर्ग नरक को अब इसी लोक से उपमा देने लगे हैं। और आत्म-लोक के विशेषज्ञ तो मृत आत्माओं से वार्तालाप की घोषणा देने लगे। यह क्या आडम्बर है, आवश्यकता होने पर कभी फिर लिखा जावेगा। यहां केवल इतना बताना है कि यह सिद्धान्त भी समीचीन नहीं। भला आत्म लोक में यदि पाप निवृत्त होकर सर्वथा उन्नति होसकती है तो केवल एक बार के लिये इस मृत लोक में आने की क्या बड़ी आवश्यकता पड़ती थी? अतएव पुनर्जन्म का सिद्धान्त न केवल शास्त्र सम्मत ही है प्रत्युत डोरासन जर्मन फिलासफरों के कथनानुसार—

"सत्य असत्य विवेक की जो शक्ति हमारे आत्मा में रखी गई है
यह सिद्ध करती है कि 'न केवल आत्मा नित्य है, प्रत्युत कई
जन्मों से गुज़र कर उन्नति के शिखर पर पहुंचता है।"
यही बात उपर्युक्त वेदमंत्र ने बताई है। यही बात भगवद्गीता
में भी लिखी है कि —

अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्॥

मृत आत्मा का शरीरान्य प्रवेश।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि आत्मा मर कर दूसरे शरीर में कब और कैसे प्रवेश करता है? यद्यपि पुराणों ने इस विषय में बहुत से आडम्बर रच दिये हैं परन्तु वेद और सच्छास्त्रों का सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र त्याग कर नये वस्त्र पहन लेता है इसी प्रकार जीव दूसरा देह धारण करता है। यद्यपि इस में समय कुछ लगता ही है परन्तु वह समय पुराण लिखित कोई नियत नहीं और नांही मार्ग में किसी स्थान विशेष पर ठैरना पड़ता है। वेद कहता है-

यस्ते शोकाय तन्वं रिरेच क्षरद्धिरण्यं शुचयो नुस्वाः।
अत्रादधे तें अमृतानि नाम स्मे वस्त्राणि विश रारयन्ताम्॥ अथर्व०।५।१।३॥

अर्थ—वस्त्रों के समान आत्मा शरीरों को धारण करता है जिस में हर्ष शोक धन पवित्रादि प्राप्त करता है।

आ यो धर्माणि प्रथमं ससाद ततो वपूंषि कृणुते पुरूणि। अथर्व०।५।१।२।

अर्थ—आत्मा ने जैसे कर्म किये हैं, देह त्याग के पश्चात् तदनुसार बहुत से शरीरों में प्रवेश करता है।

वसांसि जीर्णानि यथा विहाय। गीता०।

अर्थ—पुराने वस्त्र को त्याग नये वस्त्रों के पहनने के सदृश जीव अन्य शरीर धारण करता है।

तद्यथा तृण जलायुका तृणास्यान्त गत्वा ॥ उपनिषद्।

अर्थ—जीवात्मा घास के कीड़े की तरह एक साथ ही पूर्व शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर को ग्रहण कर लेता है।

आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम्।
सम्भवत्येव युगपद्योनौ नास्त्यन्तराभवः महाभारत—बन १८३-७७

अर्थ—आत्मा क्षीण प्राय शरीर को छोड़ कर उसी समय दूसरा शरीर धारण कर लेता है। इस में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता।

देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते तनुः। भा०।१०।१।३९॥

अर्थ—जीव कर्मानुसार दूसरे शरीर के निश्चित् होजाने पर ही पूर्व शरीर को विवशता से छोड़ता है। आश्चर्य है कि एक ओर पुराण यम मार्ग का अडम्बर रचते हैं, दूसरी ओर वैदिक सिद्धान्त को कहने लग जाते हैं।

जीव देहान्तर में कैसे प्रविष्ट होता है ?

यह स्मरण रखना चाहिये कि यह लोकोक्ति सर्वथा मिथ्या है कि शरीर त्याग के समय जीवात्मा अत्यन्त दुःख अनुभव करता है। तथा माता के गर्भ में उलटा लटकता हुआ भी कष्ट भोगता है। दोनों अवस्थाओं में जीव सुषुप्ति अवस्था में होने के कारण कुछ भी कष्ट नहीं सहता। और नांही जैनियों के कथनानुसार

स्वयमेव अन्य शरीर में प्रविष्ट होने की शक्ति रखता है। इस सिद्धान्तानुसार कर्म फल का सिद्धान्त उड़ जाता है। भला अपने आप कोई चोर कारग्रह में कैसे चला जावेगा ? अतः शास्त्रों का सिद्धान्त यह है कि—

संयोग हेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥ उपनिषद्

अर्थ—जीवात्मा ईश्वर प्रेरणा से ही दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। और यह विचार भी असत्य ही है कि "जितने दाने अन्न दे जीवां बाय न कोय" अर्थात् बीज में पहले ही जीव प्रविष्ट होता है। इस तरह भी कर्म फल की मर्यादा टूट जाती है। क्योंकि वीर्यक्षेप पुरुष की स्वतंत्रता पर होता है। अतः जैसा कि वैद्यक शास्त्र में उल्लेख हुआ है—

शुक्रार्तव समाश्लेषो यदैव खलु जायते ।
जीवस्तदेव विशति युक्तशुक्रार्तवान्तरे ॥

अर्थ—जब शुक्र अर्थात् वीर्य और रज का मेल होता है, उसी समय जीव शरीर में प्रविष्ट होता है।

चाहते है !

(दलपति शास्त्री सिद्धान्त शिरोमणि दयानन्द उपदेशक विद्यालय)

दयामय ! तुम्हारी दया चाहते हैं।
कुकर्मों की ईश्वर ! त्रपा चाहते हैं॥

अविद्यान्ध तामिस्र छाया जगत् में।
शुभज्ञान भानु प्रभा चाहते हैं॥

धरम धन लुटा जारहा नाथ जग से।
परम धर्म अमृत प्रपा चाहते हैं॥

असुर राक्षसों ने भुलाया भले को।
असुर नाश हे विश्वपा चाहते हैं॥

भक्त की भावना।

(लेखक—श्री० धर्मदत्त सिद्धान्तालङ्कार)

अन्धकार से परे तुम्हीं तो परम धाम कहलाते हो।
सूर्यों के भी सूर्य तुम्हीं हो ज्योतिर्मय दिखलाते हो॥
महादेव हो, सब देवों के त्राता तुम को पाते हैं।
देव! तुम्हारे चरणों पर हम प्रेमभाव से आते हैं॥

ज्ञानमयी गंगा के तुम ही आदि स्रोत कहलाते हो।
ज्ञान सूर्य हो चहुं दिस अपनी किरणों को फैलाते हो॥
देव! तुम्हारी ये किरणें हम सब को राह दिखाती हैं।
और तुम्हारे श्री चरणों की ओर हमें ले जाती हैं॥

देवों में तुम सुन्दरतम औ महाबली कहलाते हो।
मित्र, वरुण, औ अग्नी के भी सञ्चालक कहलाते हो॥
द्यु, पृथिवी, औ अन्तरिक्ष में चहुंदिस हो तुम व्याप रहे।
जड़ चेतन सब जग में तुम ही प्राण रूप हो बैठ रहे॥

मधुर प्रेमयुत वाणी से हम तुम को नाथ बुलाते हैं।
और तुम्हें अपने हृदयों के आसन पर बिठलाते हैं॥
चक्षु रूप हो तुम सब जग के सब को राह दिखाते हो।
देवजनों के हृदयों में तुम विमल रूप में आते हो॥

सौ वर्षों तक तुम को देखें, सौ वर्षों तक जी पावें।
सौ वर्षों तक तुम्हें सुनें, और नाम तुम्हारा ही गावें॥
सौ वर्षों तक नहीं किसी के दीन कभी हम हो पावें।
सौ वर्षों के पीछे भी हम ध्यान तुम्हारा कर पावें॥

—'सन्ध्या सङ्गीत'

दिल का दर्द ।

[एक सच्ची घटना के आधार पर]

(लेखक—श्रीयुत गुप्त)

प्रथम दृश्य ।

(समय—प्रातःकाल । स्थान—एक बड़े मकान का आंगन । एक दरी बिछी हुई है, उसके एक किनारे पर कम्बल बिछाकर स्वामी दयानन्द बैठे हुए हैं । बड़े ज़ोर से सरदी पड़ रही है, उनके शरीर पर सिवाय एक लम्बे झोले के और कोई वस्त्र नहीं है । दरी पर गरम कोट, कम्बल, जराबें, दस्ताने आदि पहने हुए बहुत से आदमी बैठे हैं)

स्वामी दयानन्द—भीमसेन ! वह कौन प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं जो ईसाई हो जाना चाहते थे ?

भीमसेन—(एक आदमी की ओर इशारा कर के) गुरुदेव, वह महानुभाव यह बैठे हैं । इन का नाम किशोरीलाल है, यह नगर के सब से बड़े सेठों में से हैं । थोड़े ही दिनों में अपने परिवार सहित ईसाई धर्म में प्रविष्ट हो जाने की इन की इच्छा है ।

स्वामी दया०—भाई किशोरी लाल ! आप ने संस्कृत पढ़ी है ?

किशोरी०—नहीं, महाराज ।

स्वामी दया०—आप को सनातन वैदिक धर्म का कितना ज्ञान है ?

किशोरी०—कुछ विशेष नहीं ।

स्वामी दया०—आपने अपने धार्मिक ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ सुना है ?

किशोरी०—बहुत तो नहीं, परन्तु पण्डित जी के मुंह से भागवत और महाभारत की कथा कई बार सुनी है ।

स्वामी दया०—आत्मा, परमात्मा और प्रकृति के संबंध में आपके क्या विचार हैं ?

किशोरी०—महाराज, इस प्रश्न पर मैंने कभी विचार नहीं किया ।

स्वामी दया०—प्राचीन वैदिक सभ्यता से आप क्या मतलब लेते हैं ?

(किशोरी लाल चुप रहते हैं)

स्वामी दया०—आप ने ईसाई धर्म में क्या विशेषता देखी है ?

किशोरी०—महाराज, हिन्दू लोग बड़ी जहालत में पड़े हुए हैं। सारी हिन्दू जाति अन्दर से बिल्कुल खोखली हो चुकी है। अनाथों और विधवाओं पर असंख्य अत्याचार हो रहे हैं। तिस पर भी जात-पात, संस्कार, दहेज आदि की प्रथाएं नाक में दम किये रहती हैं। इन सब बुराइयों से बचने का और कोई उपाय मुझे प्रतीत नहीं होता।

स्वामी दया०—देखो भाई किशोरी लाल, एक अच्छे भले जवान के लिये ज़रासा बीमार होजाने पर आत्मघात कर लेना सब से बड़ी कायरता है। अगर आर्यजाति अपने असली कर्म से परे हटकर दुःखी हो रही है तो उसे ठीक मार्ग पर लाने के लिये यत्न करना ही बुद्धिमत्ता है। मैं समझता था कि ईसाइयत में किन्हीं उच्च सिद्धान्तों को पाकर आप ईसाई होजाना चाहते हैं। मुझे बताइये, आप ईसाई होकर अपना या अपने भाइयों का क्या उपकार कर लेंगे। आप के ईसाई हो जाने से क्या आप की जाति में से सब बुराइयां निकल जायंगी? आप सोचते होंगे कि कम से कम आप तो इन बुराइयों से बच जावेंगे। परन्तु यह आपका भ्रम है। अगर आप चाहें तो अपने सनातन धर्म पर दृढ़ रहते हुए आप बहुत ही सुगमता से इन बुराइयों से बच चकते हैं। आप आर्यजाति की प्राचीनता और ऊंची सभ्यता पर आत्माभिमान अनुभव कीजिये। (कुछ देर के लिये चुप होकर वह फिर कहने लगते हैं) मुझे आश्चर्य है—क्या आप को अपने अहिंसा के सिद्धांत से घृणा हो गई है? अथवा अपनी प्राचीन सभ्यता आप को व्यर्थ मालूम पड़ने लगी है। अगर आप के दिल में हिन्दुओं की दुर्दशा के लिये दुःख और सहानुभूति है तो आइये, मैं आपको निमन्त्रित करता हूं, इन्हें अज्ञानान्धकार से निकालने में आप मेरा साथ दीजिये।

(किशोरी लाल कोई उत्तर नहीं देते।)

स्वामी दया०—बताइये क्या विचार है?

किशोरी०—महाराज, मैं अपना धर्म परिवर्तित नहीं करूंगा। मेरे उद्धार के लिये आप का आशीर्वाद चाहिये।

स्वामी दया०—तुम्हीं अपने सबसे बड़े शिक्षक हो। उस परम पिता को हर समय साक्षी रखकर स्वयं अपने पर शासन करो, संसार की कोई शक्ति

तुम्हें अपने धर्म से ज़रा भी हटा न सकेगी। ईश्वर तुम्हें बल दे।

किशोरी०—(कुछ देर चुप रहकर) महाराज, आज रात को मेरे अभागे घर में भोजन से मुझे कृतार्थ कीजिये।

स्वामी दया०—भोजन के सम्बन्ध में भीमसेन से पूछिये। वह जहां मेरा प्रबन्ध करेगा, मुझे उस से इन्कार नहीं होगी (घड़ी देखकर) स्वाध्याय का समय हो गया।

(उठकर अन्दर चले जाते हैं)

किशोरी०—पंडित जी, दास की प्रार्थना स्वीकार हो।

भीम०—गुरु महाराज आठ बजे भोजन किया करते हैं, उस समय में उन्हें साथ लेकर आप के यहां आजाऊंगा।

किशोरी०—आपका अनुग्रह।

(सब जाते हैं।)

[द्वितीय दृश्य]

(समय—सांयकाल। स्थान—गंगातट। स्वामी दयानन्द अकेले साधारण चाल से टहल रहे हैं। गंगा के निर्मल जल को वह स्थिर दृष्टि से देख रहे हैं।)

स्वामी दयानन्द—यह पवित्र भागीरथी कितनी सुन्दर है। हमारे प्राचीन ऋषि कितने पवित्र स्थान पर निवास किया करते थे। एक स्वच्छ जल वाली विशाल काय नदी वेग से बही चली जा रही है, नदी के दूसरे पार घना जंगल है, बिल्कुल सन्नाटा है। ईश्वर की इस महान सृष्टि में कितनी सुन्दरता, शान्ति और प्रसन्नता भरी हुई है। जी चाहता है यह सब टंटे छोड़ कर फिर से इन्हीं जंगलों में भटका फिरूं। शान्ति पूर्वक अपनी महान साधना में रम जाऊं। (इतने में नदी के दूसरे पार मोर बोलता है, स्वामी दयानन्द कुछ देर तक चुपचाप खड़े होकर उसका मधुर कण्ठ स्वर सुनने लगते हैं। फिर वह कहने लगते हैं) ओह, भारत माता का प्राकृतिक सौन्दर्य अब भी वही है। यह सस्य श्यामला भूमि आज भी उतनी ही महिमा शालिनी है—जितनी कि आज से हज़ारों वर्ष पूर्व थी। यह सब वही है। परन्तु इस गौरव शाली देश में बसने वाली वह प्राचीन आर्य जाति आज "वही" नहीं रही! (वह कुछ चिन्तित से होकर चुपचाप धीरे २ टहलने लगते हैं) वह सामने दूर पर तीर्थ के मन्दिरों के बड़े २ कलश दीख रहे हैं।

आज एकादशी स्नान है।। चलूं, देखूं वहां क्या हो रहा है।
(वह उसी ओर चल देते हैं)

(पर्दा बदलता है। बहुत बड़ी भीड़ थोड़े से स्थान में स्नान कर रही है। उसमें स्त्री और पुरुष दोनों शामिल हैं। पण्डे और ब्राह्मण अपने यजमानों को स्नान करवा रहे हैं। स्वामी दयानन्द ऊपर से खड़े होकर यह दृश्य देख रहे हैं। स्नान भूमि के पास ही एक अन्धेरे स्थान पर दो तीन युवा कन्याएं केवल गीली धोतियां पहिन कर बैठी हैं। एक ब्राह्मण भी उन्हीं के पास बैठे हैं। उन कन्याओं के पिता का देहान्त हो चुका है, ब्राह्मण देवता उन्हीं के सम्बन्ध में कोई क्रिया काण्ड कर रहे हैं। ब्राह्मण देवता के भाव अच्छे प्रतीत नहीं होते। वह रह रह कर जो चेष्टाएं दिखा रहे हैं वे अश्लील हैं। अचानक स्वामी दयानन्द की नज़र उस ओर पड़ती है, वह कांप उठते हैं। इसके बाद वह शीघ्रता से एक ओर चले जाते हैं।

[तृतीय दृश्य]

(स्थान—शहर के बीच का एक बड़ा मकान। समय—रात्री का प्रथम प्रहर। बरामदे में सेठ किशोरीलाल उनकी धर्म पत्नी और दो पुत्र बैठे हैं। पास ही भोजन का प्रबन्ध है।)

किशोरीलाल—बड़े भारी महात्मा हैं! गज़ब के पण्डित हैं! जब वह बोलते हैं तो सुनने वाले को मन्त्र मुग्ध सा कर लेते हैं। जान्हवी! आज का दिन हमारे लिये बहुत ही अहोभाग्य का है। आज वह महात्मा हमारे अतिथि हैं। खूब खातिरदारी और श्रद्धा से उन्हें भोजन परोसना।

जान्हवी—बहुत देर हो गई, वह अभी तक नहीं आये।

किशोरी०—किसी काम से उन्हें देर हो गई होगी। जनक को उन्हें लाने के लिये भेजा था, उस के साथ आते ही होंगे।

जान्हवी—वह महात्मा यहां और कब तक रहेंगे?

किशोरी०—उन्हें सिर्फ एक ही धुन है, एक ही फिकर है, वह है आर्य सभ्यता का उद्धार किस प्रकार हो। इसके लिये उन्हें जहां जाना होगा वहां जांयगे यहां अगर उन्होंने अपनी और अधिक आवश्यकता अनुभव की तो वह कुछ दिन और भी रहेंगे।

(जनक आता है। सब उसकी ओर देखने लगते हैं)

जनक—पिता जी, वह अपने स्थान पर नहीं हैं। पण्डित जी का कहना है कि वह प्रतिदिन इस समय तक अवश्य अपने स्थान पर वापिस आ जाया करते

थे, आज न मालूम क्यों इतनी देर हो गई। अकेले सैर पर गये थे, अभी तक वापिस नहीं आये। पण्डित जी ने कहा है कि जब वह वापिस आ जायंगे तो मैं स्वयं उन्हें अपने साथ लेता आऊंगा।

किशोरी०—(घबरा कर) अच्छा! अभी तक वापिस नहीं आये! बहुत से अज्ञानी पुरुष उनके शत्रु हैं, ईश्वर कुशल करे।

(सब चुप रहते हैं)

किशोरी०—आओ जनक, फिर उनके स्थान पर चलें।

(दोनों जाते हैं।)

[चतुर्थ दृश्य]

(समय—आधी रात। स्थान—गंगा तट का एकान्त रेतीला किनारा। एकादशी का चांद आकाश के बीच में प्रकाशित हो रहा है। रेत पर स्वामी दयानन्द घुटनों में मुंह देकर सिर झुकाये हुए सिसक २ रो रहे हैं। उन्होंने अपना चोला उतार कर एक ओर रख दिया है। एक लंगोट को छोड कर उनके शरीर पर और कोई वस्त्र नहीं है। सख्त सरदी पड़ रही है। गंगा की धारा से घना कुहर उठ रहा है। चारों ओर बिल्कुल सन्नाटा है। वह धीरे २ प्रार्थना कर रहे हैं।)

स्वामी दयानन्द—दयामय! ये लोग नासमझ हैं, तू इन्हें सुबुद्धि प्रदान कर! इस हतभाग्य जाति ने ऐसा कोनसा कार्य किया था जिसके लिये कि आज उसकी यह दुर्दशा होरही है। पिता! क्या तेरी असीम दया का एक कण भी इस अभागी आर्यजाति को नहीं मिलेगा।

(वह फिर सिर झुकाकर रोने लगे। बहुत देर बाद वह फिर कहने लगे।)

ओफ़, कितना अधःपतन है! प्राचीन ऋषियों की सन्तान, अपने को अब भी ब्राह्मण कहकर पुजवानेवाले लोग अपनी जाति की आर्य पुत्रियों से ही इस प्रकार का कुत्सित व्यवहार करते हैं कितना लज्जाजनक दृश्य है। हाय, धर्म के नाम पर इस लोक का सब से बड़ा पाप खुले रूप में किया जारहा है,—कितना बड़ा ढोंग है? अब तक मैं समझता था कि आर्यत्व तो नष्ट हो गया, परन्तु हिन्दू जाति के रूप में उसका ढांचा अवश्य बचा हुआ है, परन्तु आज मालूम हुआ कि हाय, वह ढांचा भी अब बाकी नहीं बचा है।

(वह चुप होकर गंगा की बड़ी बड़ी लहरों में पड़ते हुए चांद के प्रतिविम्ब को देखने लगे। इसी समय कुछ अस्पष्ट सा गाना सुनाई पड़ता है।)

स्वामी दया०—(चौंक कर) यह कौन गा रहा है ?

(थोड़ी देर में कुछ गंवार गाते गाते प्रवेश करते हैं। स्वामी दयानन्द के पास पहुंचते ही विस्मय से उनका गाना बन्द हो जाता है। वे धीरे धीरे आपस में बातें करने लगते हैं।)

१ गंवार—अरे यह कौन है ?

२ गंवार—सचमुच ! अरे यह कौन है ?

३ गंवार—भूत।

(सब चुप हो जाते हैं, थोड़ी देर में एक और गंवार बोल उठता है।)

४ गंवार—पागल होगा।

(इसी बीच में वे कुछ दूर निकल जाते हैं। कुछ दूर होते ही वे फिर से अपना गान प्रारम्भ कर देते हैं।)

स्वामी दया०—ये लोग कितने अबोध हैं। इन्हें अपनी अवस्था का ज्ञान ही नहीं है। देवस्वरूप प्राचीन भारत बिल्कुल दीन होकर, कङ्गाल बनकर विलाप कर रहा है, उस के आर्तनाद से यह नदी, ये जङ्गल, यह पहाड़ सब पूरी तरह प्रतिनादित हो चुके हैं, परन्तु ये भारत के अपने पुत्र इस प्रकार मस्ती में चले जा रहे हैं—मानो कुछ हुआ ही नहीं है, मानो इन में जीवन ही नहीं है।

(इसी समय उन्हें फिर से वही दृश्य याद आजाता है और वह गंगा की ठण्डी रेत पर लेटकर शोक पूर्ण गम्भीरता से कुछ सोचने लगते हैं।)

[पञ्चम दृश्य]

(समय—प्रातःकाल। स्थान—स्वामी दयानन्द का निवासगृह। स्वामी दयानन्द बरामदे में एक कुर्सी पर बैठे हैं। नीचे दरी पर— भीमसेन, किशोरी लाल, जनक तथा कुछ अन्य व्यक्ति बैठे हुए हैं। सब लोग चुप हैं: स्वामी दयानन्द आज बहुत उदास प्रतीत होरहे हैं।)

भीम०—(बड़े विनय से) गुरुदेव, रात को बड़ी देर तक घह आप की प्रतीक्षा करते रहे। हम सब लोग सचमुच बहुत घबरा रहे थे।

स्वामी दया०—हां, किशोरी लाल ! मुझे क्षमा करो। कल सायंकाल एक ऐसी घटना हो गई, जिस से मेरा हृदय अभी तक उदास है। मैं बाधित होकर तुम्हारे यहां नहीं आ सका।

किशोरी०—महाराज ! मैं तो आप के चरणों का दास हूं।

(स्वामी दयानन्द एक ठण्डा श्वास लेकर चुप ही रहते हैं। सारी सभा में फिर से सन्नाटा छाजाता है।)

दुनियां में बौद्ध धर्म का प्रचार कैसे हुआ ?

ले० – श्री अङ्गिरा विद्यालङ्कार तिलक स्कूल आफ पालिटिक्स, लाहौर ।

इस समय संसार में बौद्ध-धर्मावलम्बियोंकी संख्या सब से अधिक है। ढाई हज़ार साल गुज़र गये, एक भारतीय तपस्वी सन्यासी ने जिस प्रेम-धर्म का नाद उठाया था, वह नाद संसार को एक तिहाई जनता के कानों में आज भी गूञ्ज रहा है। और यदि मध्य एशिया की नवीन ऐतिहासिक खोजों के आधार पर यह मान लिया जावे कि ईसाई मत के आदि प्रवर्तक की धार्मिक उत्तेजना का मूल स्रोत लघु एशिया के बौद्ध प्रचारक ही थे तो कहना होगा कि लगभग सारा संसार वस्तुतः उसी महापुरुष के अध्यात्मिक सन्देश का पुजारी है ; और जिस धर्म को वह महापुरुष सार्वभौम धर्म बनाना चाहता था वह सार्वभौम धर्म बन चुका है।

कोई समय था जब सारा एशिया इसी धर्म में दीक्षित हो चुका था-इस्लाम की क्रूर तलवार इस की जड़ नहीं काट सकी। यद्यपि भारत में इस समय बौद्ध धर्म का नाम शेष नहीं रहा किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस बात से इन्कार नहीं किया जासकता कि आधुनिक हिन्दू धर्म पर बहुत कुछ बौद्ध धर्म की छाप है।

स्वभावतः प्रश्न उठता है कि बौद्ध धर्म की इस भारी सफलता के क्या कारण हैं ? संसार भर में उस के फैल जाने तथा ढाई हज़ार वर्ष के लम्बे अरसे के बाद भी इतना प्रचलित होने के क्या कारण हैं ? संसार में अन्य धर्मों के भी बड़े २ प्रचारक हुए । वे भी महापुरुष थे—उन्हों ने भी संसार के सामने अद्भुत त्याग का दृष्टान्त रखा, वे भी संसार के लिये एक पवित्र तम सन्देश लेकर उतरे थे। ईसा, मुहम्मद, शंकर, नानक और चैतन्य ऐतिहासिक काल के महापुरुष थे इस बात से कौन इन्कार कर सकता है। वर्तमान काल में ही लीजिये–राजा राममोहन राय और महर्षि दयानन्द किस से कम थे ? परन्तु ये उस सफलता तक क्यों नहीं पहुँच सके ? इन्हों ने अपने २ समय में एक अलौकिक चमत्कार सा दिखाया था। संसार के अन्दर इन्हों ने एक हलचल पैदा करदी थी। अपने समय में इन लोगों ने संसार की लहर को बदल दिया था। परन्तु हम देखते हैं कि बहुत कम को ऐसे योग्य अनुयायी मिल सके जैसे बुद्ध को मिले थे। इतना ही नहीं--जिस हद तक इन महापुरुषों को योग्य अनुयायी मिले उसी हद तक उन का सन्देश भी संसार में फैल सका। ऊपर लिखित महापुरुषों में से सब से अच्छे

अनुयायी ईसा को मिले। ईसा के अनुयायी अपने तन मन धन का पूर्ण उत्सर्ग कर मनुष्य मात्र की सेवा के लिये उतर पड़े। ईसाई मिशनरियोंने अपने प्राणों का मोह छोड़ कर उन उन प्रदेशों में पाँव धरा जहाँ लोग उन के प्राणों के प्यासे होकर बैठे थे—वहाँ उन्होंने कर्तव्य और मनुष्य-सेवा की बलिवेदी पर हंसते २ अपने प्राण उत्सर्ग कर दिये। यूरोप में ईसाई प्रचारकों को जिस कठोर परीक्षा में से गुज़रना पड़ा था, उस का परिणाम यह है कि आज सारा यूरोप इसाई धर्म में दीक्षित है।

बौद्ध प्रचारकों को भारत में तथा भारत से बाहिर किन किन यन्त्रणाओं में से गुज़रना पड़ा था। इतिहास ने उन के कष्टों की इस पवित्र स्मृति को प्रायः भुला दिया है। परन्तु हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि आज तक जैसे अच्छे प्रचारक बौद्ध धर्म को मिले उतने अच्छे किसी भी धर्म को प्राप्त नहीं हुए। बौद्ध प्रचारक जिस प्रकार उच्च आदर्श से प्रेरित हो कर अपने भौतिक व सांसारिक सुखों पर लात मार कर मनुष्यमात्र की सेवा के लिए अपने जीवन उत्सर्ग कर देते थे, उस के उदाहरण अन्यत्र कठिनता से मिलेंगे। बौद्ध 'संघ' की सुदृढ़ रचना, संघ का अपने सदस्यों पर कठोर नियंत्रण और भिक्षुओं का संघ के प्रति आदर भाव ये सब बातें सामाजिक जीवन के लिए अनुकरणीय हैं। परन्तु इन सब के अतिरिक्त संघ के सदस्य अपने ऊपर जो कठोर बन्धन स्वेच्छा पूर्वक डाल लेते थे वह आज कल किसी भी उच्च आदर्श की सिद्धि के लिये जीने वाली संस्था के लिए आदर्श हैं। विशेष कर जो संस्थायें संसार में धर्म के प्रचार और मनुष्य मात्र की सेवा का दम भरती हैं, उन के सदस्यों व प्रचारकों के लिये विशेष मनन करने योग्य हैं। बौद्ध ग्रन्थों में संघ के कठोर नियन्त्रण व तपस्यामय जीवन के अनेक उदाहरण मिलते हैं उन में से यहां हम दो तीन देना चाहते हैं:—

१—जब कोई व्यक्ति भिक्षु-धर्म में दीक्षित होता था तो उसे सम्बोधन कर निम्न बातें कही जातीं-जो सङ्घ की प्रवृत्ति और उन की भावना (Spirit) की परिचायक हैं।

"हे भिक्षुओ ! धार्मिक जीवन का बदला हाथ पर रख कर सूखी रोटी खाने में है।"

"हे भिक्षुओ ! धार्मिक जीवन का बदला क्रुद्ध मनुष्यों के भालों में मिलता है ; मानो वे भाले ही तुम्हारे पहिरने के वस्त्र हैं।"

"हे भिक्षुओ! धार्मिक जीवन का बदला बिना छाया के वृक्ष के तले निवास है।"

"इसलिये हे भिक्षुओ! यदि तुम्हें कभी अच्छा भोजन, या सुन्दर वस्त्र या उत्तम निवास मिले तो उसे यह समझो कि यह सब तुम्हें तुम्हारे उचित अधिकार से बढ़ कर पारितोषक के रूप में प्राप्त हुआ है, वस्तुतः तुम्हारा उस पर कुछ अधिकार न था।"

उपर्युक्त सिद्धान्त बौद्ध संघ के उच्च आदर्श का द्योतक है। आधुनिक धर्म-संस्थाओं के आज कल के उन प्रचारकों को जो जनता से अपने भोजन, निवास आदि के लिए बड़ी बड़ी आशायें रक्खा करते हैं-बौद्ध प्रचारकों के साथ अपनी तुलना करनी चाहिये।

२ —बौद्ध संघ में समानाधिकारः—बौद्ध संघ में प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार तथा पद बराबर था। संघ की सम्मति के बिना कोई कार्य न होता था। संघ एक प्रकार की जनतन्त्र संस्था थी। इस्लाम के भाईचारे (Brotherhood) ने इस्लाम को बहुत मज़बूत बना दिया। परन्तु इस्लाम के संगठन को हम संघ का नाम नहीं दे सकते। इस्लाम के संगठन में जनतन्त्र के सिद्धान्त को व्यावहारिक स्थान नहीं मिला। हां, सिद्धान्त रूप से वहां समानता का सिद्धान्त अवश्य था। वर्तमान समय की संस्थाओं में 'आर्य समाज' कानूनी दृष्टि से संघ-तन्त्र अवश्य है, परन्तु व्यावहाररिक दृष्टि से भी यह गुणकारक है यह आर्य भाइयों के विचारने का सवाल है। पर इतना निश्चित है कि आर्य समाज को इस विषय में अभी बौद्ध संघ से बहुत कुछ सीखना होगा।

३—व्यक्ति और संघः—बौद्ध संघ में व्यक्ति की कोई पृथक सत्ता न थी। बौद्ध भिक्षुओं के जीवन पर संघ का कठोर निरीक्षण हर समय रहता था जो उन को सदाचार-पथ पर रखता था। बौद्ध संघ में किसी व्यक्ति की अपनी कोई निजू सम्पत्ति न थी। छोटी से छोटी चीज़ संघ की सम्पत्ति थी। संघ के प्रत्येक सदस्य को कठोर तपस्या का जीवन व्यतीत करना होता था। संघ में:—

क—बिना बीमारी की अवस्था के आग सेकना प्रायश्चित्त था।

ख—उबटन मलना प्रायश्चित्त था।

ग—यदि किसी दिन भिक्षा में कोई यथेष्ट मिठाई या अन्य उत्तम पदार्थ लेने को कहे तो दो प्याले से अधिक लेना प्रायश्चित था।

घ—अपने चोले की रस्सी में रेशम बंटना-या छः साल से पहिले नया चोला बनवाने पर प्रायश्चित्त था।

ङ—प्रत्येक वस्तु पर संघ का अधिकार था-कोई व्यक्ति या कुछ संघ के मनुष्य मिल कर उस पर अधिकार न कर सकते थे, किसी को दे भी नहीं सकते थे।

च—भिक्षु एक समय में एक प्याला रख सकता था। और जब तक वह पांच स्थानों से टूट न जावे, बदला न जा सकता था। इस नियम का उल्लंघन करने पर संघ उस से वह प्याला छीन कर सब से पुराना प्याला उसे देता था।

छ—भिक्षु सोना, चांदी, रेशम, उत्तम वस्त्र आदि पदार्थ नहीं रख सकता था। यदि ये पदार्थ उसे कहीं से मिलें तो उसे चाहिये कि वह इसे एक दम संघ के उपयोग के लिये देदे। चाहे कोई उसे वैय्यक्तिक उपयोग के लिए दे, पर उस पर सारे संघ का अधिकार हो जायगा। क्रियात्मक सार्वजनिक सम्पत्ति के सिद्धांत या (Communalism) का ऐसा उदाहरण शायद अन्यत्र कम मिल सकेगा।

कोई व्यक्ति यदि बीमार हो कर मर जाय तो उस की सम्पूर्ण वस्तुओं में से प्याला तथा चोला उस की रोग शय्या पर सेवा करने वाले व्यक्ति को बदल लेने का अधिकार था। यह पारितोषक के रूप में था। शेष पदार्थों पर संघ का ही अधिकार हो जाता था। बुद्ध ने एक स्थान पर "चुल्लवाग" में कहा है—"भिक्षुओं के सम्पूर्ण पदार्थ संघ की सम्पत्ति हैं, और संघ की सम्पत्ति को कोई व्यक्ति, गण या स्वयं संघ भी किसी को दे नहीं सकता। ऐसा करने पर वह "थल्लचुय्या" का अपराधी है।

इस प्रकार संघ में जहां प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को सम्पूर्ण विस्तृत संघ का अंग समझ सकता था-वहाँ प्रत्येक व्यक्ति पर संघ का पूरा नियन्त्रण भी था। स्मरण रखना चहिये, कि यह नियन्त्रण प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने ऊपर अपनी इच्छा से ही लगाता था। संघ के सारे सदस्य मनुष्यमात्र की सेवा के लिये अपने

आप को समर्पित करते थे और अपनी इच्छा से ही संघ में प्रवेश करते-और इच्छानुसार ही संघ में रहते थे। अशोक जैसा नरपति अपनी इच्छा से ही सुन्दर राज भोगों को छोड़ कर संघ का अनुयायी हुआ था। अतएव यह कहना भूल होगी कि संघ में व्यक्ति की स्थिति बिलकुल दासवत् हो जाती थी-क्योंकि प्रत्येक सदस्य अपने को स्वयं ही इन नियमों में डालता और इच्छा होने पर संघ को छोड़ भी सकता था। संघ अपना नियन्त्रण आप करता था। यही हमारी सम्मति में संघ की शक्ति और सफलता का मूल है।

जब हम बौद्ध संघ के इस महत्वपूर्ण संगठन से आधुनिक धर्म-समाजों व सभाओं की तुलना करते हैं तो आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई देता है। हमारी सम्मति में ऋषि दयानन्द का विचार आर्य समाज को एक 'आर्य संघ' बनाना ही था जो आर्य संस्कृति, सभ्यता और विचारों का प्रचार करे। इस समय आर्य-समाज आर्य सभ्यता व विचारों का "प्रचारक संघ" नहीं-किन्तु आर्य सभ्यता व विचारों से सहानुभूति रखने वालों का समूह है। सहानुभूति रखने वालों तथा वास्तविक प्रचारकों में कुछ फ़र्क होता है। इसीलिये हमारी सम्पति में आर्यसमाज में क्रियात्मक जीवन और सदाचार मर्यादा को बांधना तथा उसे सभासदों पर बाधित करना असम्भव सा प्रतीत हो रहा है। आर्यसमाज का जब तक ऐसा रूप रहेगा हम उस के सभासदों के व्यावहारिक जीवन में आचार मर्यादा नहीं बांध सकते। विशेष विचारों से सहानुभूति रखने वाले लोग अपने जीवन में उन विचारों को घटाने का प्रयत्न मात्र करते हैं, और उन विचारों के प्रचार के लिये आर्थिक व अन्य प्रकार की सहायता देते रहते हैं। इस से अधिक वे कुछ नहीं कर सकते और नांहीं इस से अधिक उनकी कुछ उपयोगिता होती है। परन्तु विशेष विचारों के "प्रचारकों" के लिये एक 'संघ' की बड़ी आवश्यकता है। इस 'संघ' के सदस्यों पर वही कठोर नियन्त्रण के बंधन लगाने होंगे जो बौद्ध संघ ने अपने सदस्यों पर लगाये। किसी ऐसे संघ की सफलता की यही कसौटी होती है कि वह अपने ऊपर कहाँ तक कठोर बंधनों का बोझ सहन कर सकता है। आर्य-समाज का जो स्वरूप इस समय है उस का हमने ऊपर निर्देश किया है इसीलिये आर्य समाज से अलग हमारी सम्मति में एक ऐसे प्रचारक "संघ" की आवश्यकता है जो अपना जीवन इसी कठोर तपस्या में बिताने के लिये तैयार हों। क्या आर्यसमाज के प्रचारक ऐसे संघ का संगठन कर सकते हैं ? क्या आर्य समाज

अपने में से कुछ ऐसे आदमी दे सकता है जिनका जीवन उद्देश्य की वेदी पर बलिदान हो सकता हो-और दूसरे के लिये वे अपने ऊपर उच्च आचार, कठोर तपस्या और नियन्त्रण के बन्धन लगा सकते हों? यदि आर्य समाज के वर्तमान प्रचारक इसका उत्तर 'हाँ, में दे सकते हैं तो हमें कोई सन्देह नहीं कि आर्य-समाज भी बौद्धों की तरह किसी समय सार्वभौम रूप ग्रहण कर सकेगा। यदि आर्य प्रचारकों के हृदय में इतना साहस नहीं तो आर्य समाज को दूर के स्वप्न लेना छोड़ देना होगा। देखना है कि हम ऋषि की आत्मा को क्या उत्तर देना चाहते हैं?

वेदार्थ-दीपक निरुक्त भाष्य [समालोचना]

[2]

श्री पं० चमूपति आर्योपदेशक, (अफ्रीका)

निरुक्त १. २. ४ व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य में शब्द की व्यापकता का प्रसंग उठाया गया है। पण्डित चन्द्रमणि जी पद्यं शब्द का अर्थ 'वैदिक शब्द' लेकर उन शब्दों को नित्य कहते हैं और प्रलय-काल में उनका लीन हो जाना स्वीकार करते हैं। फिर झट लिखते हैं 'शब्द आकाश की न्याईं सर्वत्र भर रहे हैं, परन्तु जब तक उच्चारण क्रिया नहीं होती तब तक प्रकटित नहीं होते'। इस लेख से यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता कि आकाश में वेद के शब्द भर रहे हैं या लौकिक? वेद के शब्द हैं तो उच्चारण क्रिया किये जाने पर वेद ही के शब्द प्रकट होने चाहियें परन्तु प्रकट तो लौकिक होते हैं और यह प्रलय-काल भी नहीं कि वेद के शब्द और उनके साथ लौकिक भी-लीन हो गए हों। तब क्या लौकिक शब्द व्यापक हैं?

दुर्गाचार्य यहां शब्द की व्यापकता मनुष्य की अभिधानाभिधेय बुद्धि में स्वीकार करते हैं। शब्द की नित्यता पर दर्शन तथा व्याकरण के ग्रन्थों में विस्तृत विचार किया गया है। पं० चन्द्रमणि जी ने वैदिक शब्दों की नित्यता और आकाशाश्रित शब्द की नित्यता को परस्पर उलझा दिया है। न इन दो पक्षों का समन्वय ही किया है न व्यतिरेक। दुर्गाचार्य के पक्ष पर आपने कृपाकटाक्ष करने का कष्ट ही नहीं उठाया। प्रश्न गंभीर है और अधिक आलोचना चाहता है।

इसी प्रकरण में लोक-व्यवहार के लिये शब्द का महत्व बतला कर कहा है:-
तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम्। १. २. ६. अर्थात् मनुष्य (व्यवहार) की भान्ति देवताभिधान (वैदिक व्यवहार भी) इन्हीं (शब्दों) से होता है।

पण्डित जी ने इस वचन का तात्पर्य तो ठीक लिखा है परन्तु शब्दार्थ में कुछ विलक्षणता सी दिखाई है। आप 'देवता' शब्द को 'वेद-मन्त्र वाची' मानते हैं: कारण कि आगे मन्त्रो वेदे पड़ा है। वहां पण्डित जी पूर्व पठित 'देवता' शब्द की अनुवृत्ति समझे हैं। पण्डित जी के भाष्य में इससे अपूर्वता तो निस्संदेह आगई है परन्तु अर्थ की यथेष्ट सुसंगति नहीं हुई। अनुवृत्ति सर्वथा निष्प्रयोजन रही है।

यास्क ने देवताभिधान का पाठ केवल इसी स्थल पर नहीं किया किन्तु अन्यत्र भी। यथा १.२०.५ में कुचर शब्द का निर्वचन करते हुए अथ चेद्देवताभिधानं क्वायं न चरति अर्थात् यदि (इस मंत्र के) देवता (विष्णु) का विशेषण माना जाय तो इसका अर्थ होगा—कहां उसकी गति नहीं? यहां देवता का अर्थ मन्त्र का विषय है। पण्डित जी ने भी यहां देवताभिधान का अर्थ 'विष्णुदेवता के विशेषण' किया है। पूर्व स्थल में भी इस समस्त शब्द का यह अर्थ होगा। 'देवता' वेद के विषय को कहेंगे और अभिधान नाम वर्णन, अर्थात् वेद विषयों का वर्णन। देवता का अर्थ वेदमन्त्र करने के लिये प्रमाण चाहिये जो पण्डित जी ने दिया नहीं।

यास्कीय सिद्धान्त इस स्थल पर यह है कि जैसे छोटा होने के कारण लोक व्यवहार के लिये शब्दों से ही अर्थों की संज्ञा की जाती है १.२.५, ऐसे ही वेद विषय का कथन भी शब्दों द्वारा होता है (१.२.६) हाथ, आंख आदि के संकेत से नहीं होता, क्योंकि शब्द का व्यवहार अन्य संकेतों से सुगम है। यहां आए 'मनुष्य वत्' का अर्थ है 'लोक व्यवहारवत्' पूर्व प्रकरण के अनुरोध से। उपर्युक्त व्याख्या में 'देवता' शब्द का अर्थ बदलने की आवश्यकता नहीं हुई और आपका अभिप्राय सिद्ध हो गया है।

अगले वचन में यास्क बैदिक शब्दों की श्रेष्ठता बताते हैं:—पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे। १.२.७ पुरुष का ज्ञान अनित्य है अत: (नित्य) अर्थ सम्पन्न मंत्र वेद में हैं (अपौरुषेय होने से)।

विद्या का अभिप्राय यहां शब्दार्थ सम्बन्ध के ज्ञान से है। इसी ज्ञान का ही इस स्थल पर प्रकरण है। मनुष्य विस्मरण शील है। वह अर्थों की संज्ञा बदलता रहता है परन्तु वेद के शब्द अर्थगर्भित हैं—वह अर्थों की नित्य न बदलने वाली संज्ञाएं हैं।

हमने यहां कर्म शब्द का अभिधेय 'अर्थ' को माना है। यास्क ने 'कर्म' शब्द का इस अर्थ में इतना प्रयोग किया है कि यास्क प्रयुक्त कर्म का अभिधेय प्रायः 'अर्थ' ही को माना जाता है। याज्ञिक लोग मन्त्रों का प्रयोजन यज्ञ मात्र में मानते हैं, उनकी दृष्टि में कर्मसम्पत्तिः का अर्थ यज्ञसम्पत्तिः हो, परन्तु हमारे विचार में अर्थसम्पत्तिः ही ठीक अर्थ होगा। यास्क ने इस प्रकरण में न यज्ञ की चर्चा छेड़ी है न अन्य ऐहिक तथा पारलौकिक कर्म काण्ड की। कर्म परक अर्थ में ज्ञान का बहिष्कार भी है जो हमारी व्याख्या में नहीं होता। विद्वान् लोग इस विषय में अधिक विचार कर सकते हैं।

(३)

पण्डित जी ने 'समालोचनात्मक विस्तृत भूमिका' उत्तरार्ध में लिखने की प्रतिज्ञा की है। संभव है, यास्क से वह किसी स्थल पर अपना वैपद्य भी प्रदर्शित करें। पूर्वार्ध का भाष्य करते हुए तो आपने केवल भक्ति और श्रद्धा ही का प्रकाश किया है। हमारा विचार है कि टीकाकार को मूल पुस्तककार से मत भेद प्रदर्शन का पूर्ण अधिकार होता है। पण्डित जी को या तो इस अधिकार के वर्तने की आवश्यकता नहीं पड़ी या संभवतः वह इस अधिकार को अपना मानते ही नहीं।

निरुक्त १. १३ में कौत्स और यास्क का शास्त्रार्थ चलता है। कौत्स वेद को अनर्थक मानता है और यास्क उसका खण्डन करता है। वेदार्थ-दीपक निरुक्त भाष्य के पृ० ७१ पर 'इस प्रकार यास्क ने सात हेतुओं से वेदों को निष्प्रयोजन, सार रहित तथा निरर्थक सिद्ध किया, यह वाक्य छपा है, सो लेखक या मुद्रक के प्रमाद ही का परिणाम प्रतीत होता है। अनर्थकता का पक्ष कौत्स का है, यास्क का नहीं। दूसरे संस्करण में इस वाक्य का संशोधन कर देना चाहिये।

यास्क ने पूर्वपक्ष के खण्डन में जितने हेतु दिये हैं, उनमें कौत्स प्रदर्शित दोषों को यदि वह दोष हों—लौकिक भाषा में भी दिखा दिया है। चाहिये तो यह था कि जहां उन दोषों की दोषता का निराकरण करते। वहां वेद की इन विशेषताओं का महत्व प्रतिपादन करते।

(१) वेदों के शब्द नहीं बदल सकते, उन का क्रम भी नहीं बदल सक्ता। तो इस का हेतु यह नहीं कि लौकिक भाषा में इन्द्राग्नी तथा पिता पुत्रौ का क्रम नहीं बदल सकता। यह ठीक है कि क्रम निश्चित रहने पर भी इन शब्दों का अर्थ

बना रहता है । परन्तु इस क्रम में और वेदों के क्रम में आकाश पाताल का भेद है । यहां किसी २ समस्त पद ही में ऐसा होता है , वहां सारे वाङ्मय में । निरुक्तकार को वेदों के शब्द तथा उन शब्दों का क्रम निश्चित होने का महत्व दर्शाना चाहिये था । अग्नि का वह्नि के साथ एक ही अर्थ में सामान्य है, सब अर्थों में नहीं । तब 'अग्नि' की जगह 'वह्नि' कैसे लिखा जाए । किसी शब्द को वाक्य में पूर्व लाने से उस पर विशेष बल देना अभीष्ट होता है । यही वेद के शब्दक्रम की भी विशेषता का उद्देश्य है ।

(२) एक मन्त्र में 'एक एव रुद्रः' आया है और दूसरे में 'सहस्राणि ये रुद्राः' तथा एक जगह 'अशत्रुरिन्द्रः' आया है और अन्यत्र 'शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः' । इस में विप्रतिषेध है । भला इस आक्षेप का यह क्या उत्तर है कि लोक में 'असपत्नोऽयं ब्राह्मणः' कहा जाता है ?

जहां एक रुद्र है वहां परमात्मा विवक्षित है, जहां असंख्यात रुद्र हैं, वहां पीड़ा देने वाले असंख्य प्राणी निर्दिष्ट हैं । जहां 'अशत्रुरिन्द्रः' कहा गया है, वहां उससे पूर्व का वाक्य है अहन्नरिम्' । अर्थात् उसने शत्रु को मार दिया, इस लिये वह अब अशत्रु है । सैंकड़ों सेनाओं को जीतना दूसरे समय, अन्य अवस्था, की बात है । इन में विरोध कैसा ? कोई एक समय अशत्रु होकर हमेशा के लिये अशत्रु नहीं होता ।

(३) 'अदितिः सर्वम्' का समाधान 'सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयम्' से नहीं होता । ४. ४. १ में अदितिः सर्वम् का अर्थ परमात्मपरक किया है, वहां 'अन्तरिक्ष' आदि शब्दों के वही अर्थ मानना होंगे जो वेदान्तदर्शन के १म अध्याय में भी ऐसे ही परमात्मपरक शब्दों के किये गए हैं । इस मन्त्र का दूसरा अर्थ यास्क अदितिः को विशेषण मान कर करते हैं कि अन्तरिक्षादि सब विशेष्य अदीन हैं । लौकिक व्यवहार के सर्वरसाः आदि वाक्य का इन में से किसी अर्थ के साथ सादृश्य नहीं । हां यदि नवीन वेदान्त का 'एक ब्रह्म' मान लिया जाय तो और बात है ।

वास्तव में यास्क ने प्रतिवादी का मुख बन्द करने का ही यत्न किया है, अपने सिद्धान्त को सुदृढ़ कर वेद का अपना महत्व स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया । ऐसे स्थल पर टीकाकार को मूल की त्रुटि पूरी कर देनी चाहिये ।

इसी प्रसंग में कौत्स की उठाई एक शंका की ओर सहसा पाठक का ध्यान

आकर्षित होता है। कौत्स के मुख में श. प ब्रा. १ ३. २. २ का अग्नये समिध्य-मानायानुब्रूहि डाल कर कहलवाया है कि यह तो हर एक जानता है कि अग्नि जलने पर ही मन्त्र का पाठ करना होता है, फिर यहां यह बात कही क्यों ? वेद में ऐसी बातें सैंकड़ों आई हैं जो हरेक मनुष्य जानता है। परन्तु यह जानना भी तो वेद में आ चुकने का परिणाम है। वेद में न आतीं तो जानता कौन ? प्रश्न होसक्ता है कि सृष्टि के आदि में ऐसे उपदेश का अवसर सही, अब इन मन्त्रों के पाठ का क्या लाभ है ? यास्क ने अभिवादन तथा मधुपर्क–उदाहरण के समय के वाक्यों–के उदाहरण से उत्तर दिया है कि लोक में भी जानी हुई बातें फिर कही जाती हैं जिससे संस्कारों की दृढ़ता हो। यहां प्रश्न यह है कि वेद की अनर्थकता प्रतिपादित करते २ ब्राह्मणों पर व्यर्थ की व्यङ्ग्य वृष्टि क्यों हुई ? इस में दो कारण हो सक्ते हैं—एक यह कि प्रतिवादी ब्राह्मणों को भी निरर्थक मानता है, दूसरा यह कि वेद और ब्राह्मण में भेद नहीं।

पहिला कारण अशुद्ध है क्यों कि ब्राह्मण की सार्थकता स्वयं प्रतिवादी ऊपर १. १५. ५ में स्वीकार कर चुका है। यास्क ने १. १६. १. में प्रतिवादी की इस स्वीकृति की ओर संकेत किया है। दुर्गाचार्य यास्क के इस वचन में पड़े इति च ब्राह्मणम् का अर्थ करते हुए लिखते हैं 'अर्थवत्त्वं चाभ्युपगतं ब्राह्मणस्य' अर्थात् ब्राह्मण का सार्थक होना आप स्वीकार कर चुके हैं। अर्थात् प्रतिवादी की दृष्टि में ब्राह्मण निरर्थक नहीं, केवल वेद हैं। इस लिये प्रथम कारण न रहा।

जब यह बात है तो दूसरे कारण की यथार्थता का निरसन भी स्वयं ही होगया। ब्राह्मण सार्थक हैं और वेद निरर्थक तो वेद और ब्राह्मण एक न हुए। न्याय यह चाहता था कि ब्राह्मण वचन की जगह कोई वेदवचन ही कौत्स के मुख में डाला जाता। तब यास्क का समाधान ठीक होता।

श्री पं० चन्द्रमणि जी इस स्थल पर लिखते हैं:—'शायद यह वचन किसी मन्त्र का भाव है, जो कि अन्वेषणीय है' हमारे विचार में कोई मन्त्र जिस में किसी प्रसिद्ध लोकावगत भाव का वर्णन हो, यहां उदहारण का काम दे सक्ता है। उदाहरण न हो तो भी हानि नहीं।

भाष्यकर्ता महोदय से हमारा निवेदन है कि अपनी विस्तृत भूमिका में इन आपत्तियों का समाधान करें या इन आपत्तियों को समालोचना के रूप में स्वयं उठाएं।

निरुक्त के इसी प्रसंग में एक विवादास्पद विषय हिंसा अहिंसा का है। उस पर दो एक शब्द यहां लिख देना अनुचित न होगा आम्नाय वचनादहिंसा प्रतीयते १. १६. ६ का भाष्य पं. चन्द्रमणि जी ने यथार्थ लिखा है कि वेद के शब्दों में स्पष्ट अहिंसा का विधान है। दुर्गाचार्य का यह कथन कि यज्ञ में प्रयुक्त होने से पशु का उत्कर्ष होता है, यह विचार की पौराणिक परिपाटी से दूषित है। वहां अहिंसा ही कही है नकि उत्कर्ष। आधुनिक मुसल्मान भी तो कुरबानी का समाधान यही करते हैं। यह पौराणिकों की विजय है।

प्रतिवादी को आपत्ति मैनं ँ हिंसीः के हिंसापरक विनियोग पर थी उस का संकेत मुण्डन संस्कार में विनियुक्त हुए इन शब्दों की ओर नहीं किन्तु कातीयादि सूत्रों में विहित अश्वालंभनादिविधिनान्तर्गत विनियोग की ओर है। उत्तर में यास्क इस सूत्र की विधि का ज़िक्र नहीं लेता। उसे वेद की सार्थकता सिद्ध करनी है सो वहाँ तो स्पष्ट अहिंसा परक उल्लेख है ही।

प्रतीत ऐसा होता है कि यास्क के समय में भी अश्वालंभादि कुत्सित कार्य चल पड़े थे। लोग हिंसा करते हुए अहिंसा परक मन्त्रों का पाठ करते थे, जैसे आज भी हमारे मुसल्मान भाई 'रहीम' का पुण्य नाम लेकर ही पशु के गले पर छुरी फेरते हैं। यह वेद की खिल्ली उड़ाना था जिस से विपक्षियों को वेद पर कटाक्ष करने का अवसर मिलता था।

पण्डित जी ने संभवतः आक्षेप का लक्ष्य केशछेदन में आए अहिंसा परक पाठ को भी मान कर लिखा है—वेद वचन से केशों के काटने को हिंसा नहीं समझना चाहिये। केशों की हिंसा न कौत्स के मन में थी न यास्क के। केवल पण्डित जी ने ही यहां हिंसा की शंका उठाई और मिटाई है। केश काटते हुए कहीं बालक के सिर में घाव न लग जाए, इसलिए मैनं हिंसीः कहा गया। कौत्स का आक्षेप स्पष्ट अश्वालम्भ के संबन्ध का ही प्रतीत होता है सो उसका निराकरण किया गया॥

———

*अपि चैतदौषधिवनस्पति पशुमृग पक्षिसरीसृपाः सम्यगुपयुक्ताः सन्तो यज्ञे परमुत्कर्षं प्राप्नुवन्ति। (दुर्गाचार्य कृत निरुक्त टीका १. १६. ६.)

लड़की का घर।

(लेखक दर्शक)

(१)

काठियावाड़ के क्षत्रिय मांस खाते हैं। पहिले यह प्रथा न थी परन्तु कुछ समय से चल पड़ी है।

मोहन अभी चार वर्ष का था। उसका एक छोटे से शश के साथ बड़ा प्यार था। वह उसे खिलाता पिलाता, उसके साथ खेलता और गोदी में लेकर बैठता। एक दिन पिता के साथ मामा के घर गया तो शश को साथ लेकर गया। मामा के घर बच्चे थे। मोहन ने उन्हें अपना साथी बना लिया। घन्टों उनके साथ बिताता। कभी शश भी उन खेलों में भाग लेता और कभी अकेला छोड़ दिया जाता। किसी ऐसे ही समय में मोहन घर आया तो अपनी मामी से शश के विषय में पूछा—मेरा शशला कहां है? मामी ने इधर उधर देखा परन्तु शश न मिला। इतने में मामा आ गए। मामी ने कहा:—मोहन का शश?

मामा—तो क्या वह शश मोहन का था?

मोहन—मेरा ही तो था। कहाँ है?

मामा—शश तो अब पेट में जा चुका। आज दोपहर को खाया क्या था?

मोहन—मेरा शश मार दिया?

यह कहा और रोने लग पड़ा। मनाये से मानता ही नहीं। सायंकाल पिता से यह कथा कही। उन्हें दुःख हुआ। उन्होंने मोहन को शश के साथ खेलता देखा था। उन्हें पता था कि शश मोहन का प्राण था। क्रोध आया पर पी गए। कहा तो इतना ही कि कोई और होता तो उसके पेट से भी शश निकाल लेता।

कर्मचन्द्र (मोहन के मामा का यह नाम था) ने यह शब्द सुने तो बोले:-कठी के शब्द व्यर्थ क्यों जाएं? यह लो, पेट सामने है, काट लो।

बल्लभ (मोहन के पिता का नाम था) का हाथ मियान पर गया। क्षण भर में तलवार बाहर आ गई। उधर कर्मचन्द्र ने भी तलवार सौंत ली और साला बहिनोई में द्वन्द्व युद्ध छिड़ गया। बल्लभ बलवान् था। तलवार चलाने में भी

कुशलता पाई थी। कोई पाव घन्टे में कर्मचन्द्र का सिर गर्दन से कट कर नीचे आ पड़ा। वल्लभ ने उसका पेट चीरा और अंतड़ियां बाहर कर दीं।

वार... का खेल का साथी ... वीं जयन्ती मनाई ... पास आया तो ...

...नाधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना।

इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तोऽराव्णः

हे प्रभु! हम तुम से वर पावें।
विश्व जगत् को आर्य बनावें॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें॥
वैर-विघ्न को मार मिटा...
प्रीति-नीति की रीति ...

प्रिन्टर व पब्लिशर के ...
लाहौर में छप ...

...छता तक नहीं ... हूँ और एक भी ... ड़ा होगा तो पिता ... रोऊं न तो क्या करूं? ...ह सब आशाओं का केन्द्र ... नहीं, पानी देवा कोई नहीं। ... उसकी आंखें झुक गईं। मां ... का वृत्तान्त पूछा। माता की जान ... र से उतरी, मदन के सिर पर पड़ी। ... थी, अब यह बेटे के सिर पर है। यदि इन ... तो कुद्दि सफल हो जायगी, नहीं तो अप-मान ... । यह आज ही के लिये थे।

... बरस रही थी। मां ने उसे ठंडा किया। कहा, पुत्र! धैर्य ... आवेश से काम बिगड़ते हैं।

मदन- ... काफ़ी कर लिया। हमारे लिये बचा ही नहीं। अब तो धैर्य शत्रु का ... राए। (तलवार निकाल कर) यह भुजङ्गिन धराए तो धराए। जब तक ... थे, अचेत थे। अब तो सचेत हो लिये। अब सोना हराम। खाना हराम।

यह कहा और घर से बाहर चल दिये।

(३)

वल्लभ का ग्राम मदन से १८ मील की दूरी पर था। रात के पिछले पहर में

कुशलता पाई थी। कोई पाव घन्टे में कर्मचन्द्र का सिर गर्दन से कट कर नीचे आ पड़ा। वल्लभ ने उसका पेट चीरा और अंतड़ियां बाहर कर दीं।

(२)

बारह वर्ष बीत गए कर्मचन्द्र का बड़ा लड़का, जो मोहन का खेल का साथी बना था, अब युवक हो गया। विधवा माता ने उसकी बीसवीं जयन्ती मनाई। सहभोज हुआ। सबने बधाई कही। अन्त में लड़का मां के पास आया तो उसे रोते पाया।

लड़का—क्यों माँ? क्या अपराध हुआ?

मां—पिता का पता भी है? बीस वर्ष का हो गया है और पूछता तक नहीं कि किसी पुरुष का पुत्र हूँ या पशु का। बारह वर्ष विधवा रही हूँ और एक भी आंसू नहीं बहाया। इसी दिन की बाट जोहती थी कि बेटा बड़ा होगा तो पिता का वैर चुकाए गा। बेटा है कि अपनी खेल कूद में मस्त है। रोऊं न तो क्या करूं? मैं इतने दिन विधवा न थी। बेटा विद्यमान था और वह सब आशाओं का केन्द्र था। आज विधवा हूं कि पतिदेव का नाम लेवा कोई नहीं, पानी देवा कोई नहीं।

मदन (लड़के का नाम था) लज्जित हुआ। उसकी आंखें झुक गईं। मां के पांव पर गिरा, क्षमा चाही, पिता की मृत्यु का वृत्तान्त पूछा। माता की जान में जान आई। कहा—आज अमानत मेरे सिर से उतरी, मदन के सिर पर पड़ी। पति देव का खून हृदय में छिपाए फिरती थी, अब यह बेटे के सिर पर है। यदि इन आंखों ने बदला चुकता देख लिया तो कुक्षि सफल हो जायगी, नहीं तो अरमान रहेगा। अब आंसू न बहाऊंगी। यह आज ही के लिये थे।

मदन की आंखों से आग बरस रही थी। मां ने उसे ठंडा किया। कहा, पुत्र! धैर्य सफलता की कुंजी है। आवेश से काम बिगड़ते हैं।

मदन—मां! धैर्य तुमने काफ़ी कर लिया। हमारे लिये बचा ही नहीं। अब तो धैर्य शत्रु का रक्त धराए तो धराए। (तलवार निकाल कर) यह भुजङ्गिन धराए तो धराए। जब तक अचेत थे, अचेत थे। अब तो सचेत हो लिये। अब सोना हराम। खाना हराम।

यह कहा और घर से बाहर चल दिये।

(३)

वल्लभ का ग्राम मदन से १८ मील की दूरी पर था। रात के पिछले पहर में

किसी ने वल्लभ का द्वार खटखटाया। एक बुढ़िया निकली। उसने दर्वाज़ा खोला और पूछा—कौन हो ?

मदन।

कर्मचन्द्र का लड़का मदन ?

हाँ ! बुआ ! वही मदन।

वर्षों नहीं देखा। कर्मचन्द्र के मरने के दिन से दोनों घरों में वैर चला आता है। आ ! ज़रा गले तो लगा लूं। मरे हुए भाई की यादगार है।

मदन बुआ से चिमटा और पूछा—फूफा कहां हैं ?

बुढ़िया अन्दर ले गई और एक चारपाई की ओर संकेत कर कहा—वह सोए हैं।

मदन इसी अवसर को देख रहा था। झट लपका और बूढ़े का सिर उतार दिया। बुआ से कहा, 'आप क्रुद्ध न होना। कठी बाप का वैर नहीं छोड़ सकता।'

बुढ़िया का प्रेम भतीजे और पति में बट गया। यदि कोलाहल करती तो दो पुत्र पास के कमरे में सोते थे। मदन जीता न लौटता, परन्तु भाई को एक मात्र सन्तान है। छोटे भतीजे की मृत्यु कुछ मास पूर्व हुई थी। जी में आया, बूढ़ा ही तो मरा है, उसने संसार का सब सुख देख ही लिया था। कहा—बेटा ! मुझे तो विधवा बना चले हो पर बूढ़ी हूं इस लिये कुछ ऐसा क्लेश भी नहीं। अब अपने प्राण बचाओ। घुड़साल में घोड़ा बंधा है, उस पर चढ़ो और हवा हो जाओ।

दूसरे दिन रोई पीटी, सिर के बाल खोल लिये परन्तु पुत्रों को सन्देह रहा, हो न हो पिता के मरवाने में माता का हाथ है। तो भी सेवा से विमुख नहीं हुए। हाँ ! कभी २ इतना कह देतेः—पति मरवाया है तो भतीजे की भी खैर मना लीजियो। कई बार तलवार निकली और उसे संबोधित कर कहा गया—भुजङ्गिनी ! प्यासी है ? प्यासी रह, मदन के खून ही से तेरी प्यास बुझेगी,

बुढ़िया कठियों का व्यवहार जानती थी और समझती थी—यही न्याय है, यहाँ तो एक २ खून पीढ़ियों चलता है, अब के खून मनुष्य का नहीं, शश का था, पर इस से क्या ? खून तो था ही।

(४)

मदन अपने ग्राम का सब से बड़ा भूमिहार है। धन धान्य की कमी कहाँ ? कितने सेवक हैं। उनमें दो सेवकों पर विशेष विश्वास है। वह भाई हैं। पास के

किसी ग्राम के रहने वाले हैं। काम हुशियारी से करते हैं। व्यवहार के सच्चे हैं। हज़ारों रुपया देदो, एक कौड़ी पर भी तो खोटी दृष्टि न पड़ेगी।

रात का समय है। ग्यारह बज गये, सेठानी की चूरी टूट गई। यह तो दुर्भाग्य का चिन्ह है। अभी नई चूरी आनी चाहिये।

मदनः—यह समय कोई चूरियां ख़रीदने का है? रात जैसे तैसे काट दो, भोर होते ही नई चूरी आ जायगी।

स्त्री-हठ प्रसिद्ध है, फिर स्त्री भी सेठानी, दुर्भाग्य की रात भारी होनी लगी—इतनी भारी कि कमला का कोमल हृदय सहन न कर सका। 'पतिदेव! शंका हो रही है। आपके जीते टूटी चूरी पहिनूं? यह नहीं सुहाता। हाय निगोड़ा कलेजा! कलेजे को कैसे थामूं?'

इन शब्दों में जादू था। विवश होकर मदन भाई छत से उतरे और सेवक को आवाज़ दी। एक की जगह दो भाई उठकर आ गए।

मदन—बाज़ार जाना है, तैयार हो जाओ।

सेवक—जो आज्ञा।

दोनों ने तलवार संभाली और सेठ जी के साथ हो लिये। सुनार बुलाया गया। सेठ जी के आगे कौन नकार करे? झट दूकान खोली। नई चूरी निकाली और सेठ जी के हवाले की। सेठ जी ने सेवक को देदी।

अब सेठजी सेवकों सहित घर की ओर चले। अंधेरा छा रहा था। गलियां, बिलकुल विजन थीं, हवा ने साँस रोका हुआ था, इतने में एक सेवक के मुंह से निकला —सेठ जी! चूरी तो यह भी टूटा चाहती है।

सेठ ने मुंह फेर कर देखा तो सेवक का हाथ तलवार के हत्थे पर पाया। पूछा—कौन हो?

'वल्लभ के पुत्र।'

"समझ में आगया। तुम्हारा अधिकार है। पर भाई! विश्वास करो तो मैं घर हो आऊं। यह चूरी भी अपने हाथ से तोड़ कर पत्नी को दे आऊं। कह आऊं कि नई चूरी मंगा कर भाग्य बनाया नहीं, बिगाड़ा है।"

छोटा—यह झांसा किसी और को देना। महीनों की सेवकाई आज सफल होती है, और आज ही उसे निष्फल करदें?

बड़ा—न भाई! सेठ जी को जाने दो। यह तलवार ले आवें। इन्हों ने हमारे पिता को सोते में मारा था। पर हम वल्लभ के पुत्र हैं। निहत्थे पर वार न करेंगे। न लौटे तो फिर सही। कोई और ढंग निकालेंगे।

मदन ने सिर झुका दिया और कहा—मेरा अधिकार नहीं कि जीता घर जाऊं। लो! तलवार से सिर उड़ा लो। यहीं कथा समाप्त हो।

अब छोटा भाई भी अवाक् होगया। पड़े को कौन मारे?

[५]

गांव के बाहर आधे घन्टे तक दोनों भाइयों ने प्रतीक्षा की। छोटा अधीर हो जाता और बड़े की ओर देखता। बड़ा सिर हिला देता। मानो कहता है, ज़रा और ठैरो।

इतने में मदन तलवार बांधे और उस के पीछे २ उस की धर्म-पत्नी दो घोड़ों की बागें अपने दो हाथों से संभाले उधर आते दिखाई दिये।

बड़ा भाई—क्या दो से दो लड़ोगे? अबला पर हाथ उठाना क्षत्रिय का काम नहीं। हम में से जिस को सेठ जी चाहें, वही तलवार सौंत लेगा। हम भी एक हो जाते हैं, आप भी एक रहिये।

मदन—मुझे तो तलवार उठानी नहीं। पड़े को मारा था, पड़ा मरूंगा। (पृथिवी पर बिछ जाता है)

देवी—समय न गंवाओ। कोई आजायगा। तलवार चलाओ। घोड़े तैयार हैं। इन पर चढ़ो और हवा हो जाओ। कोई पूछेगा, किसने मारा है? कहूंगी मैंने।

भाइयों के लिये घोड़े पहेली बन रहे थे। वह सुन्न हुए खड़े थे। सेठानी ताड़ गई। कहा—मुझे स्मरण है, जब सेठ जी तुम्हारे पिता को मार कर आए थे, उन्हों ने अपनी रक्त में डूबी तलवार माता के चरणों में रखी थी और कहा था—बुआ के दिये घोड़े पर पहुँचा हूं। अब तुम बदला लेने आए हो तो पूरा लो। तुम्हारी मां को चुप का बदला मेरी सहन-साधना चुप है। तुम्हारे सोए पिता के खून का बदला तुम्हारे सामने सोए सेठ का खून है। रह गया घोड़ा, एक के बदले दो लाई हूं, क्यों कि तुम दो हो। कठी बदला लेना जानते हैं तो कोई देना भी जानता है। पुरुष लेने के पिपासु हैं, स्त्रियां देने की। फिर तुम्हारा घर हमारी लड़की का घर है। शश मारा, पुरुष दिया। पुरुष मारा है, तो एक घोड़ा भी अधिक न दें?

दोनों भाई दीवार बने खड़े थे। दोनो ने एक साथ तलवारें निकालीं और सेठानी के पांव में डालदीं। कहा, अब तक बदला लेते थे, अब देंगे। देने वाला अधिक बली होता है। माँ ने पति मरवाया, पर हमें देना न सिखाया। आज भी-

जाई ने वह गुर सिखा दिया। देवी ! हम आप को क्या दें ? तलवार वीरों का प्राण सेठ जी की गर्दन पर पड़ती पर अब तो आप के चरणों में है।

(६)

और वह शश ? वह इन्हीं अदलों बदलों में रह गया। पशु के प्राण का मूल्य नहीं। सुनते हैं, फिर सेठ जी के घर में शश नहीं पका। उन के वंशज मांस खाते हैं, ... का नहीं। पूछो तो कहते हैं, एक शश का मूल्य दो ... का प्राण है। पुरुषों का खून पुरुषों ने चुकाया, शश का उस के दैव ने। पशु ... तो दैव है। पुरुष दैव !!

तृतीय-सर्ग

...स्ताब्दी के विजयी-प्रधान-महारथी, ब्रह्मर्षि विरजानन्द जी, सरस्वती को—

...ऽर्थ-तालिकाऽस्ति ? *

(... मास से आगे)

मा... ...ये जिन्हें सरकार से !
गत- ... टकों की मार से !
सब ... पत्र दिखा उधर—
"रु... ... पर हस्ताऽक्षर !" २७

अन्याय ... पण्डित हिचकिचाए भी नहीं !
जो कुछ उन्होंने थी कही, वह बात हम लिखते यहीं—
—"हम कर चुके हैं सेठ जी के पत्र पर अक्षर तभी,
...न करिये आप, पाएँगे न वे रुपये कभी !!" २८

जाता सु... है—'तीन-सौ की घूंस इन के भी लगी !'
जब घूंस खाई जायगी, क्या धर्म-धी रह जायगी ?
महाराज ने देखा—"टकों से 'धर्म' हलका हो गया !
करते न जन हा ! न्याय के गल घोटने में अब दया !!" २९

मदन ने सिर झुका दिया और कहा—मेरा अधिकार नहीं कि जीता घर जाऊं। लो! तलवार से सिर उड़ा लो। यहीं कथा समाप्त हो।

अब छोटा भाई भी अवाक् होगया। पड़े [illegible] को कौन मारे?

[५]

गांव के बाहर आधे घन्टे तक दोनों भाइयों [illegible] तीक्षा की। छोटा अधीर हो जाता और बड़े की ओर देखता। बड़ा सिर [illegible] ता। मानो कहता है, ज़रा और ठैरो।

इतने में मदन तलवार बांधे और उ [illegible] पीछे २ उस की धर्म-पत्नी दो घोड़ों की बागें अपने दो हाथों से संभाले उधर [illegible] दिखाई दिये।

बड़ा भाई—क्या दो से दो लड़ोगे [illegible] पर हाथ उठाना क्षत्रिय का काम नहीं। हम में से जिस को सेठ जी [illegible] तलवार सौंत लेगा। हम भी एक हो जाते [illegible] आप भी एक रहिये।

मदन— [illegible] तो तलवार उठा [illegible] ने मारा था, पड़ा मरूंगा। (पृथिवी पर बि [illegible] ता है)

देवी—स [illegible] न गंवाओ [illegible] गा। तलवार चलाओ। घोड़े तैयार हैं। इन पर चढ़ो और हवा हो [illegible] गा, किसने मारा है? कहूंगी मैंने।

भाइयों के लिये [illegible] थे। वह सुन्न हुए खड़े थे। सेठानी ताड़ गई। कहा—मु [illegible] ठ जी तुम्हारे पिता को मार कर आए थे, उन्हों ने [illegible] तलवार माता के चरणों में रखी थी और कहा था—बुआ [illegible] ा हूं। अब तुम बदला लेने आए हो तो पूरा लो। तुम्हा [illegible] की सहन-साधना खुप है। तुम्हारे सोए पिता के खून [illegible] सोए सेठ का खून है। रह गया घोड़ा, एक के बदले दो लाई [illegible] री हो। कठी बदला लेना जानते हैं तो कोई देना भी जानता है। पुरुष ले [illegible] पिपासु हैं, स्त्रियां देने की। फिर तुम्हारा घर हमारी लड़की का घर है। शश मारा, पुरुष दिया। पुरुष मारा है, तो एक घोड़ा भी अधिक न दें?

दोनों भाई दीवार बने खड़े थे। दोनो ने एक साथ तलवारें निकालीं और सेठानी के पांव में डालदीं। कहा, अब तक बदला लेते थे, अब देंगे। देने वाला अधिक बली होता है। माँ ने पति मरवाया, पर हमें देना न सिखाया। आज भी-

जाई ने वह गुर सिखा दिया। देवी ! हम आप को क्या दें ? तलवार वीरों का प्राण है ! सेठ जी की गर्दन पर पड़ती पर अब तो आप के चरणों में है।

(६)

और वह शश ? वह इन्हीं अदलों बदलों में रह गया। पशु के प्राण का कोई मूल्य नहीं। सुनते हैं, फिर सेठ जी के घर में शश नहीं पका। उन के वंशज और मांस खाते हैं, शश का नहीं। पूछो तो कहते हैं, एक शश का मूल्य दो पुरुषों का प्राण है। पुरुषों का खून पुरुषों ने सुकाया, शश का उस के दैव ने। पशु का भी तो दैव है। परुष दैव !!

तृतीय-सर्ग

विगत-सहस्राब्दी के विजयी—प्रधान—महारथी, ब्रह्मर्षि श्री विरजानन्द जी, सरस्वती को—

* वेदाऽर्थ-तालिकाऽप्ति ? *

(नवम्बर मास से आगे)

मासिक मिले थे तीन-सौ रुपये जिन्हें सरकार से !
गत—धर्म थे, हृत्-हीन थे जो फिर टकों की मार से !
सब वृत्त कह बोले उन्हें शास्त्राऽर्थ-पत्र दिखा उधर—
"रुपये दिलाओ, या करो इस पत्र पर हस्ताऽक्षर !" २७

अन्याय से जो राजपण्डित हिचकिचाए भी नहीं !
जो कुछ उन्होंने थी कही, वह बात हम लिखते यहीं—
—"हम कर चुके हैं सेठ जी के पत्र पर अक्षर तभी,
झगड़ा न करिये आप, पाएँगे न वे रुपये कभी !!" २८

जाता सुना है—'तीन-सौ की घूंस इन के भी लगी !'
जब घूंस खाई जायगी, क्या धर्म-धी रह जायगी ?
महाराज ने देखा—"टकों से 'धर्म' हलका हो गया !
करते न जन हा ! न्याय के गल घोटने में अब दया !!" २९

छोड़े न पण्डित-मण्डली अब धर्म भारतवर्ष में !
हा ! 'सत्य' पिसकर मिट रहा, अन्याय के संघर्ष में !!
हा ! धर्म-तनु पर पापियों का बाण-वर्षण हो रहा !!
हा हा ! बुधों का कर्म कैसा लोम-हर्षण हो रहा !!!" ३०

उस धर्म-भास्कर को अहो ! महाराज ने देखा ढका !
फिर आगये मथुरा, नहीं जब आगरे कुछ हो सका !
जब सोचते थे—'पाप का कैसा प्रबल-उत्थान यह ?
बुध 'सत्य' मर्दन कर, टकों का निन्द्य गाते गान यह' ३१

रह रह उन्हें तब धर्म-हित आता अधिक आवेश था !
तब पाप-नाश-निमित्त उन का क्षुब्ध-सा हृदेश था !!
तप-तप्त-तनुओं के सरल-से आत्म-क्षेत्रों में अहो !—
क्रुध्-जन्म भी वह धन्य है जो पाप-नाश-निमित्त हो !!! ३२

था वहां अन्याय का अन्तिम-अँधेरा हो रहा !
अति व्यग्र आने के लिये तब था सवेरा हो रहा !!
पहले कभी जो तुच्छ-सी घटना हुई देखी गई—
पीछे महत्व-भरी वही संसार से लेखी गई !!!—३३

"ढकना हिलाती वाष्प हित है आज इञ्जन के लिए !
क्या हित हुआ वह सेब गिरना ही न "न्यूटन" के लिए !!
इस ही लिये क्या मार्ग को वह भूल "कोलम्बस" गया—
खोया (?) हज़ारों वर्ष का 'पाताल-देश' मिले नया !!!" ३४

होते न धार्मिक-कार्य भी जब तक न मन में कष्ट हो !—
"हो 'राम' के मन में न दुःख, तो क्यों असुर-कुल नष्ट हो ?
उन "कौरवों के नाश से पहले दुखी भी 'पाप' था !
श्रीमान् का भी दुःख वह बस, धर्म-उद्धारार्थ था !!" ३५

उस धाँधली के काम से जो क्षुब्ध उन का चित्त था—
बस, मान लो—'वेदाऽर्थ के उस तालिकाप्ति-निमित्त था !'
यों सोच, रहते खोजते 'व्याकरण के पुस्तक' वहीं—
हो 'सत्य की जय' सिद्ध, जो ऋषि वाक्य मिल जाए कहीं ! ३६

वे चाहते ऋषि-वाक्य वह थे, जो 'प्रमाण' स्वयं बने !
जिस के हटाने में न माता, 'पूत' कोई भी जने !!
जिस बिन 'हमारी सभ्यता' का हो रहा था मरण वह !
लो, मिल रहा अब देखिए—व्याकरण का व्याकरण वह !! ३७

द्विज दक्षिणी था पाठ कर 'अष्टाध्यायी' का रहा,
प्रात: समय, जिस विध नियम से नित्य करता आ रहा !
अब तक सुनें दीवार थीं, चाहे करे वह नित्य था !
सुनना-समझना भी भला क्या तुच्छ-सा ही कृत्य था !! ३८

उस पाठ को स्थित प्रज्ञ हो, सुनते तपस्वी भी रहे,
सुन कर, स्मरण कर और फिर सुविचार—धारा में बहे !
श्रीमान का तब वृद्ध परमानन्द-पारावार था !
हृद्—गत हुई वह, व्यक्त औ, निकला यही उद्गार था—३९।

"व्याकरण में पाणिति-प्रगुम्फित-ग्रन्थ ही यह आर्ष है !
जो 'चन्द्रिका' वा कौमुदी' है, त्याज्य, निन्द्य, अनार्ष है !!"
ज्यों वाष्प के गुण जान कर, 'इञ्जन' बनाया है गया,
प्राचीन उस पाताल को भी ढूंढ ज्यों पाया नया ॥४०॥

गिरते रहे बहु सेब थे पर 'अर्थ' न्यूटन ने किया,
श्रीमान् ने त्यों पुण्य-पाणिनि-ग्रन्थ-गुण फैला दिया !
सच, वाष्प-गुण-ज्ञाता नहीं वह काम क्या क्या कर चला ?
इस ग्रंथ-गुण के ज्ञान से क्या न अब होगा भला ? ४१

फिर 'महाभाष्य', 'निरुक्त' का कैसे पता चलता नहीं ?
औ, वह चतुर्थ-निघण्टु कैसे प्राप्त हो सकता नहीं ?
जब पूर्व-पूर्व सु-ग्रंथ का करते रहे थे वे मनन,—
तो, उत्तरोत्तर—ग्रन्थ का हृत् में हुआ फिर आगमन ! ४२

केवल श्रवण से आप पाणिनि-सूत्र हृद्-गत होगये !
वे खुल हृदय में शेष पुस्तक तीन भी उन को गये !!
वाचक ! न पढ़ते ही चलो, कुछ सोच मन के बीच लो,
केवल श्रवण कर, धारने में जांच तो काठिन्य लो !!! ४३

करने लगा, तब नृत्य (ग्रन्थों के सु-चारु-विचार से-)
ऋषि-काल वह जो गुप्त—सा था वर्ष पांच हज़ार से !
वे ग्रंथ पूर्वज—आर्यों की सभ्यता, कौशल, कला,—
विज्ञान, विद्योन्नति प्रभृति को खोल गाते थे गला !! ४४

सच, वे 'निरुक्त—निघण्टु' क्या हैं ?—'दिव्य—ज्योतिस्तम्भ हैं !
सम्पत्-कला-सुख-स्रोतमय शुचि-वेदामार्गाऽऽरम्भ हैं !!
पाठक ! कहें हम-'चार ग्रन्थों को प्रगुण-पारस' कहीं—
अत्युक्ति तो कहने हमारे में तनिक भी है नहीं !!! ४५

खोजें न जो 'पारस' कहीं महाराज अन्तर्-ध्यान से—
तो, नाम 'विरजानन्द जी, का कौन लेता मान से ?
जो नर करें-'वेदार्थ के विज्ञान की शुभ-कामना'—
तो, वे करें इन चार ग्रंथों की प्रथम शुभ—मानना ! ४६
इन बिन, अंधेरे में टटोला वेद जिसने भी कभी
केवल निगम में 'भूत-पूजा' ',प्रार्थना' पाई तभी !
जो चाहता इतिहास आदिम इस जगत् का जानना,
वेदाऽर्थ के विज्ञान की हो जिस हृदय में कामना, ४७

जो चाहता है देखना शुचि-वेद में 'कौशल', 'कला'—
वह जाय वैदिक-विश्व में इन को पकड़ सीधा चला !
जिस 'सूत्र' ने उन के विजय की पूर्व ही की घोषणा—
वाचक ! न उसके जानने में हर्ष क्या होगा घना ? ४८

पाणिनि-रचित वह सूत्र—"कर्तृ कर्मणोः कृतिः " है लिखा,
उस धाँधली को अन्त में जिस ने दिया नीचा दिखा ?
फिर 'चन्द्रिका' औ' 'कौमुदी', 'मुक्तावली', 'शेखर' सभी—
कितनी अशुद्ध बनी हुई हैं ?—हो गया निश्चय तभी ! ४९

पण्डा सभी उन पण्डितों ने खो इन्हीं के बीच ली !
अन्धेर में होती इन्हीं के आरही वह धाँधली !!
यह ही, अशुद्ध—कु-पुस्तकें थे पाँच शिष्य पढ़े वहीं—
महाराज पर इन पुस्तकों को अब पढ़ाने के नहीं ! ५० ॥

ठठोली !

ग्रामीण—महाशय ! सुनाईये क्या हाल है ? आप इतने दिन कहां रहे? मैं कई दिनों से आप के दर्शनों का इच्छुक था। सुना था लाहौर समाज के जलसे पर गये हुए हैं। जलसा कैसा हुआ ? क्या रंग ढङ्ग रहा?

दर्शक—हां ! इस बार समाजों में मिलाप की बहुत चर्चा थी। जिधर देखो दो चार व्यक्ति मिलाप की चर्चा करते थे। वच्छोवाली समाज के अधिकारियों ने एक मिलाप कांफ्रेन्स भी बुलाई थी।

ग्रामीण—कान्फ्रैन्स कैसी रही ? कुछ हमें भी तो सुनाइये। यदि पंजाब की दोनों समाजों में मिलाप हो जाय तो बड़ा उत्तम हो।

दर्शक—किन्तु मिलाप कान्फ्रैंस से विरोध की वृद्धि ही हुई। आपस में खूब गाली गलौज हुआ।

ग्रामीण—दोनों पार्टियों में विरोध का कारण क्या है ?

दर्शक—आर्य समाज में दो दल हैं। एक मांस का पक्षपाती है और दूसरा मांस विरोधी। कल्चर्ड और महात्मा इन्हीं दलों के पर्याय हैं। दोनों दल वेद को प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं वेद में मांस खाने वालों को पिशाच कहा है और दोनों में यही भेद का कारण है।

ग्रामीण—पर कल्चर्ड भी तो मांस को वेद के अनुकूल नहीं मानते।

दर्शक—ठीक है पर कहने और करने में बड़ा अन्तर है उन के प्रायः कई एक नेता मांस भक्षी हैं। उनके कालिज के अधिकारी मांस की दावतें करते हैं, फिर उनको मांस विरोधी कैसे कहा जाय ?

ग्रामीण—मनुष्य में अनेक कमियां हैं। वह पूर्ण नहीं है। मांस खाना भी मनुष्य की कमज़ोरी माना जा सकता है। हमें उनके वचन पर विश्वास करना चाहिये, उनका मांस खाना सिद्धान्त के अनुकूल नहीं, पर कमज़ोरी का द्योतक है

दर्शक—यदि आपका Logic ठीक माना जाय तो उन्हें अपनी कमज़ोरी को स्वीकार तो करना चाहिये, वे तो इसे अभिमान का कारण समझते हैं। अभी जल्से के उपरान्त ही कालिज के एक लाईफ़ मैम्बर ने सभा के एक उपदेशक पर इसलिये मुकद्दमा दायर किया है क्योंकि उसने मांसभक्षी को दुष्ट नाम दिया था।

ग्रामीण—जब वेद ही मांस भक्षी को पिशाच नाम देता है तो दुष्ट सम्बोधन में क्या गुनाह है ? मैं तो स्वार्थ को ही विरोध का कारण समझता था, अब मालूम हुआ सिद्धान्त हत्या ही विरोध का कारण है। मेरी सम्मति में सिद्धान्त हीन मिलाप से विरोध ही अच्छा है।

दर्शक—यही तो हमारा भी कहना है। अच्छा नमस्ते ! फिर कभी दर्शन करूंगा।

आर्य्यसमाज का राजवी तेज।

(ले० विद्याविनोद कुं० जगदीशसिंह गहलोत, एम० आर० ए० एस०, जोधपुर)

अत्यन्त खेद के साथ यह समाचार आर्य्य संसार में बिजली के धक्के की नाईं फैल गया कि आर्य्यसमाज का एक राजशाही वीर, आर्य्य धर्म और सभ्यता का पोषक, सादगी व उच्च विचार का पुंज इस असार संसार से अकस्मात् हृदयगति के रुकने के कारण चल बसा।

श्रीमान् रावराजा तेजसिंहजी बहादुर जोधपुर राज्य के गण्यमान्य रईसों में बयोवृद्ध, साहित्यप्रेमी, देशभक्त और वेदानुरागी थे। इनके स्वर्गवास से आर्य्य नैयाका मल्लाह ही उठगया।

श्रीमान् रावराजा साहब का शुभ जन्म जोधपुर किले के बादलमहल में फाल्गुन वदी ७ सं० १९१३ विक्रमी (१६ फरवरी सन् १८५८ ई० सोमवार) को हुआ था। यह जोधपुर नरेश स्वर्गीय हिजहाइनेस राठौड़ कुलतिलक, राजराजेश्वर महाराजाधिराज महाराजा सर तख्तसिंह साहब बहादुर जी० सी० एस० आई०, की सन्तति में एक योग्य व समझदार व्यक्ति थे। बाल्यावस्था से ही आप को विद्या की ओर रुचि थी, जो कि दयानन्द के सत्सङ्ग से ही प्रोत्साहित हुई थी।

इसी समय (सं० १९४०) में महर्षि दयानन्द के राजपूताने में भ्रमण करने व धर्म-प्रचार की धूम व विद्वत्ता को सुनकर रावराजा साहब के मन में प्रबल उत्कण्ठा हुई कि महर्षि के उपदेशों से मारवाड़ राज्य में धार्मिक, सामाजिक व राजनैतिक सुधार कराया जावे। अत: प्रधान-मन्त्री महाराजा सर प्रताप से परामर्श करके इन्होंने जोधपुर नरेश महाराजा सर जसवन्त सिंह जी साहब बहादुर जी० सी० एस० आई० से एक हस्तलिखित रुक्का (निमन्त्रणपत्र) उदयपुर राज्य जहां स्वामी जी उस समय थे, भिजवाया और स्वयं उनकी अगवानी के वास्ते मय घोड़े, हाथी ऊंट, गाड़ी लेकर गये। जबतक स्वामीजी जोधपुर में रहे रावराजा जी हरदम उनकी सेवा में महाराजा साहब की खास आज्ञा से उपस्थित रहते थे और सदुपदेश से अपना जीवन सफल करते थे। स्वामी जी का भी इन के प्रति बड़ा प्रेम था जैसा कि उन के कई पत्रों से प्रगट होता है।

स्वदेशी वस्तु के तो आप इतने प्रेमी थे कि इन्होंने पहले ही निश्चित कर अपने सुयोग्य पुत्रों को आज्ञा देदी थी कि मृत्यु समय भी मैं स्वदेशी गाढ़ा कपड़ा (खादी) पहिने हुए और आर्य्यसमाज के सभ्यों द्वारा वेदमंत्र सुनाते हुए मरघट ले जाया जाऊं और ऐसा ही उस रोज १७ नवम्बर के सुबह हुआ।

स्वर्गीय रावराजाजी की धर्मपत्नी जीवित हैं। पुत्र दो रावराजा गुलाबसिंह और रावराजा शिवदानसिंह A. D. C. नामक हैं। पौत्र भी दो हैं। ईश्वर से हमारी प्रार्थना है कि वह राव-राजा जी की दिवंगत आत्मा को तथा उन के परिवार को शान्ति प्रदान करे।

आर्य्य

स्वर्गीय रावराजा श्री तेजसिंह जी महोदय ।

भूत विद्या (SPIRITUALISM.)

[श्री केशवदेव ज्ञानी 'आन्ध्र आर्यन मिशन' गन्तूर, मद्रास ।]

(२)

मानसिक इलाज [FAITH HEALING.]

स्थूलतया यह कहा जासकता है कि शरीर 'मन' के लिये है । यदि शरीर नीरोग और स्वस्थ है तो स्वभावतः मन भी प्रसन्न होगा। परन्तु शरीर की कमज़ोरी और रोग की अवस्था में मन भी दुःखी और बीमार प्रतीत होता है। ठीक इस के विपरीत मन का शरीर पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि मन में कोई चिन्ता और व्यथा नहीं है तो स्वभावतः शरीर स्वस्थ प्रतीत होता है, भूख खूब लगती है, खाना स्वाद से खाया जाता है और वह पच भी ठीक जाता है। परन्तु जब मन किसी व्यापार, घर या और किसी नुकसान की फ़िक्र से घबराया हुआ होता है, तब उस का परिणाम थोड़ा भोजन किया भी ठीक नहीं पच सकता, खट्टे डकार आने लगते हैं, कब्ज की शिकायत हो जाती है, इत्यादि। इसी तरह जब मनुष्य प्रसन्न हो तो गालों पर हलकी २ लाली और आंखों में चमक इत्यादि नज़र आते हैं । परन्तु उसी के क्रुद्ध होने पर आखें लहू के समान लाल, मुख का पीलापन, होठों का फड़कना, और जिह्वा का कड़वा स्वाद इत्यादि अनुभव होने लगते हैं । इस तरह शरीर का मन पर और मन का शरीर पर कितना गहरा प्रभाव है इसे आसानी से समझा जासकता है।

*　　*　　*　　*　　*

पश्चिम में लगभग गत ३० वर्षों से "मनो विज्ञान" के अन्वेषण में विशेष प्रयत्न होरहे हैं। अभी पिछले दिनों एक अंग्रेज़ Mr. Pierre Janet ने एक पुस्तक लिखी है जिस का नाम है "Psychological Healing"। इस में मनोविज्ञान के 'हिप्नोटिस्म' 'मैस्मरिज़्म' 'सजैशन-क्योर' इत्यादि विषयों को भौतिक विज्ञान की तरह से वर्त्ता गया है। लेखक का विचार है कि "Diseases were suggestions; so were cures; education was suggestion; so was religion, etc., etc.,"अर्थात् वस्तुतः सब बीमारियें मानसिक-प्रेरणाओं का परिणाम हैं और वही हेतु सब इलाजों का है। शिक्षा भी एक मनो प्रेरणा है और धर्म भी वही। इत्यादि।"

बाइबल में श्रद्धा और विश्वास की कई करामातें दिखलाई गई हैं। सेण्ट मैथ्यू के १५ वें अध्याय में जब कि क्राइस्ट 'सोबन' के किनारे घूम रहा था, एक स्त्री उस के पास आती है और कहती है—"मेरी लड़की बड़ी सख़्त बीमार है, मेरे पर दया कर।" क्राइस्ट पहिले कुछ उत्तर नहीं देता। परन्तु उस के बहुत अनुनय विनय करने पर यह शब्द कहता है—'O woman, great is thy faith, be it unto thee even as thou wilt" अर्थात् तुम्हारा विश्वास मेरे प्रति बहुत अधिक है, इस लिये जाओ जैसा तुम चाहते हो वैसा ही होवे।" यहां पर बाइबल-लेखक कहता है कि ठीक उसी घण्टे से उस की लड़की अच्छी होगई।"

पाठकों को यह शायद 'आश्चर्य मालूम होगा और वे आसानी से विश्वास न करेंगे। इसीलिये हम एक उदाहरण वर्त्तमान काल का देते हैं। Emily cone of Naucy फ्रांस का एक प्रसिद्ध डाकृर है। इसी के नाम पर Cyuism का सिद्धान्त है। इस के इलाज का विचित्र ही तरीका है। यह अपने मरीज़ों को प्रति प्रातः काल एक खुले स्थान में खड़ा कर के निम्न वाक्य का पाठ करवाता है। Day by day in every way I am getting better and better" अर्थात् दिन प्रति दिन मेरी स्वास्थ्य अच्छा होरहा है। यह मंत्र ही औषध है, और यह मंत्र ही इलाज है। कोई बीमारी हो और किसी भी स्टेज में हो सब इस "रामबाण से अच्छी हो जाती हैं। और यही कारण है कि उस के रोगियों की संख्या अब भी प्रति दिन बढ़ती जाती है।

* * * * *

"मोहिनीकरण" या Hypnotism के दो भेद हैं। १म जिस में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपने मानसिक-प्रभाव में लाकर उस से अभीष्ट कार्य करवाता है। और २य, जिस में मनुष्य अपने आप को कुछ समय के लिये मूर्छित करके इच्छित कार्य करता है। पहिले को साधारण-हिप्नोटिज़्म और दूसरे को Auto हिप्नोटिज़्म कहते हैं। हिप्नोटिज़्म के सिद्धान्त को जानने के लिये एक बात समझना अत्यावश्यक है। हमारे मनुष्य-शरीर के भिन्न २ अवयव हाथ, पैर, नाक, मुंह इत्यादि हैं। इन सब को जोड़नेवाली एक त्वचा है। इस त्वचा की पतली परत के साथ अनन्त नाड़ियों का समूह है जिसे "ज्ञान-तन्तु-संस्थान" या Nervous system कहते हैं। इसी 'नर्वस सिस्टम' द्वारा मानसिक चेतना

तथा आज्ञाएं सिर से पैर तक पहुंचती हैं। निद्रा और स्वप्न की अवस्था में इस 'तन्तु-संस्थान' के अपने कार्य बन्द कर देने पर मनुष्य अचेतन सा होजाता है। हिप्नोटिज़्म और निद्रा की दशा में केवल इतना ही अन्तर है कि जब पहिली अवस्था किसी ओपरेटर या अपनी इच्छा (will) के प्रभाव से लाई जाती है, वहां दूसरी—निद्रा, स्वयमेव ही 'नर्वस-सिस्टम' के थकने पर आती है।

एक डाक्टर का कहना है कि हमारे ९० प्रति शतक कष्ट और बीमारियें, हमारी अपनी पैदा की हुई हैं। ज़रा सी तकलीफ़ हो और ज़रा सी कहीं चोट लग गई हो, हम उसे लगातार मानसिक-सङ्कल्प द्वारा एक बड़ा घाव बना देते हैं। और इस कु-सङ्कल्प या Evil-suggestion का कई बार इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि मरीज़ बड़ी मामूली सी बीमारी से जो कि साधारण अवस्था में यों ही अच्छी हो जाती, अपने कृत्रिम भयों के कारण सचमुच मृत्यु का ग्रास बन जाता है। हमारा मन किस प्रकार बीमारियाँ पैदा कर सकता है, इसके लिये हम नीचे का एक वास्तविक उदाहरण देते हैं:—

"माता का पुत्रों के प्रति प्रेम प्रसिद्ध है। एक बार एक माता श्रीमती "त" अपने छोटे लड़के को कमरे में खेलते हुए देख रही थी। इतने में लड़के की गेंद अचानक खिड़की के शीशे पर लगी और वहां का एक बड़ा शीशे का टुकड़ा जुदा होकर लड़के के दाएं हाथ की पिछली ३ अङ्गुलियों पर लगा। लड़के के हाथ से खून बहने लगा। इतने मे एक डाक्टर को बुलाया गया और उस ने लड़के के घाव को धोकर पट्टी बांधी। इतने में लड़के की माता ने भी अपने दाएं हाथ दुखने की शिकायत की। डाक्टर ने देखा कि माता की भी वही ३ अङ्गुलियां सूज गई हैं, और उन में पस भर रही है।"

पाठक ध्यान रक्खें कि इस घटना से पहिले बच्चे की माँ को कोई शिकायत न थी।

अंग्रेज़ी भाषा में दो परस्पर विरुद्ध कहावतें हैं जिन का स्मरण रखना लाभदायक है। १म, An ounce of care will kill a man. अर्थात् चिन्ता की आधी छटांक मनुष्य को मार सकती है। २य, Laugh and grow fat. अर्थात् हंसो और मोटे होवो। सचमुच, जिन्हें कभी किसी नेता या महापुरुष के सहवास का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे जानते हैं कि बिना 'हंसी' के और दिनभर लम्बा मुंह बनाए रखने से जीवन कितना दूभर सा हो जाता है। इस विषय के लिये महात्मा गाँधी का 'कहकहा' मारकर हंसना हमें कभी नहीं भूलता। और

हम सचमुच विश्वास करते हैं कि यदि महात्मा जी को 'हंसने' की आदत न होती तो वे अवश्य इतने कार्य भार और चिन्ताओं से घिरे हुए कब तक के स्वर्ग लोक के अतिथि बन चुके होते।

"समाधि" योग की ८वीं पौड़ी है। इस में और सुषुप्ति में थोड़ा ही अन्तर है। दोनों में बाह्य-शारीरिक-चेतना नहीं रहती। परन्तु समाधि का सुषुप्ति से भेद इतना है कि जहां सुषुप्ति में मन और बुद्धि सोये हुए से होते हैं वहां समाधि में ये दोनों अपने आत्मा स्वरूप अथवा ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। श्री राम कृष्ण-परम हंस की समाधिस्थ दशा में बहुत कम को सन्देह होगा। यहां पर पाठकों के ज्ञान के लिये हम एक विचित्र घटना का ज़िक्र करते हैं जो कि इटली के एक नगर Cosenza से मील१६ दूर पर हुई है। "MontaltoUffugo" गांव में Elena Ajello नामक एक युवा स्त्री है। यह शरीर से बड़ी कमज़ोर और सदा बीमार रहती है। इसके विषय में कहा जाता है कि वह मार्च और एप्रिल के प्रति शुक्रवार को और विशेषतया Good Friday के दिन खून का पसीना चुआती है। सन् १९२५ के "गुड फ्राइडे" के दिन लगभग १०००० आदमी उस छोटे से गांव को देखने के लिये गये। उन में कई डाक्टर, कई वैज्ञनिक और कई प्रोफेसर भी थे। लगभग १२ बजे दोपहर को Elena Ajel'o जीसस क्राइस्ट के जीवन का ध्यान करती हुई अचेतन होगई। स्वप्नावस्था में वह जीसस की जीवन कथा का मनन करती रही। लगभग ३ घण्टे के बाद उस के हाथों और पैरों में बेहद व्यथा होने लगी, मानों कि कोई कीलें गाड़ रहा है। थोड़ी देर बाद उस से एक चीख़ निकली और ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानो उस के सिर पर कांटों की टोपी रखी जा रही है। अब उस के मस्तक, हाथ, घुटनों और पैरों से खून चूने लगा। और यह अवस्था करीबन ३ घण्टे तक जारी रही।"

ऐसे दृश्य को देख चुकने के बाद जब डाक्टर और वैज्ञानिक लोग बाहर आए तब उन से उन की सम्मति पूछी गई। परन्तु वे इस का 'शारीरिक बाह्य कारण' बताने में असमर्थ हैं।

यह है मन का शरीर पर प्रभाव। इसी लिये वेद में बार २ प्रार्थना कीगई है—

"आकूतीं देवीं सुभगां पुरो दधे ॥" अथर्व०।

मैं हमेशा दिव्य गुणों वाली और अच्छे ऐश्वर्य को पैदा करने वाली "संकल्प शक्ति" को धारण करूं॥

लाहौर आर्य्यसमाज का ४८वां वार्षिकोत्सव

पञ्जाब की आर्यसमाजों में लाहौर समाज का वार्षिकोत्सव एक विशेष स्थान रखता है। महीनों पूर्व ही आर्य जनता बड़े तृषित नेत्रों से इस की प्रतीक्षा में लगी रहती है। इस वार भी यह उत्सव हुआ और खूब चहल पहल और बड़ी सजधज के साथ हुआ। इस के पूर्व ३ दिनों की कार्यवाही अन्य मतावलम्बियों के साथ शास्त्रार्थ आदि के कारण सर्व साधारण के लिये बहुत ही रोचक तथा चित्ताकर्षक होती है। तदनुसार २४ नवं. को अहमदियों के साथ 'पुनर्जन्म' विषय पर शास्त्रार्थ हुआ। आ स. की ओर से उसके सुप्रसिद्ध पंडित रामचन्द्रजी देहलवी तथा अहमदियों की ओर से मौलवी अस्मत्तुल्ला थे। आदि से अन्त तक शास्त्रार्थ में कोई किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं हुई। पण्डित जी ने विषय को श्रोताओं के सन्मुख इस ढंग से रखा कि स्वपक्ष तथा परपक्ष दोनों ओर के श्रोताओं के हिलते हुए सिर इस बात की साक्षी दे रहे थे कि निस्सन्देह विजय का सेहरा पण्डित जी के सिर पर ही है। अगले दिन सनातन धर्मावलम्बियों के साथ शास्त्रार्थ था। उधर से श्री पं. गौरीशंकर जी तथा इधर से श्री पं. बुद्धदेव जी स्नातक गुरुकुल कांगड़ी शास्त्रार्थ करने वाले थे। विषय 'वर्णव्यवस्था' था। जिन्हों ने कभी पं. बुद्धदेव जी को शास्त्रार्थ के मैदान में खेलते देखा है वह कल्पना कर सकते हैं कि शास्त्रार्थ का परिणाम क्या हुआ होगा? सनातनी पण्डित ने सिर तोड़ कोशिश की कि वह पण्डित जी को विषय की ऊपरी उलझन में ही उलझाए रखें पर पं. बुद्धदेव जी ने वह दाव खेला कि पण्डित जी को झख मार कर मैदान में आना ही पड़ा। बस, अब क्या था? शूरवीर की पहिचान ही युद्ध क्षेत्र में है। अब तो सनातनी पण्डित को नौ दो ग्यारह होने के कोई और चारा ही न रहा। जब तक तो दम में दम रहा लड़ते रहे—शान जो रखनी थी! परन्तु कब तक? अन्त में आपने वही अमोघ अस्त्र पकड़ा जिस के लिये सनातनी पण्डित आज तक सभ्य संसार के सामने मुंह नहीं दिखा सकते। अन्तिम वार में बोलते हुए पं. गौरीशंकर जी ने स्पष्ट ही कह दिया कि यदि ऐसी हालत रही (अर्थात् बीच २

में शोर मचाता रहा) तो वह पं. बुद्धदेव जी की अपनी वार में उन्हें न बोलने देंगे। श्री गौरीशंकर जी यह कह कर बैठ गए और अब पं. बुद्धदेव जी की वारी आई। दिल में इतना धैर्य कहां कि जहाँ अपनी सुनाई वहाँ दूसरों की भी सुन तो लें। क्या करते ? वहां तो पण्डित जी के वाक्रूपी युक्तिप्रहार से दिल छलनी होचुका था। अब तो पं. जी का एक २ शब्द जले पर निमक का काम कर रहा था। उपस्थित जनता इस बात की साक्षी है कि यदि पं. गौरीशङ्कर जी व उन के सहचरों को सत्य की खोज होती तो वह सिर झुका कर सत्य की शरण में आजाते। परन्तु न, वहाँ तो कुछ और ही भाव काम कर रहे थे। पं बुद्धदेव ने बोलना शुरू ही किया था कि सामने एक कोने से शोर होना शुरू हुआ और वह शोर वाणी से कर्म में प्रवृत्त होगया और डंडे चलने लगे। शास्त्रार्थ शस्त्रार्थ में परिणित हो चला। क्या करते, पण्डित गौरीशङ्कर जी को अपनी वात रखनी थी। वह कह जो चुके थे कि वह पण्डित जी को न बोलने देंगे। अब भला वह अपने वचनों से कैसे टलते—'रघुकुल रीति सदा चली आई प्राण जाय पर वचन न जाई'। निस्सन्देह सनातनी पण्डित ने अपनी हुल्लड़ बाज़ी से उत्सव में गड़बड़ डाल दी। सारी उपस्थित जनता इस बात की दाद देगी। किन्तु उन्हें यह याद रखना चाहिये कि इससे विद्वत्समाज में उन का दरजा कुछ बढ़ नहीं गया है अपितु घट ही गया है। इस के अतिरिक्त, विरोधी पण्डित की सैंकड़ों युक्तियों से शायद् उनका पक्ष, उतना खंडित न हुआ हो जितना कि पण्डित जी के अपने इस सद्व्यवहार से। उस समय पण्डित जी स्टेज पर खड़े इस तरह से दुतरफे हाथ मार रहे थे कि मानो उन की हार स्वयं मूर्तरूप में ताण्डव नृत्य कर रही हो। हमने अपने जीवन में पराजय को यदि कभी नग्न ताण्डव नृत्य करते देखा है तो वह वहीं २५ नवम्बर को रात्री के १० बजे उस लंगेमंडी तालाब के पास वाले सभामंडप में।

इस अवसर पर दोनों ओर से कुछ साधारण हाथापाई भी हुई जो कि दोनों पक्ष वालों के ही लिये अत्यन्त लज्जास्पद बात थी। परन्तु प्रसन्नता है कि यह विरोधी भाव वहीं समाप्त होगए और आगे न फैल सके।

श्रीमालवीय जी आर्यसमाज पर

यह आर्यसमाज का सौभाग्य ही समझना चाहिये कि उस पर समय २ पर देश के महान पुरुषों की कृपा होती रहती है। पिछले दिनों लाहौर में पञ्जाब प्रान्तीय सनातनधर्म सभा का अधिवेशन हुआ। उस को देखकर विचार होता था कि शायद अब हिन्दू जाति

ने करवट बदली है और वह अपने कुकर्मों का प्रायश्चित्त किया चाहती है। उस में मन्दिर सुधार आदि विषयों पर प्रस्ताव भी पास किये गए—बहुत अच्छा! किन्तु यदि बात आत्मसुधार तक ही परिमित रहती तो शायद अच्छा था। किन्तु उस में कहीं २ जोश की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। इस बात का इस से बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता था कि पं० मालवीय जी जैसे शान्त प्रकृति व्यक्ति को भी कुछ जोश आ ही गया। आप ने बोलते २ कहीं कह दिया कि यदि समय मिला तो वे आर्यसमाजियों को पुराणों तथा उन की सचाइयों पर विश्वास करा देंगे·········इत्यादि। आप कह तो बैठे किन्तु उस समय सोचा न कि इस का परिणाम क्या होगा। उन का यह कहना था कि आर्यसमाज की ओर से एक नहीं, दो नहीं, अनेकों पत्र उन के पास इस विषय के पहुँच गए। अब मालवीय जी को मुश्किल पड़ी और समझे कि किन के साथ उन्हें पाला पड़ा है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि हमारे सनातनधर्मी भाई जब तक पुराणों के पीछे इतने बलपूर्वक पड़े रहेंगे तब तक उन की सद्गति नहीं है। अब तो इसी में भला है कि वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हुए तद्विरुद्ध सभी ग्रन्थों को एक दम भस्मसात् कर दिया जाय। इस से अच्छी बात तो यही है कि हमारे सनातनधर्मी भाई यदि वेदों तथा आर्ष ग्रन्थों तक नहीं पहुँच सकते तो वे गीता को ही प्रामाणिक पुस्तक मानकर उसी के ध्येय पर चलने का यत्न करें। इस में उन्हें बहुत उच्च शिक्षाएं प्राप्त हो सकेंगी। पुराणों के पीछे पड़े रहना और उन की शिक्षाओं को सत्य सिद्ध करने का यत्न करना सिवाय रेत में से तेल निकालने के और कुछ नहीं है। देश की अधोगति की ओर दृष्टिपात करते हुए यह बात भली भांति समझ में आ सकती है कि विशेषतः इस समय में पुराणों की शिक्षा देश और जाति के लिये कितनी घातक और विषमय सिद्ध हो रही है। यही कारण है कि आर्यसमाज अपने प्रारम्भकाल से ही इस का विरोध करता चला आ रहा है। अन्यथा यह समझना कि आर्य समाज को शायद पुराण के पन्नों से इतना विरोध है, सरासर भूल है। आप पुराणों को पृथक् रख दीजिये फिर देखिये कि आर्यसमाज और सनातनधर्म में क्या विरोध है। फिर आप को मालूम पड़ जायगा कि हम दोनों एक दूसरे के दूर होने की अपेक्षा कितना अधिक पास पड़े हुए हैं। पुराणों की शिक्षा एक प्रकार की धुन्ध है, कोहरा (Mist) है जो इतने पास बैठे हुए भी हमें एक दूसरे को यथार्थ रूप में पहिचानने नहीं देता। इसी को दूर कर दीजिये फिर

सर्वत्र एक ही धर्म, एक ही विचार, और एक ही आचार का प्रचार होजायगा। नहीं तो आर्यसमाज अपना काम कर ही रही है और उस का परिणाम अवश्य ही निकलेगा और निकल रहा है। यदि सनातनधर्मी भाई इस में उसका हाथ बटावेंगे तो भला, नहीं तो उन्हें याद रखना चाहिये कि कौवे के न बोलने पर भी दिन तो निकल ही आता है।

मिलाप का प्रश्न दोनों आर्यसमाजों में मिलाप का प्रश्न बहुत देर से उठ रहा है। इस से मालूम पड़ता है कि आर्य जगत् की बहु सम्मति मिलाप के पक्ष में है। और बाह्य दृष्टि से यही मालूम पड़ता है कि जो व्यक्ति मिलाप का विरोध करता है वह आर्यसमाज का सब से बड़ा शत्रु और अहितचिन्तक है। किन्तु फिर भी हम देखते हैं कि कई महानुभाव मिलाप का विरोध करते हैं। क्यों? इस का अवश्य कोई कारण होना चाहिये। वह क्या है? यही कि सिद्धान्तों को छोड़कर मिलाप करना मिलाप नहीं किन्तु द्वेषभाव की वृद्धि और ऋषि के मिशन का खून करना है। आज यदि एक मांस भक्षण के सिद्धान्त को ढीला कर देने से एक आर्यसमाजी आर्यसमाजी ही नहीं किन्तु आर्यसामाजिक कार्यों का प्रमुख—रह सकता है तो क्या कारण है कि कल गुण कर्मानुसार वर्णव्यवस्था एवं एकेश्वर पूजा में विश्वास न रखता हुआ भी एक आर्यसमाजी आर्यसमाजी न रह सके। तात्पर्य, यह विवाद एक मांस भक्षण पर नहीं है। विवाद है सिद्धान्त पर। कुछ एक सिद्धान्त ही धर्मों की जान और उन की आत्मा हुआ करते हैं। सिद्धान्तों में ढील डालकर धर्म से प्रेम करना आत्मा रहित शरीर या मिट्टी के पुतले से प्रेम करना है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म के आधार में सदैव कुछ एक सिद्धान्त ही हुआ करते हैं जो उस के लिये आधार स्तम्भों का काम किया करते हैं। जिस प्रकार से स्तम्भों के बिना वह भव्य भवन एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता ऐसे ही सिद्धान्त रहित धर्म आज भी गिरा और कल भी।

आज तक दोनों पार्टियों में मिलाप के लिये बड़े २ महापुरुषों ने समय २ पर सिर तोड़ यत्न किया किन्तु वे प्रायः असफल रहे। क्यों? कारण यही है कि अब तक दूसरी पार्टी की (कम से कम इस विषय में) कोई नीति स्थिर नहीं है। एक ओर कहा जाता है कि हम मांस भक्षण को वेदानुकूल नहीं समझते और दूसरी ओर अपने प्लेटफ़ार्म से मांस भक्षण के विरोधी व्याख्यानों को होते २

रोक दिया जाता है। यह दुतरफ़ा नीति समझ में नहीं आती। यदि तो आप मांस भक्षण को वेद विरुद्ध समझते हैं तो उस के खण्डन में रुकावट क्या, और यदि वेदानुकूल या वेदविरुद्ध समझते हैं तो एक व्यक्ति माँस भक्षण करता हुआ आर्यसमाजी कैसे ? दिन और रात की भांति दोनों बातें एक जगह पर नहीं रह सकतीं। यह बात आज हमें दृढ़ रूप से समझ लेनी चाहिये कि मांस खाता हुआ या कोई भी दुष्कर्म करता हुआ एक व्यक्ति आर्यसमाजी नहीं रह सकता। और यदि एक विषय में ढील छोड़ी जा सकती है तो क्यों न अन्यान्य विषयों में छोड़ी जानी चाहिये। हमारी सम्मति में मांस भक्षण तो प्रथम क़दम है और यदि इस का आर्य जनता ने बलपूर्वक फ़ैसला कर दिया तब तो विजय ही विजय है और नहीं तो यदि यहां पैर फिसल गया तो फिर आगे की तो ईश्वर ही जाने ! हमारी सम्मति में यदि दूसरा दल इस बात का दृढ़ फैसला करले कि माँस खाता हुआ कोई भी व्यक्ति आर्यसमाज वा तदधीन किसी संस्था का पदाधिकारी व कर्त्ता धर्त्ता नहीं बन सकता और एक आर्यसमाजी के लिये मांस का भक्षण वेद के प्रतिकूल नहीं किन्तु positively वेद विरुद्ध है—ऐसा मानले और समाचार पत्रों में इस बात की सार्वजनिक घोषणा करदे तो मिलाप बहुत दूर नहीं रह जायगा। सम्भवतः मिलाप के सम्बन्ध में और भी कुछ रुकावटें हों किन्तु यह सब से मुख्य बात है जो बार २ दुहाई जाती है और जिसे सुनकर ऋषि के एक शिष्य का सिर शर्म के मारे नीचे झुक जाता है। इसलिये पहिले इसके कि हम दोनों की ओर से मिलाप की इच्छा हो वा उसे कार्य में परिणित करने के लिये कुछ भी यत्न किया जाय आवश्यक है कि बीच के कलुषित वातावरण की शुद्धि करली जाय। भूमि के उपजाऊ होने पर जो कुछ भी उसमें डाला जायगा जल्दी ही वृद्धि को प्राप्त हो फले फूलेगा। अन्यथा, सब यत्न जड़ को छोड़ कर फलों फूलों और पत्तों को सींचने ही के समान है।

पं० बुद्धदेव और प्रो० वाली

पं० बुद्धदेव जी स्नातक गुरुकुल के नाम से आज कौन अपरिचित है ? लाहौर आ० स० के उत्सव पर मिलाप के प्रश्न पर बोलते हुए आपने कहीं प्रो० वाली (डी० ए० वी० कालेज) पर व्यक्तिगत आक्षेप कर दिया, चूंकि उसे आप वैसा ही समझते थे। इसके स्थान पर कि प्रोफेसर साहिब पं० जी से मिलकर उनकी भूल का (यदि वह भूल होती) संशोधन कर देते, उन्होंने अदालत में उनपर अभियोग चला दिया और

समझा कि शायद इससे वे दोष से मुक्त हो जायगे। अभियोग चलेगा और उसका जो निर्णय होगा वह तो अभी भविष्य के गर्भ में है किन्तु हमें इससे जो निराशा हुई है उस का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। हमें एक आर्य समाजी की हैसियत से यह आशा न थी कि अवस्था यहां तक पहुंच जायगी। आर्य समाज के प्रवर्तक ऋषि का यह दावा था कि वह संसार को कैद में डलवाने नहीं किन्तु कैद से मुक्त कराने आया है। और यदि हम गुरु के चरण चिन्हों पर नहीं चल सकते तो कम से कम अपनी विरादरी तो कहीं नहीं गई थी! यदि ... साहब इसमें अपना अपमान समझते थे, तो उन्हें चाहिये था कि वे दोनों पार्टों के प्रसिद्ध २ आर्य महानुभावों को इकट्ठा कर उनके सामने अपनी निर्दोषिता सिद्ध करते और वह समिति जो निर्णय करती तदनुकूल आचरण करते। परन्तु शोक! अब बाण धनुष से नकल चुका है और न जाने किन घातक परिणामों को उत्पन्न करेगा। परिणाम तो जो होना है वह होगा ही किन्तु आर्य समाज की जगहंसाई होने में कोई कमी न रह जायगी। ऐसी बातों को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि दिल्ली अभी बहुत दूर है।

हमारी प्रार्थना उपासना

ऋषि ने आर्य जाति को एक सूत्र में पिरोने के लिये जहां अन्यान्य साधन बताए वहां एक साधन यह भी बताया कि हमारी प्रार्थना और उपासना एक होनी चाहिये। वेद ने भी यही उपदेश किया—"समानो मन्त्रः—" इत्यादि। किन्तु आज बड़े शोकसे देखा जाता है कि इस पर भी हमारी समाजों में नैत्यिक सन्ध्या तथा हवन की ही एक सार्वभौनिक पद्धति नहीं है। भिन्न २ स्थानों की समाजों ने कुछ तो अपनी२ इच्छानुसार और कुछ उपदेशकों आदि के कहने के अनुसार भिन्न २ परिवर्तन किये हुए हैं जोकि बहुत ही हानिकारक और जाति को इतस्ततः बखेरने वाले हैं। आज सम्भवतः इस बात का प्रभाव उतना प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होता हो किन्तु यदि यही अवस्था रही तो एक न एक दिन आवेगा जब कि यह समाज नानाविध शाखा प्रशाखाओं में विभक्त हो जायगा। वे भेद क्या २ हैं और कहां २ पर हैं यह तो एक पृथक् ही विषय है। किन्तु हम आर्य्य प्रतिनिधि सभा और समाज के ...नों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहते हैं कि वे सम्मिलित रूप से ... की पद्धति के अनुसार प्रार्थना उपासना, सन्ध्या हवन आदि की ऐसी विधि प्रचरित करें कि जिससे यह द्वैधीभाव दूर होकर सर्वत्र एक ही क्रमबद्ध प्रार्थना

उपासना का प्रचार हो। अन्यथा, यदि ऐसे ही जिसकी लाठी उस की भैंस वाली भेड़िया धसान प्रचरित रही तो एक दिन आयेगा जब कि हिन्दू जाति की भान्ति विशुद्ध आर्य्य जाति भी भिन्न २ पन्थों में बंटी हुई इतस्ततः भटकती फिरेगी।

एक कदम और आगे

आर्य समाज की स्थापना हुए पचास साल से ऊपर होगये हैं। आज क्या मित्र और क्या शत्रु सभी किसी न किसी रूप में उस के कार्यों की प्रशंसा करते हैं। परन्तु आज स्थिति बड़ी विचित्र है, आर्य समाज के काम को किसी न किसी रूप में प्रायः अन्य सभा समितियों ने अपना लिया है। हमारे लिये इस से अच्छी बात और क्या हो सकती है? किन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि इस समय आ० स० क्या करे? क्या वह मैदान से पीछे हट जाय? या वहीं खड़ा रहे। दोनों अवस्थाओं में मृत्यु ही मृत्यु है। यह तो युद्ध क्षेत्र है-इस में तो वीर को आगे ही आगे बढ़ना है। इसी में भलाई है। उस अवस्था में परिणाम चाहे मृत्यु हो वा विजय दोनों ही वीर के लिये श्रेयस्कर हैं। यदि विजय प्राप्त हुई तो भूमण्डल का राज्य है ही और नहीं तो स्वर्ग का दरवाज़ा कहीं गया ही नहीं।

हमारा ध्येय तो इस समय ऋषि का जीवन होना चाहिये। जब हम अपने जीवनों का अपने गुरू के जीवन के साथ मिलान करते हैं तो आकाश पाताल का अन्तर मालूम पड़ता है। आदर्श अभी बहुत दूर है और जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होती, मार्ग में विश्राम लेना भी महा पाप है। हमारा तो प्रति कदम आगे ही आगे बढ़ना चाहिये।

यदि देश ने आगे से कुछ उन्नति करली मालूम होती है तो क्या हुआ? आदर्श तो अभी प्राप्त नहीं हुआ। और जब तक उस की प्राप्ति नहीं हुई तब तक शान्ति कैसे? ऋषि दयानन्द का सच्चा शिष्य वही होगा जो आदर्श स्थान पर प्रथम जा कर ओ३म् का झण्डा फहरायेगा!

—राजेन्द्र
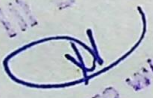
079225

...ार्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन लाहौर।

आय व्यय मद्दे मास कार्तिक १९८२

...निधि	बजट आय	इस मासकी आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
...ार्यालय सभा				६५६०)	३४३।	३१५३=)४
	२६००)	८२।≡)।	९१५।)॥			
...रक्षा				८६०)	३८)	४०४०-)६
			१५०)			
...काश आज्ञा			२५)			
...ज़ आफ़			८३॥=)			
...यानन्द						
...ोग		८२≡)।	१२७३।।।=)॥		३८१)।	३५५७≡)१०
... वेदप्रचार				१५६०)	६८)	४६४॥)
...स्तकालय	५००)	२०)	२५८)	२५००)	१६०≡)॥	१५१५॥≡)।।।
	३०००)	९४-)	५४३॥=)।	३०००)	१५०॥=)	१०६३।।।≡)१०
...निधि	२०००)	६९०-)।	७७३।=)॥			
	२००)		६०॥=)			
...उपदेशक				१७०८०)	१२३६॥=)१०	७१०५॥।)१
...				६४००)	७१५॥=)।	३८५०-)।।।
...वान				९०)		४४≡)
...कोष				१२००)	५०)	४६३।।।=)॥
...माता गणपति				८४)		१२)
योग		८०४=)।	१६३५॥=)।।।		२३८१॥=)७	१४०५०≡)२
...ार	२६७०४)	९३५॥।।।	८२४२।- २			
... स्मारक निधि	३००)	४४॥-)	१५५।।।≡)			
...उपदेशक				२०००)	१०)	४४८॥।)
				५००)		४७॥)
...धवा पं०						
तुलसीराम				१२०)	१०)	६०)
वज़ीरचन्द				९६)	८)	५६)
...ोग		४४॥-)	१५५॥≡)		२८।	६२८।)
...		२५४४-)११	२०४६०-)११		।।।≡)॥	६॥)५
...			२१०७।-)४			
...व्यय		१६९॥)	४२०-)			१८३॥)॥
...कान		३६)	४४)			
...ग		२७४९॥-)११	२३०६१॥)३		॥≡॥	१९०)११
...न्य संस्थायें		६३।)	६६१।।।)		१७)	६४६७≡)=
...र्यसमाजें		६५)	२३०८॥।)।।।			१४६७॥≡
...पुस्तकालय			५०)			२०)
...विद्यार्थी आश्रम			४५)			५०४)
...ाल						५०॥)
...मादरदास						
...ग		६८८।)	३०६५॥)।॥		१७)	८५६६॥=)८

निधि	बजट आय	इस मास की आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इसमास व्यय
वसीयत निहाल देवी जींदाराम		१६६॥-)॥	४७६६।)		१९.६॥।
स्वा० विद्यानंद जानकी बाई			१०००)		
पं० पूर्णानन्द जी					४०)
म० ओचीराम जी					२५)
रामशरणदास जी			१०००)		
योग		१६[illegible]॥।)॥।	६७६६।)		२६४॥।
दलितोद्धार	१००००)	५६॥।-	८५८।=॥)	१०००००	४०४।=
राजपूतोद्धार		४)	३६)		२०३।)
प्रोवीडेंट		१२२)१	६३५=)५		
उपदेशक विद्यालय	६०००)	२१५॥।)	१४३४८॥≡)॥।	६०००)	१९१॥-)
आर्य विद्यार्थी आश्रम	४५००)	४७०)	३८५७-)॥	४५००)	२०५॥≡
अज्ञात निधि		१५८)	१६२७।)॥।		
शताब्दी		१०)	४३६=)		
वेदामृत			५४५१॥≡)		
उपदेशक विद्यालय स्थिरकोष			२००००)		
विदेश प्रचार	२०००)		६५॥=)।	१५००	
मद्रास प्रचार		५)			
सभा के सेवकों की सहायता			१०)		
शिक्षा समिति		१५)	६०)		
उपदेशक विद्यालय शाला			१६१०)		
प्रेमदेवीहोमकरणभंडार				६०)	
आसाम प्रचार					
रामचन्द्रस्मारकनिधि			३४५॥-)		
असाधारण निधि		१)	१)		
बोनस			१२३॥-)॥।		
गुरुकुल मुलतान			॥=)।		
योग		१०६५॥-)१	४६७६६।-)२		१२०५
गुरुकुल महानिधि		६२३८=)	५४६२४॥≡)७		
,, स्थिर छात्रवृत्ति		५९४-)	१८१३४-)		
,, अस्थिर ,,		२००	१६००)		
,, उपाध्याय वृत्ति			५८४०५)॥		
कन्यागुरुकुल इंद्रप्रस्थ			१३४६३।=)॥		
योग		७०३२≡)	१४३३५७≡)७		१३५०=
सर्वयोग		१३६०२=)	२३७३६०॥≡)२		१३५०
गत शेष		११३२३७८)११	१०५६२७६॥।= १०		१७७८
योग		११४५६८०।११	१२६३६३७॥=)		
व्यय		१७ [illegible]०॥=)७	१६५[illegible]८≡)८		
वर्त्तमान शेष		११२८१६४।=४	११२८१६६=)४		